

Jo dil ko chhu le ...



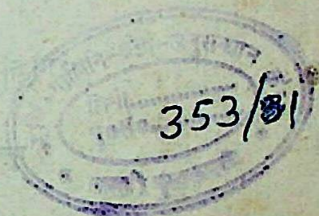


मुगलकालीन भारत

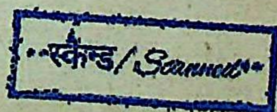
THE MUGHAL EMPIRE IN INDIA

1526 – 1858 A.D.

एल. पी. शर्मा, एम.ए.
वरिष्ठ अध्यापक एवं अध्यक्ष, इतिहास विभाग
शिवाजी कॉलेज (दिल्ली विश्वविद्यालय), नई दिल्ली







लक्ष्मी नारायण अग्रवाल
पुस्तक प्रकाशक एवं विक्रेता, आगरा-3

By the Same Author :

1. प्राचीन भारत (नवम् संस्करण)
2. आधुनिक भारत (एकादशम् संस्करण)
3. मध्यकालीन भारत (एकादशम् संस्करण)
4. दिल्ली-सल्तनत (चतुर्थ संस्करण)
5. आधुनिक भारतीय संस्कृति (चतुर्थ संस्करण)
6. इंगलैण्ड का इतिहास (अष्टम् संस्करण)
7. भारत का इतिहास (प्रारम्भ से 1526 A.D.)
8. भारत का इतिहास (1526–1967 A.D.)
9. **Simple History of Ancient India** (Upto 1200 A.D.)
10. **Simple History of Medieval India** (1000-1707 A.D.)
11. **Simple History of Modern India** (1707-1947 A.D.)
12. **Simple History of India** (Earliest Times to 1526 A.D.)
13. **Simple History of India** (1526 to 1947 A.D.)
14. **Simple History of Indian Culture & Civiliation**

षष्टम् संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण

मूल्य : सत्तर रुपये मात्र

मुद्रक :

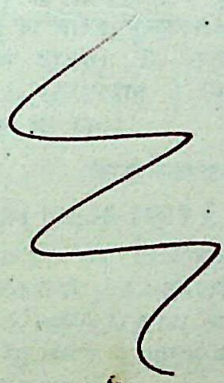
नवरंग ऑफसेट प्रिन्टर्स, आगरा

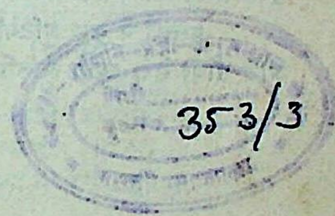
षष्टम् संस्करण के प्रति

प्रस्तुत संस्करण में भाषा और मुद्रण सम्बन्धी त्रुटियों को दूर करने के अतिरिक्त विभिन्न स्थलों पर नवीन उपलब्ध सामग्री को जोड़ा गया है। प्रश्न पूछने की पद्धति में भी कुछ परिवर्तन हुआ है। उसे ध्यान में रखते हुए कहीं-कहीं लिखने की शैली में भी परिवर्तन किया गया है। अपनी लेखन-शैली के अनुकूल अनावश्यक तथ्यों को इस संस्करण में भी सम्मिलित नहीं किया है जिससे पुस्तक बोझिल बनने से बची रही है।

इस प्रकार, मैंने इस संस्करण को विद्यार्थियों के लिए और अधिक उपयोगी बनाने का प्रयत्न किया है। विद्यार्थी और सहयोगी ही यह निर्णय करेंगे कि मैं अपने प्रयत्न में कहाँ तक सफल हुआ हूँ। इस कारण, पुस्तक की त्रुटियों की ओर ध्यान दिलाने वाले पाठकों के प्रति मैं अनुग्रहीत हूँगा।

—एल. पी. शर्मा





प्रस्तावना

प्रस्तुत पुस्तक का मूल उद्देश्य बी.ए., बी.ए. (ऑनर्स) और आधार के रूप में एम.ए. इतिहास के विद्यार्थियों के लिए एक सरल और रुचिकर पाठ्य-पुस्तक प्रदान करना है। तथ्यों के विषय में मैं मौलिकता का कोई दावा नहीं करता, क्योंकि मैंने जो कुछ भी प्रस्तुत किया है, वह माननीय विद्वान इतिहासकारों की पुस्तकों और लेखों से ही ग्रहण किया है। उनके परिश्रम का लाभ मैंने प्राप्त किया है, इसके लिए मैं उन सभी का आभारी हूँ। कहीं-कहीं पर, जैसाकि मैंने इतिहास को समझा है, तथ्यों के प्रमाण के आधार पर मैंने अपने विचारों को भी प्रस्तुत किया है।

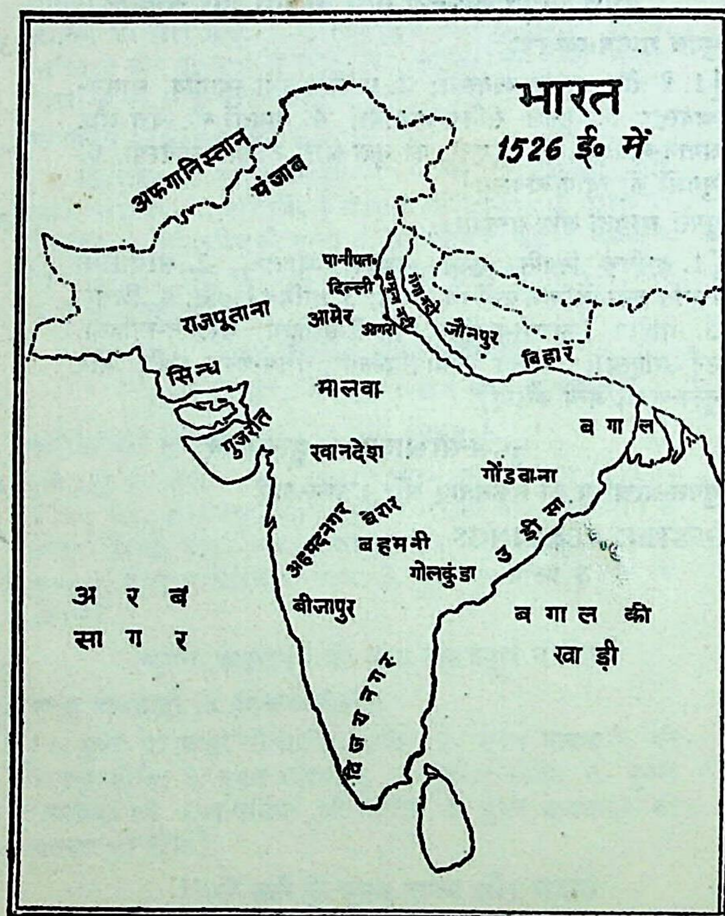
पुस्तक का संकलन, विषयों का चुनाव और भाषा मेरी अपनी स्वयं की है। माननीय इतिहासकारों के उद्धरणों का अनुवाद करते हुए मैंने यह प्रयत्न किया है कि उनकी मूल भावना और आशय सुरक्षित रहें। भाषा को सरल और रुचिकर रखने, विषय-सामग्री को व्यवस्थित रखने तथा पुस्तक को अनावश्यक विस्तृत विवरणों से मुक्त रखने का यथासम्भव प्रयत्न किया गया है।

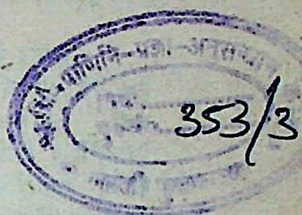
पुस्तक में कुछ त्रुटियाँ भी हो सकती हैं, अतः उनके विषय में जो मेरे गुरुजन और साथी मेरा ध्यान आकर्षित करेंगे, उनका मैं विशेष आभारी रहूँगा।

—एल. पी. शर्मा

विषय-सूची

अध्याय — पृष्ठ


भारत
1526 ई० में
अफगानिस्तान
पंजाब
पानीपत
दिल्ली
यमुना नदी
गंगा नदी
राजपूताना
आमेर
आगरा
जौनपुर
बिहार
सिन्ध
मालवा
गुजरात
खानदेश
ब गा ल
गोंडवाना
अहमदनगर
बरार
बहमनी
उ ड़ी सा
गोलकुंडा
बीजापुर
अ र ब
सा ग र
ब गा ल की
खा ड़ी
विजयनगर



1

मुख्य साहित्यिक स्रोत-ग्रन्थ और उनका महत्व

मुगलकालीन भारत के इतिहास को जानने के लिए स्रोत-सामग्री विभिन्न रूपों में प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है। मुगल-बादशाहों जैसे बाबर और जहाँगीर द्वारा लिखी गयी आत्मकथाएँ, राज्य-दरबार के विभिन्न इतिहासकारों द्वारा लिखी गयी समकालीन इतिहास की पुस्तकें, कई शाहजादियों द्वारा रचित कविताएँ जिन्हें **दीवान** पुकारा गया, बादशाहों के विभिन्न आज्ञा-पत्रों (फर्मानों) का संकलन, राजस्व तथा लगान सम्बन्धी विभिन्न कानूनों का संग्रह जिन्हें **दस्तूर-उल-अमल** पुकारा गया, दरबार द्वारा प्रकाशित विभिन्न सूचनाएँ और समाचार जिन्हें **अखबारात-ए-दरबारी-ए-मुअल्ला** पुकारा गया, दरबार के क्लर्कों और अधीन कर्मचारियों द्वारा संग्रहीत पत्रों, आदेशों आदि का संग्रह जिन्हें **इंशा, मकतूबात** या **रुकात** पुकारा गया, धार्मिक साहित्यिक रचनाएँ जिन्हें **मलफूजात** पुकारा गया, विभिन्न यूरोपियन यात्रियों के विवरण, संस्कृत में लिखे गये अनेक ग्रन्थ, विभिन्न ऐतिहासिक इमारतें तथा पुरातत्व-विभाग द्वारा सुरक्षित अन्य विभिन्न वस्तुएँ आदि मुगलकालीन इतिहास को जानने के प्रमुख साधन हैं। इनमें एक प्रमुख स्थान तुर्की, अरबी और अधिकांशतया फारसी में लिखे गये ऐतिहासिक और साहित्यिक ग्रन्थों का है। इनमें से कुछ प्रमुख ग्रन्थ निम्नवत् हैं :

बाबर और हुमायूँ

1. **तुजुक-ए-बाबरी**—तुजुक-ए-बाबरी अथवा बाबर की आत्मकथा को स्वयं मुगल-बादशाह बाबर ने तुर्की भाषा में लिखा। यह ग्रन्थ अपने आप में पूर्ण नहीं है। बाबर ने 1508-1519 ई., 1520-1525 ई. और 1529-1530 ई. के मध्य की घटनाओं का वर्णन नहीं किया है परन्तु तब भी यह एक अमूल्य ग्रन्थ है। मुगल-काल में ही इसका अनुवाद चार बार पर्शियन (फारसी) भाषा में किया गया। हुमायूँ के शासनकाल में जैनखाँ और पायन्दा हसन ने, अकबर के समय में अब्दुर्रहीम खान-खाना ने और शाहजहाँ के समय में मीर अबु तलिब तुरबाती ने इसका अनुवाद किया। विभिन्न यूरोपीय भाषाओं, मुख्यतया फ्रान्सीसी और अँग्रेजी भाषा में भी इसके विभिन्न अनुवाद हुए हैं। इनमें श्रेष्ठ अनुवाद श्रीमती बेवरिज का अँग्रेजी में किया गया अनुवाद है जो मूल तुर्की भाषा में किया गया है। एलफिन्सटन ने तुजुक-ए-बाबरी अथवा बाबरनामा के बारे में लिखा है : "एशिया में पाये जाने वाले वास्तविक इतिहास का यह एकमात्र ग्रन्थ है।" इसी प्रकार, इतिहासकार लेनपूल लिखता है—"बिना किसी सहायक प्रमाण के यदि किसी एक ऐतिहासिक विवरण को समुचित प्रमाण स्वीकार किया जा सकता है तो वह बाबर की आत्मकथा है।"

बाबर के जीवन की घटनाओं को जानने का प्रमुख साधन उसकी आत्मकथा है। "899वें वर्ष में रमजान के माह में 12 वर्ष की आयु में फरगना देश में मैं शासक बना।" इन शब्दों से बाबर की आत्मकथा आरम्भ होती है जो साहित्यिक और ऐतिहासिक दोनों ही दृष्टियों से संसार की श्रेष्ठ रचनाओं में स्थान रखती है। बाबर की आत्मकथा से हमें उसके जीवन की घटनाओं, उसके चरित्र और व्यक्तित्व, बुद्धि, योग्यता, शौक आदि सभी के बारे में ज्ञान प्राप्त होता है। बाबर के लिखने की शैली भी बहुत स्पष्ट और प्रभावशाली है। इसके अतिरिक्त, उसका विवरण सत्यता के बहुत निकट प्रतीत होता है। बाबर ने कभी व्यक्ति और परिस्थिति को समझने में भूल की हो और उसका विवरण उस भूल के कारण गलत हो गया हो जैसा कि उसके भारत-विवरण के बारे में कहा जाता है, यह अन्य बात है अन्यथा बाबर ने सत्य को ही प्रकट करने का प्रयत्न किया था। बाबर अपने चरित्र की दुर्बलताओं और भूलों को लिखने से भी नहीं चूका। उसने निसंकोच अपने देश के उत्सवों और नशों के प्रयोग के बारे में भी लिखा। इसके अतिरिक्त बाबर ने अपनी आत्मकथा में न केवल अपने जीवन की घटनाओं के बारे में ही लिखा अपितु समय-समय पर जो भावनाएँ उसकी रहीं और व्यक्तियों, परिस्थितियों तथा घटनाओं की जो प्रतिक्रिया उसके हृदय में हुई उसने उसे भी व्यक्त किया। विभिन्न व्यक्ति, मित्र या शत्रु जो उसके सम्पर्क या विरोध में आये, उनके बारे में भी उसने बहुत ईमानदारी से लिखा। उसने दौलतखाँ लोदी, इब्राहीम लोदी, आलमखाँ लोदी, राणा सांगा आदि सभी के बारे में लिखा। उसने अपने द्वारा देखे गये सभी देशों की जलवायु, पहाड़, नदी, झरने, जंगल, वनस्पति, फूल-पत्ते, प्राकृतिक सौन्दर्य आदि सभी के बारे में लिखा और ये सभी कुछ इतने सुन्दर ढंग से लिखा कि पढ़ने वाला आत्म-विभोर हो जाता है। बाबर की स्पष्टवादिता, प्रकृति में रुचि, मनुष्य और परिस्थितियों को समझने की बुद्धि, धार्मिक भावना, युद्ध-शैली, दण्ड-व्यवस्था आदि सभी के बारे में हमें उसकी आत्मकथा से ज्ञान होता है।

बाबर ने अपनी आत्मकथा में भारत का विवरण भी दिया है। भारत की जलवायु, प्रकृति, भारतीयों के मकान, वस्त्र, भोजन, यहाँ की राजनीतिक घटनाओं, राज्यों और शासकों के बारे में भी उसने लिखा। उसने लिखा : "भारत प्रथम, द्वितीय और तृतीय जलवायु के बीच में है। इसका कोई भी भाग चौथे भाग में नहीं है।" उसने लिखा—"सिन्ध नदी को पार करते ही देश, पेड़, पत्थर, घूमने वाली जातियाँ और व्यक्तियों के रिवाज और तौर-तरीके सभी हिन्दुस्तानी हैं।" भारत के प्रथम सम्पर्क का प्रभाव उस पर अच्छा नहीं हुआ था। उसने लिखा—"यहाँ व्यक्ति न सुन्दर हैं और न सुसभ्य। यहाँ न अच्छे घोड़े हैं, न अच्छे कुत्ते, न अच्छे अंगूर, खरबूजे और अन्य फल। यहाँ अच्छी रोटी नहीं मिलती, गरम पानी के हम्माम (स्नान-गृह) नहीं मिलते और न यहाँ उच्च विद्यालय हैं। यहाँ बत्तियों और मशालों का प्रयोग नहीं होता। मशालों के स्थान पर यहाँ तेल के दीपकों का प्रयोग होता है जिनको नौकर अपने हाथ में लिये रहते हैं। बड़ी-बड़ी नदियों और पहाड़ी झरनों के पानी के अतिरिक्त यहाँ पानी का अभाव है। यहाँ बगीचों के चारों तरफ दीवारें नहीं हैं। लोगों के रहने के मकान यहाँ अच्छे नहीं हैं और न उनमें हवा का उचित प्रबन्ध है। किसान और निम्न श्रेणी के व्यक्ति अधिकांशत: नंगे रहते हैं। यहाँ पुरुष

केवल लँगोटा प्रयोग करते हैं और स्त्रियाँ एक ही कपड़े से अपनी कमर के नीचे के भाग को ढकती हैं और सिर को भी।"

परन्तु भारत के बारे में उसने कुछ अच्छा भी लिखा। उसने लिखा—"हिन्दुस्तान की सबसे अच्छी बात यह है कि यह एक विस्तृत देश है और यहाँ सोना-चाँदी की भरमार है।" बाबर यहाँ की वर्षा से बहुत प्रसन्न होता था। उसने लिखा—"यहाँ कभी-कभी एक दिन में 10, 15 या 20 बार वर्षा होती है। अचानक यहाँ मूसलाधार वर्षा हो जाती है और वे नदियाँ जिनमें बिल्कुल पानी नहीं होता, पानी से भरकर बहने लगती हैं। वर्षा के समय यहाँ की वायु बहुत मजेदार हो जाती है। परन्तु इसका सबसे बड़ा दोष सीलन और वस्तुओं में जंग लग जाना है। वर्षा के मौसम में हम अपने देश की कमानों का प्रयोग नहीं कर सकते। कवच, पुस्तक, वस्त्र, बर्तन आदि सभी पर इसका प्रभाव हो जाता है और सभी बेकार हो जाते हैं। वर्षा के अतिरिक्त गर्मी और जाड़ों में भी यहाँ अच्छी हवा चलती है। वर्षा से पहले यहाँ 5 या 6 बार हवा बहुत तेजी से चलती है और बहुत धूल उड़ती है जिसे ये लोग आँधी पुकारते हैं।" बाबर ने यह भी लिखा कि हिन्दुस्तान की एक बड़ी अच्छाई यह है कि यहाँ बहुत बड़ी संख्या में प्रत्येक प्रकार के कार्य करने वाले प्राप्त होते हैं। उसने लिखा— 'यहाँ अलग-अलग काम करने वालों की अलग-अलग जातियाँ हैं और प्रत्येक जाति अपने कार्य को पीढ़ी-दर-पीढ़ी करती है। मेरे द्वारा आगरा में इमारतें बनवाते समय 680 कारीगरों ने कार्य किया। आगरा, सीकरी, बयाना, धौलपुर, ग्वालियर और कोल आदि में मेरी इमारतों के लिए पत्थर काटने हेतु 1491 कारीगरों ने कार्य किया। इसी प्रकार यहाँ प्रत्येक प्रकार का कार्य करने के लिए अनगिनत दस्तकार और कारीगर हैं।"

बाबर ने भारत की राजनीतिक स्थिति और अपने शत्रुओं से हुए युद्धों का भी वर्णन किया है। उसने लिखा—"भारत की राजधानी दिल्ली है। जब मैंने उस देश को विजय किया तब वहाँ पाँच मुसलमान और दो हिन्दू शासक राज्य करते थे।" उसने दिल्ली, गुजरात, बहमनी, मालवा और बंगाल के मुसलमान शासकों तथा विजयनगर और मेवाड़ के हिन्दू शासकों का विवरण दिया। उसने दौलतखाँ लोदी, इब्राहीम लोदी और राणा सांगा से हुए अपने युद्धों का भी वर्णन किया। उसने अपनी और शत्रु-सेना की संख्या, संगठन, युद्ध-शैली और अपनी सफलता के कारणों को भी लिखा।

बाबर का विवरण, मुख्यतया भारत-विवरण, न तो पूर्ण है और न पूर्णतया ठीक। बाबर ने खानदेश, उड़ीसा, सिन्ध और कश्मीर राज्यों का वर्णन नहीं किया। भारत में उस समय तक पुर्तगाली आ चुके थे। बाबर ने उनका वर्णन भी नहीं किया। अन्य दृष्टि से भी उसका विवरण पूर्ण नहीं माना जाता। इसी प्रकार उसके भारत-विवरण को पूर्णतया ठीक भी स्वीकार नहीं किया जाता। बाबर ने अपने मुख्य विपक्षियों अर्थात् इब्राहीम लोदी और राणा सांगा की सेनाओं की संख्या को बहुत बढ़ा-चढ़ाकर बताया। बाबर को भारत में समय भी कम मिला और अधिकांश समय वह युद्धों में भी लगा रहा। इसके अतिरिक्त, उसने जो भी देखा, एक विजेता की दृष्टि से देखा। यह स्वीकार नहीं किया जा सकता कि उस समय भारतीय सुसभ्य न थे। यदि वह अधिक समय भारत में रह पाता तब भारत की स्थिति स्थिर हो जाती और उसे भारत के सुसभ्य व्यक्तियों के सम्पर्क में आने का अवसर मिलता,

तब, निसन्देह, उसके विचारों में परिवर्तन हो जाता और वह भारत के निवासियों के बारे में ठीक निर्णय ले पाता।

परन्तु कुछ दोषों के होते हुए भी बाबर की आत्मकथा **तुजुक-ए-बाबरी** एक माननीय और उपयोगी ऐतिहासिक स्रोत-ग्रन्थ है और बाबर के काल के इतिहास के सम्बन्ध में मूल्यवान ऐतिहासिक सामग्री प्रदान करता है।

2. तारीख-ए-रशीदी—**तारीख-ए-रशीदी** का रचयिता बादशाह बाबर का सम्बन्धी और मित्र मिर्जा मुहम्मद हैदर तुगलात था। फारसी भाषा में लिखा गया यह ग्रन्थ बाबर और हुमायूँ दोनों के शासन-काल की घटनाओं को जानने में सहायता प्रदान करता है। मिर्जा मुहम्मद हैदर ने 1551 ई. में इसकी रचना पूर्ण की। छोटी आयु से ही वह बाबर की सेवा में आ गया था। उसने बाबर और हुमायूँ के जीवन की अनेक घटनाओं को स्वयं देखा था। उसने बाबर के संघर्षरत जीवन को देखा, हुमायूँ और शेरशाह के संघर्ष को देखा, बिलग्राम (कन्नौज) के युद्ध में हुमायूँ की ओर से सम्मिलित हुआ, हुमायूँ के आदेश पर कश्मीर के कुछ भाग को विजय किया, वहाँ का शासक रहा और वहीं उसकी मृत्यु भी हुई। **तारीख-ए-रशीदी** को दो भागों में विभाजित किया गया है—पहले भाग मे 1347 से 1553 ई. तक मुगल बादशाहों के इतिहास का वर्णन किया गया है और दूसरे भाग में मिर्जा मुहम्मद हैदर ने 1541 ई. तक घटित अपने जीवन की घटनाओं तथा कामरान द्वारा कन्धार की विजय, शेरशाह के विरुद्ध हुमायूँ की सहायता के लिए उसका आना, बिलग्राम के युद्ध में हुमायूँ की पराजय, स्वयं उसका वहाँ से भागना और लाहौर में हुमायूँ से भेंट, स्वयं के द्वारा कश्मीर पर आक्रमण आदि घटनाओं का विस्तृत रूप से वर्णन किया गया है। इस कारण इस ग्रन्थ का दूसरा भाग भारतीय इतिहास की घटनाओं को जानने में अधिक सहायता प्रदान करता है।

3. हबीब-उस-सियर—इसकी रचना खवान्द अमीर ने फारसी में की। वह हिरात का रहने वाला था। वह विद्वाम सिद्ध हुआ और उसने कई ऐतिहासिक ग्रन्थों की रचना की। 1528 ई. में वह भारत आया और बाबर ने उसे अपनी सेवा में ले लिया। बाबर की मृत्यु के पश्चात् हुमायूँ ने भी उसे संरक्षण प्रदान किया। हुमायूँ के गुजरात-आक्रमण के समय वह हुमायूँ के साथ था। गुजरात से वापस आते हुए वह बीमार हो गया और 1534 ई. में ग्वालियर में उसकी मृत्यु हो गयी। **हबीब-उस-सियर** में बाबर के समय की कुछ घटनाओं का वर्णन किया गया है। मुख्यतया बाबर द्वारा 1529 ई. में अफगानों के विरुद्ध किये गये अभियान का। उसमें हुमायूँ के प्रशासन काल के प्रथम तीन वर्षों की घटनाओं का भी वर्णन है। खवान्द अमीर स्वयं उन घटनाओं का साक्षी था। इस कारण उसका वर्णन प्रमाणित स्वीकार किया गया है।

4. कानून-ए-हुमायूँनी—इसकी रचना भी खवान्द अमीर ने की। यह उसकी अन्तिम रचना थी। हुमायूँ के शासनकाल की प्रथम कुछ वर्षों की घटनाओं को जानने का यह एक प्रमुख साधन है। हुमायूँ के राज्याभिषेक, उसकी प्रारम्भिक कठिनाइयाँ, उसके द्वारा बनाये गये प्रारम्भिक कानून, हुमायूँ का चरित्र और व्यक्तित्व आदि को समझने में यह ग्रन्थ बहुत सहायता प्रदान करता है।

5. हुमायूँनामा—बाबर की पुत्री और मिर्जा हिन्दाल की सगी बहन

गुलवदन बेगम ने बादशाह अकबर के आदेश पर अपनी वृद्धावस्था में इस ग्रन्थ को फारसी भाषा में लिखा। इसमें बाबर के चरित्र, सम्बन्धियों से उसका व्यवहार, उसके जीवन के अन्तिम समय की कुछ घटनाएँ, उसकी बीमारी और मृत्यु तथा 1555 ई. तक की हुमायूँ के जीवन की घटनाओं का वर्णन किया गया है। बाबर और हुमायूँ के चरित्र को समझने, उसके जीवन की व्यक्तिगत घटनाओं को जानने, हुमायूँ के अपने भाइयों के साथ सम्बन्धों आदि का ज्ञान प्राप्त करने के लिए यह ग्रन्थ उपयोगी माना गया है। ऐतिहासिक दृष्टि से यह ग्रन्थ इतना मूल्यवान स्वीकार नहीं किया गया है क्योंकि इसमें बाबर और हुमायूँ के समय की राजनीतिक घटनाओं का अधिक वर्णन नहीं है। इसमें इन बादशाहों के पारिवारिक सम्बन्धों पर अधिक बल दिया गया है। इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थ की रचना गुलवदन बेगम ने अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में अधिकांशतया अपनी स्मृति के आधार पर की थी। तब भी यह ग्रन्थ हुमायूँ के सम्बन्ध में मूल्यवान स्रोत-सामग्री माना गया है। इसकी एकमात्र पाण्डुलिपि लन्दन के ब्रिटिश म्यूजियम में उपलब्ध है। साहित्यिक दृष्टि से भी यह ग्रन्थ सराहनीय है क्योंकि भाषा का प्रयोग इसमें प्रभावशाली ढंग से किया गया है।

6. **ताजकीरात-उल-वाकियात**—अकबर के आदेश पर इस ग्रन्थ की रचना जौहर आफताब्ची ने की। यह फारसी भाषा में लिखा गया है और केवल हुमायूँ के जीवन की घटनाओं का वर्णन करता है। जौहर आफताब्ची हुमायूँ की व्यक्तिगत सेवा में एक लम्बे समय तक रहा। वह उसके प्रायः सभी सैनिक अभियानों तथा निष्कासित जीवन में उसके साथ रहा। इस कारण उसे हुमायूँ को व्यक्ति और बादशाह दोनों ही रूपों में समझने का पूर्ण अवसर मिला। बादशाह के सर्वदा निकट रहने के कारण उसके जीवन की सभी महत्वपूर्ण घटनाओं से भी वह परिचित रहा। इस कारण हुमायूँ के चरित्र, उसके समय की ऐतिहासिक घटनाओं, उसके संकटों, अकबर के जन्म और उसके प्रारम्भिक जीवन आदि के सम्बन्ध में उसके ग्रन्थ को प्रमाणित माना गया है। परन्तु जौहर आफताब्ची ने इस ग्रन्थ की रचना अपनी वृद्धावस्था में अपनी स्मृति के आधार पर की थी। इस कारण इस ग्रन्थ में घटनाओं के क्रम और उनकी तिथियों के सम्बन्ध में त्रुटियाँ पायी गयी हैं। विभिन्न स्थानों की भौगोलिक परिस्थितियों का वर्णन करते हुए भी उसने भूल की है। परन्तु इन त्रुटियों के होते हुए भी उसका ग्रन्थ हुमायूँ के समय के इतिहास को जानने का एक मुख्य स्रोत-ग्रन्थ स्वीकार किया गया है। इस ग्रन्थ की एक मूल लिपि पटना के खुदाबख्श पुस्तकालय में और दूसरी एक अन्य लिपि उदयपुर के सरस्वती-भवन पुस्तकालय में उपलब्ध है।

इस ग्रन्थ के अतिरिक्त बाबर और हुमायूँ के समय के इतिहास को जानने में शाह तहमास्प द्वारा लिखा गया **ताजकीरात-ए-तहमास्प**, बायजिद बियात के संस्मरण जो इलाहाबाद विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में उपलब्ध हैं, बायजीद द्वारा रचित **तारीख-ए-हुमायूँ**, अबुल फजल द्वारा लिखा गया **अकबरनामा**, ख्वाजा निजामुद्दीन अहमद बख्शी द्वारा रचित **तबकात-ए-अकबरी** आदि भी मूल्यवान ग्रन्थ हैं। इन सभी की भाषा फारसी है और इन सभी की रचना बादशाह अकबर के समय में की गयी।

सूर-वंश

7. **तवारीख-ए-दौलत-ए-शेरशाही**—फारसी में लिखे गये इस ग्रन्थ का लेखक हसन अली खाँ को स्वीकार किया गया है। इस ग्रन्थ का कुछ भाग ही उपलब्ध हो सका है और कतिपय विद्वानों ने यह विचार भी प्रस्तुत किया है कि यह ग्रन्थ विश्वसनीय नहीं है। डॉ. रिजवी ने इस ग्रन्थ की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में सन्देह प्रकट किया है और प्रो. इक्तिदार हुसैन सिद्दीकी ने इस ग्रन्थ को अविश्वसनीय और कृत्रिम बताया है। परन्तु इस ग्रन्थ के द्वितीय और छठे अध्याय, जो उपलब्ध हुए हैं और जिनका अँग्रेजी भाषा में अनुवाद किया जा चुका है, वे शेरशाह के जीवन और शासन के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण सूचनाएँ प्रदान करते हैं। जो विद्वान इस ग्रन्थ की प्रामाणिकता में विश्वास करते हैं उनके अनुसार हसन अली खाँ शेरशाह का समकालीन और उसका मित्र था। वह इस्लामशाह के शासनकाल में भी था और मुगल-काल के प्रारम्भिक वर्षों में उसने इस ग्रन्थ की रचना की।

इस ग्रन्थ से हमें पता लगता है कि शेरशाह के सम्बन्ध अपने पिता से अच्छे न रहे, उसे अपना घर छोड़कर भागना पड़ा, उसने बहारखाँ लोहानी के यहाँ नौकरी की जिसने उसे एक शेर को मारने के उपलक्ष में 'शेरखाँ' की उपाधि दी, वह इब्राहीम लोदी के दरबार में उपस्थित हुआ जिसने उसके पिता की मृत्यु के पश्चात् उसे पिता की जागीर सौंप दी, वह बाबर की सेवा में भी गया जहाँ से वह शीघ्र भाग आया, उसने मुगलों के विरुद्ध महमूद लोदी की सहायता की, उसने चुनार के किलेदार की विधवा स्त्री से विवाह करके उस किले पर अधिकार किया और इस प्रकार वह दक्षिणी बिहार का स्वामी बना। इस प्रकार इस ग्रन्थ से शेरशाह के जीवन के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त होती है।

इस ग्रन्थ से हमें शेरशाह के व्यक्तित्व और चरित्र के विषय में भी ज्ञान प्राप्त होता है कि शेरशाह एक व्यावहारिक व्यक्ति था, शक्ति और तलवार पर निर्भर करता था, अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिए प्रत्येक सम्भव साधन का प्रयोग करता था परन्तु साथ ही साथ वह एक संयमी और न्यायप्रिय शासक था।

इस ग्रन्थ के छठे अध्याय से हमें शेरशाह के शासन के बारे में ज्ञान उपलब्ध होता है। शेरशाह ने वस्तुओं के मूल्य निश्चित किये थे जिससे उनमें अनावश्यक वृद्धि न हो, उसने नाप-तौल के समान साधनों की व्यवस्था की थी, उसके समय में व्यापारिक-कर केवल राज्य की सीमाओं पर ही लिया जाता था, उसने किसानों की सुविधा के लिए अनेक नियम बनाये थे, तथा उन पर अत्याचार करने वालों को कठोर दण्ड देता था, वह बहुत न्यायप्रिय शासक था, उसने हिन्दुओं से कोई भेदभाव नहीं किया, उसकी सेना और शासन में हिन्दुओं को प्रतिष्ठित पद प्राप्त होते थे, उसने यातायात और व्यापार की सुविधा के लिए विभिन्न सड़कें बनवाईं थीं और उसके लिए एक पृथक् विभाग खोला था, आदि।

इस प्रकार, **तवारीख-ए-दौलत-ए-शेरशाही** से हमें शेरशाह के व्यक्तित्व, जीवन और शासन के विषय में पर्याप्त उपयोगी सामग्री प्राप्त हो जाती है।

8. **तारीख-ए-शेरशाही अथवा तोहफा-ए-अकबरशाही**—बादशाह अकबर के आदेश पर अब्बासखाँ सरवानी ने इस ग्रन्थ की रचना की। फारसी भाषा में लिखा गया यह ग्रन्थ भी पूर्ण रूप से प्राप्त नहीं हो सका है। परन्तु तब भी इसका

जो भाग प्राप्त हुआ है उससे शेरशाह की वंशावली, उसके जीवन-चरित्र, व्यक्तित्व और शासन के सम्बन्ध में प्रचुर ज्ञान प्राप्त होता है। इस ग्रन्थ को काफी प्रमाणित स्वीकार किया गया है। लेखक के परिवार के व्यक्तियों के शेरशाह से बहुत निकट के सम्बन्ध रहे थे। उनसे अथवा अन्य सम्बन्धित व्यक्तियों से लेखक को जो ज्ञान प्राप्त हुआ उसने उसी का उल्लेख अपने ग्रन्थ में किया। लेखक ने प्रत्येक विवरण को आरम्भ करने से पहले उसके स्रोत-आधार का विवरण दिया है जिससे उसके विवरण की प्रामाणिकता पर सन्देह न किया जा सके। इस कारण, बाद के सभी इतिहासकारों ने शेरशाह के सम्बन्ध में सूचना प्राप्त करने के लिए इस ग्रन्थ का स्रोत-ग्रन्थ के रूप में प्रयोग किया। इस ग्रन्थ के रचना-काल के विषय में कुछ मतभेद हैं परन्तु अधिकांशतः यह माना जाता है कि इसकी रचना 1588-89 ई. के पश्चात् हुई।

तारीख-ए-शेरशाही में शेरशाह के पूर्वजों का भी विवरण दिया गया है। उससे पता लगता है कि उसके वंश का कौन व्यक्ति किस समय भारत में आया, कहाँ कार्य किया और क्या कार्य किया। इसके अतिरिक्त, शेरशाह के सम्बन्ध में तो इसमें बहुत कुछ प्राप्त होता है। शेरशाह का बचपन का नाम फरीद था, उसका जन्म बहलोल लोदी के समय में हुआ था। उसके पिता से उसका झगड़ा हुआ, उसने अपने पिता की जागीर का बहुत अच्छा प्रबन्ध किया तथा न्याय, सत्यता और परिश्रम को शासक के लिए आवश्यक बताया, अपने सम्बन्धियों को भी दोषी सिद्ध होने पर दण्ड दिया, उसका झगड़ा अपने भाई सुलेमान से हुआ, वह बहारखाँ लोहानी की सेवा में गया जहाँ उसे शेरखाँ की उपाधि प्राप्त हुई, वह बाबर की सेवा में गया परन्तु अपनी मृत्यु के भय के कारण भागकर पुनः बिहार पहुँच गया, आदि। शेरशाह मुगलों की दुर्बलता को समझ सका था। उसका कहना था—"यदि भाग्य ने मेरा साथ दिया तो मैं सरलता से मुगलों को हिन्दुस्तान से बाहर निकाल दूँगा।" इस ग्रन्थ में हुमायूँ और शेरशाह के सम्बन्धों और संघर्ष पर भी पूर्ण प्रकाश डाला गया है। शेरशाह द्वारा चुनार और रोहतासगढ़ के किलों पर अधिकार की घटनाओं का भी इसमें वर्णन है। हुमायूँ को परास्त करके उसने शेरशाह की उपाधि ग्रहण की, हुमायूँ को परास्त करके उसका पीछा किया, सुल्तान बनने के पश्चात् भी उसने विजयें कीं, आदि घटनाएँ इस ग्रन्थ में प्राप्त होती हैं। इस प्रकार शेरशाह के जीवन की आरम्भ से अन्त तक की प्रायः सभी घटनाओं का विवरण इस ग्रन्थ में प्राप्त होता है।

शेरशाह के शासन के सम्बन्ध में भी इस ग्रन्थ में विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। इससे पता लगता है कि शेरशाह एक न्यायप्रिय शासक था, शेरशाह ने सेना की संख्या में वृद्धि की थी, वह केन्द्र पर सर्वदा एक लाख पचास हजार घुड़सवार और पच्चीस हजार बन्दूकची रखता था, उसने घोड़ों को दागने और सैनिकों का हुलिया रखे जाने की प्रथाओं को प्रारम्भ किया था, उसने लगान वसूल करने के लिए प्रत्येक परगने में एक अमीन, एक फोतदार और दो कारकुन नियुक्त किये थे, वह प्रत्येक दो वर्ष पश्चात् लगान कर्मचारियों को स्थानान्तरित कर दिया करता था, आदि। इस ग्रन्थ में यह भी उल्लेख है कि शेरशाह ने चार सड़कों का निर्माण कराया —एक पंजाब से बंगाल में सोनारगाँव तक, दूसरी आगरा से दक्षिण में बुरहानपुर तक, तीसरी आगरा से चित्तौड़ और जोधपुर तक तथा चौथी लाहौर से मुल्तान तक

जाती थी। इसमें यह भी वर्णन है कि शेरशाह ने 1,700 सरायों का निर्माण कराया जिनमें हिन्दू और मुसलमान दोनों के लिए रहने और खाने की व्यवस्था की गयी थी। शेरशाह किसानों की सुविधा का पूर्ण ध्यान रखता था और उसकी हानि होने पर उसकी पूर्ति करता था।

इस प्रकार **तारीख-ए-शेरशाही** शेरशाह और उसके शासन-काल के सम्बन्ध में बहुत उपयोगी स्रोत-सामग्री उपलब्ध कराता है। परन्तु इस ग्रन्थ की एक बड़ी दुर्बलता है। इसमें घटनाओं की तिथियाँ नहीं दी गयी हैं जिसके लिए हमें अन्य ग्रन्थों पर निर्भर करना पड़ता है।

9. **वाकियात-ए-मुश्ताकी**—इस ग्रन्थ का रचयिता शेख रिजकउल्लाह मुश्ताकी था। उसने फारसी भाषा में इस ग्रन्थ की रचना की। शेरशाह के विषय में मुश्ताकी का विवरण विस्तृत नहीं है। परन्तु तब भी उसने उसके समय की विभिन्न महत्वपूर्ण घटनाओं का उल्लेख किया है तथा कुछ नवीन तथ्यों का भी विवरण दिया है। शेरशाह का बंगाल-अभियान, उसके पुत्र कुतुबखाँ का युद्ध में मारा जाना, हुमायूँ का बंगाल-अभियान, और वहाँ विलासिता में फँसे रहना, हुमायूँ का बंगाल से वापस लौटना, आदि का विवरण इसमें दिया गया है। मुश्ताकी के अनुसार—फरीद को शेरखाँ की उपाधि एक शेर को मारने के उपलक्ष में नहीं अपितु एक महत्वपूर्ण स्थान को जीतने के उपलक्ष में दरियाखाँ के द्वारा दी गयी थी, यद्यपि अन्य समकालीन इतिहासकारों से यह मत भिन्न है। मुश्ताकी ने अपने ग्रन्थ में शेरशाह के परगने के शासन, सैनिक-शासन और प्रजा-हितैषी अन्य कार्यों का भी विवरण दिया है। उसके अनुसार शेरशाह अपने प्रत्येक सैनिक का वेतन उसकी योग्यतानुसार स्वयं निश्चित करता था, उसने विद्रोहों के दमन के लिए विभिन्न स्थानों और किलों में सैनिक रखे थे और वह एक न्यायप्रिय शासक था।

वाकियात-ए-मुश्ताकी में हमें शेरशाह के पुत्र इस्लामशाह और उत्तराधिकारियों के बारे में भी विवरण प्राप्त होता है। उसमें यह उल्लेख है कि इस्लामशाह ने किस प्रकार अपने भाई आदिलशाह को समाप्त किया, किस प्रकार शेरशाह के समय के प्रभावशाली अमीरों को नष्ट करने का प्रयत्न किया और इस्लामशाह की मृत्यु के पश्चात् किस प्रकार मुहम्मद आदिलशाह का पतन हुआ। उसमें भारत में मुगल-शासन के पुनः स्थापित होने की घटनाओं का भी वर्णन किया गया है। इस प्रकार यह ग्रन्थ शेरशाह, उसके विभिन्न उत्तराधिकारियों और हुमायूँ के विषय में विभिन्न महत्वपूर्ण तथ्यों का उल्लेख करता है।

परन्तु इस ग्रन्थ की प्रमुख कमी यह है कि इसमें तिथियाँ नहीं दी गयी हैं, घटनाओं को क्रमबद्ध नहीं किया गया है और बीच-बीच में ऐसी घटनाओं का भी उल्लेख किया गया है जिनका इतिहास से कोई सम्बन्ध नहीं है और जिनका प्रमाणित किया जाना सम्भव नहीं है। तब भी तत्कालीन इतिहास को जानने के लिए यह ग्रन्थ उपयोगी माना गया है।

10. **तारीख-ए-शाही**—अहमद यादगार ने इस ग्रन्थ की रचना जहाँगीर के समय में पूर्ण की। इस ग्रन्थ को ऐतिहासिक दृष्टि से अधिक विश्वसनीय स्वीकार नहीं किया गया है क्योंकि इसके विवरण बहुत कुछ किंवदन्तियों के आधार पर दिये गये हैं। इसमें तिथियों का भी अभाव है। तब भी इसमें शेरशाह के कई अभियानों का

उल्लेख ठीक है। इसमें दिया गया है कि कालिंजर अभियान में किस प्रकार बारूद में आग लग जाने से शेरशाह की मृत्यु हुई। इसमें शेरशाह की मुद्रा-प्रणाली का उल्लेख किया गया है और उसे बहुत श्रेष्ठ बताया है। परन्तु इस ग्रन्थ की मुख्य विशेषता यह है कि इसमें अफगान-शासकों के प्रभावशाली अमीरों की सूची दी गयी है जो हमें किसी अन्य ग्रन्थ में प्राप्त नहीं होती।

11. **तारीख-ए-फरिश्ता**—फरिश्ता पहले अहमदनगर के शासक मुर्तजा निजामशाह की सेवा में रहा और उसके पश्चात् बीजापुर के शासक इब्राहीम आदिल-शाह द्वितीय की सेवा में चला गया जहाँ उसने अपने इस विख्यात ग्रन्थ की रचना की। इस ग्रन्थ की रचना में उसने विभिन्न फारसी ग्रन्थों की सहायता ली। यह ग्रन्थ सम्पूर्ण भारत का इतिहास है जिसमें सूर-वंश के इतिहास का वर्णन किया गया है। इसका अधिकांश विवरण **तारीख-ए-शेरशाही** पर आधारित है। शेरशाह के जीवन का इसमें आरम्भ से अन्त वर्णन किया गया है। शेरशाह के सार्वजनिक कार्यों का भी इसमें उल्लेख है।

12. **तारीख-ए-दाऊदी**—इसका लेखक अब्दुल्ला था। उसने बहलोल लोदी के समय से अपने ग्रन्थ का विवरण आरम्भ किया है। परन्तु, सम्भवतया, इसकी रचना की पूर्ति जहाँगीर के काल में हुई। इस ग्रन्थ का विवरण मुख्यतया **तारीख-ए-शेरशाही, वाकियात-ए-मुश्ताकी** और **तबकात-ए-अकबरी** पर आधारित है। परन्तु इसमें कुछ ऐसी घटनाओं का भी उल्लेख है जो उपर्युक्त ग्रन्थों में प्राप्त नहीं होतीं। इससे प्रतीत होता है कि उपर्युक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त अन्य फारसी ग्रन्थों की सहायता भी इस ग्रन्थ की रचना में ली गयी थी। अपने इस ग्रन्थ में अब्दुल्ला ने शेर-शाह के जीवन, राज्य-सम्बन्धी उसके विचार, मुगलों की दुर्बलताएँ, अफगानों की पारस्परिक फूट को उनकी मुख्य दुर्बलता बताना, शेरशाह का हुमायूँ से संघर्ष, चन्देरी और मारवाड़ के उसके अन्य अभियान, शेरशाह के लोकहितकारी कार्य, उसके मुख्य अमीर आदि सभी का वर्णन किया है। इस ग्रन्थ की मुख्य दुर्बलता यह है कि इसमें इतिहास की घटनाओं के क्रम और उनकी तिथियों का ध्यान नहीं रखा गया है। परन्तु इस त्रुटि के होते हुए भी ऐतिहासिक दृष्टि से यह ग्रन्थ मूल्यवान माना गया है।

उपर्युक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त सूर-वंश के इतिहास को जानने के लिए ख्वाजा निजामुद्दीन अहमद बख्शी द्वारा रचित **तारीख-ए-निजामी** उर्फ **तबकात-ए-अकबरी**, बदायूँनी द्वारा रचित **मुन्तखब-उत-तवारीख** तथा नियामतउल्लाह द्वारा रचित **मखजात-ए-अफगानी** आदि भी उपयोगी ग्रन्थ हैं।

अकबर

अकबर के समय में ही नहीं अपितु सम्पूर्ण मुगल-काल में हुए फारसी के विद्वानों में प्रमुख नाम अबुल फजल अल्लामी का आता है। अबुल फजल का पिता शेख मुबारक नागौरी था जो उदार महदवी सम्प्रदाय का था। उसका बड़ा भाई शेख अबुल फैज था जो साधारणतया फैजी के नाम से विख्यात हुआ। अबुल फजल एक योग्य विद्वान सिद्ध हुआ और अकबर के निकटतम मित्रों में से एक बन गया। अकबर के उदार धार्मिक विचारों को भी उसने प्रभावित किया। 1598 ई. में अकबर ने उसे दक्षिण-अभियान में नियुक्त किया। शाहजादा सलीम के विद्रोह के अवसर पर अकबर

ने उसे वापस बुलाया। जब वह राजधानी की ओर वापस जा रहा था तब शाहजादा सलीम के इशारे पर वीरसिंह बुन्देला ने उस पर आक्रमण किया और उसे कत्ल कर दिया। अबुल फजल ने कई ग्रन्थों की रचना की और कई संस्कृत की पुस्तकों का फारसी भाषा में अनुवाद किया अथवा उनकी भूमिका लिखी। उसके द्वारा लिखित ग्रन्थों में **अकबरनामा, आईन-ए-अकबरी, रुकात-ए-अबुल फजल** और **इंशा-ए-अबुल फजल** को प्रमुख माना गया है।

13. **अकबरनामा**—अकबरनामा को तीन भागों में विभाजित किया गया है—प्रथम भाग में तैमूर से लेकर हुमायूँ तक के मुगल-वंश के इतिहास का वर्णन किया गया है। दूसरे और तीसरे भाग में अबुल फजल ने 1602 ई. में हुई अपनी मृत्यु के समय तक के अकबर के शासनकाल के इतिहास का वर्णन किया है। अबुल फजल ने इस ग्रन्थ की रचना में **तुजुक-ए-बाबरी, हुमायूँनामा, ताजकीरात-उल-वाकियात, ताजकीरात-ए-हूमायूँ व अकबर, तारीख-ए-रशीदी**, आदि विभिन्न ग्रन्थों की सहायता ली। उसने इस ग्रन्थ के आरम्भ में इतिहास की उपयोगिता और उसकी लेखन-कला पर एक लम्बी भूमिका लिखी। प्रत्येक महत्वपूर्ण घटना का विवरण देते समय उसने उसके आरम्भ में उसके सम्बन्ध में प्रस्तावना भी लिखी। इस प्रकार उसने घटनाओं के विवरण के साथ-साथ उनके कारणों पर भी प्रकाश डाला। पहले भाग में बाबर के समय के इतिहास का वर्णन करते हुए उसने बाबर के चरित्र और व्यक्तित्व, युद्ध-शैली, साहित्यिक ज्ञान, परिवार के सदस्यों और मित्रों से सम्बन्ध, अपने सैनिक और असैनिक अधिकारियों से उसके सम्बन्ध, आदि सभी पर प्रकाश डाला है और इस प्रकार यह **तुजुक-ए-बाबरी** की कमियों की पूर्ति करने में सहायता प्रदान करता है। उसने हुमायूँ के समय के इतिहास को और भी अधिक विस्तार से लिखा है। उसने हुमायूँ की कठिनाइयों, भाइयों और परिवार के अन्य सदस्यों से उसके सम्बन्ध, शेरशाह से उसका संघर्ष, उसकी असफलता, उसका भारत पर पुनः आक्रमण और विजय, आदि सभी का वर्णन किया है। निश्चय ही वह मुगल-वंश का पक्षपाती था। इस कारण, हुमायूँ की असफलता का मुख्य कारण उसने उसके दुर्भाग्य को बताया और शेरशाह सूर को कुटिल और कुचक्री सिद्ध करने का प्रयत्न किया। परन्तु तब भी हुमायूँ के समय-के इतिहास को समझने में अकबरनामा बहुत अधिक सहायता प्रदान करता है। अकबर के समय का इतिहास तो अकबरनामा के अभाव में पूर्ण ही नहीं हो सकता था। अकबर के अभियानों, उसकी नीतियों, उनके कारणों और उनके प्रभावों को अबुल फजल ने बहुत अच्छे और विस्तृत ढंग से बताया है। अबुल फजल अकबर का मित्र बन गया था। इस कारण उसकी मनोभावनाओं, आकांक्षाओं और उनके कारणों को निकट से अनुभव कर सका था। उसने अकबरनामा में सुरुचिपूर्ण ढंग से उनको व्यक्त किया है। इस प्रकार, 1602 ई. तक के मुगल-वंश के इतिहास का ज्ञान प्राप्त करने में अकबरनामा एक मुख्य स्रोत-ग्रन्थ माना गया है।

परन्तु अकबरनामा की कुछ त्रुटियाँ भी हैं। निस्सन्देह, अबुल फजल मुगल-वंश का प्रशंसक था। उसने बाबर, हुमायूँ और मुख्यतया अकबर के व्यक्तित्व को बहुत ऊँचा उठाने का प्रयत्न किया और इस वंश के शत्रुओं मुख्यतया सूर-वंश के शासकों जैसे शेरशाह और इस्लामशाह को गिराने का प्रयत्न किया। इस कारण, सूर-शासकों के सम्बन्ध में उसके विवरण को सावधानी से देखने की आवश्यकता है। इसके

अतिरिक्त अबुल फजल की भाषा अलंकारिक है। उससे उसका विवरण रोचक तो बना है परन्तु उसमें अतिशयोक्ति का मिश्रण हो गया है। उससे भी सावधान रहने की आवश्यकता है। परन्तु इन दोषों के होते हुए भी मुगल-काल के इतिहास के स्रोत-ग्रन्थ के रूप में अकबरनामा का स्थान महत्वपूर्ण है। इसमें दी गयी तिथियाँ भी अन्य समकालीन स्रोत-ग्रन्थों की तुलना में अधिक विश्वसनीय मानी गयी हैं।

14. **आईन-ए-अकबरी**—अबुल फजल का आईन-ए-अकबरी भी तीन भागों में विभाजित है। इस ग्रन्थ में अकबर की शासन-व्यवस्था और उससे सम्बन्धित नियमों और कानूनों का विस्तृत रूप से वर्णन किया गया है। इसमें राजकीय खजाना, मुद्रा-व्यवस्था, हरम, चित्रशाला, शस्त्रशाला, अश्वशाला, दरबार के नियम, बादशाह की दिनचर्या, सैनिक और असैनिक कर्मचारियों के वेतन, उनके पद तथा उनका वर्गीकरण, वस्तुओं के मूल्य, न्याय-व्यवस्था, लगान-व्यवस्था, आय और व्यय के साधन, अकबर के नैतिक उपदेश, दीन-ए-इलाही का आरम्भ किया जाना और उसके नियम तथा उद्देश्य, बाहर से हुए आक्रमण, विदेशी यात्रियों का आना, मुस्लिम सन्तों और उनके विभिन्न सम्प्रदाय, हिन्दू विद्वान तथा उनके ज्योतिष, दर्शन तथा साहित्य का ज्ञान आदि सभी का वर्णन किया गया है। इस प्रकार, इस ग्रन्थ में राजनीतिक घटनाओं का वर्णन नहीं है, परन्तु शासन, धर्म, साहित्य, कला आदि के लिए किये गये अकबर के प्रयत्नों और उनसे सम्बन्धित उसके द्वारा बनाये गये नियमों और कानूनों का वर्णन किया गया है। आईन-ए-अकबरी की अनुपस्थिति में अकबर के शासन और जीवन के अन्य क्षेत्रों में उन्नति करने के लिए किये गये उसके प्रयत्नों के बारे में ज्ञान प्राप्त करना सम्भव न हो पाता। इस दृष्टि से इस ग्रन्थ को अकबर के समय की परिस्थितियों को समझने के लिए एक अमूल्य ग्रन्थ माना गया है। फारसी भाषा में इस ग्रन्थ का श्रेष्ठ प्रकाशन 'बंगाल की एशियाटिक सोसाइटी' के द्वारा किया गया है। इस ग्रन्थ में अबुल फजल ने अपनी वंशावली और जीवन-कथा भी लिखी है।

15. **रुकात-ए-अबुल फजल**—1913 ई. में नवल किशोर प्रेस, लखनऊ ने इस पुस्तक को प्रकाशित किया था। इसमें उन पत्रों का संग्रह है जो अबुल फजल ने अपने पिता, माता, भाई, अकबर और उसकी पत्नियों और पुत्रियों तथा शाहजादा मुराद और दानियाल आदि को लिखे थे। ये पत्र भी अकबर के समय के इतिहास को जानने में बहुत सहायता प्रदान करते हैं। इस कारण ऐतिहासिक दृष्टि से रुकात-ए-अबुल फजल का भी बहुत महत्व है।

16. **इंशा-ए-अबुल फजल**—यह बादशाह अकबर द्वारा अबुल फजल से लिखाये गये और उसके स्वयं के द्वारा लिखे गये पत्रों का संग्रह है। इसके पहले भाग में वे पत्र हैं जो बादशाह अकबर की ओर से अबुल फजल ने विभिन्न महत्वपूर्ण व्यक्तियों को लिखे। इसमें वे पत्र हैं जो अकबर ने पर्शिया के शासक शाह अब्बास, ईरान के शासक अब्दुल्लाखाँ उजबेग, खानदेश के शासक अलीखाँ, अहमदनगर के शासक बुरहान-उल-मुल्क, मक्का के विभिन्न धार्मिक व्यक्तियों, यूरोप के विभिन्न विद्वानों, अपने प्रतिष्ठित अमीरों जैसे अब्दुर्रहीम खानखाना, आदि के लिए लिखवाये थे। इस पुस्तक के दूसरे भाग में स्वयं अबुल फजल के द्वारा बादशाह अकबर, शाहजादा दानियाल, मिर्जा शाह रुख तथा अन्य प्रतिष्ठित सरदारों को लिखे गये पत्र हैं। यह पत्र भी अकबर के समय के इतिहास को जानने की बहुमूल्य सामग्री है।

इस कारण इंशा-ए-अबुल फजल को भी अकबर के समय के इतिहास को जानने का एक मूल्यवान स्रोत-ग्रन्थ स्वीकार किया गया है।

17. तबकात-ए-अकबरी—इस ग्रन्थ की रचना ख्वाजा निजामउद्दीन अहमद ने की थी तथा इसका प्रकाशन 'बंगाल की एशियाटिक सोसाइटी' के द्वारा किया गया। ख्वाजा निजामउद्दीन अहमद उच्च कुल का व्यक्ति था। उसके पिता ने बाबर और हुमायूँ के शासनकाल में श्रेष्ठ पद प्राप्त किये थे और उसने स्वयं अकबर के मीर बख्शी के पद पर कार्य किया। उसके राज्य के प्रतिष्ठित व्यक्तियों से व्यक्तिगत सम्बन्ध थे, अबुल फजल उसे पसन्द करता था और अपने समय का एक प्रमुख विद्वान अब्दुल कादिर बदायूँनी उसका मित्र था। इस कारण, उसे तत्कालीन इतिहास को जानने के सभी साधन उपलब्ध हो सके थे। इसके अतिरिक्त उसने जो कुछ भी लिखा, वह निष्पक्षता से लिखा। वह विद्वान भी था। उसने अपने इस ग्रन्थ की रचना में **तारीख-ए-यमीनी, तबकात-ए-नासिरी, तारीख-ए-फीरोजशाही, तारीख-ए-मुबारकशाही, बाबरनामा, वाकियात-ए-मुश्ताकी, अकबरनामा** आदि विभिन्न ग्रन्थों की सहायता ली। इस कारण, **तबकात-ए-अकबरी** एक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक ग्रन्थ बन सका।

तबकात-ए-अकबरी का विवरण भारत में मुस्लिम शासन के आरम्भ होने से शुरू होता है और उसकी समाप्ति अकबर के शासनकाल के उन्तालीसवें (39वें) वर्ष में होती है। मुख्यतया इसके तीन भाग हैं। इसके प्रथम भाग में भारत में मुस्लिम-शासन का आरम्भ और दिल्ली-सुल्तानों के इतिहास का वर्णन किया गया है, द्वितीय भाग में बाबर, हुमायूँ और अकबर के 39वें वर्ष तक के इतिहास का वर्णन किया गया है और इसके तीसरे भाग में प्रान्तीय राज्यों के इतिहास को दिया गया है जिसमें मालवा और गुजरात का दिया गया इतिहास विशेष उल्लेखनीय है। इस प्रकार, **तबकात-ए-अकबरी** एक विस्तृत ग्रन्थ है और मध्ययुगीन भारत के एक लम्बे समय के इतिहास को जानने के लिए एक स्रोत-ग्रन्थ के रूप में मूल्यवान है।

तबकात-ए-अकबरी के वर्णन को बहुत अधिक मात्रा में निष्पक्ष भी माना गया है। बाबर के प्रतिद्वन्द्वी राणा संग्रामसिंह के व्यक्तित्व की प्रशंसा करने में ख्वाजा निजामउद्दीन अहमद ने कोई संकोच नहीं किया। बाबर की मृत्यु के अवसर पर हुमायूँ के स्थान पर मेंहदी ख्वाजा को सिंहासन पर बैठाने के षडयन्त्र के बारे में भी उसका विवरण बहुत स्पष्ट है। उसने ऐतिहासिक घटनाओं के क्रम को भी तिथियों के अनुसार बनाये रखा है। अकबर के समय के इतिहास को उसने अपनी व्यक्तिगत जानकारी के अतिरिक्त अन्य विद्वानों की लेखन-सामग्री का उपयोग करते हुए लिखा। इन कारणों से **तबकात-ए-अकबरी** एक उपयोगी ऐतिहासिक स्रोत-ग्रन्थ बन सका। इतिहासकार फरिश्ता ने अपने लेखन में उसका प्रयोग किया तथा इतिहासकार डाउसन ने उसे एक 'आदर्श इतिहास' स्वीकार किया।

18. मुन्तखब-उत-तवारीख अथवा तारीख-ए-बदायूँनी—इस ग्रन्थ का लेखक अब्दुल कादिर बदायूँनी था जो मुख्यतया बदायूँनी मात्र के नाम से विख्यात हुआ। उसने अबुल फजल और फैजी के साथ शेख मुबारक नागौरी से शिक्षा प्राप्त की जो धार्मिक दृष्टि से बहुत उदार व्यक्ति और शिक्षक माना जाता था। उसे अकबर के समय में इमाम का पद दिया गया और वह एक सम्मानित विद्वान भी माना गया। उससे आशा की जाती थी कि वह उदार धार्मिक विचारों का समर्थन

करेगा। परन्तु ऐसा न हुआ। धीरे-धीरे वह कट्टर सुन्नी-वर्ग का समर्थक हो गया। सम्भवतया, इसका एक कारण अबुल फजल से उसकी ईर्ष्या थी जो उसका सहपाठी रहा था परन्तु जो बादशाह अकबर के अधिक निकट था और दरबार में अधिक सम्मान प्राप्त करता था। इस कारण अकबर उससे असन्तुष्ट भी हुआ था। तब भी उसे राजकीय विद्वानों में स्थान प्राप्त रहा और अकबर ने उसे ऐतिहासिक ग्रन्थों को लिखने तथा विभिन्न ग्रन्थों को अनुवाद करने का उत्तरदायित्व सौंपा। बदायूँनी फारसी, अरबी और संस्कृत का विद्वान था। उसने अरबी और संस्कृत की विभिन्न पुस्तकों का फारसी में अनुवाद किया। संस्कृत के ग्रन्थों में से उसने महाभारत, रामायण, राजतरंगिनी, सिंहासन-बत्तीसी, आदि का फारसी में अनुवाद किया। उसने कुछ मूल रचनाएँ भी की। उसकी रचनाओं में से मुख्य स्थान **मुन्तखब-उत-तवारीख** का स्वीकार किया गया है जो एक ऐतिहासिक ग्रन्थ है।

मुन्तखब-उत-तवारीख को तीन भागों में बाँटा गया है। इसके प्रथम भाग में सुबुक्तगीन से लेकर हुमायूँ की मृत्युपर्यन्त तक के इतिहास को दिया गया है तथा दूसरे भाग में 1594 ई. तक के अकबर के शासनकाल के इतिहास को दिया गया है। इसमें अकबर के प्रशासकीय और धार्मिक विचारों और नीतियों की कटु-आलोचना की गयी है। इससे प्रतीत होता है कि बदायूँनी के व्यक्तित्व में धार्मिक कट्टरता गम्भीर रूप से सम्मिलित हो गयी थी जिसके कारण वह अकबर के उदार विचारों और धार्मिक सहिष्णुता की नीति के कारणों और परिणामों को समझने में असमर्थ हो गया था। इस दूसरे भाग को बदायूँनी ने अकबर के शासनकाल में छिपाकर रखा। जहाँगीर के सिंहासन पर बैठने के पश्चात् ही इसको प्रकाश में लाया गया। इस ग्रन्थ के तीसरे भाग में बदायूँनी ने अपने समकालीन मुस्लिम सन्तों और विद्वानों के जीवन और उनके कार्यों के बारे में लिखा।

मुन्तखब-उत-तवारीख में अधिकांश राजनीतिक घटनाएँ **तबकात-ए-अकबरी** से ली गयी हैं। स्वयं बदायूँनी ने अपने इस ग्रन्थ को **तबकात-ए-अकबरी** का संक्षिप्त संस्करण बताया। बदायूँनी तिथियों और इतिहास के क्रम को भी विश्वसनीय रूप से न लिख सका। इसके अतिरिक्त धर्मान्धता के प्रभाव के कारण उसका दृष्टिकोण बादशाह अकबर के प्रति दोषपूर्ण बन गया जिसके कारण उसके विवरण को उसी रूप में स्वीकार करना असम्भव है। परन्तु तब भी **मुन्तखब-उत-तवारीख** एक उपयोगी स्रोत-ग्रन्थ है। उसकी भाषा और लेखन-शैली प्रभावपूर्ण और रुचिपूर्ण है। इसके अतिरिक्त, अकबर के शासन और नीतियों की जो आलोचना हमें इस ग्रन्थ में प्राप्त होती है वह अकबर के समय के इतिहास को सन्तुलित रूप से समझने में सहायता प्रदान करती है। यदि अबुल फजल का अकबर के शासनकाल का वर्णन बादशाह अकबर का पक्ष लेते हुए किया गया है तो बदायूँनी का वर्णन उसके विरोध में होते हुए लिखा गया है। दोनों पक्षों का अध्ययन अकबर के शासन और उसकी नीतियों को ठीक प्रकार समझने में सहायता प्रदान कर देता है। इस कारण **मुन्तखब-उत-तवारीख** का ऐतिहासिक स्रोत-ग्रन्थों में एक महत्वपूर्ण स्थान है।

इसके अतिरिक्त, अकबर के शासनकाल के इतिहास को जानने के लिए इनायतउल्ला का लिखा हुआ **तकमील-ए-अकबरनामा** जिसमें 1602 से 1605 ई. तक के अकबर के इतिहास को दिया गया है, मुल्ला मुहम्मद कासिम हिन्दूशाह (फरिश्ता) द्वारा रचित **तारीख-ए-फरिश्ता उर्फ गुलशन-ए-इब्राहीम** जिसमें मुस्लिम-शासनकाल

के आरम्भ से लेकर जहाँगीर के सिंहासन पर बैठने तक के समय का तथा दक्षिणी भारत के राज्यों के इतिहास का वर्णन महत्वपूर्ण है, नूर-उल-हक द्वारा लिखा गया **जुबदात-उत-तवारीख**, अब्दुल हक्क द्वारा लिखा गया **तारीख-ए-हक्की**, अल्लाहदाद फैजी सरहिन्दी द्वारा लिखे गये **तारीख-ए-हुमायूँशाही** और **अकबरनामा**, मुहम्मद अमीन द्वारा लिखा गया **अनफौल-ए-अकबर**, याहिया बिन अब्दुल लतीफ द्वारा रचित **मुन्तखब-उत-तवारीख** आदि भी उपयोगी स्रोत-ग्रन्थ स्वीकार किये गये हैं।

जहाँगीर

जहाँगीर के जीवन से सम्बन्धित विभिन्न घटनाओं का ज्ञान हमें अकबर के शासनकाल में फारसी भाषा में लिखे गये विभिन्न ग्रन्थों से होता है। उन ग्रन्थों में विशेष उल्लेखनीय अबुल फजल का **अकबरनामा**, इनायतउल्ला खाँ का **तकमील-ए-अकबरनामा**, अब्दुल कादिर बदायूँनी का **मुन्तखब-उत-तवारीख**, निजामुद्दीन अहमद का **तबकात-ए-अकबरी**, मुल्ला मुहम्मद कासिम हिन्दूशाह (फरिश्ता) का **तारीख-ए-फरिश्ता**, आदि हैं। इनके अतिरिक्त, स्वयं जहाँगीर के शासनकाल में भी फारसी भाषा में कुछ ग्रन्थों की रचना हुई जिनसे हमें जहाँगीर के काल के इतिहास को जानने में सहायता प्राप्त होती है। इन ग्रन्थों में प्रमुख स्थान जहाँगीर की आत्मकथा **तुजुक-ए-जहाँगीरी** तथा मोतमिद खाँ द्वारा लिखे गये **इकबालनामा** का है।

19. **तुजुक-ए-जहाँगीरी**—यह जहाँगीर की आत्मकथा है। अपने सिंहासन पर बैठने के समय से लेकर अपने शासनकाल के सत्रहवें (17वें) वर्ष की घटनाओं को जहाँगीर ने स्वयं लिखा। उसके पश्चात् स्वास्थ्य खराब हो जाने के कारण उसने इस उत्तरदायित्व को अपने बख्शी मोतमिदखाँ को सौंप दिया जिसने उसे केवल जहाँगीर के शासनकाल के उन्नीसवें (19वें) वर्ष के आरम्भ तक ही लिखा। **तुजुक-ए-जहाँगीरी** का स्थान **तुजुक-ए-बाबरी** के समकक्ष स्वीकार नहीं किया जाता। कुछ अरुचिपूर्ण विषयों जैसे अपने पिता के विरुद्ध किये गये अपने विद्रोहों, शाहजादा खुसरो की मृत्यु की परिस्थितियों और नूरजहाँ के साथ उसके विवाह होने की परिस्थितियों आदि का विवरण जहाँगीर ने बहुत संक्षिप्त में दिया है। भाषा और शैली की दृष्टि से भी **तुजुक-ए-बाबरी** उससे श्रेष्ठ है। परन्तु तब भी **तुजुक-ए-जहाँगीरी** एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। जहाँगीर ने जो भी लिखा बहुत विस्तृत ढंग से लिखा और जहाँ तक भी सम्भव हुआ, सत्य के निकट लिखा। उसने अपने चरित्र के दोषों जैसे मदिरा-पान, नूरजहाँ के प्रति अपनी आसक्ति, आदि को स्पष्ट रूप से लिखा। इसके अतिरिक्त जहाँगीर का जन्म भारत में ही हुआ था। वह यहाँ की संस्कृति और जन-जीवन से पूणतया परिचित हो गया था। इस कारण, जबकि **तुजुक-ए-बाबरी** में भारतीय जन-जीवन का विवरण एकपक्षीय है और एक विदेशी आक्रमणकारी विजेता के दृष्टिकोण का परिचायक है, **तुजुक-ए-जहाँगीरी** का वर्णन सन्तुलित है और इस कारण अधिक विश्वसनीय है। इस दृष्टि से **तुजुक-ए-जहाँगीरी** का महत्व **तुजुक-ए-बाबरी** से अधिक हो जाता है।

जहाँगीर ने अपनी आत्मकथा में अपने सिंहासन पर बैठने के समय जारी किये गये आदेशों, न्याय के लिए किये गये प्रबन्धों, शाहजादा खुसरो का विद्रोह, अपने पिता और अपने परिवार के अन्य सदस्यों से अपने सम्बन्धों, अपने समय के

सैनिक अभियानों, अपनी दिनचर्या, दरबार में मनाये जाने वाले त्यौहारों और उत्सवों, हिन्दुओं और राजपूतों के प्रति अपने विचारों और व्यवहार, अपने समय में हुई माहमारी और अकाल से उत्पन्न हुई परिस्थितियाँ, अपने शिकार करने के शौक, अपनी कश्मीर की यात्राओं, शेर अफगन की मृत्यु, नूरजहाँ से अपना विवाह, आदि सभी का वर्णन किया है। जहाँगीर को प्रकृति से प्रेम था और उसे बगीचे लगाने का शौक था। इस कारण उसने अपनी आत्मकथा में विभिन्न स्थानों की जलवायु, प्राकृतिक सौन्दर्य, पशु-पक्षी, पेड़-पौधों, आदि का बहुत सुन्दर वर्णन दिया है। जहाँगीर को चित्रकला का भी शौक था। उसने उसमें अपनी रुचि, उसमें प्राप्त किये गये अपने ज्ञान और उसकी उन्नति के लिए किये गये अपने प्रयत्नों का वर्णन भी अपनी आत्मकथा में किया। इस प्रकार **तुजुक-ए-जहाँगीरी** हमें जहाँगीर के शासनकाल की राजनीतिक घटनाओं, उसके और उसके पिता के धार्मिक विचारों, उसके शासन, उस समय की भौगोलिक परिस्थितियों, जहाँगीर की रुचियों और उनकी पूर्ति के लिए किये गये उसके प्रयत्नों आदि विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डालकर उस समय के इतिहास और संस्कृति को जानने में सहायता प्रदान करता है।

निस्सन्देह **तुजुक-ए-जहाँगीरी** में कुछ कमियाँ हैं। यह जहाँगीर के शासनकाल के प्रारम्भिक प्रायः उन्नीस (19) वर्षों का ही ज्ञान प्रदान करने में सहायक है। जहाँगीर ने कुछ घटनाओं का उल्लेख बहुत संक्षिप्त में किया और कुछ घटनाओं के विषय में एकपक्षीय दृष्टिकोण का परिचय दिया जैसा कि शाहजादा खुसरो और शेर अफगन के विद्रोहों का वर्णन करते हुए किया गया। परन्तु इन कमियों के कारण **तुजुक-ए-जहाँगीरी** का महत्व कम नहीं हो जाता है। वह एक रोचक और पर्याप्त विश्वसनीय स्रोत-ग्रन्थ स्वीकार किया गया है।

20. इकबालनामा—इस ग्रन्थ का लेखक मोतमिद खाँ ईरान का निवासी था। उसने भारत आकर जहाँगीर को अपनी सेवाएँ अर्पित कीं और अपनी योग्यता से मीरबख्शी के पद को प्राप्त किया। शाहजहाँ भी उससे प्रसन्न था और अपने बादशाह बनने पर उसने उसे इसी पद पर रखा। जहाँगीर ने अपने शासनकाल के सत्रहवें (17वें) वर्ष तक अपनी आत्मकथा **तुजुक-ए-जहाँगीरी** को स्वयं लिखा। उसके पश्चात् अपना स्वास्थ्य खराब हो जाने के कारण उसने इस कार्य का उत्तरदायित्व मोतमिद खाँ को दिया। मोतमिद खाँ ने इस उत्तरदायित्व की पूर्ति जहाँगीर के शासन-काल के केवल उन्नीसवें (19वें) वर्ष के आरम्भ तक के इतिहास को **तुजुक-ए-जहाँगीरी** में सम्मिलित करके की। उसके पश्चात् उसने स्वतन्त्र होकर **इकबालनामा** की रचना की।

इकबालनामा तीन भागों विभाजित है—इसके पहले भाग में तैमूर-वंश के इतिहास को दिया गया है जिसमें बाबर और हुमायूँ के समय के इतिहास का वर्णन है। इसके दूसरे भाग में अकबर के समय के इतिहास को और तीसरे भाग में जहाँगीर के समय के इतिहास को दिया गया है।

मोतमिद खाँ जहाँगीर के निकट सम्पर्क में था और उसे तत्कालीन परिस्थितियों से अवगत रहने की सुविधा प्राप्त थी। उसने जहाँगीर के शासनकाल के 19वें वर्ष से आरम्भ होने वाले इतिहास का वर्णन बहुत विस्तृत रूप से

दिया है। इस कारण **इकबालनामा** एक उपयोगी और महत्वपूर्ण स्रोत-ग्रन्थ, स्वीकार किया गया है। परन्तु इसमें एक दोष है। वह जहाँगीर का कृपापात्र था। इस कारण, जहाँगीर के व्यक्तित्व को उसने प्रशंसात्मक ढंग से प्रस्तुत किया। जहाँगीर की मृत्यु के पश्चात् वह शाहजहाँ के पक्ष में हो गया और उसने नूरजहाँ के प्रति द्वेषभाव प्रकट किया। इस कारण, उसके विवरण को उसी रूप में स्वीकार करना सम्भव नहीं है।

जहाँगीर के शासनकाल के इतिहास को जानने में सहायता प्रदान करने वाले अन्य ग्रन्थ मुहम्मद हादी द्वारा लिखा गया **ततिम्मा-वाकियात-ए-जहाँगीरी**, ख्वाजा कामगार घारत खाँ द्वारा रचित **मुआसिर-ए-जहाँगीरी** और एक अपरिचित लेखक के द्वारा लिखा गया **इन्तखाव-ए-जहाँगीरशाह** भी हैं।

शाहजहाँ

शाहजहाँ के काल के इतिहास को दरबार के विभिन्न विद्वानों ने लिखा। राजकीय संरक्षण में लिखे इन ऐतिहासिक ग्रन्थों को पूर्णतया पक्षपातरहित स्वीकार नहीं किया जा सकता परन्तु तब भी उसमें मूल्यवान ऐतिहासिक सामग्री प्राप्त होती है तथा तत्कालीन ऐतिहासिक घटना-क्रम को समझने में सहायता प्राप्त होती है। इन ग्रन्थों में निम्नलिखित ग्रन्थ महत्वपूर्ण हैं :

21. मुहम्मद अमीन कजवीनी द्वारा रचित **पादशाहनामा** शाहजहाँ ने अपने शासनकाल के आठवें (8वें) वर्ष में कजवीनी को अपने समय के इतिहास को लिखने के आदेश दिये। कजवीनी ने शाहजहाँ के समय के केवल प्रथम दस वर्षों के इतिहास को ही लिखा। इसके पश्चात् उससे इस कार्य का उत्तरदायित्व छीन लिया गया। कजवीनी ने अपनी इस पुस्तक को तीन भागों में बाँटा। उसने इसके पहले भाग में शाहजहाँ के बचपन से लेकर सिंहासन पर बैठने के समय तक के इतिहास को लिखा। दूसरे भाग में शाहजहाँ के शासनकाल के प्रथम दस वर्षों के इतिहास को लिखा और तीसरे भाग में तत्कालीन विद्वानों, सन्तों, फकीरों आदि की सूची दी। कजवीनी ने शाहजहाँ के व्यक्तित्व को उठाने का प्रयत्न किया। उसने शाहजहाँ के विद्रोह का दोष बेगम नूरजहाँ पर डाला। इस प्रकार उसका विवरण पक्षपातपूर्ण रहा। परन्तु तब भी उसने सभी घटनाओं का बहुत विस्तृत विवरण दिया और किसी भी महत्वपूर्ण घटना का विवरण देना नहीं भूला। इस कारण शाहजहाँ के प्रारम्भिक जीवन और उसके शासनकाल के प्रथम दस वर्षों की घटनाओं को जानने के लिए उसके द्वारा लिखे गये **पादशाहनामा** को एक महत्वपूर्ण स्रोत-ग्रन्थ माना गया है।

22. अब्दुल हमीद लाहौरी द्वारा रचित **पादशाहनामा**—अब्दुल हमीद लाहौरी अपने समय का एक प्रमुख विद्वान था। मुगलकालीन विद्वानों में उसका स्थान केवल अबुल फजल के बाद ही माना गया है। वह अबुल फजल की भाषा और शैली का प्रशंसक था। शाहजहाँ ने मुहम्मद अमीन कजवीनी के पश्चात् अपने समय के इतिहास को लिखने का उत्तरदायित्व उसे सौंपा। उसने भी अपनी कृति का नाम **पादशाहनामा** रखा। उसने अपने ग्रन्थ को दो भागों में बाँटा—इसके पहले भाग में तैमूर से लेकर शाहजहाँ के प्रथम दस वर्षों का इतिहास दिया गया है। तैमूर से लेकर शाहजहाँ के सिंहासन पर बैठने तक का इतिहास बहुत संक्षिप्त में दिया गया है तथा

अमीन कजवीनी के वर्णन पर आधारित है। इसके दूसरे भाग में शाहजहाँ के अगले दस वर्ष के इतिहास का विस्तृत वर्णन है। इस प्रकार मूलतया यह शाहजहाँ के काल के पहले बीस वर्षों का इतिहास है जिसमें बाद के दस वर्षों के इतिहास को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। लाहौरी ने शाहजहाँ के दैनिक कार्यक्रम, उसके दरबार की शान-शौकत, उसे प्राप्त होने वाले उपहार, उसके द्वारा पदों का वितरण, उसके सामन्तों और अमीरों का विवरण, तत्कालीन विद्वानों, सन्तों और फकीरों की सूची, शाहजहाँ के पुत्रों का वर्णन और शाहजहाँ के उस काल की सभी राजनीतिक घटनाओं का विस्तृत वर्णन किया जिसके कारण उसके ग्रन्थ का आकार बहुत बड़ा हो गया है।

लाहौरी का **पादशाहनामा** बाद के इतिहासकारों के लिए भी लाभप्रद सिद्ध हुआ। **मुन्तखब-उल-लुबाब** के लेखक खाफीखाँ ने शाहजहाँ के समय का इतिहास लिखते हुए पूर्णतया इसी पर निर्भर किया तथा अन्य इतिहासकारों ने भी उसके कार्य की प्रशंसा की। इस कारण आधुनिक इतिहासकारों ने भी लाहौरी द्वारा लिखे गये **पादशाहनामा** को एक महत्वपूर्ण स्रोत-ग्रन्थ स्वीकार किया है। परन्तु इसमें एक त्रुटि है। लाहौरी ने इस ग्रन्थ को लिखते हुए अबुल फजल की लेखन-शैली का अनुकरण किया जिसके कारण उसमें स्वाभाविकता की कमी हो गयी।

23. मुहम्मद वारिस का **पादशानामा**—अब्दुल हमीद लाहौरी के वृद्ध हो जाने पर शाहजहाँ के शासनकाल के इतिहास को पूर्ण करने का उत्तरदायित्व उसके शिष्य मुहम्मद वारिस को सौंपा गया। मुहम्मद वारिस ने इस कार्य की पूर्ति की और शाहजहाँ के काल के पूर्ण इतिहास को लिखा। उसने शाहजहाँ के काल के प्रथम बीस वर्षों के इतिहास को लिखने के लिए अब्दुल हमीद लाहौरी द्वारा रचित **पादशाहनामा** पर निर्भर किया परन्तु शाहजहाँ के समय के अन्तिम दस वर्षों के इतिहास को उसने स्वतन्त्र रूप से लिखा। उसने इन वर्षों के इतिहास को विस्तृत रूप से लिखा। उसने अपने लेखन में अब्दुल हमीद लाहौरी की शैली का अनुकरण किया। उसने घटनाओं को क्रमानुसार और तिथियों के अनुसार दिया है। शाहजहाँ के काल को जानने के लिए उसका यह ग्रन्थ एक महत्वपूर्ण स्रोत-ग्रन्थ माना गया है।

दरबार के विद्वानों के उपर्युक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त शाहजहाँ के काल के इतिहास पर तत्कालीन लेखकों द्वारा लिखी गयी अन्य पुस्तकें भी उपलब्ध हैं। उनमें मुहम्मद ताहिर उर्फ इनायत खाँ द्वारा लिखा गया **शाहजहाँनामा** जो शाहजहाँ के समय का पूर्ण इतिहास है। मुहम्मद सालिह कम्बू द्वारा रचित **अमल-ए-सालिह** और मुहम्मद सादिक खाँ द्वारा लिखा गया **शाहजहाँनामा** प्रमुख माने गये हैं। इनके अतिरिक्त इनसे पहले के लिखे गये कुछ ग्रन्थों से भी शाहजहाँ के जीवन और कार्यों को जानने में सहायता मिलती है। उनमें से कुछ जैसे अबुल फजल का **अकबरनामा**, जहाँगीर की आत्मकथा **तुजुक-ए-जहाँगीरी**, मोतमिदखाँ का **इकबालनामा** और ख्वाजा कामगार घारतखाँ का **मआसिर-ए-जहाँगीरी** मुख्य माने गये हैं।

औरंगजेब और उसके पश्चात् (1656-1761 ई.)

औरंगजेब ने अपने शासनकाल के इक्कीसवें (21वें) वर्ष में ऐतिहासिक पुस्तकों का लिखना वर्जित कर दिया था, तब भी उससे पहले और बाद में उसके समय में ऐतिहासिक पुस्तकें लिखी गयीं यद्यपि उनमें से कुछ उस समय छुपा कर

रखी गयीं। इनमें से प्रथम मिर्जा मुहम्मद काजिम द्वारा लिखी गयी आलमगीरनामा है। मिर्जा मुहम्मद काजिम ने इस पुस्तक को उस समय लिखा जबकि ऐतिहासिक ग्रन्थों का लिखना वर्जित न था। इस कारण, उसे राज्य के प्रपत्रों तथा अन्य दस्तावेजों को देखने की सुविधा मिल गयी थी। उसकी इस पुस्तक में औरंगजेब के शासन काल के पहले दस वर्षों की घटनाओं का उल्लेख किया गया है। उसका वर्णन बहुत प्रमाणित स्वीकार किया गया है और इन वर्षों के औरंगजेब के इतिहास को जानने का एक प्रमुख स्रोत-ग्रन्थ माना गया है। एक अन्य ग्रन्थ मआसिर-ए-आलमगीरी है जिसकी रचना मुहम्मद साकी मुस्तैदखाँ ने की। यह औरंगजेब के सम्पूर्ण शासनकाल का इतिहास है और एक प्रमाणित ग्रन्थ स्वीकार किया गया है। एक अन्य ग्रन्थ भी बहुत विश्वसनीय माना गया है। वह आकिलखाँ राजी द्वारा लिखा गया जफरनामा-ए-आलमगीरी है।

24. मुन्तखब-उल-लुबाब अथवा तारीख-ए-खाफीखाँ—यह ग्रन्थ बाबर द्वारा भारत पर आक्रमण किये जाने से आरम्भ किया गया है और उत्तरकालीन मुगल बादशाह मुहम्मदशाह के पन्द्रहवें वर्ष के शासनकाल तक के इतिहास का वर्णन करता है। इसकी रचना हाशिम खाफीखाँ ने की जो औरंगजेब के शासनकाल में एक सम्मानि तपदाधिकारी रहा और जिसे हैदराबाद के प्रथम शासक निजाम-उल-मुल्क ने दीवान का पद दिया। हासिम खाफीखाँ ने इस ग्रन्थ की रचना औरंगजेब के शासनकाल में ही आरम्भ कर दी थी परन्तु उसने अपने इस कार्य को छुपाकर रखा। बाद में बादशाह मुहम्मदशाह को उसने यह ग्रन्थ भेंट किया।

खाफीखाँ ने औरंगजेब के शासनकाल के इतिहास का विस्तार से वर्णन किया। उसकी लेखन-शैली बहुत अच्छी मानी गयी है। उसने दावा किया था कि उसने निष्पक्ष इतिहास लिखा है। डॉ. यदुनाथ सरकार ने उसे एक श्रेष्ठ इतिहासकार स्वीकार भी किया है। उसने शिवाजी की उदार धार्मिक विचारधारा की प्रशंसा की परन्तु अफजलखाँ की हत्या के लिए उसे दोषी ठहराया। इसी प्रकार, उसने अपने संरक्षक निजाम-उल-मुल्क की बहुत प्रशंसा की है। मुगल-दरबार की दलबन्दियों का वर्णन करते हुए उसने तूरानी दल को दोषी ठहराया क्योंकि वह स्वयं ईरानी था। बादशाह फर्रुखसियर की हत्या के लिए भी उसने मूलतया फर्रुखसियर को ही दोषी ठहराया। परन्तु तब भी खाफीखाँ के मुन्तखब-उल-लुबाब को मुगल-इतिहास को जानने के मुख्य ग्रन्थों में से एक स्वीकार किया गया है।

औरंगजेब के समय के इतिहास को उस काल के दो हिन्दू पदाधिकारियों ने भी लिखा। उनमें से एक है भीमसेन द्वारा रचित नुस्ख-ए-दिलकुशा और दूसरा है फतूहात-ए-आलमगीरी जिसे जोधपुर में नियुक्त हुए एक असैनिक अधिकारी ईश्वरदास ने लिखा और जो 1657-1698 ई. के राजस्थान के इतिहास को जानने में बहुत सहायता प्रदान करता है।

25. नुस्ख-ए-दिलकुशा—इस ग्रन्थ के रचयिता भीमसेन ने समय-समय पर मुगल-सरदार दाऊदखाँ, जोधपुर के शासक जसवन्तसिंह और बुन्देला सरदार दलपतराव की सेवा में कार्य किया। उसने फारसी भाषा का अच्छा अध्ययन किया था। अपने बाद के जीवन में उसने अपने इस ग्रन्थ को लिखा। हस्तलिखित रूप में यह ग्रन्थ लन्दन के ब्रिटिश म्यूजियम में सुरक्षित है।

फारसी में लिखा गया यह ग्रन्थ औरंगजेब के समय के इतिहास को जानने

में बहुत सहायता प्रदान करता है मुख्यतया तत्कालीन दक्षिणी भारत के। भीमसेन ने अपनी पुस्तक की रचना उस समय आरम्भ की जबकि वह अपनी नौकरी छोड़ चुका था। इस कारण, उसे किसी सरदार, पदाधिकारी अथवा बादशाह को सन्तुष्ट करने की आवश्यकता नहीं थी। उसने विभिन्न मुगल-सरदारों की अधीनता में कार्य किया जिसमें राजपूत-राजा जसवन्तसिंह भी सम्मिलित थे। इस कारण, उसे विभिन्न दृष्टिकोणों और सरदारों के हितों अथवा स्वार्थों को जानने का अवसर मिला। उसने उनके रहन-सहन और जीवनचर्या का भी गम्भीरता से अध्ययन किया। इस कारण, उसका ज्ञान बहुत कुछ व्यावहारिकता पर आधारित था। दक्षिणी भारत में उसने एक लम्बे समय तक राजकीय सेवा की और विभिन्न स्थानों को देखने का अवसर उसे मिला जिसके कारण वहाँ की परिस्थितियों का उसे अधिक अच्छा ज्ञान हुआ। इन सभी के कारण उसका ग्रन्थ **नुस्ख-ए-दिलकुशा** एक ज्ञानवर्धक स्रोत-ग्रन्थ बन सका।

भीमसेन ने इस ग्रन्थ में न केवल राजनीतिक घटनाओं का विवरण दिया अपितु उसके कारणों और परिणामों पर भी प्रकाश डाला, जैसे-उसने लिखा कि निरन्तर युद्धों के कारण मराठा-किसानों की आर्थिक स्थिति बहुत शोचनीय बन गयी थी जिसके कारण वे मराठा-स्वतन्त्रता-संग्राम में औरंगजेब के विरुद्ध मराठा-सरदारों की सेनाओं में भर्ती हो गये। भीमसेन ने विभिन्न मुगल-सरदारों के चरित्र और व्यक्तित्व को भी स्पष्ट रूप से इस ग्रन्थ में व्यक्त किया जो बहुत रोचक माना गया। उसने दक्षिणी भारत में हो रहे युद्धों और उनकी पद्धति का भी वर्णन किया। उसने शासन-व्यवस्था, सड़कों के निर्माण, आवागमन की सुविधाओं अथवा असुविधाओं, विभिन्न वस्तुओं की कीमतों, तत्कालीन उच्च वर्ग की स्थिति और उनके मनोरंजन के साधनों आदि का विवरण भी अपने इस ग्रन्थ में दिया। शिवाजी के काल के इतिहास को जानने में भी उसके ग्रन्थ से हमें बहुत सहायता प्राप्त होती है। उसने शिवाजी की मराठों को संगठित करने की योग्यता की बहुत प्रशंसा की है। उपर्युक्त कारणों से **नुस्ख-ए-दिलकुशा** एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ माना गया है जिसके कारण उसके रचयिता भीमसेन को आधुनिक काल में औरंगजेब के इतिहास को लिखने वाले एक योग्य इतिहासकार सर यदुनाथ सरकार ने 'एक महान् संस्मरण हिन्दू' लेखक के रूप में स्वीकार किया है।

मुगल-काल के इतिहास को जानने में सूर-वंश पर लिखे स्रोत-ग्रन्थ जैसे नियामतउल्ला द्वारा रचित **मखजान-ए-अफगानी**, अहमद यादगार द्वारा लिखी गयी **तारीख-ए-फीरोजशाही** तथा सैय्यद-वंश के इतिहास पर याहिया-बिन-अहमद द्वारा रचित **तारीख-ए-मुबारकशाही** भी उपयोगी सामग्री उपलब्ध कराते हैं। इनके अतिरिक्त, कुछ अन्य ग्रन्थ भी मुगल-इतिहास पर लिखे गये। पटना के खुदाबख्श पुस्तकालय में सुरक्षित एक अपरिचित लेखक का ग्रन्थ **तारीख-ए-खानदान-ए-तैमूरिद** के नाम से उपलब्ध है। इसमें तैमूर-वंश के इतिहास को अकबर के शासनकाल के बाईसवें (22वें) वर्ष तक दिया गया है। इस ग्रन्थ से मुगल-चित्रकला-शैली के विकास को समझने में बहुत सहायता प्राप्त होती है। 1724 ई. में मुहम्मद हादी कामवारखाँ द्वारा लिखी गयी **तजकीरात-उस-सलातीन-ए-चगतईया** पुस्तक अठारहवीं सदी के प्रारम्भिक वर्षों की घटनाओं की तिथियों को जानने में महत्वपूर्ण सहायता देती है। अनेक मुगल-अमीरों के जीवन और चरित्र पर प्रकाश डालने वाली शाहनवाजखाँ

द्वारा लिखी गयी **मआसिर-उल-उमरा** भी एक उपयोगी पुस्तक है। मुगल-काल में विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों का तुलनात्मक अध्ययन मुहसिन फानी ने अपनी पुस्तक **दबिस्तान-ए-मजाहिब** में बहुत सुन्दर ढंग से किया है। मुगल-काल के इतिहास पर लिखी गयीं वृन्दावनदास की **लुब्बत-तवारीख**, जफ्फर बेग और आसफखाँ द्वारा लिखी गयी **तारीख-ए-अल्फी** और सुजानराय खत्री द्वारा रचित **खुलासात-उत-तवारीख** भी महत्वपूर्ण पुस्तकें स्वीकार की गयी हैं।

26. खुलासात-उत-तवारीख—इस ग्रन्थ का लेखक सुजानराय पटियाला का रहने वाला था। उसने विभिन्न मुगल-अधिकारियों की सेवा में मुन्शी का कार्य किया। उसने दावा किया कि उसने अपने इस ग्रन्थ की रचना बहुत से प्राचीन ग्रन्थों के आधार पर की। उसने उन ग्रन्थों की सूची भी अपने ग्रन्थ में दी है।

खुलासात-उत-तवारीख भारत के इतिहास पर लिखा गया एक ऐसा ग्रन्थ है जिसमें महाभारत-काल के पाण्डव-वंश से लेकर औरंगजेब की मृत्यु तक के समय का इतिहास दिया गया है। परन्तु मुगलों से पहले के इतिहास को इसमें केवल संक्षिप्त रूप से दिया गया है। इस ग्रन्थ में भारत की प्रकृति, जलवायु, कृषि-उत्पादन और भारतीय जन-जीवन का वर्णन अच्छा है। इसमें प्राचीन हिन्दू राजाओं, गजनवी-वंश के शासकों द्वारा भारत पर आक्रमण, भारत में तुर्की-राज्य की स्थापना, दिल्ली-सुल्तानों के कार्य, आदि संक्षिप्त में दिये गये हैं। मुगल-बादशाह शाहजहाँ के शासन-काल का वर्णन भी इसमें संक्षिप्त है। परन्तु बाबर, हुमायूँ, अकबर तथा जहाँगीर के शासनकाल के इतिहास और औरंगजेब तथा उसके भाइयों के बीच हुए उत्तराधिकार के युद्ध का वर्णन इसमें विस्तृत रूप से किया गया है। उसके अनुसार शाहजादा खुसरो की हत्या में शाहजादा शाहजहाँ का हाथ था। अन्य विभिन्न राजनीतिक घटनाओं के कारणों पर भी उसने प्रकाश डाला है। इस ग्रन्थ को मुख्यतया मुगलों के इतिहास को जानने के लिए उपयोगी माना गया है।

मुगल-काल के इतिहास को जानने के लिए फारसी भाषा में प्रान्तों के इतिहास पर लिखे गये विभिन्न उपयोगी ग्रन्थ भी प्राप्त हैं। इनमें गुजरात के इतिहास पर अली मुहम्मदखाँ द्वारा लिखा गया **मीरात-ए-अरमदी**, बंगाल के इतिहास पर सलीमुल्ला द्वारा लिखा गया **तवारीख-ए-बंगाला**, गोलकुण्डा-राज्य के इतिहास पर हबीबुल्ला द्वारा लिखा गया **तारीख-ए-मुहम्मद कुतुबशाही**, बीजापुर-राज्य के इतिहास पर जहूर-बिन जहूरी द्वारा रचित **मुहम्मदनामा**, कश्मीर-राज्य के इतिहास पर हैदर मलिक द्वारा लिखा गया **तारीख-ए-काश्मीर** और मिर्जा हैदर दुगलात द्वारा रचित **तारीख-ए-रशीदी**, आदि प्रमुख हैं। अकबर के शासनकाल से संस्कृत में भी ऐतिहासिक पुस्तकों की रचना आरम्भ हुई। इनमें महेश ठाकुर द्वारा लिखा गया **सर्वदेशवृतान्त संग्रह** उर्फ **अकबरनामा**, पद्मसुन्दर द्वारा रचित **अकबरशाही-श्रृंगार-दर्पण**, चन्द्रशेखर द्वारा लिखा गया **सुर्जनचरित महाकाव्यम्**, आदि प्रमुख हैं। इस काल में हिन्दी तथा प्रादेशिक भाषाओं में भी विभिन्न ग्रन्थ लिखे गये।

इस काल में यूरोपीय यात्री भी पर्याप्त संख्या में भारत आये और उनमें से अधिकांश ने अपने विवरण लिखे जो इस काल के इतिहास को जानने में सहायता देते हैं। हॉकिन्स, सर थॉमस रो, डी लाइट, पीटर मुण्डी, बर्नियर, मनुची आदि ऐसे ही यात्री थे। बर्नियर एक फ्रान्सीसी यात्री था जिसने अपनी पुस्तक **ट्रैवल्स इन मुगल एम्पायर** में अपनी भारत-यात्रा का विवरण लिखा। 1671 ई. में अंग्रेजी में इसका

पहला अनुवाद प्रकाशित हुआ। बर्नियर शाहजहाँ के पुत्रों में हो रहे उत्तराधिकार के युद्ध के अवसर पर भारत पहुँचा था। उसने उस युद्ध, शाहजादों के चरित्र और व्यक्तित्व, शाहजहाँ के पुत्रियों के चरित्र और जीवन तथा कश्मीर तथा बंगाल की भौगोलिक तथा सामाजिक परिस्थितियों के बारे में विस्तृत रूप से लिखा। शाहजादों के सम्बन्ध में उसका वर्णन पर्याप्त ठीक है और कश्मीर के प्राकृतिक सौन्दर्य का वर्णन बहुत सुन्दर। परन्तु उसका सभी वर्णन मान्य नहीं है। उसे संस्कृत भाषा का ठीक ज्ञान नहीं था। उसे प्रतिष्ठित व्यक्तियों के सम्पर्क में लाने का अवसर कम मिला और भारतीय रीति-रिवाजों को समझने में वह असमर्थ रहा। इस कारण उसके विवरण में त्रुटियाँ हैं। परन्तु तब भी उसके विवरण से हमें भारत की तत्कालीन राजनीतिक, प्रशासकीय, धार्मिक और सामाजिक परिस्थितियों को जानने में पर्याप्त सहायता प्राप्त होती है। इसी प्रकार इटली के यात्री मनुची ने मुगल इतिहास पर अपने ग्रन्थ की रचना की। वह एक लम्बे समय भारत में रहा और भारत में मद्रास में ही उसकी मृत्यु हुई। उसने अपने ग्रन्थ **स्टोरियो डो मोगोर** को कभी इटालियन में, कभी फ्रेन्च में और कभी पुर्तगाली भाषा में लिखा। विलियम इरविन ने अंग्रेजी भाषा में इस ग्रन्थ का अनुवाद किया। यह अनुवाद चार जिल्दों में है। इसकी पहली जिल्द में तैमूर-वंश के इतिहास को आरम्भ से लेकर शाहजहाँ के पुत्रों में हुए उत्तराधिकार के युद्ध तक संक्षिप्त में दिया गया है। इसकी दूसरी जिल्द में औरंगजेब के शासनकाल की घटनाओं, उसके शासन, उसके कानून, जजिया और तीर्थयात्रा कर को लगाया जाना, शाहजादा अकबर का विद्रोह, शिवाजी का मुगलों से संघर्ष, मनसबदारी-प्रथा आदि का वर्णन विस्तृत रूप से किया गया है। इसकी तीसरी जिल्द में हिन्दू धर्म की मान्यताएँ, उनके रीति-रिवाज, सामाजिक प्रथाएँ, मुसलमानों के रीति-रिवाज आदि का वर्णन किया गया है। इसकी चौथी जिल्द में औरंगजेब का चरित्र, उसका दक्षिण-भारत का अभियान, मराठों से उसका युद्ध, उसकी युद्ध-शैली, औरंगजेब की मृत्यु, आदि का वर्णन किया गया है। मनुची का यह ग्रन्थ बहुत विस्तृत है। उसका शाहजहाँ के शासनकाल से पहले का विवरण विश्वसनीय स्वीकार नहीं किया जाता। परन्तु शाहजहाँ और औरंगजेब के शासनकाल के बारे में जो भी विवरण उसने दिया है वह पर्याप्त उचित माना गया है। परन्तु तब भी उसको सावधानी से देखने की आवश्यकता है।

2
बाबर
[1526—1530 ई.]

आठवीं सदी में अरबों द्वारा सिन्ध पर किया गया आक्रमण प्रभावहीन था। वस्तुतः मध्य एशिया की राजनीति और इस्लाम की बढ़ती हुई शक्ति का प्रभाव भारत पर ग्यारहवीं सदी में हुए महमूद गजनवी के आक्रमणों से आरम्भ हुआ। महमूद ने भारत की सम्पत्ति को लूटा, हिन्दू धर्म पर आघात किया और राजपूतों की युद्ध-शैली की दुर्बलता को स्पष्ट किया। परन्तु महमूद ने भारत में राज्य-स्थापना का प्रयत्न नहीं किया। 12वीं सदी में मुहम्मद गोरी ने साम्राज्य की स्थापना के उद्देश्य से भारत पर आक्रमण किये, और अन्त में वह सफल हुआ। उस समय से भारत की राजनीति में एक नवीन अध्याय आरम्भ हुआ। उस समय से पहले भी भारत के शासक आपस में शत्रुता, प्रतिस्पर्धा और साम्राज्य-विस्तार की लालसा से युद्ध करते रहे थे। परन्तु अब ये युद्ध दो धर्मों के मतभेदों, दो संस्कृतियों के अन्तरों और विशेष आक्रमणकारियों के यहाँ पर स्थायी रूप से बस जाने और आन्तरिक शक्तियों को उसने संघर्ष करने के प्रभाव और आधार पर लड़े गये। कठिन संघर्ष के पश्चात् मुसलमानों की शक्ति भारत में स्थापित हो गयी और उनके शासकों ने विदेशों से सम्पर्क समाप्त करके भारत को अपना देश स्वीकार कर लिया। जो सम्पर्क उनका विदेशों से रहा वह नाममात्र का, भावना अथवा समय-समय पर स्वार्थ की पूर्ति से प्रेरित था। 1175 में मुहम्मद गोरी के प्रथम आक्रमण से लेकर 1526 में मुगल-साम्राज्य की स्थापना तक विभिन्न मुसलमान शासकों ने भारत के विभिन्न क्षेत्रों पर राज्य किया। उसमें से प्रत्येक का प्रयत्न अधिक से अधिक अपने साम्राज्य का विस्तार करना था। इस साम्राज्य-विस्तार की लालसा की पूर्ति के लिए उन्होंने न केवल भारत के हिन्दू शासकों से ही युद्ध किये बल्कि आपस में भी युद्ध किये। तुर्क और अफगान विभिन्न राजवंश भारत की सत्ता के लिए निरन्तर संघर्ष करते रहे और गुलाम, खलजी, तुगलक, सैयद तथा लोदी जैसे राजवंशों में निरन्तर परिवर्तन होते रहे। परन्तु तब भी उनमें से कोई न तो भारत की राजनीति को व्यवस्थित कर सका और न सम्पूर्ण भारत को जीतने में सफल हो सका। निस्सन्देह, मुसलमान शासकों ने न केवल उत्तरी भारत में ही अपनी श्रेष्ठता को स्थापित करने में सफलता प्राप्त की बल्कि दक्षिण भारत में भी वे अपने राज्य स्थापित करने में सफल हुए, परन्तु वे हिन्दू शासकों को समाप्त करने में सफल न हुए और न भारत को एकता और व्यवस्थित शासन प्रदान करने में सफल हुए। उनके लम्बे समय में एक बात अवश्य हुई कि यह निश्चय हो गया कि मुसलमान भारत में बस गये थे। इससे हिन्दू और मुसलमानों

ने साथ रहना सीखा, दोनों की संस्कृतियों ने एक-दूसरे को प्रभावित किया और प्रारम्भिक धार्मिक कटुता भी कुछ मात्रा में कम होने लगी।

इस कारण, जिस समय बाबर ने भारत पर आक्रमण किया उस समय भारत की राजनीतिक अवस्था मुसलमानी आक्रमणों के आरम्भ के समय की भाँति ही दुर्बल और अस्थिर थी। इब्राहीम लोदी के समय में दिल्ली के सुल्तान का वैभव नष्ट हो गया था और उसका साम्राज्य बहुत छोटा हो गया था। बिहार स्वतन्त्र हो रहा था और पंजाब का सूबेदार दौलतखाँ लोदी स्वतन्त्र शासक के समान व्यवहार कर रहा था। उत्तर में बंगाल, मालवा, गुजरात, सिन्ध, कश्मीर, खानदेश और दक्षिण में बरार, अहमदनगर, बीजापुर, गोलकुण्डा और बीदर में स्वतन्त्र मुसलमानी राज्य थे। परन्तु इनमें से किसी की भी स्थिति बहुत दृढ़ और व्यवस्थित न थी। पारस्परिक संघर्ष, आन्तरिक विद्रोह, राजवंशों में परिवर्तन और राज्य की सीमाओं एवं राजनीति में परिवर्तन इनके लिए एक सामान्य बात थी। राणा संग्रामसिंह के नेतृत्व में राजपूतों की शक्ति राजस्थान में श्रेष्ठ थी। वह दिल्ली, गुजरात और मालवा के शासकों के लिए भी भय का कारण बना हुआ था। दक्षिण-भारत में कृष्णदेव राय के नेतृत्व में विजयनगर का संगठित और शक्तिशाली राज्य था और उड़ीसा में भी हिन्दू राज्य स्थापित था। परन्तु अपने-अपने क्षेत्र में शक्तिशाली होते हुए भी ये हिन्दू-राज्य भारत को राजनीतिक एकता और स्थिरता प्रदान करने में असफल थे। वे तो केवल इस बात का प्रमाण थे कि मुसलमान शासक सम्पूर्ण भारत को नहीं जीत सके थे और हिन्दू शासक अपनी खोई हुई राज्य-शक्ति को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील थे।

आर्थिक दृष्टि से भारत बाबर के आक्रमण के समय में भी धनवान था। कृषि, व्यापार और उद्योगों की दृष्टि से भारत सम्पन्न था। सांस्कृतिक दृष्टि से हिन्दू और मुसलमान, एक-दूसरे को समझने का प्रयत्न कर रहे थे, और एक-दूसरे के सामाजिक रीति-रिवाजों और धार्मिक विचारों को प्रभावित कर रहे थे। 15वीं सदी के अन्तिम समय से भक्ति-आन्दोलन का प्रादुर्भाव इसका प्रतीक था। अनेक सन्त और धर्म-प्रचारकों ने हिन्दू और मुसलमानों के धार्मिक मतभेदों को दूर करने का प्रयत्न आरम्भ कर दिया था जिससे मुगलों के समय की धार्मिक सहनशीलता की भावना की आधारशिला का निर्माण किया। अन्य प्रादेशिक भाषाओं के अतिरिक्त उर्दू भाषा का आरम्भ भी इस समय हो चुका था। सूफी मत भी भारत में बढ़ रहा था, और उस पर हिन्दू धर्म का प्रभाव आने लगा था।

[1]

मुगल-वंश

1526 में बाबर ने भारत में जिस राजवंश की स्थापना की वह तुर्की जाति का चगताई-वंश था परन्तु उसे मुगल पुकारा गया है। मुगल-वंश भारतीय इतिहास में गौरवपूर्ण स्थान रखता है। इस वंश ने भारत में एक बड़े साम्राज्य का निर्माण किया, भारत के अधिकांश भू-क्षेत्र को राजनीतिक एकता प्रदान की और उसे एक श्रेष्ठ शासन प्रदान किया। इस वंश में बाबर से लेकर औरंगजेब तक एक से एक योग्य और प्रतिभाशाली शासक हुए जिन्होंने शासक के गौरव और सम्मान में वृद्धि की। मुगल बादशाहों ने 'खलीफा' के आधिपत्य को किसी भी रूप में स्वीकार करने से इन्कार कर दिया। वे सभी अपने आप को पूर्ण स्वतन्त्र 'बादशाह' मानते थे। मुगलों ने भारतीय युद्ध-प्रणाली में परिवर्तन किये, और पहली बार तोपखाने और

घुड़सवार सेना के सन्तुलित प्रयोग की उपयोगिता को सिद्ध किया। मुगल-वंश की स्थापना के समय से भारत में धार्मिक उदारता की नीति प्रारम्भ हुई। मुगल बादशाह मुख्यतया राजनीतिज्ञ और साम्राज्य-निर्माता थे। धर्म-प्रचार उनके जीवन का लक्ष्य न था, यद्यपि धर्म उनकी राजनीति का साधन अवश्य बन सकता था। निश्चय ही जिस उद्देश्य को लेकर मुगल-साम्राज्य के निर्माता बाबर ने भारत पर आक्रमण किया वह उद्देश्य महमूद गजनवी और मोहम्मद गोरी के उद्देश्य से भिन्न था। सम्भवतया 300 वर्ष से अधिक समय के पारस्परिक सहवास ने भारत के हिन्दू और मुसलमानों को एक-दूसरे के निकट कर दिया था, और भारत में धर्मयुद्ध, जिहाद और धर्मान्धता के लिए स्थान नहीं रह गया था। निस्सन्देह, मुगल-वंश के समय से धार्मिक सहिष्णुता का समय प्रारम्भ होता है। मुगल-वंश के समय में भारत ने एक बार फिर विदेशों से सम्पर्क स्थापित किया। मुगल-वंश की महानता के समय में अफगानिस्तान भारतीय राज्य का एक अंग था, जिससे भारत के सम्बन्ध मध्य-एशिया और पर्शिया से स्थापित हुए। इसके अतिरिक्त मुगल-साम्राज्य के समय की एकता और समृद्धि के कारण भी भारत ने विदेशों और मुख्यतया उत्तर-पश्चिम के दूर-दूर के देशों के व्यापारिक और सांस्कृतिक सम्बन्ध स्थापित किये। सांस्कृतिक क्षेत्र में भी मुगल-वंश का भारतीय संस्कृति के लिए महत्वपूर्ण योगदान रहा। मुगल-वंश ने भारत को एक लम्बे समय तक राजनीतिक स्थायित्व और कुशल शासन प्रदान किया। इससे भारत के व्यापार, उद्योग और सम्पत्ति में वृद्धि हुई। इसका प्रभाव कला और साहित्य पर भी आया। मुगल-काल में वास्तुकला, चित्रकला, नृत्यकला, संगीतकला आदि सभी कलाओं और फारसी, उर्दू, हिन्दी आदि विभिन्न भाषाओं के साहित्य की प्रगति हुई। इन सभी कारणों से मुगल-वंश वैभवपूर्ण रहा, और उसने भारत के वैभव को बढ़ाने में सहायता दी। इसी कारण भारत में मुगल-वंश और उसके साम्राज्य की स्थापना भारतीय इतिहास की एक महत्वपूर्ण घटना है।

[2]

बाबर का प्रारम्भिक जीवन

बाबर भारत में मुगल-साम्राज्य का संस्थापक था। मुगल-वंश का वह पहला बादशाह था जिसने न केवल दिल्ली और आगरा को अफगानों से छीनकर अपनी राजधानी बनाया बल्कि उन्हें मुगल-शक्ति का केन्द्र-स्थान भी बनाया। उसके पश्चात् के मुगल बादशाह यह कभी न भूल सके थे कि उनकी शक्ति का स्रोत और राज्य का केन्द्र दिल्ली और आगरा था।

14 फरवरी, 1483 को फरगना के एक छोटे राज्य में जहीरुद्दीन मुहम्मद बाबर का जन्म हुआ था। पितृ-वंश की ओर से वह तैमूर का पाँचवाँ वंशज और मातृ-वंश की ओर से चंगेजखाँ का चौदहवाँ वंशज था। इस प्रकार संसार के प्रसिद्ध दो महान् विजेताओं का रक्त उनके शरीर में मिला हुआ था। उसके पिता का नाम उमर शेख मिर्जा था जो अपने छोटे राज्य से सन्तुष्ट न था और उसने अपने रिश्तेदारों से सम्बन्ध खराब कर लिये थे। 1494 में जबकि उसके साले अहमदखाँ और महमूदखाँ ने उसके राज्य पर आक्रमण कर रखा था, उमर शेख मिर्जा की मृत्यु हो गयी। उसी वर्ष (1494) अपने पिता की मृत्यु के पश्चात्, बाबर 11 वर्ष की छोटी आयु में ही गद्दी पर बैठा। गद्दी पर बैठने के समय से ही उसकी कठिनाइयाँ आरम्भ हो गयीं। उसके राज्य पर दो शत्रुओं ने आक्रमण कर रखा था। परन्तु अपनी

कूटनीति और दृढ़ता से उसने उनको वापस जाने पर विजय किया, और वह अपनी गद्दी को सुरक्षित रख सका। अगले दस वर्ष बाबर के लिए अत्यधिक कठिनाई के थे। सम्बन्धियों का विरोध और आन्तरिक षड्यन्त्र ही उसकी कठिनाई के कारण न थे बल्कि उसकी स्वयं की महत्वाकांक्षाएँ भी उसका कारण थीं। बाबर प्रारम्भ से अपने पूर्वज तैमूर की विजयों से प्रभावित था, और उसकी राजधानी समरकन्द को प्राप्त करने के लिए लालायित था। समरकन्द को जीतने का उसका पहला प्रयत्न (1496 में) असफल हुआ। 1497 में उसने उसे पहली बार जीता परन्तु वह उसे केवल 100 ही दिन अपने अधिकार में रख सका। 1501 में उसने पुनः समरकन्द को जीता, परन्तु इस बार भी उसे आठ महीने के पश्चात् उसे छोड़ना पड़ा। इस प्रकार दो बार जीतकर भी बाबर समरकन्द को अपने हाथ में न रख सका था। इसका मुख्य कारण, अपने नेता शैबानीखाँ के नेतृत्व में उठती हुई उजबेग-जाति की शक्ति थी। शैबानीखाँ के नेतृत्व में उजबेगों ने प्रायः सम्पूर्ण मध्य-एशिया को अपने अधिकार में कर लिया था। इस कारण, बाबर मध्य-एशिया की राजनीति में सफलता न पा सका। बल्कि यह समय ऐसा था जबकि दो बार बाबर ने फरगना को खोया, अपनी राजधानी अन्दिजान को खोया और अनेक अवसरों पर इधर-उधर खोहों और घाटियों में अपने कुछ साथियों के साथ अथवा अकेला ही भटकता रहा। उसने स्वयं लिखा था कि "उसने रमजान का त्यौहार दो बार एक ही स्थान पर नहीं मनाया।"

1501 में शैबानीखाँ से परास्त होकर जब बाबर इधर-उधर भटक रहा था, तब अफगानिस्तान की अस्थिर और दुर्बल राजनीति ने उसे वहाँ हस्तक्षेप करने का अवसर दिया। 1501 में काबुल के शासक और बाबर के चाचा उलुग बेग मिर्जा की मृत्यु हो गयी। उसके छोटे बच्चे अब्दुर्रजाक को एक सरदार मुकीम आरगो ने सिंहासन से पृथक् कर दिया, उसकी बहिन से विवाह कर लिया और पुराने सरदारों को उनके पदों से हटाकर अपने पक्ष के सरदारों को शक्ति प्रदान करने का प्रयत्न किया। इनका विरोध हुआ और अफगानिस्तान में अव्यवस्था फैल गयी। बाबर ने इसका लाभ उठाया और 1504 में काबुल पर आक्रमण किया। बिना किसी महत्वपूर्ण विरोध के बाबर का अधिकार काबुल और गजनी पर हो गया, और बाबर के अधिकार में एक बड़ा राज्य आ गया। काबुल में उसने अपनी शक्ति को संचित किया और सेना की संख्या में वृद्धि की। 1507 में यहीं पर उसने 'बादशाह' की पदवी ग्रहण की।

काबुल का शासक होने के पश्चात् भी बाबर समरकन्द को जीतने की लालसा को समाप्त नहीं कर सका। 1510 में 'मर्व' के युद्ध में ईरान के शाह इस्माइल से लड़ते हुए अपने मुख्य शत्रु शैबानीखाँ उजबेग की पराजय और मृत्यु का समाचार उसे प्राप्त हुआ। बाबर ने एक बार फिर समरकन्द को जीतने का निर्णय किया। शाह इस्माइल से उसने सन्धि कर ली और उससे सहायता प्राप्त की। 1511 में उसने एक बार फिर समरकन्द पर ही नहीं बल्कि बुखारा और खुरासान पर भी अधिकार कर लिया। अब बाबर के अधिकार में ताशकन्द से लेकर काबुल तक का सम्पूर्ण मध्य-एशिया का विस्तृत साम्राज्य आ गया। परन्तु बाबर अधिक समय तक इस ऐश्वर्य का उपभोग नहीं कर सका। शाह इस्माइल से उसके सम्बन्ध इसलिए खराब हो गये कि वह शिया मत का समर्थन बहुत अधिक नहीं कर सकता था, और समरकन्द की सुन्नी प्रजा उससे इसलिए अप्रसन्न हो गयी कि उसका ऐसा विचार बन गया

कि बाबर कट्टर शियाओं के हाथ की कठपुतली बन गया था और अपने वंश एवं अपनी प्रजा के सम्मान और धर्म की रक्षा करने में असमर्थ था। ऐसी परिस्थिति का उजबेगों ने लाभ उठाया। अपने नवीन नेता उबैदुल्लाखाँ के नेतृत्व में उजबेगों ने समरकन्द पर आक्रमण किया। बाबर ने शहर से बाहर निकलकर कुल-ए-मलिक नामक स्थान पर उनका मुकाबला किया। उसकी पराजय हुई और उसे समरकन्द छोड़ना पड़ा। इस प्रकार 1512 में समरकन्द पुनः बाबर के हाथ से निकल गया। यही नहीं बल्कि इसके पश्चात् बदख्शां को छोड़कर सम्पूर्ण मध्य-एशिया का साम्राज्य बाबर के हाथ से निकल गया। 1513 में बाबर काबुल वापस आ गया।

[3]

बाबर की भारत-विजय

A. लोदी सुल्तान से संघर्ष

बाबर आरम्भ से ही महत्वाकांक्षी था। एक बड़े साम्राज्य की स्थापना की लालसा उसे प्रारम्भ से ही थी। इसी आशय से उसने समरकन्द और मध्य-एशिया को जीतने का निरन्तर प्रयत्न किया था। अपने पूर्वज तैमूर की विजयें उसके जीवन को सर्वदा प्रेरणा प्रदान करने वाली रही थीं। भारत-विजय उसकी इस महत्वाकांक्षा का परिणाम थी। 1503 में, उसने एक बुढ़िया से तैमूर के द्वारा भारत पर किये गये आक्रमण की कहानी को सुना था। उससे भी उसे भारत पर आक्रमण करने के लिए प्रोत्साहन प्राप्त हुआ।

1. आक्रमण अथवा पानीपत के प्रथम युद्ध के कारण

परन्तु, सम्भवतया, बाबर भारत पर आक्रमण की योजना न बनाता यदि उसे मध्य-एशिया की राजनीति में सफलता मिल जाती। उत्तर-पश्चिम की ओर की असफलता ने उसे विश्वास दिला दिया कि यदि साम्राज्य स्थापित करना है तो उसे दक्षिण-पूर्व अर्थात् भारत की ओर बढ़ना होगा। उत्तर-पश्चिम की राजनीति भी उसके इस प्रयत्न के अनुकूल थी। इसमें सन्देह नहीं कि बाबर उत्तर-पश्चिम की ओर अपने राज्य के विस्तार की आशा नहीं कर सकता था, परन्तु इस अवसर पर उसे उत्तर-पश्चिम से आक्रमण की सम्भावना भी न थी। उजबेग अभी मध्य-एशिया में अपनी शक्ति को संचित करने के लिए प्रयत्नशील थे और ईरान तुर्की के सुल्तान सलीम से 1514 में बुरी तरह पराजित हुआ था। इस कारण, मध्य और पश्चिम एशिया में एक ऐसा शक्ति-सन्तुलन हो गया था जिसके कारण ईरानी या उजबेग काबुल पर आक्रमण करने की स्थिति में न थे। इसलिए, बाबर भारत-विजय की योजना को कार्य रूप में परिणत करने के लिए स्वतन्त्र था।

बाबर का चरित्र और क्षमता उसे भारत पर आक्रमण करने में सहायक थे। बाबर युद्धप्रिय, साहसी, कभी हार न मानने वाला और योग्य सेनापति था। निरन्तर युद्धों ने उसे अनुभवी और योग्य बना दिया था। असफलताओं का उसके जीवन में कोई महत्व न था। उसने स्वयं लिखा था : "क्योंकि मैं विजय और विस्तार की महत्वाकांक्षा से परिपूर्ण था, इस कारण एक या दो असफलताएँ मुझे चुपचाप बैठने और कुछ न करने के लिए बाध्य नहीं कर सकती थीं।"[1] निरन्तर प्रयत्न करते

---

1 "Filled as I was by the ambition of conquest and broad sway, one or two reverses could not make me sit down doing nothing."
—*Babur's Memoirs.*

रहना बाबर के जीवन का लक्ष्य था। उसने अपनी क्षमता और साधनों में भी वृद्धि की थी। अपने विरोधी तुर्क, मंगोल, उजबेग, ईरानी और अफगानों से युद्ध करते हुए उसने युद्ध के विभिन्न तरीके सीख लिये थे। उस्ताद अली और मुस्तफा नाम के तुर्की तोपचियों की सहायता से उसने एक बड़ा अच्छा तोपखाना तैयार कर लिया था जो भारत में उसकी सफलता का एक मुख्य कारण बना था। रशब्रुक विलियम्स ने लिखा है : "यदि भौतिक साधनों में से किसी एक को लिया जाय तो यह मानना पड़ता है कि भारत में उसकी निर्णयात्मक विजय का सबसे प्रमुख कारण उसका तोपखाना था।"[1] इस प्रकार, काबुल में रहते हुए बाबर ने उस क्षमता और साधनों को प्राप्त कर लिया था जिनके द्वारा वह अपनी साम्राज्य-विस्तार की लालसा की पूर्ति करने में समर्थ हो सकता था।

भारत की सम्पत्ति बाबर की लालसा को बढ़ावा देने वाली थी। आर्थिक दृष्टि से भारत सम्पन्न था और बाबर को इसका ज्ञान था। यद्यपि धन की लालसा बाबर के आक्रमण का प्रमुख कारण न थी परन्तु सहायक कारण अवश्य थी, क्योंकि वह उसके साथियों और सैनिकों को प्रेरणा प्रदान करने का एक साधन थी।

भारत की दुर्बल राजनीति ने बाबर को भारत पर आक्रमण करने की प्रेरणा और अवसर प्रदान किया। भारत राजनीतिक दृष्टि से विभक्त था। उत्तरी भारत में सबसे बड़ी शक्ति अफगानों की थी। दिल्ली और आगरा की शासन-सत्ता अफगानों के हाथों में थी। परन्तु दिल्ली का अफगान सुल्तान इब्राहीम लोदी सम्पूर्ण उत्तरी भारत का बादशाह न था। पंजाब से बिहार तक का भाग उसके अधिकार में था, परन्तु इस क्षेत्र में भी उसे अनेक विद्रोहियों और षड्यन्त्रकारियों का मुकाबला करना पड़ रहा था। बिहार में लोहानी-वंश के अफगान सरदार स्वतन्त्र होने का प्रयत्न कर रहे थे, और पंजाब में दौलतखाँ लोदी एक प्रकार से स्वतन्त्र शासक के समान व्यवहार कर रहा था। इब्राहीम लोदी के चाचा आलमखाँ लोदी ने स्वयं दिल्ली के सिंहासन पर दावा कर रखा था और दौलतखाँ लोदी के संरक्षण में रहकर दिल्ली को प्राप्त करने का प्रयत्न कर रहा था। निस्सन्देह, सिकन्दर लोदी की मृत्यु के पश्चात् दिल्ली के बादशाह की शक्ति और सम्मान में बहुत कमी हो गयी थी, और इब्राहीम लोदी अफगानों की स्वतन्त्र प्रकृति को काबू में रखने में असफल हो गया था। अफगान सरदारों को बादशाह के प्रति वफादार बनाये रखने के लिए जो प्रयत्न इब्राहीम लोदी ने किये थे उनसे एकता के स्थान पर फूट, शंका, भय और विद्रोहों को प्रोत्साहन प्राप्त हुआ था। गुजरात, मालवा और बंगाल में भी अफगान शासक ही थे, परन्तु इनमें से प्रत्येक अपने-अपने स्वार्थों और राज्य-विस्तार की लालसा में लिप्त था। उत्तरी भारत में अफगान-शक्ति प्रमुख होते हुए भी छोटी-छोटी विरोधी शक्तियों में बँटकर दुर्बल हो चुकी थी। लेनपूल ने लिखा है : "16वीं सदी के आरम्भ में भारत विभिन्न राज्यों का समूह मात्र था, और, इस कारण, एक विदेशी आक्रमणकारी के

---

1 "If there was one single material factor, which more than any other, conducted to his ultimate triumph in Hindustan, it was his powerful artillery." —*Rushbrooke Williams.*

द्वारा सरलता से जीता जा सकता था। एक संप्रभु शासक के प्रभाव में छोटे-छोटे शासकों का बोलबाला था और सुल्तान के आदेशों का कोई अर्थ नहीं था।''[1]

सिन्ध, कश्मीर, उड़ीसा और खानदेश उत्तरी भारत के अन्य स्वतन्त्र राज्य थे; परन्तु उनमें से कोई भी शक्तिशाली न था। उत्तरी भारत का एक दृढ़ राज्य राजस्थान में मेवाड़ का था। मेवाड़ के शासक राणा संग्रामसिंह (राणा साँगा) ने युद्ध-कौशल और कूटनीति से न केवल राजस्थान के समस्त राजपूत राजाओं को ही अपने साथ या अपनी अधीनता में कर रखा था बल्कि वह पड़ोस के गुजरात और मालवा के मुसलमान शासकों की शक्ति को दुर्बल करने के लिए भी प्रयत्नशील था। सम्भवतया, उसकी महत्वाकांक्षा दिल्ली और आगरा को भी अपने अधिकार में करने की थी। परन्तु वह भी अभी तक आन्तरिक संघर्षों से मुक्त नहीं हो सका था।

दक्षिण-भारत में विजयनगर शक्तिशाली साम्राज्य था जो तत्कालीन शासक कृष्णदेव राय के नेतृत्व में अपनी शक्ति की चरम सीमा पर था। दक्षिण-भारत का बहमनी राज्य पाँच छोटे राज्यों में बँट चुका था। ये राज्य बरार, अहमदनगर, बीजापुर, गोलकुण्डा और बीदर थे। दक्षिण के ये मुसलमान-राज्य न केवल आपस में लड़ते-झगड़ते रहते थे बल्कि इनका संघर्ष निरन्तर विजयनगर-राज्य से भी चलता रहता था। इस प्रकार, दक्षिण के राज्य अपने आन्तरिक संघर्षों में लगे हुए थे, उन्हें उत्तर-भारत की राजनीति की ओर ध्यान देने का अवसर न था।

इस प्रकार भारत की राजनीति में इस समय एकता और स्थिरता का अभाव था। निस्सन्देह, ऐसी स्थिति बाबर के आक्रमण के लिए एक सुअवसर था।

पंजाब के सूबेदार दौलतखाँ लोदी और इब्राहीम लोदी के चाचा आलमखाँ लोदी ने बाबर को भारत पर आक्रमण करने के लिए आमन्त्रण दिया। सम्भवतया बाबर के पंजाब में आ जाने के पश्चात् राणा संग्रामसिंह ने भी इब्राहीम लोदी के विरुद्ध बाबर को सहायता का आश्वासन दिया। दौलतखाँ लोदी पंजाब में अपने स्वतन्त्र अस्तित्व को सुरक्षित रखना चाहता था और आलमखाँ लोदी दिल्ली का बादशाह बनना चाहता था। इस कारण, दोनों ने इब्राहीम लोदी के विरुद्ध बाबर से सहायता माँगी। राणा संग्रामसिंह ने इस आक्रमण से दिल्ली के अफगानों की शक्ति के समाप्त अथवा दुर्बल होने की आशा की। बाबर का युद्ध इब्राहीम लोदी से होने पर दोनों में से एक समाप्त हो सकता था या दोनों दुर्बल हो सकते थे। ऐसी स्थिति में राणा संग्रामसिंह को दिल्ली को जीतने में सुविधा हो जाती। भारत के इन शासकों की जो भी योजना रही हो, परन्तु उनके आमन्त्रणों ने बाबर को भारत पर आक्रमण करने के लिए प्रोत्साहन अवश्य दिया, इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता।

तैमूर ने पंजाब को अपनी अधीनता में लिया था। यदि बाबर पंजाब को जीत लेता तो वह उस पर अपने कानूनी अधिकार की माँग भी कर सकता था। इस प्रकार बाबर ने पहले पंजाब में प्रवेश करके भारतीय स्थिति को समझने का प्रयत्न

---

1 "In the beginning of the 16th century, India was simply an congregation of states and, therefore, could easily be conquered by an aggressor. In absence of a sovereign power, petty rulers swayed over the land and the writ of the Sultan had no meaning."

—*Lane-Poole.*

किया। इसी कारण भारत पर उसने चार आक्रमण पहले किये और तब पाँचवें आक्रमण में उसने दिल्ली को जीतने का प्रयत्न किया, जिसका परिणाम पानीपत का प्रथम युद्ध था।

पहले के चार आक्रमण—बाबर का प्रथम आक्रमण 1519 के आरम्भ में हुआ। इस अवसर पर उसने सीमा के निकट के दो स्थान बाजौर और भेरा को जीता और वापस चला गया। उसके वापस जाते ही ये स्थान मुगलों के हाथ से निकल गये। उसका दूसरा आक्रमण सितम्बर 1519 में हुआ, परन्तु इस बार वह पेशावर से वापस चला गया। वास्तव में, बाबर के इन आक्रमणों का प्रमुख उद्देश्य भारत में प्रवेश करना न था बल्कि युसुफजाही-विद्रोहों को दबाना और भारत की सीमा का ज्ञान प्राप्त करना था। बाबर ने तीसरा आक्रमण 1520 में किया। इस बार बाजौर और भेरा के अतिरिक्त उसने पंजाब में प्रवेश करके सियालकोट और सैयदपुर पर भी अधिकार किया। बाबर का चौथा आक्रमण 1524 में हुआ। इस अवसर पर वह अपने राज्य की आन्तरिक स्थिति से सन्तुष्ट था और अपनी सुरक्षा के लिए वह कन्धार को जीत चुका था (1522)। इस कारण, उसने पंजाब में प्रवेश किया। लाहौर और हौपालपुर को जीतकर उसने पंजाब के अधिकांश भाग पर अपना अधिकार कर लिया। वह दौलतखाँ लोदी से असन्तुष्ट हो गया था जो सम्पूर्ण पंजाब को अपने लिये चाहता था। परन्तु उसके लड़के दिलावरखाँ और इब्राहीम लोदी के चाचा आलमखाँ लोदी को उसने संरक्षण दिया और उन्हीं को पंजाब की देख-रेख का उत्तरदायित्व देकर वह वापस चला गया। उसके वापस जाने पर दौलतखाँ लोदी ने दिलावरखाँ और आलमखाँ को भगाकर पंजाब के पर्याप्त भाग पर अपना अधिकार कर लिया। उसने बाद में आलमखाँ को साथ लेकर दिल्ली को भी जीतने का प्रयत्न किया। उसमें वह असफल हुआ।

नवम्बर 1525 में बाबर भारत को जीतने के उद्देश्य से काबुल चला। दौलतखाँ को शीघ्र ही आत्मसमर्पण करना पड़ा। उसे बन्दी बनाकर भेरा के नगर भेज दिया गया, परन्तु रास्ते में ही उसकी मृत्यु हो गयी। आलमखाँ भी शीघ्र बाबर की शरण में चला गया। इस प्रकार, पंजाब को जीतने में बाबर को कोई कठिनाई नहीं हुई। अब बाबर ने दिल्ली की ओर कदम बढ़ाये। इब्राहीम लोदी उसका मुकाबला करने के लिए पंजाब की ओर बढ़ा। दोनों की सेनाएँ पानीपत के मैदान में एक-दूसरे के सम्मुख आ गयीं।

2. पाँचवाँ आक्रमण और पानीपत का प्रथम युद्ध (21 अप्रैल, 1526)

बाबर ने अपनी आत्म-कथा में लिखा है कि उसने केवल 12,000 सैनिकों की सहायता से इब्राहीम लोदी को परास्त किया। इतिहासकार रशब्रुक विलियम्स ने उसकी सेना की संख्या को केवल 8,000 ही बताया है। परन्तु, सम्भवतया बाबर की सेना की यह संख्या उस समय होगी जबकि बाबर भारत पर आक्रमण करने के लिए चला था। डॉ. आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव का यह कहना अधिक तर्कसंगत है कि पंजाब को जीतने के बाद बाबर की सेना की संख्या में वृद्धि हो गयी थी, और युद्ध के अवसर पर उसकी संख्या 25,000 के लगभग होगी। उसी प्रकार इब्राहीम लोदी की सेना में 1,000 हाथी और 1,00,000 सैनिक बताये जाते हैं, परन्तु सम्भवतया उसके वास्तविक सैनिकों की संख्या लगभग 40,000 होगी। दोनों पक्षों की वास्तविक संख्या कुछ भी हो परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि इब्राहीम लोदी की सेना की संख्या बाबर की सेना

की संख्या से अधिक थी। एक सप्ताह तक दोनों पक्षों की सेनाएँ एक-दूसरे के सामने पड़ी रहीं। उसके बाद छुट-पुट युद्ध भी हुआ। परन्तु वास्तविक युद्ध का आरम्भ 21 अप्रैल, 1526 को प्रातःकाल हुआ और दोपहर तक उसका निर्णय हो गया। युद्ध में बाबर की विजय हुई, इब्राहीम लोदी मारा गया और अफगान सेना नष्ट हो गयी।

3. बाबर की सफलता के कारण

बाबर का तोपखाना, उसकी युद्धनीति—मुख्यतया 'तुलगमा युद्ध-नीति' का प्रयोग और उसके सेनापति की योग्यता उसकी विजय के मुख्य कारण थे। बाबर के पास एक अच्छा तोपखाना और बन्दूकें थीं, जबकि इब्राहीम लोदी के पास इनका सर्वथा अभाव था। बाबर ने अपनी सेना की सुरक्षा की व्यवस्था ठीक प्रकार की थी और अपने तुलगमा घुड़सवारों का प्रयोग समय पर और ठीक ढंग से किया था, जबकि इब्राहीम लोदी के युद्ध करने का तरीका पुराना था। इब्राहीम लोदी की सेना के हाथी उसके लिए हानिकारक सिद्ध हुए, क्योंकि तोपों और गोला-बारूद के सामने युद्ध करने में वे प्रशिक्षित नहीं थे। उससे घबड़ाकर उन्होंने स्वयं अपनी सेना का नाश किया। बाबर के सैनिक इब्राहीम के सैनिकों की तुलना में पूर्ण अनुशासित और प्रशिक्षित थे। बाबर की सेना और उसके सरदार उचित संगठन, योग्य नेतृत्व और विजय की इच्छा के कारण अधिक उत्साह में थे, जबकि इब्राहीम की सेना में एकता और उत्साह का अभाव था। यही नहीं, बल्कि अनेक सरदार क्षुब्ध और असन्तोष की भावना से पीड़ित थे। इस कारण, व्यक्तिगत साहस और बहादुरी के होते हुए भी इब्राहीम के सैनिक बाबर के सैनिकों की तुलना में दुर्बल थे। इब्राहीम एक कुशल सेनापति न था। बाबर ने उसके बारे में लिखा था : "वह एक अनुभव-हीन जवान आदमी था जो अपनी गतिविधियों में लापरवाह था, जो बिना किसी व्यवस्था के आगे बढ़ता था, बिना किसी तरीके के रुकता अथवा लौटता था, और जो बिना दूरदर्शिता के लड़ जाता था।"[1] इब्राहीम की तुलना में बाबर एक अधिक योग्य और अनुभवी सेनापति था। विभिन्न ज़ातियों से युद्ध करते हुए उसने न केवल अपने साहस में ही वृद्धि की थी, बल्कि अपने युद्ध-कौशल को भी बढ़ाया था। उसके सैनिक उसकी योग्यता और सैन्य संचालन में विश्वास करते थे। लेनपूल ने उनके बारे में लिखा है : "यह उनके बादशाह की ठण्डे दिमाग से सुविचारित नीति और देखभाल कर निश्चित किये गये तरीके थे जिन्होंने उनको पुनः विश्वास दिलाया और उनके भाग्य को बनाया।"[2] इन सभी परिस्थितियों ने बाबर की विजय में भाग लिया।

पानीपत का युद्ध बाबर की भारत-विजय का प्रथम चरण था। इसने भारत के भाग्य का तो नहीं लेकिन लोदी-वंश के भाग्य का निर्णय अवश्य कर दिया। अफगानों की शक्ति समाप्त नहीं हुई लेकिन दुर्बल अवश्य हो गयी, और उनकी एकता

---

1 "He was an inexperienced young man careless in his movements, who marched without order, halted or retired without method, and engaged without foresight." —*Babur's Memoirs.*

2 "It was their Emperor's cool conscience and watchful tactics that restored their confidence and gave them back their pluck." —*Lane-Poole.*

का आधार नष्ट हो गया। लेनपूल ने लिखा है : "दिल्ली के अफगानों के लिए पानीपत का युद्ध 'केनी' के समान साबित हुआ। वह उनके साम्राज्य का विनाश और शक्ति का अन्त था।"[1] बाबर के लिए यह अत्यन्त महत्वपूर्ण था।

4. युद्ध के परिणाम

युद्ध के पश्चात् बाबर ने दिल्ली तथा आगरा पर ही अधिकार नहीं किया बल्कि धीरे-धीरे लोदी-साम्राज्य के सभी भागों पर अधिकार कर लिया। इसमें सन्देह नहीं कि बाबर को अपनी स्थिति को दृढ़ करने के लिए और भी अन्य युद्ध करने पड़े परन्तु भारत में मुगल-वंश की नींव उसने इस युद्ध की विजय से डाल दी। लोदी-वंश के भाग्य का अन्तिम निर्णय भी इस युद्ध से हो गया। डॉ. आर. पी. त्रिपाठी ने लिखा है : "इसने लोदी-वंश के भाग्य को उसी तरह समाप्त कर दिया जिस प्रकार उसके पूर्वज तैमूर ने तुगलक-वंश के भाग्य को समाप्त किया था।"[2]

B. पानीपत के युद्ध के पश्चात्

पानीपत के युद्ध के पश्चात् बाबर की मुख्य समस्या अपने विजित प्रदेशों को संगठित करने और लोदी-वंश के अधीन अन्य क्षेत्रों को अपने अधिकार में करने की थी। इब्राहीम लोदी की पराजय के पश्चात् विभिन्न अफगान सरदारों ने अपने को स्वतन्त्र शासक घोषित कर दिया था। कासिम ने सम्भल में, निजामखाँ ने बयाना में, हसनखाँ ने मेवात में, जैतून ने धौलपुर में, तातारखाँ ने ग्वालियर में, कुतुबखाँ ने इटावा में, आलमखाँ ने कालपी में और बहारखाँ ने 'सुल्तान मुहम्मद' के नाम से बिहार में अपनी स्वतन्त्र सत्ता स्थापित कर ली थी। इब्राहीम लोदी का छोटा भाई महमूद लोदी अभी जीवित था और अफगानों एवं राजपूतों की सहायता से मुगल-वंश को भारत से निकाल बाहर करने के लिए प्रयत्नशील था। गुजरात और बंगाल के अफगान शासक न केवल इन विभिन्न अफगान सरदारों को सहायता ही दे सकते थे बल्कि स्वयं भी दिल्ली को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील हो सकते थे। मेवाड़ का शासक राणा साँगा भी पानीपत के युद्ध के परिणामों से उदासीन न था और बाबर का विरोध कर सकता था। उत्तरी भारत की साधारण जनता के लिए बाबर आक्रमणकारी था। अपने सम्मान और धन की सुरक्षा के लिए लोगों ने गाँव ख़ाली कर दिये थे और नगरों ने अपनी सुरक्षा के लिए अपने फाटक बन्द कर लिये थे। सड़कों और रास्तों पर लूटमार होने लगी थी तथा जन-जीवन अशान्त और असुरक्षित हो गया था। बाबर ने स्वयं लिखा था कि "भारतीय नागरिक मुगलों से घृणा करते थे", "सैनिकों के लिए अनाज और घोड़ों के लिए चारा उपलब्ध नहीं था", "आगरा और दिल्ली के अतिरिक्त प्रत्येक शहर की किलेबन्दी कर ली गयी थी" और "कोई भी उसकी आज्ञा को मानने के लिए तत्पर नहीं था।" बाबर के स्वयं के सैनिक और प्रभावशाली सरदार भी भारत की जलवायु से परेशान होकर घर लौट जाने के उत्सुक थे। इस प्रकार पानीपत के युद्ध ने बाबर की कठिनाइयों को समाप्त नहीं किया था बल्कि संगठन और व्यवस्था की दृष्टि से तो आरम्भ ही किया था।

---

1 "To the Afghans of Delhi the battle of Panipat was their Cannae. It was the ruin of their dominions, the end of their power." —*Lane-Poole.*

2 "It sealed the fate of Lody dynasty as effectively as his ancestor Timur had done of the Tughluqs." —*Dr. R. P. Tripathi.*

बाबर ने भारत में रहने और इन कठिनाइयों का मुकाबला करने का निर्णय किया। उसके इस निर्णय ने उसके सैनिकों और सरदारों को प्रभावित किया और उनकी दुविधा समाप्त हो गयी। उन्हें यह स्पष्ट हो गया कि उन्हें यहाँ रहना है और अपनी स्थिति को दृढ़ करना है। जन-साधारण में मुगलों के प्रति विश्वास बढ़ा और नागरिक अपने दैनिक कार्यों और घरों पर वापस लौटने लगे। बाबर ने उन सभी अफगान सरदारों को अपनी सेवा में ले लिया जिन्होंने स्वेच्छा से आत्मसमर्पण कर दिया। बाबर ने विभिन्न प्रदेशों को अपने सरदारों में बाँट दिया और उन्हीं को उन प्रदेशों को जीतने का उत्तरदायित्व दिया। इससे मुगल सरदारों को विजय के लिए प्रोत्साहन मिला और विभिन्न प्रदेशों को जीतकर मुगल-राज्य के अधीन किया। बाबर ने अपने पुत्रों और सरदारों में भारत में पाये गये धन को उदारता से वितरित किया। हुमायूँ को उसने कोहनूर हीरा दिया और अन्य सरदारों को भी उचित इनाम दिये गये। उसकी इस उदारता के कारण उसे 'कलन्दर' पुकारा गया, और उसके सरदार उसे प्रेम और सम्मान से देखने लगे। बाबर के उपर्युक्त प्रयत्नों से सफलता मिली। राज्य में न केवल शान्ति आयी बल्कि राज्य का विस्तार और संगठन भी हुआ। धीरे-धीरे आस-पास के सभी अफगान सरदार या तो बाबर की अधीनता में आ गये या उनके प्रदेशों पर अधिकार कर लिया गया। शीघ्र ही सम्भल, इटावा, कन्नौज, धौलपुर, जौनपुर, रापरी, गाजीपुर, कालपी, बयाना, ग्वालियर आदि विभिन्न स्थान बाबर के आधिपत्य में आ गये। लेकिन इससे पहले कि बाबर अफगानों की शक्ति को पूरी तरह से कुचल पाता, उसका संघर्ष राजपूतों से हुआ।

C. खानुवा का युद्ध (16 मार्च, 1527)

राजपूतों के विरुद्ध खानुवा के युद्ध का मुख्य कारण बाबर का भारत में रहने का निश्चय था। राणा साँगा का यह विचार था कि बाबर भी अन्य विदेशी आक्रमण-कारियों की भाँति देश को लूटकर वापस चला जायेगा। सम्भवतया, इसी कारण उसने इब्राहीम लोदी के विरुद्ध बाबर को सहायता देने का आश्वासन भी दिया था। परन्तु जब बाबर का भारत में रहने का निश्चय स्पष्ट हो गया तब उसने एक विदेशी की तुलना में स्थानीय अफगानों को अधिक उपयुक्त समझा। इसी कारण उसने हसनखाँ मेवाती से बाबर को भारत से बाहर निकालने के लिए सहायता माँगी, महमूद लोदी को दिल्ली का बादशाह स्वीकार किया और आलमखाँ लोदी को अपने यहाँ शरण दी। इसी कारण डॉ. एस. आर. शर्मा ने लिखा है: "यह युद्ध मुसलमानों के विरुद्ध हिन्दुओं का युद्ध न था, बल्कि यह एक विदेशी शत्रु के विरुद्ध संयुक्त राष्ट्रीय प्रयत्न था।"[1] बाबर के भारत में रहने से राणा साँगा का दिल्ली के अपने आधिपत्य अथवा संरक्षण में लेने का लक्ष्य पूरा नहीं हो सकता था जो, सम्भवतया, उसका विचार था। इस कारण, उसने बाबर को भारत से बाहर निकालने का निश्चय किया और इस कार्य में अफगानों की सहायता ली। ऐसी स्थिति में बाबर से राजपूतों का युद्ध आवश्यक बन गया। युद्ध के अन्य सभी कारण गौण थे। बाबर ने राणा साँगा पर दोषारोपण किया कि उसने इब्राहीम लोदी के विरुद्ध उसे सहायता नहीं दी और राणा ने बाबर पर

---

1 "It was not a war of the Hindus against the Muhammadans, but a united national effort against a common enemy of the country."
—*Dr. S. R. Sharma.*

यह दोष लगाया कि बाबर ने बयाना, धौलपुर और कालपी पर अवैध अधिकार किया है।

राजपूतों ने बयाना और आगरा को जीतने की दृष्टि से आगे बढ़ना आरम्भ किया। हसनखाँ मेवाती और महमूद लोदी भी उनसे आ मिले। बाबर ने, जो पर्याप्त समय से आगरा में था, इस युद्ध की पूर्ण तैयारी की। सम्भवतया, उसके अनुभव ने उसे संकेत दे दिया था कि यह युद्ध भारत में उसके भाग्य का निर्णय करने वाला होगा। राजपूत जाति बहादुर थी और प्रत्येक राजपूत युद्ध में मर जाना पराजित होकर जिन्दा रहने से उत्तम मानता था। बाबर के दो अग्रगामी दलों को राजपूतों ने पराजित कर भगा दिया। भाग कर आये हुए सैनिकों ने राजपूतों की संख्या, शौर्य और साहस के बारे में जो चर्चाएँ कीं उससे मुगल सैनिकों को पहली बार भय का अनुभव हुआ। काबुल के किसी ज्योतिषी ने भी यह भविष्यवाणी की कि यह युद्ध मुगलों के विपक्ष में जायेगा। इस युद्ध में बाबर का मुकाबला भी राणा साँगा से था जिसके बारे में यह विख्यात था कि उसने अपने जीवन में सौ युद्ध लड़े थे और उसके शरीर पर अस्सी घावों के चिह्न थे। निस्सन्देह, राणा साँगा भी बाबर की भाँति अनुभवी सेनापति था। ये सभी बातें मुगल-सेना के नैतिक मनोबल को कम कर रही थीं। ऐसी स्थिति में बाबर ने अपनी सेनापति, नेता और मानव-बुद्धि का पारखी होने की सहज बुद्धि का प्रयोग किया। अपने सैनिकों के मनोबल को बढ़ाने के लिए उसने नाटकीय ढंग से सभी के सम्मुख कभी शराब न पीने की शपथ ली, शराब के प्याले और बर्तन तुड़वा दिये, गजनी से आयी हुई शराब में नमक डलवा दिया, बची हुई शराब को जमीन पर उँड़ेल दिया, मुसलमानों को 'तमगा' अथवा व्यापारिक कर से मुक्त कर दिया, अपने सैनिकों के सामने एक जोशीला भाषण दिया, युद्ध के पश्चात् स्वदेश जाने के इच्छुक सैनिकों को वापस जाने देने का आश्वासन दिया और 11 फरवरी, 1527 को 'जिहाद' (इस्लाम की रक्षा के लिए धर्मयुद्ध) घोषित कर दिया। उसके इन कार्यों का उचित प्रभाव पड़ा। बाबर के सभी सैनिकों और सरदारों ने कुरान पर हाथ रखकर शपथ ली कि वे मरते दम तक युद्ध करेंगे।

16 मार्च, 1527 को फतेहपुर सीकरी से 10 मील दूर खानुवा नामक स्थान पर दोनों की सेनाओं का मुकाबला हुआ। रसब्रुक विलियम्स का यह कहना निराधार है कि बाबर और राणा साँगा की सेनाओं का अनुपात 1 : 8 का था। डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव का कथन अधिक तर्कसंगत है कि यह अनुपात 1 : 2 का था। बाबर की सेना में लगभग 40,000 सैनिक थे, जबकि राणा साँगा के पास लगभग 80,000 सैनिक थे। बाबर ने अपनी सेना की व्यूह-रचना प्रायः वही की थी जो उसने पानीपत के युद्ध के अवसर पर की थी और राजपूतों की सेना का वही तरीका था जिसे राजपूत परम्परा के आधार पर मानते आ रहे थे। 16 मार्च को प्रातः 9 बजे युद्ध आरम्भ हुआ जो लगभग 20 घण्टे तक चलता रहा। राणा साँगा युद्ध में घायल हो गया और युद्ध के बीच में ही उसे सुरक्षित स्थान पर ले जाना पड़ा। राजपूतों ने तोपखाने और मुगल घुड़सवारों के आक्रमणों का साहस और शौर्य से मुकाबला किया परन्तु अन्त में, राजपूत सेना तितर-बितर हो गयी और बाबर को विजय प्राप्त हुई।

श्रेष्ठ सेनापतित्व, श्रेष्ठ युद्धनीति, श्रेष्ठ सैन्य-संचालन, अवसर के अनुकूल साहस और तोपखाने के कारण बाबर की जीत हुई। युद्ध आरम्भ होने के थोड़े समय

पश्चात् ही राणा साँगा घायल हो गया और उसे युद्ध-स्थल से हटा दिया गया। राणा के स्थान पर झाला अज्जा को राजा का मुकुट पहना दिया गया जिससे सेना का साहस न टूटे। परन्तु यह सूचना सैनिकों से छिपी न रही और उनका मनोबल समाप्त हो गया। राणा के घायल हो जाने के कारण राजपूत सेना को राणा का कुशल नेतृत्व प्राप्त न हो सका। इस प्रकार, **राणा के घायल हो जाने से राजपूतों के मनोबल की कमी और कुशल नेतृत्व का अभाव भी बाबर** की सफलता के सहायक कारण बने।

यह युद्ध महत्वपूर्ण और निर्णयात्मक हुआ। **सैनिक दृष्टि से इस युद्ध ने मुगल हथियारों और युद्ध के तरीकों की श्रेष्ठता सिद्ध कर दी।** राजपूत शौर्य और साहस में मुगलों से कम न थे, उनका अनुशासन और संगठन भी ठीक था, उनमें से कोई भी देशद्रोही या शत्रु का गुप्तचर न था और वे योग्य नेतृत्व के अभाव में भी न थे। तब भी संख्या में अधिक होते हुए भी उनकी पराजय हुई। राजनीतिक दृष्टि से इस युद्ध से **राजपूतों की शक्ति दुर्बल हो गयी।** यह कहना उचित नहीं है कि राजपूतों की शक्ति समाप्त हो गयी क्योंकि यदि ऐसा होता तो गुजरात के शासक बहादुरशाह और नवीन अफगान शासक शेरशाह को कुछ वर्षों पश्चात् ही राजपूतों से कठोर संघर्ष न करना पड़ता। परन्तु राजपूतों की हानि बहुत अधिक हुई थी। प्रत्येक राजपूत-वंश ने अपने राजवंश के योग्यतम बहादुरों को खो दिया था। बाबर ने युद्ध में मारे गये राजपूतों के सिरों की एक मीनार खड़ी की और 'गाजी' (काफिरों को मारने वाला) की उपाधि धारण की। स्वयं राणा संग्रामसिंह बहुत बुरी तरह से घायल हुआ था और जनवरी 1528 में उसकी मृत्यु हो गयी। मेवाड़ का वह गौरव नष्ट हो गया जिसने राजपूतों को एकता प्रदान की थी। इसके पश्चात् राजपूत कभी भी संयुक्त न हो सके और उनका दिल्ली पर आधिपत्य करने का स्वप्न नष्ट हो गया। इसके साथ-साथ उत्तरी भारत के मुसलिम शासकों का राजपूत-शक्ति के उत्कर्ष का भय समाप्त हो गया। राजपूतों की शक्ति दुर्बल हो जाने से **अफगानों की मुगलों से संघर्ष करने की शक्ति भी दुर्बल हो गयी।** हसनखाँ मेवाती इस युद्ध में मारा गया और आलमखाँ लोदी तथा महमूद लोदी भाग गये। राजपूतों की सहायता से, सम्भवतया, वह मुगलों से संघर्ष करने में समर्थ हो जाते परन्तु अब ऐसी कोई आशा नहीं रह गयी। मुगलों और बाबर के लिए यह युद्ध निर्णयात्मक था। मुगल-वंश की स्थिति भारत में दृढ़ हो गयी। **इस युद्ध ने मुगल-वंश को भारत में स्थापित कर दिया। "बाबर की शक्ति का केन्द्र काबुल से हटकर हिन्दुस्तान हो गया।" बाबर का घुमक्कड़ और अस्थिर जीवन अब समाप्त हो गया।** रशब्रुक विलियम्स के शब्दों में, "युद्ध अब भी चल रहा था और युद्ध अभी बहुत करने थे, परन्तु ये शक्ति के विस्तार के लिए थे। अब युद्ध सिंहासन की सुरक्षा के लिए कभी नहीं लड़े गये।"[1]

D. चन्देरी की विजय (1528)

खानुवा के युद्ध के पश्चात् बाबर की एक मुख्य विजय चन्देरी की थी। चन्देरी व्यापार और राजनीति दोनों ही दृष्टियों से महत्वपूर्ण था। वह मालवा और बुन्देलखण्ड की सीमा पर था तथा मालवा एवं उत्तर-भारत की मुख्य सड़क वहाँ से

---

1 "Fighting there is, and fighting in plenty to be done, but fighting for the extension of his power. It is never fighting for his throne."
—*Rushbrooke Williams.*

गुजरती थी। चन्देरी पहले मालवा के अधीन था परन्तु बाद में वहाँ के सूबेदार मेदिनीराय ने राणा साँगा की अधीनता को स्वीकार कर लिया था और उसकी ओर से खानुवा के युद्ध में भाग लिया था। बाबर ने इस शक्तिशाली राजपूत सरदार को स्वतन्त्र छोड़ना उपयुक्त नहीं समझा। चन्देरी को जीतने से न केवल राजपूत-शक्ति ही और दुर्बल होती थी बल्कि बाबर को मालवा को जीतने में भी सुविधा हो सकती थी। बाबर ने शमसाबाद के बदले में मेदिनीराय से चन्देरी माँगा। उसके इन्कार करने पर उसने 1528 में उस पर आक्रमण किया। 29 जनवरी, 1528 को प्रायः एक घण्टे के कठोर आक्रमण के पश्चात् किले पर अधिकार कर लिया गया। मेदिनीराय युद्ध में मारा गया और हजारों की संख्या में राजपूत कत्ल कर दिय गये। मेदिनीराय की एक लड़की कामरान को और दूसरी लड़की हुमायूँ को भेंट-स्वरूप दे दी गयी। इस युद्ध के अवसर पर भी बाबर ने जिहाद घोषित किया था और युद्ध के पश्चात् राजपूतों के सिरों की मीनार बनवाई थी। चन्देरी को मालवा राजवंश के एक वंशज अहमदशाह को दे दिया गया।

E. घाघरा का युद्ध (1529)

चन्देरी को जीतने के पश्चात् बाबर की इच्छा रायसीन, भिलसा और सारंग-पुर को भी जीतने की थी जिससे उसे मालवा में प्रवेश मिल जाता, परन्तु यह सम्भव न हो सका। इस युद्ध से पहले ही अफगान पूर्व में एकत्र हो गये और कन्नौज तक बढ़ आये। अफगान सरदारों ने महमूद लोदी को पूर्व में बुला लिया था और बिहार उनके अधिकार में था। सम्भवतया, बंगाल का अफगान शासक नुसरतशाह उनकी सहायता कर रहा था। बाबर ने अफगानों की शक्ति को समाप्त करने के लिए पूर्व की ओर बढ़ना आरम्भ किया। अफगानों ने सरवार, वाराणसी और चन्देरी, इन तीन तरफ से आक्रमण कर रखा था परन्तु जब उन्हें बाबर के आगमन की सूचना मिली तो वे भागने लगे। उनमें से कई ने जैसे महमूदखाँ लोहानी, जलालखाँ, शेरखाँ सूर और फरीदखाँ आदि ने बाबर को आत्म-समर्पण के पत्र लिखे। परन्तु बिहार में अफगानों का व्यवहार अभी उद्दण्ड था और वे नुसरतशाह से बातचीत कर रहे थे। इस कारण, बाबर ने इस अवसर पर उनकी बातों पर ध्यान नहीं दिया और आगे बढ़ता गया। बाबर बंगाल के मामलों में बिल्कुल हस्तक्षेप नहीं करना चाहता था। उसने पत्र-व्यवहार के द्वारा नुसरतशाह से समझौता करने का प्रयत्न किया जिससे वह महमूद लोदी और उसके समर्थकों की सहायता न करे। परन्तु उसका कोई परिणाम नहीं हुआ। अन्त में, 6 मई, 1529 की घाघरा नदी के तट पर अफगानों से युद्ध हुआ। बाबर को पूर्ण सफलता प्राप्त हुई। अफगान सरदार उसके संरक्षण में आ गये। महमूद लोदी बंगाल भाग गया। बिहार का कुछ भाग मुहम्मदखाँ लोहानी को और अधिकांश भाग जलालुद्दीन को दे दिया गया। केवल कुछ भाग बाबर ने अपने अधीन रखा। शेरखाँ को भी माफ कर दिया गया और जलालुद्दीन ने उसे अपना मन्त्री बनाना स्वीकार कर लिया। बंगाल के शासक नुसरतशाह ने बाबर से सन्धि कर ली जिसके द्वारा दोनों ने एक-दूसरे की संप्रभुता और सीमाओं को स्वीकार कर लिया। नुसरतशाह ने यह भी वायदा किया कि वह बाबर के शत्रुओं को अपने यहाँ शरण नहीं देगा।

F. अन्तिम दिन और मृत्यु

घाघरा का युद्ध बाबर का अन्तिम महत्वपूर्ण युद्ध था। तीन बड़े युद्धों को

जीतकर बाबर ने भारत में सिन्धु नदी से लेकर बिहार तक और हिमालय से लेकर ग्वालियर और चन्देरी तक अपना राज्य स्थापित कर लिया था। उत्तरी भारत में मुगल-शक्ति को चुनौती देने वाली कोई शक्ति नहीं रह गयी थी। इस प्रकार मुगल राज्य भारत में स्थापित हो चुका था।

भारत में आकर भी बाबर ने मध्य-एशिया का ध्यान नहीं छोड़ा था। अपने वापस जाने वाले सैनिकों और सरदारों के साथ उसने 1527 में हुमायूँ को बदख्शां भेजा था। हुमायूँ को हिसार, हिरात और समरकन्द को जीतने के आदेश दिये गये थे। ये प्रदेश उजबेगों के हाथों में थे। सितम्बर 1528 में ईरान के शाह तहमास्प ने उजबेगों को बहुत बुरी तरह परास्त किया जिससे उजबेग-शक्ति को धक्का लगा। परन्तु तब भी हुमायूँ को उजबेगों के विरुद्ध कोई विशेष सहायता न मिली। वह उजबेगों से एक अस्थायी सन्धि करने में ही सफल हो सका। बाबर के अन्तिम समय तक मुगल मध्य-एशिया में सफलता पाने में असमर्थ रहे।

बाबर का अन्त समय भी निकट आ गया था। उसने हुमायूँ को सम्भल की जागीर प्रदान की थी। हुमायूँ वहाँ बीमार हो गया और उसे आगरा लाया गया। यह कहानी कि बाबर ने अपनी जिन्दगी के बदले में हुमायूँ की जिन्दगी ईश्वर से माँगी, अब इतिहासकारों के द्वारा स्वीकार नहीं की जाती है। डॉ. एस आर. शर्मा की नवीन खोज ने यह सिद्ध कर दिया है कि हुमायूँ की बीमारी के ठीक हो जाने के छह माह पश्चात् बाबर बीमार होना आरम्भ हुआ था। बाबर की बीमारी का हुमायूँ की बीमारी से कोई सम्बन्ध न था और बाबर की मृत्यु अपनी स्वयं की बीमारी से हुई थी। अधिकांश इतिहासकार इसी मत को स्वीकार करते हैं। डॉ. आर. पी. त्रिपाठी ने भी बाबर की बीमारी और मृत्यु का मुख्य कारण उसके व्यस्त जीवन, भारत की गर्म जलवायु, इब्राहीम लोदी की माँ के द्वारा उसे दिया गया जहर जिसे वह बर्दाश्त कर गया था तथा शराब और अन्य नशीली चीजों का अत्यधिक मात्रा में सेवन बताया है। 26 दिसम्बर, 1530 को बाबर की मृत्यु हो गयी। अपने मरने से पहले उसने हुमायूँ को अपना उत्तराधिकारी घोषित कर दिया। उसके शव को पहले आगरा के आरामबाग में दफनाया गया, परन्तु बाद में उसे काबुल में उसी के द्वारा चुने गये स्थान पर दफना दिया गया।

[4]

बाबर का चरित्र, मूल्यांकन और इतिहास में स्थान (भारत में मुगल-वंश का संस्थापक)

तत्कालीन और आधुनिक प्रायः सभी यूरोपियन और भारतीय इतिहासकारों ने बाबर के चरित्र की अत्यन्त प्रशंसा की है। 'तारीखे-रसीदी' के लेखक मिर्जा हैदर ने बाबर को "अनेक गुणों और विशेषताओं से परिपूर्ण, जिनमें बहादुरी और मानवता श्रेष्ठ थी"[1] बताया। बाबर की लड़की गुलबदन बेगम ने 'हुमायूँनामा' में बाबर की इसी प्रकार से प्रशंसा की। लेनपूल ने बाबर के व्यक्तित्व को "पूर्व के इतिहास में

1. चरित्र

1 "Adorned with various virtues and clad with numberless excellences, above all which towered bravery and humanity."
—Mirza Haidar : *Tarikh-i-Rashidi.*

सबसे अधिक आकर्षक व्यक्तित्व"[1] बताया । निःसन्देह व्यक्ति के रूप में बाबर का चरित्र सराहनीय था । शारीरिक दृष्टि से वह बहुत बलवान था । वह अपनी दोनों बगलों में दो आदमियों को दबाकर सरलता से किले की दीवार पर दौड़ सकता था । उसने भारत की सभी नदियों को तैरकर पार किया । निरन्तर 80 मील तक उसने घोड़े की पीठ पर सफर किया था । बेहद शराब और अन्य मादक द्रव्यों का प्रयोग करते हुए भी उसके शरीर ने अन्त समय तक उसका साथ दिया । इब्राहीम लोदी की माँ के द्वारा दिये गये जहर को उसने बर्दाश्त कर लिया । अधिक से अधिक गर्मी और सर्दी को भी उसके शरीर ने बर्दाश्त किया । वह आज्ञाकारी पुत्र, योग्य एवं प्रिय पिता, अच्छा सम्बन्धी, वफादार मित्र, स्नेही पति, कर्तव्यपरायण मनुष्य और सुशिक्षित व्यक्ति था । अपने पिता, माँ, नानी, दादी आदि सभी का उसने सम्मान किया और उनको सर्वदा प्रेम और सम्मान से याद किया । उसने अपने बच्चों की शिक्षा एवं योग्यता को बढ़ाने का पूर्ण प्रयत्न किया । हुमायूँ को उसने लिखा था : "बादशाह की भाषा, भाषाओं की बादशाह है ।"[2] उसने हुमायूँ को यह सलाह दी थी : "संसार उसका है जो परिश्रम करता है । प्रत्येक आपत्ति का मुकाबला करने से मत चूकना । परिश्रमहीनता और आराम बादशाहत के लिए हानिकारक हैं ।"[3] उसे अपने सभी बच्चों से प्रेम था । अपनी मृत्यु के अवसर पर उसने हुमायूँ से कहा था : "चाहे तुम्हारे भाई दोषी ही हों परन्तु उनके विरुद्ध कुछ न करना ।"[4] अपने सभी रिश्तेदारों की उसने सर्वदा सहायता की थी । अपने मित्रों के साथ वह प्रत्येक कठिनाई और हर्ष में साझीदार हुआ करता था । 1507 की एक घटना का वर्णन करते हुए उसने अपनी आत्मकथा में लिखा था : "बर्फीले तूफान में एक छोटी गुफा में अपने साथियों के साथ उसने एक रात काटी और अपने साथियों के लगातार कहने के बाद भी वह गुफा के अन्दर नहीं गया बल्कि गुफा के दरवाजे पर बैठा रहा ।" मुसलमान शासकों की परम्परा के अनुसार कई विवाह करते हुए भी उसने अपनी प्रत्येक पत्नी से प्यार किया । वह बेहद शराब पीता था तथा अन्य मादक वस्तुओं का भी प्रयोग करता था परन्तु वह नशे का गुलाम कभी नहीं बना । अपने कर्तव्य और उत्तरदायित्व के प्रति वह पूर्ण जाग्रत था । उसने अपने व्यक्तिगत दोषों को उनमें कभी भी हस्तक्षेप नहीं करने दिया था । उदारता, प्रेम, साहस, बहादुरी, सहानुभूति, दया और सद्व्यवहार के गुण बाबर में थे । इतिहासकार इलियट ने उसके बारे में लिखा है : "प्रसन्न स्वभाव, साहस, अत्यधिक उदारता, सांसारिक चतुराई और स्पष्टवादिता से पूर्ण बाबर का चरित्र ऐसा था कि यदि उसकी शिक्षा यूरोप में हुई होती तो वह हेनरी चतुर्थ के समान होता ।"[5] बाबर

---

1 "The most fascinating personality in the history of the East."
—*Lane-Poole.*

2 "The language of kings is the king of the languages."
—*Babur to Humayun.*

3 "The world is his who exerts himself. Fall not to quit yourself strenuously to meet every emergency ; indolence and ease agree ill with kingship."
—*Babur to Humayun.*

4 "Do nought against your brothers, even though they may deserve it."
—*Babur to Humayun.*

5 "Good humoured, brave, magnificent, sagacious and frank in his character, he might have been Henry IV if his training had been in Europe."
—*Elliot.*

मनुष्य-स्वभाव और परिस्थितियों को समझने वाला तथा विभिन्न भाषाओं और ज्ञान के अध्ययन का शौकीन, एक सुसंस्कृत व्यक्ति था। बाबर को बगीचे लगाने और इमारतें बनवाने का शौक था, और वह स्वयं उनकी देखभाल करता था। उसे गाने का भी शौक था। सम्भवतया शराब, गायन, बागवानी, फूलों, झरनों और प्रकृति से प्रेम आदि बाबर के ईरानी संस्कृति के सम्पर्क में आने के कारण थे।

धार्मिक दृष्टि से बाबर सुन्नी मुसलमान था और ईश्वर में उसका पूर्ण विश्वास था। उसने अपनी प्रत्येक सफलता का श्रेय ईश्वर को दिया। वह कहा करता था, "ईश्वर की इच्छा के बिना कुछ नहीं होता। उसकी दया पर निर्भर करते हुए हमें आगे बढ़ना चाहिए।"[1] परन्तु बाबर में धार्मिक असहनशीलता न थी। उसने ईरान के शिया बादशाह शाह इस्माइल से सन्धि की थी, जिसकी एक शर्त यह भी थी कि वह शिया-मत को अपने राज्य में फैलायेगा। उसके दरबार में धार्मिक कट्टरता के लिए कोई स्थान न था। निस्सन्देह, भारत में बाबर ने समय-समय पर धार्मिक असहिष्णुता का परिचय दिया था। उसने राणा साँगा और मेदिनीराय के विरुद्ध 'जिहाद' की घोषणा की, युद्धों के पश्चात् उसने 'गाजी' की उपाधि ग्रहण की, राजपूतों के सिरों की मीनारें खड़ी कीं, मुसलमानों को 'तमगा' से मुक्त कर दिया और अयोध्या में उसने एक ऐसे स्थान पर मस्जिद बनवाई जिसे श्री रामचन्द्र का जन्म-स्थान मानकर हिन्दू पूजते थे। भारत में बाबर की इस नीति के कारण एक विद्वान ने लिखा भी है: "बाबर का चरित्र इस्लाम की सभ्यता के एकाकीपन की भावना से पूर्ण था।"[2] परन्तु बाबर की भारत में अपनायी गयी इस नीति का मूल उद्देश्य धार्मिक न होकर राजनीतिक था। बाबर ने उपर्युक्त कार्य कुछ विशेष अवसरों और मुख्यतया युद्धों के अवसर पर किये थे। शासन की ओर से भारतीय जनता के प्रति कोई धार्मिक कट्टरता की नीति नहीं अपनायी गयी थी। डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव ने लिखा है: "यहाँ की जनता के प्रति बाबर का व्यवहार सल्तनत-युग के शासकों के व्यवहार की भाँति बुरा न था।" डॉ. एस. आर. शर्मा ने लिखा है: "ऐसा कोई प्रमाण नहीं है कि उसने धर्म के आधार पर कभी भी हिन्दू मन्दिरों को नष्ट किया हो अथवा हिन्दुओं पर अत्याचार किया हो।"[3] एक उदाहरण ऐसा भी प्राप्त होता है जबकि बाबर ने हिन्दू और तुर्की अमीरों को समान अधिकार दिया था। 1529 में घाघरा के युद्ध के अवसर पर उसने सभी हिन्दू और तुर्की अमीरों को सलाह के लिए बुलाया था। उसने लिखा था: "बृहस्पतिवार 19 शबन के दिन मैंने सभी हिन्दू और तुर्की अमीरों को बुलाया और नदी को पार करने के बारे में उनसे सलाह ली।"[4] डॉ. आर. पी. त्रिपाठी ने लिखा है: "निकट और मध्य-

---

1 "Nothing happens but by the will of God. Reposing ourselves on His protection, we must go forward." —*Babur.*

2 "Babur's character was typical of the individualistic tendencies of Islamic culture."

3 "There is no evidence of his ever having destroyed Hindu temple or otherwise persecuted the Hindus on account of their religion." —*Dr. S. R. Sharma.*

4 "On Thursday, 19th Shaban, I called the Amirs, both Turki and Hindu, to a council, and took their opinion about passing the river." —***Babur's Memoirs.***

पूर्व में शियाओं और सुन्नियों के बीच जो कुछ हुआ और जो पश्चिमी देशों में हुआ, उनकी तुलना में ये कार्य बहुत साधारण थे।"[1] इस कारण, यह स्वीकार किया जा सकता है कि बाबर व्यक्तिगत दृष्टि से धार्मिक था परन्तु बहुत कट्टर न था और शासन की दृष्टि से वह धर्मान्ध न था। भारत में जो कार्य उसने किये उनका मूल उद्देश्य धार्मिक न होकर राजनीतिक था।

बाबर एक विद्वान शासक था। निस्सन्देह, बाबर मुख्यतया एक सैनिक था और इतिहास में उसका स्थान मुख्यतया उसकी भारत की विजय के कारण है। परन्तु यदि बाबर ने भारत को न भी जीता होता तो भी एक विद्वान के रूप में उसे सर्वदा याद किया जाता। उसने 11 वर्ष की अल्पायु में ही शासन का उत्तरदायित्व सँभाला और उसके पश्चात् उसका जीवन निरन्तर युद्धों, संकटों और संघर्षों का रहा परन्तु इसके बावजूद भी जो योग्यता उसने शिक्षा और ज्ञान की दृष्टि से प्राप्त की, वह अद्वितीय थी। फारसी और अरबी भाषा का उसे ज्ञान था और तुर्की भाषा का वह विद्वान था। गद्य में उसकी तुलना तत्कालीन किसी भी व्यक्ति से नहीं की जा सकती। वह उनमें सर्वश्रेष्ठ था। तुर्की भाषा में लिखी हुई उसकी आत्मकथा साहित्य और इतिहास, दोनों ही दृष्टियों से श्रेष्ठ मानी गयी है। बैवरिज ने उसके बारे में लिखा है : "बेशकीमती एक ऐसा संकलन जो हर युग के लिए है।"[2] भाषा और तथ्यों का वर्णन, दोनों ही इसमें श्रेष्ठ हैं। बाबर का जो शौक, ज्ञान और सहजज्ञान मनुष्यों, परिस्थितियों और प्रकृति के बारे में था, उस सभी का वर्णन उसने इसमें किया है। वह सभी कुछ इतना सत्य, स्पष्ट, बुद्धिमत्तापूर्ण और रोचक है कि बाबर की 'तुजुक-ए-बाबरी' (बाबरनामा) संसार की श्रेष्ठतम आत्मकथाओं में स्थान रखती है। तुर्की पद्य की रचना में तत्कालीन विद्वानों में बाबर का स्थान केवल मीरअली शेरबेग के पश्चात् माना गया है। एक तत्कालीन लेखक, मिर्जा हैदर दगलात, जो बाबर का रिश्तेदार भी था, लिखता है : "तुर्की के लेखन में केवल मिर्जा अली शेरबेग ही उससे श्रेष्ठ था।"[3] पद्य की रचनाओं में उसके द्वारा किया गया संकलन 'दीवान' था जो तुर्की पद्य में श्रेष्ठ स्थान रखता है। उसने ख्वाजा उबैदुल्ला द्वारा लिखी हुई पुस्तक 'रिसाला-ए-वालीदिया' को तुर्की पद्य में लिखा था। न्याय पर भी उसने एक पुस्तक लिखी थी जिसे सभी ने स्वीकार किया था। उसकी एक रचना 'रिसाला-ए-उसज' थी जिसके लिखने की शैली को नवीन माना गया था और जिसे 'खत-ए-बाबरी' पुकारा गया था। बाबर का यह सभी कार्य श्रेष्ठ था। भाषा और शैली की दृष्टि से ही नहीं बल्कि ज्ञान की दृष्टि से भी इनको श्रेष्ठ माना गया है। इन सभी से बाबर की उस प्रतिभा का पता लगता है जो उसने भूगोल, प्रकृति-विज्ञान, प्राणी-विज्ञान, जीव-

1 "As compared to what happened in the Near and Middle East between the Shias and Sunnis and the Western countries, these cases are simply insignificant." —*Dr. R. P. Tripathi.*

2 "Is one of those priceless records which are for all time." —*Mrs. Beveridge.*

3 One of the relatives of Babur and a contemporary writer, Mirza Haider Dagalata wrote : "Only Mir Ali Sherbeg was ahead of him in writing of Turki."

विज्ञान तथा मनुष्यों की प्रकृति और परिस्थितियों को समझने की योग्यता, अपने अनुभव से प्राप्त की थी। निस्सन्देह, बाबर का स्थान एक विद्वान की दृष्टि से श्रेष्ठ था। लेनपूल ने लिखा है : "बाबर भाग्यवश सैनिक था, लेकिन साहित्यिक रुचि और अनुभव तथा आलोचनात्मक सहजबुद्धि वाले एक श्रेष्ठ व्यक्ति की दृष्टि से वह कम न था। उसके युद्ध और ऐश के उत्सव पद्य की भावना से मानवीय बने हुए थे।"[1]

एक सैनिक और सेनापति के रूप में बाबर प्रशंसनीय था। बाबर एक साहसी और कुशल सैनिक था। उसने अपने प्रारम्भिक जीवन में एक सैनिक की भाँति अपने साथियों के कन्धे से कन्धा मिलाकर युद्ध किये। उसमें असीम शारीरिक बल था। खतरा उठाने से वह कभी भयभीत नहीं होता था और घुड़सवारी तथा हथियार चलाने में वह कुशल था। डॉ. एस. आर. शर्मा ने लिखा है : "वह एक प्रशंसनीय घुड़सवार, अच्छा निशानेबाज़, कुशल तलवारबाज और बहुत सफल शिकारी था।"[2] इस प्रकार बाबर एक जन्मजात सैनिक था। सेनापति की योग्यता को बाबर ने अपने संघर्षमय जीवन के अनुभवों से प्राप्त किया था। बाबर ने अपने आरम्भिक जीवन में अनेक बार पराजय पायी थी। इस कारण, यह कहना भूल होगी कि वह चंगेजखाँ अथवा तैमूर की भाँति जन्मजात सेनापति था। परन्तु बाबर में तुर्कों की शक्ति, मंगोलों की कट्टरता और ईरानियों का उद्वेग तथा साहस सम्मिलित था। उसने निरन्तर युद्ध लड़े और परास्त भी हुआ परन्तु उसने कभी साहस नहीं छोड़ा। बाबर ने अपने युद्धों और पराजयों से लाभ उठाया। उसने उजबेगों से 'तुलगमा' युद्ध-नीति सीखी, मंगोलों और अफगानों से शत्रु को लालच देकर फँसाना और फिर उन पर प्रत्येक दिशा से आक्रमण करना सीखा, तुर्कों से तीव्रगामी घुड़सवार सेना का सफल प्रयोग सीखा, ईरानियों से बन्दूकों का प्रयोग सीखा और उस्तादअली तथा मुस्तफा नामक दो तुर्की अधिकारियों की सेवा प्राप्त करके न केवल तोपखाने का प्रयोग सीखा बल्कि एक बहुत अच्छा तोपखाना तैयार कराया। उसने विभिन्न जातियों से युद्ध करते हुए न केवल उनके हथियारों को चलाना ही सीखा बल्कि उनके सैन्य-संचालन को भी सीखा। उसके इन अनुभवों ने उसे एक ऐसी युद्ध-नीति और विभिन्न हथियारों के ऐसे सफल प्रयोग को सिखा दिया जिसके कारण वह बाद के समय में एक सफल सेनापति बन गया। भारत में उसकी सभी विजयों का कारण यही था। इसके अतिरिक्त, बाबर को अपने साथियों में विश्वास उत्पन्न करना आता था। वह उनकी वफादारी प्राप्त करना जानता था और उन्हें किसी भी लक्ष्य की पूर्ति के लिए प्रेरणा प्रदान कर सकता था। उसमें नेतृत्व करने का स्वाभाविक गुण था। वह अपनी सेना से बड़ी सेनाओं के मुकाबले से डरता न था। वह अपने शत्रु की शक्ति और दुर्बलता, दोनों को ही ठीक प्रकार से समझने का प्रयत्न करता था और उनका सदुपयोग अपने हित के लिए कर पाता था। अपने गुणों के कारण वह अपने अमीरों और सैनिकों में प्रिय था। परन्तु वह सम्मान प्राप्त करना भी जानता था। उसे अनुशासनहीनता पसन्द न थी। वह आज्ञा की अवहेलना करने पर अपने सैनिकों को कठोर दण्ड देता

1 "Soldier of fortune as he was, Babur was nonetheless a man of fine literary taste and fastidious critical perception. His battles as well as his orgies were humanized by a breath of poetry."
—*Lane-Poole.*

2 "An admirable horseman, a fine shot, a good swordsman, and a mighty hunter."
—*Dr. S. R. Sharma.*

था। फरिश्ता ने लिखा है : "यह निश्चय है कि केवल उसकी उपस्थिति के कारण ही दौलतखाँ लोदी के परिवार की रक्षा हो सकी थी।"[1] उसने भेरू में लूटमार करने वाले सैनिकों को दण्ड दिया था। उसने स्वयं लिखा था : "उनमें से कुछ को मैंने मृत्युदण्ड दिया है और कुछ अन्यों की नाकों में नकेल डलवाकर उसी हालत में उनको खेमों में घुमवाया।"[2] इस कारण, बाबर की सेना में न अनुशासनहीनता थी और न भगोड़ापन। इस प्रकार, बाबर एक योग्य सैनिक और सफल सेनापति था।

एक राजनीतिज्ञ और कूटनीतिज्ञ के रूप में बाबर पर्याप्त सफल था। बाबर ने सिंहासन पर बैठते ही इन गुणों का परिचय दिया था। अपनी दुर्बल स्थिति को देखकर उसने अपने मामाओं से समझौते के प्रस्ताव किये थे। ईरान के शिया बादशाह से सन्धि और समरकन्द को जीतने (तीसरी बार) से पहले ही ईरानी सेना को वापस भेज देना इसके प्रमाण थे। परन्तु एक राजनीतिज्ञ और कूटनीतिज्ञ की दृष्टि से उसका प्रमुख कार्य भारत में हुआ। चन्देरी की विजय के पश्चात् उसने बन्दिनी राजकुमारियों में से एक का विवाह हुमायूँ के साथ और दूसरी का विवाह कामरान के साथ किया जिसने मुगलों की भावी राजपूत-नीति के मार्ग को प्रशस्त किया। उसने जिस प्रकार भारतीय और अफगान अमीरों में सन्तुलन बनाकर रखा और जिस प्रकार उसने बिहार और बंगाल के शासकों से व्यवहार किया, वह सफल था। अनेक अफगान सरदार उसकी कूटनीति के कारण उसके साथ मिल गये थे। शेरखाँ से वह शंकित था, यह उसके इन शब्दों से ज्ञात होता है : "शेरखाँ का ध्यान रखना। वह एक बुद्धिमान व्यक्ति है और बादशाह के चिह्न उसके ललाट पर हैं।"[3] बाबर ने शेरखाँ की कोई हानि नहीं की बल्कि उसकी प्रगति में सहायता ही की, परन्तु उस अवसर पर जलालखाँ शेरखाँ की तुलना में अधिक खतरनाक हो सकता था। इस कारण, उसने शेरखाँ को उसके पास छोड़ दिया। इस प्रकार अफगानों और भारतीयों के साथ उसने अपने व्यवहार में कुशलता का परिचय दिया था। कम से कम छः हिन्दू राजाओं ने भी स्वेच्छा से उसके आधिपत्य को स्वीकार किया था।

बाबर एक अच्छा शासन-प्रबन्धक न था। उसमें इस योग्यता की कमी थी। यह केवल इसी से स्पष्ट नहीं होता कि उसने भारत में ही शासन-प्रबन्ध में कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन नहीं किये बल्कि काबुल के शासक के रूप में भी उसका कार्य सफल न था। उसने भारत में अपने साम्राज्य को सरदारों और अमीरों में बाँट दिया था और उन्हीं के द्वारा शासन चलाता था। एक प्रकार से यह एक ऐसी सैनिक शासन-व्यवस्था थी जिसमें प्रत्येक अमीर अपने-अपने क्षेत्र में शासन करने के लिए स्वतन्त्र था। समान शासन-व्यवस्था, लगान-व्यवस्था, कर-व्यवस्था और समुचित न्याय-व्यवस्था करने का प्रयत्न बाबर ने नहीं किया था। शक्तिशाली बाबर का व्यक्तित्व ही उस साम्राज्य को एक सूत्र में बाँधने वाला था। बाबर धन-सम्बन्धी

---

1 "It is certain, his presence alone saved the honour of Daulat Khan's family." —*Firishta.*

2 "I put some of them to death and slit the noses of some others and had them led about the camp in that condition." —*Babur's Memoirs.*

3 "Keep an eye on Sher Khan. He is a clever man, and the marks of royalty are visible on his forehead." —*Babur.*

मामलों में भी लापरवाह था। उसने दिल्ली, आगरा और ग्वालियर में प्राप्त हुए खजाने को अपने साथियों में बाँट दिया और बाद में भी राज्य की आय के साधनों में वृद्धि करने का उचित प्रबन्ध नहीं किया। इसी कारण बाद में उसे अपने बड़े-बड़े अमीरों से उनकी आय का 30% भाग लेना पड़ा। उस समय तो इससे कार्य चल गया परन्तु उसके पश्चात् हुमायूँ के समय में राज्य को निरन्तर आर्थिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। इसी कारण रशब्रुक विलियम्स ने लिखा है : "बाबर ने अपने पुत्र के लिए एक ऐसा राज्यतन्त्र छोड़ा जो केवल निरन्तर चलते रहने वाले युद्ध की परिस्थितियों में ही संगठित रह सकता था। शान्ति की स्थिति में तो वह दुर्बल, व्यवस्था-रहित और अस्थिर था।"[1] डॉ. आर. सी. मजूमदार ने भी लिखा है : "बाबर की हुमायूँ को विरासत बहुत ही अस्थिर प्रकृति की थी।"[2] डॉ. राधेश्याम ने एक अन्य दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार, बाबर की प्रशासकीय व्यवस्था में दोष अवश्य रहे परन्तु यह कहना भूल है कि उसमें प्रशासनिक क्षमता का अभाव था। वस्तुतः उसे अपनी इस क्षमता के प्रयोग के लिए समुचित समय नहीं मिला। उनके अनुसार बाबर का खुले हृदय से धन वितरण करने का आशय भी अपने सरदारों की वफादारी प्राप्त करना था, जो उस समय की परिस्थितियों में उसके लिए आवश्यक था।

परन्तु शासक के रूप में बाबर सफल था। इस दृष्टि से बाबर का एक प्रमुख कार्य बादशाह के सम्मान में वृद्धि करना था। बाबर ने अपने को 'सुल्तान' के स्थान पर 'बादशाह' पुकारा था। इस विषय में उसका विचार हिन्दू राजाओं के विचार के निकट था। उन्हीं की भाँति वह बादशाह को ईश्वर का अंश मानता था। बाबर ने इसी विश्वास के आधार पर बादशाह के सम्मान में वृद्धि की। सल्तनत-काल के बलबन, अलाउद्दीन खलजी और मुहम्मद तुगलक जैसे शासकों से प्रजा प्रेम नहीं करती थी बल्कि भयभीत थी, फिरोज तुगलक से प्रजा भय नहीं करती थी बल्कि उदासीन थी और फिरोज तुगलक के पश्चात् बादशाह के सम्मान में बहुत कमी हो गयी थी। अफगान अमीर अपने सुल्तान को कोई विशेष सम्मान देने को तैयार न थे। बाबर ने बादशाह को ऐसी स्थिति से निकालकर उसे श्रेष्ठ बनाया। बाबर की प्रजा उससे प्रेम करती थी और भयभीत भी थी। एक शासक के रूप में उसने प्रजा की भलाई का भी प्रयत्न किया। बदख्शां से बिहार तक फैले हुए अपने विस्तृत साम्राज्य में उसने शान्ति-व्यवस्था स्थापित की, सड़कों की सुरक्षा का प्रबन्ध किया, सराएँ बनवायीं, डाक-व्यवस्था का प्रबन्ध किया, चोर-डाकुओं से अपनी प्रजा के जीवन और सम्मान की सुरक्षा की, स्थानीय अधिकारियों को आदेश दिये कि वे प्रजा के साथ जुल्म न करें और इस प्रकार उसने अपनी प्रजा को आन्तरिक अशान्ति और विदेशी आक्रमण से सुरक्षा प्रदान करने में सफलता पायी। इलियट और डाउसन ने लिखा है कि भेरू पर आक्रमण के समय उसने कहा था : "क्योंकि उन देशों को जो

---

1 "Babur bequeathed to his son a monarchy which could be held together only by the continuance of war conditions which in times of peace was weak, structureless and invertebrate."

—*Rushbrooke Williams.*

2 "Babur's legacy to Humayun was of a precarious nature."

—*Dr. R. C. Majumdar.*

तुर्कों की सीमा में थे, मैं अपनी ही सीमा में मानता हूँ। इस कारण मैंने लूट-मार को बिल्कुल भी स्वीकार नहीं किया था।"[1] उसने सड़कों को नापने के लिए 'गज-ए-बाबरी' का प्रयोग कराया जो जहाँगीर के समय तक प्रयोग में आता रहा। वह प्रजा की सुख-सुविधा का पूरा ध्यान रखता था। राज्य का सबसे बड़ा अधिकारी होने के नाते, वह प्रजा का रक्षक था। उसकी प्रजा, न्याय और सहानुभूति के लिए उसी की ओर देखती थी। बाबर यह देखभाल करता था कि शासन करने वाले ठीक प्रकार से शासन करें। उसने आगरा, फतेहपुर सीकरी, बयाना, धौलपुर आदि में अनेक इमारतें बनवायीं, अनेक बाग लगवाये, फलों को उत्तम कोटि का बनाया और अनेक झरने और फव्वारे बनवाये। उसका दरबार अनुशासन का ही नहीं बल्कि संस्कृति का भी केन्द्र-स्थल था। एक शासक के रूप में बाबर ने न केवल अपनी प्रजा की सुख-सुविधा का ध्यान रखा बल्कि उसकी पूर्ति में सफलता पायी और प्रजा का प्रेम भी प्राप्त किया।

2. मूल्यांकन और इतिहास में स्थान (भारत में मुगल-वंश का संस्थापक)

इतिहासकार स्मिथ ने लिखा है: "बाबर अपने युग का एशिया का सबसे शानदार बादशाह था और वह किसी भी युग के और किसी भी देश के शासकों के बीच में एक सम्मानित स्थान प्राप्त करने योग्य था।"[2] इतिहासकार हैवेल ने उसे "इस्लाम के इतिहास का सबसे आकर्षक व्यक्ति"[3] कहा है, उसकी आत्मकथा के अनुवादक इर्स्किन ने कहा है: "सम्भवतया एशिया के बादशाहों में से एक भी ऐसा नहीं है जिसे हम न्यायपूर्वक उसके समान कह सकें।"[4] इस प्रकार विभिन्न इतिहासकारों ने विभिन्न प्रकार से बाबर की प्रशंसा की है। बाबर का चरित्र और व्यक्तित्व निस्सन्देह प्रशंसा के योग्य हैं। उसका प्रारम्भिक जीवन और उसके संघर्षों की कहानी भी इतनी ही प्रशंसनीय और रोचक है। परन्तु सम्भवतया बाबर को कोई याद भी न करता यदि बाबर ने भारत में सफलता प्राप्त न की होती। मध्य-एशिया में उसका जीवन सफल न था और अफगानिस्तान की विजय कोई महत्वपूर्ण विजय नहीं मानी जा सकती थी। इस कारण, इतिहास में बाबर का महत्वपूर्ण स्थान उसकी भारत की विजय के ही कारण है।

16वीं सदी में जबकि सम्पूर्ण संसार में राजतन्त्र ही एकमात्र मान्य शासन-व्यवस्था थी, भारत भी एक शक्तिशाली राजतन्त्र के अन्तर्गत ही पनप सकता था। बाबर के भारत में आने से पहले भारत की राजनीतिक स्थिति ऐसी न थी। बाबर ने अफगानों और राजपूतों की शक्ति को नष्ट करके एक साम्राज्य की नींव डालने के

---

1 "As I reckoned the countries that had belonged to the Turks as my own territories, I admitted of no plundering or pillage."
—*Elliot and Dowson.*

2 "Babur was the most brilliant Asiatic prince of his age, and worthy of a high place among the sovereigns of any age or country."
—*Vincent A. Smith.*

3 "The most attractive figures in the history of Islam." — *Havell.*

4 "We shall provably find no Asiatic prince who can justly be placed beside him." —*Erskine.*

लिए मार्ग प्रशस्त कर दिया। बाबर ने तीन महत्वपूर्ण युद्धों (पानीपत, खानुवा और घाघरा) को जीतकर भारत में मुगल-वंश के साम्राज्य की नींव डाल दी। उसने खलीफा के स्वामित्व को स्वीकार नहीं किया और स्वतन्त्र 'बादशाह' की उपाधि ग्रहण की। इसके द्वारा उसने न केवल एक नवीन प्रकार की बादशाहत को ही प्रारम्भ किया बल्कि शासन से धर्म को पृथक् करने की नीति को भी प्रारम्भ किया। बाबर मुगल-साम्राज्य को दृढ़ न कर सका था। इसी कारण यह कहा जाता है कि भारत में मुगल राज्य का वास्तविक संस्थापक बाबर नहीं बल्कि अकबर था जिसने इस वंश के राज्य को पुनः स्थापित किया, विस्तृत किया और दृढ़ बनाया। निस्सन्देह, अकबर को इन सभी बातों का श्रेय है और मुगल बादशाहों में उसे सबसे महान् माना गया है। परन्तु बाबर मुगल बादशाहों में प्रथम बादशाह था जिसने भारत पर आक्रमण किया, दिल्ली तथा आगरा पर अधिकार किया, अफगानों की एकता और शक्ति के आधार को नष्ट किया और राजपूतों की शक्ति को दुर्बल किया। इस कारण, भारत में मुगल-वंश की नींव डालने वाला बाबर था और इसी दृष्टि से वह मुगल-साम्राज्य का संस्थापक था। डॉ. एस. आर. शर्मा ने बाबर की तुलना इंगलैण्ड के ट्यूडर-वंश के शासक हेनरी सप्तम से की है। उनके कहने के अनुसार हेनरी सप्तम का इंगलैण्ड में और बाबर का भारत में प्रारम्भिक कार्य एक-दूसरे से पृथक् न था। दोनों को अपने नवीन प्राप्त किये हुए सिंहासनों पर अपने को स्थिर रखना था। दोनों को अपदस्थ की गयी शक्तियों के वैध अथवा अवैध उत्तराधिकारियों के विरुद्ध संघर्ष करना था। संक्षेप में, दोनों ने अपने नवीन देशों में एक शक्तिशाली लेकिन उदार राजतन्त्र को स्थापित करने का लक्ष्य बनाया। उन्हीं के शब्दों में "1526 में जहीरुद्दीन बाबर ने इब्राहीम लोदी को पानीपत के प्रथम युद्ध में परास्त करके भारत में एक नवीन युग का और दिल्ली के सिंहासन पर नवीन वंश का आरम्भ किया, जिस प्रकार सिर्फ 40 वर्ष पहले (1485 में) बोसवर्थ के मैदान के युद्ध को जीतकर हेनरी सप्तम ने इंगलैण्ड में किया था।"[1] डॉ. आर. पी. त्रिपाठी ने बाबर के बारे में कुछ और भी लिखा है। उसके अनुसार, मुगल-साम्राज्य का वैभव उसकी सैनिक शक्ति पर ही निर्भर न था बल्कि उसकी गैर-मुसलिमों, मुख्यतया राजपूतों, के प्रति उदार धार्मिक नीति और सांस्कृतिक पक्ष पर बल देने पर भी निर्भर था। अकबर की महानता को स्वीकार करते हुए भी यह कहा जा सकता है कि उसकी इस नीति का बीज उसके महान् बाबा (बाबर) ने डाला था। उन्हीं के शब्दों में "बाबर ने एक नवीन साम्राज्य के निर्माण का ही मार्ग प्रशस्त नहीं किया अपितु उसकी भविष्य की नीति और प्रकृति की ओर भी संकेत कर दिया था। उसने भारत में एक ऐसे राजवंश और ऐसी परम्परा को आरम्भ किया जिसकी समता किसी अन्य देश के इतिहास में कम ही पायी जाती है।"[2]

---

1 "In 1526, Zahiruddin Muhammad, Babur, by his victory over Ibrahim Lodi in the first battle of Panipat, ushered in a new era in India and a new dynasty on the throne of Delhi as Henry VII had done in England after his triumph on the field of Bosworth only forty years earlier (1485)." —*Dr. S. R. Sharma.*

2 "Babur had not only shown the way to found a new empire, but had also indicated the character and policy which should govern

विश्व-इतिहास में बाबर का स्थान एक विद्वान की दृष्टि से भी है। उसकी रचनाएँ मुख्यतया उसकी आत्मकथा, विश्व की श्रेष्ठतम रचनाओं में स्वीकार की गयी है। यह विश्वास किया जाता है कि बाबर ने किसी अन्य प्रकार से सफलता न भी प्राप्त की होती, तब भी विश्व उसे उसकी आत्मकथा के कारण ही सर्वदा याद रखता। इसी कारण इतिहासकार लेनपूल ने लिखा है: "बाबर के राजवंश का वैभव और शक्ति तो समाप्त हो गयी किन्तु समय को चुनौती देती हुई उसकी साहित्यिक कृति—उसके जीवन का विवरण—अभी तक विद्यमान है।"

[5]

बाबर की आत्मकथा और उसका भारत-विवरण

"899वें में रमजान के महीने में 12 वर्ष की आयु में फरगना देश में, मैं शासक बना।"[1] इन शब्दों में बाबर की आत्मकथा आरम्भ होती है जो साहित्यिक और ऐतिहासिक दोनों ही दृष्टियों से संसार की श्रेष्ठतम रचनाओं में स्थान रखती है। 'तुजुक-ए-बाबरी' अथवा 'बाबरनामा' को बाबर ने अपनी मातृभाषा तुर्की में लिखा था। पायन्दाखां और अब्दुर्रहीम खानखाना ने फारसी में इसका अनुवाद किया। कई यूरोपीय भाषाओं, मुख्यतया फ्रेंच और अंग्रेजी में भी इसका अनुवाद हो चुका है। इनमें सबसे श्रेष्ठ अनुवाद श्रीमती ए. एस. बेवरिज का माना गया है जो मूल तुर्की भाषा से किया गया है। बाबर कुछ समय की घटनाओं का विवरण नहीं लिख सका था। इस कारण 1508-1519, 1520-1525 और 1529-30 तक की घटनाओं का विवरण इसमें प्राप्त नहीं होता।

बाबर के जीवन की घटनाओं को जानने का प्रमुख साधन उसकी स्वयं की आत्मकथा है। उसकी बुद्धि, योग्यता और शौक के बारे में भी हमें उससे पता लगता है। बाबर के लिखने की शैली बहुत स्पष्ट और प्रभावशाली थी। इसके अतिरिक्त, उसमें प्रत्येक स्थान पर सत्यता प्रतीत होती है। बाबर ने कभी व्यक्ति और परिस्थिति को समझने में भूल की हो और उस भूल के कारण उसका विवरण गलत हो गया हो (जैसा कि उसके भारत-विवरण के बारे में कहा जा सकता है), यह अन्य बात है; परन्तु सत्यता उसके लिए प्रमुख थी, यह मानना पड़ता है। अपने चरित्र की दुर्बलताओं और अपनी भूलों को भी उसने स्पष्ट रूप से लिखा है। अपने ऐश के उत्सवों और अपने नशों के प्रयोग को भी वह लिखना नहीं भूला है। इसी कारण, लेनपूल ने लिखा है: "बिना किसी सहायक प्रमाण के यदि किसी एक ऐतिहासिक विवरण को समुचित प्रमाण स्वीकार किया जा सकता है तो वह बाबर की आत्मकथा है।"[2] बाबर ने केवल अपने जीवन की घटनाओं का ही विवरण नहीं दिया है बल्कि

---

it. He established a dynasty and a tradition in India, which have few parallels in the history of any other country."

—*Dr. R. P. Tripathi.*

1 "In the month of Ramzan of the year 899 (Hijra), in the tewelfth year of my age, I became ruler in the country of Farghana."

—*Babur's Memoirs.*

2 "If ever there was a case, when the testimony of a single historical document, unsupported by other evidence should be accepted as sufficient proof, it is the case with Babur's Memoirs."

—*Lane-Poole.*

समय-समय पर जो भावनाएँ उसकी रही थीं और जिस प्रकार विभिन्न घटनाओं की प्रतिक्रिया उसके हृदय में हुई थी, उनको भी उसने लिखा है। विभिन्न व्यक्ति, मित्र या शत्रु, जो उसके सम्पर्क या विरोध में आये, उनके बारे में उसने बहुत ही ईमानदारी और बारीकी से लिखा। दौलतखाँ लोदी, इब्राहीम लोदी, आलमखाँ, राणा साँगा आदि के बारे में भी उसने लिखा। उसने अपने द्वारा देखे गये सभी देशों की जलवायु, झरने, फूल-पत्ते, पहाड़ों, नदियों, जंगलों, वनस्पति, प्राकृतिक सौन्दर्य आदि सभी के बारे में लिखा। यह सभी कुछ इतने सुन्दर ढंग से लिखा गया था कि एक पढ़ने वाला इसे पढ़कर आत्म-विभोर हो सकता है। बाबर की स्पष्टवादिता, प्रकृति में शौक, मनुष्य के चरित्र और परिस्थितियों को समझने की बारीक बुद्धि, आदि सभी का पता हमें उसकी इस आत्मकथा से लगता है। बाबर की इस आत्मकथा के बारे में एलफिन्सटन ने लिखा है : "एशिया में पाये जाने वाले वास्तविक इतिहास का यही एकमात्र ग्रन्थ है।"[1]

बाबर ने अपनी आत्मकथा में **भारत का विवरण** भी दिया है। भारत की जलवायु, प्रकृति, भारतीयों के घर, वेश-भूषा तथा भोजन, राजनीतिक घटनाओं, राज्यों और राजाओं आदि सभी के बारे उसने लिखा है। बाबर ने लिखा है : "भारत प्रथम, द्वितीय और तृतीय जलवायु के बीच में है। इसका कोई भी भाग चौथे भाग में नहीं है।"[2] उसने लिखा : "सिन्धु नदी को पार करते ही देश, पेड़, पत्थर, घूमने वाली जातियाँ और व्यक्तियों के रिवाज और तौर-तरीके सभी हिन्दुस्तानी हैं।" भारत के प्रथम सम्पर्क का प्रभाव उस पर अच्छा नहीं हुआ था। उसने लिखा है ; "यहाँ व्यक्ति न सुन्दर हैं और न सुसंस्कृत। यहाँ न अच्छे घोड़े हैं, न अच्छे कुत्ते, न अच्छे अंगूर, खरबूजे और अन्य फल। यहाँ अच्छी रोटी नहीं मिलती, गरम पानी के हम्माम नहीं मिलते और न यहाँ उच्च विद्यालय हैं। यहाँ बत्तियों और मशालों का प्रयोग नहीं होता। मशालों के स्थान पर ये तेल के दीपकों का प्रयोग करते हैं जिनको नौकर अपने हाथों में लिये होते हैं। बड़ी-बड़ी नदियों और पहाड़ी झरनों के पानी को छोड़कर यहाँ पानी का अभाव है। यहाँ बगीचों के चारों तरफ दीवारें नहीं हैं। लोगों के रहने के मकान अच्छे नहीं हैं और न उनमें हवा का उचित प्रबन्ध है। किसान और निम्न श्रेणी के व्यक्ति अधिकांश नंगे रहते हैं। पुरुष केवल लँगोट का प्रयोग करते हैं और स्त्रियाँ एक ही कपड़े में अपनी कमर के नीचे के भाग सहित सिर को भी ढकती हैं।"

उसने लिखा : "हिन्दुस्तान की सबसे अच्छी बात यह है कि यह एक विस्तृत देश है और यहाँ सोना-चाँदी की भरमार है।"[3] बाबर यहाँ की वर्षा से बड़ा प्रसन्न होता था। उसने लिखा था : "यहाँ कभी-कभी एक दिन में 10, 15 या 20 बार वर्षा हो जाती है। यकायक यहाँ मूसलाधार वर्षा हो जाती है और वे नदियाँ जिनमें बिल्कुल पानी नहीं होता, पानी से भरकर बहने लगती हैं। वर्षा के समय

---

1 "Almost the only piece of real history in Asia." —*Elphinstone*.

2 "Hindustan is situated in the 1st, 2nd and 3rd climates. No part of it is in the 4th." —*Babur's Memoirs*.

3 "The chief excellence of Hindustan is that it is a large country and has abundance of gold and silver." —*Babur's Memoirs*.

यहाँ की हवा बहुत ही मजेदार हो जाती है। इसका सबसे बड़ा दोष सीलन और जंग लग जाना है। वर्षा के मौसम में हम अपने देश की कमानों का प्रयोग नहीं कर सकते। कवच, पुस्तक, वस्त्र, बर्तन आदि सभी पर इसका प्रभाव हो जाता है और सभी बेकार हो जाते हैं। वर्षा के अतिरिक्त गर्मी और जाड़ों में भी यहाँ अच्छी हवा चलती है। वर्षा से पहले यहाँ हवा 5 या 6 बार बहुत तेजी से चलती है और बहुत धूल उड़ती है, जिसे ये लोग आँधी पुकारते हैं। हिन्दुस्तान की एक बड़ी अच्छाई यहाँ बहुत बड़ी संख्या में हर प्रकार के काम करने वालों का मिलना है। उसने लिखा : "यहाँ अलग-अलग काम करने वालों की अलग-अलग जातियाँ हैं और प्रत्येक जाति अपने कार्य को पीढ़ी-दर-पीढ़ी करती है। मेरे आगरा में इमारतें बनवाते समय 680 कारीगरों ने काम किया था। आगरा, सीकरी, बयाना, धौलपुर, ग्वालियर और कोल आदि में मेरी इमारतों के लिए पत्थर काटने के लिए 1491 कारीगर कार्य करते थे। इसी तरह यहाँ हर तरह का कार्य करने के लिए अनगिनत दस्तकार और कारीगर हैं।"

भारत की राजनीतिक स्थिति का वर्णन करते हुए उसने लिखा : "भारत की राजधानी दिल्ली है—जब मैंने उस देश को विजय किया तो वहाँ पाँच मुसलिम और दो हिन्दू शासक राज्य करते थे।" दिल्ली, गुजरात, बहमनी, मालवा और बंगाल के मुसलमान शासकों तथा विजयनगर और मेवाड़ के हिन्दू शासकों का विवरण उसने दिया है।

बाबर का उपर्युक्त वर्णन न तो पूर्ण ही है और न ठीक ही। खानदेश, उड़ीसा, सिन्ध और कश्मीर राज्यों का बाबर ने वर्णन किया। पुर्तगाली भी दक्षिण भारत में प्रवेश कर चुके थे जिनका विवरण बाबर ने नहीं किया। इसके अतिरिक्त, बाबर का भारत-विवरण पर्याप्त नहीं माना जा सकता। उसी प्रकार बाबर का भारत-विवरण पूर्णतया सत्य भी स्वीकार नहीं किया जा सकता है। बाबर को भारत में बहुत कम समय मिला। अधिकांश समय वह युद्धों में लगा रहा, और जो कुछ भी उसने देखा, एक विजेता की दृष्टि से देखा। यदि उसे थोड़ा समय और मिलता, जब तक कि भारत की स्थिति स्थिर हो जाती और उसे भारत के सुसंस्कृत-वर्ग के सम्पर्क में आने का अवसर प्राप्त हो जाता, तब सम्भवतया उसकी राय स्वयं परिवर्तित हो जाती और वह भारत और भारत के निवासियों के बारे में ठीक निर्णय कर पाता। भारत के निवासी बाबर के आक्रमण के समय मिलनसार और सुसभ्य न थे, यह स्वीकार नहीं किया जा सकता। इस प्रकार, बाबर का भारत-विवरण हमें भारतीय इतिहास को जानने की सहायक सामग्री अवश्य प्रदान करता है परन्तु उसे पूर्णतया मान्य स्वीकार नहीं किया जा सकता है।

3

हुमायूँ

[1530—1556 ई.]

बाबर के सबसे बड़े पुत्र हुमायूँ का जन्म 6 मार्च, 1508 को काबुल में हुआ। उसकी माँ का नाम माहम सुल्ताना था। उसके छोटे भाई कामरान और अस्करी गुलरुख बेगम से और सबसे छोटा हिन्दाल दिलदार बेगम से उत्पन्न, बाबर की सन्तान थे। हुमायूँ की शिक्षा का अच्छा प्रबन्ध किया गया था जिसमें सैनिक-शिक्षा प्रमुख थी। पानीपत के प्रथम युद्ध और खानुवा के युद्ध में भाग लेने के अतिरिक्त अपने पिता के समय में हुमायूँ ने अन्य कई स्थानों पर अफगानों से संघर्ष करके अपनी सैनिक प्रतिभा का परिचय दिया था। हिसार-फिरोजा, बदख्शां और सम्भल की अपनी जागीरों की देखभाल करते हुए भी उसने युद्ध और शासन का अनुभव प्राप्त किया। अपनी मृत्यु के अवसर पर बाबर ने उसे अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया।

बाबर के प्रमुख मन्त्री निजामुद्दीन अली मुहम्मद खलीफा ने हुमायूँ को अयोग्य समझा और उसने उसके स्थान पर बाबर के बहनोई तथा बेगम खानजादा के पति मेंहदी ख्वाजा को गद्दी पर बैठाने का प्रयत्न किया। मेंहदी ख्वाजा प्रायः 20 वर्ष से बाबर की सेवा में था। वह अनुभवी योद्धा था तथा पानीपत और खानुवा के युद्धों में उसने सम्मानपूर्ण भाग लिया था। उसके विचारों में प्रौढ़ता थी और शासन-व्यवस्था से भी वह पर्याप्त परिचित था। इस कारण, उसे हुमायूँ की तुलना में योग्य उत्तराधिकारी समझा गया। खलीफा ने उससे मिलकर षड्यन्त्र किया। परन्तु एक भेंट के बाद जब खलीफा वापस गया तब मेंहदी ख्वाजा ने उसके विषय में अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा कि बादशाह बनने के पश्चात् वह ऐसे विश्वासघातियों को समाप्त कर देगा। इसकी सूचना खलीफा को मिल गयी जिससे अपने जीवन को खतरे में समझकर उसने वह विचार त्याग दिया और हुमायूँ का समर्थन किया। 26 सितम्बर को बाबर की मृत्यु हुई और चार दिन के पश्चात् 30 सितम्बर, 1530 को बिना किसी विरोध के 23 वर्ष की आयु में हुमायूँ मुगल सिंहासन पर बैठा।

[1]

हुमायूँ की प्रारम्भिक कठिनाइयाँ

अपने शासन के आरम्भ से ही हुमायूँ को अनेक कठिनाइयों का मुकाबला करना पड़ा। हुमायूँ को कुछ कठिनाइयाँ अपने पिता से विरासत के रूप में प्राप्त हुईं और कुछ उसके सम्बन्धी मिर्जाओं और भाइयों ने खड़ी कीं। लेकिन उसकी सबसे बड़ी कठिनाई उसके अफगान-शत्रु थे जो भारत से मुगल-वंश को निकाल बाहर

करने के प्रयत्नशील थे। इन कठिनाइयों के साथ-साथ हुमायूँ का अपना व्यक्तिगत चरित्र भी उसके लिए हानिकारक सिद्ध हुआ।

निस्सन्देह, बाबर ने हुमायूँ के लिए एक विस्तृत साम्राज्य छोड़ा था, परन्तु वह उस साम्राज्य की जड़ों को दृढ़ न कर सका था। बाबर अपने साम्राज्य को संगठित करने और उसकी उचित शासन-व्यवस्था करने में सफल नहीं हुआ था।

1. बाबर की विरासत

सम्पूर्ण साम्राज्य को अपने अमीरों और सरदारों में जागीरों के रूप में बाँटकर वह उसको अपने आधिपत्य में रखने में और उसमें शान्ति स्थापित रखने में अवश्य समर्थ था, परन्तु यह व्यवस्था साम्राज्य की जड़ों को दृढ़ करने और भारतीयों का विश्वास और सहयोग प्राप्त करने के लिए पर्याप्त न थी। मेलीसन ने लिखा है: "जब उसकी (बाबर) मृत्यु हुई तब तक पिछले मुसलमान राजवंशों की भाँति मुगल-राजवंश की जड़ें भी भारतीय भूमि में दृढ़ नहीं हो सकी थीं।"[1] बाबर ने दिल्ली और आगरा में प्राप्त हुए खजाने को बाँट दिया था। उसने अन्य अवसरों पर भी ऐसी ही उदारता का परिचय दिया था जबकि वह राज्य की आय के साधनों में वृद्धि न कर सका था। अपने समय में स्वयं बाबर ने आर्थिक कठिनाइयों को अनुभव किया, और हुमायूँ को ये कठिनाइयाँ विरासत के रूप में मिलीं। बाबर ने जो सलाह हुमायूँ को अपने भाइयों के साथ अच्छा व्यवहार करने की दी, वह भी हुमायूँ के लिए हानिकारक सिद्ध हुई।

हुमायूँ के तीनों छोटे भाई अयोग्य और गैर-वफादार सिद्ध हुए। व्यक्तिगत दृष्टि से साहसी और बहादुर होते हुए भी उनमें से कोई भी परिस्थितियों को समझकर उनके अनुकूल चलने वाला न था।

2. हुमायूँ के भाई

जबकि मुगल-वंश को एकता की आवश्यकता थी तब उन्होंने अपने व्यक्तिगत स्वार्थों, अधिकारों और महत्वाकांक्षाओं पर बल दिया, और जबकि उनके भाई को उनकी सहायता की सबसे अधिक आवश्यकता थी उसी अवसर पर वे उसके विरोध में हुए या उसकी तरफ से उदासीन हो गये। उनमें से एक भी किसी बड़े लक्ष्य का विचार अपने हृदय में न ला सका। स्वयं की अयोग्यता और कुटिल व्यक्तियों के प्रभाव के कारण उनमें से प्रत्येक हुमायूँ की कठिनाइयों में वृद्धि करने वाला सिद्ध हुआ।

मुगल-राजवंश से सम्बन्धित विभिन्न चगताई तुर्क बड़ी-बड़ी जागीरों को प्राप्त करके महत्वाकांक्षी हो गये थे और उनको शक्ति के आधार पर ही आधिपत्य में रखा जा सकता था। उनमें से कुछ ने मुख्यतया हुमायूँ के सम्बन्धियों ने, राज-सिंहासन

3. मिर्जा-वर्ग और उसके सम्बन्धी

को भी प्राप्त करने की लालसा की। बाबर के बहनोई मेंहदी ख्वाजा ने बाबर की मृत्यु पर ही सिंहासन को अपने अधिकार में करने का स्वप्न देखा यद्यपि वह सफल न हो सका। हुमायूँ के दो अन्य निकट के सम्बन्धियों मुहम्मद जमान मिर्जा और मुहम्मद सुल्तान मिर्जा ने समय-समय पर हुमायूँ के विरुद्ध विद्रोह किया और उसके

---

1 "When he died, the Mughal dynasty like the Muhammadan dynasties which had preceded it, had sent down no roots into the soil of Hindustan." —*Mallison.*

शत्रुओं का साथ दिया। इनमें से प्रत्येक अपने को बादशाह होने के योग्य समझता था। वे हुमायूँ के सहायक नहीं बल्कि शत्रु सिद्ध हुए।

हुमायूँ के प्रमुख शत्रु अफगान थे। वे यह नहीं भूल सके थे कि कुछ वर्षों पूर्व दिल्ली पर उनका ही आधिपत्य था। इस कारण उनमें से कई दिल्ली को अफगानों के आधिपत्य में करने का स्वप्न देखते थे। इब्राहीम लोदी का भाई महमूद लोदी भागकर बिहार चला गया था जहाँ सभी विद्रोही अफगान सरदार एकत्रित हो रहे थे। बंगाल का शासक खुले तौर से उनकी सहायता कर रहा था। गुजरात का शासक बहादुरशाह भी शक्तिशाली और महत्वाकांक्षी था। खानदेश और बरार के शासक उसकी कृपा के आकांक्षी थे, बीदर और अहमदनगर के शासकों ने उसके आधिपत्य को स्वीकार किया था तथा उसके पास एक बड़ी सेना, एक अच्छा तोपखाना और गुजरात जैसे धनाढ्य सूबे की आर्थिक शक्ति थी। उसने मालवा को जीत लिया था और राजस्थान पर उसका दवाव बढ़ता चला जा रहा था। दिल्ली को जीतने की उसकी लालसा थी और हुमायूँ से उसे कोई भय न था। फतहखाँ, कुतुबखाँ, आलमखाँ लोदी जैसे अफगान उसके यहाँ संरक्षण प्राप्त किये हुए थे। शेरखाँ और बंगाल के बादशाह से उसका पत्र-व्यवहार था। हुमायूँ का प्रत्येक शत्रु और विद्रोही बहादुरशाह से सहायता और संरक्षण की आशा कर सकता था।

4. अफगान

अफगानों में से ही एक अफगान सरदार शेरखाँ धीरे-धीरे दक्षिणी विहार में अपनी शक्ति को संगठित कर रहा था। आरम्भ में तो नहीं परन्तु कुछ समय पश्चात् वही हुमायूँ का सबसे कट्टर, योग्य और शक्तिशाली शत्रु सिद्ध हुआ।

5. सेना का राष्ट्रीय स्वरूप न होना

मुगलों की सेना राष्ट्रीय सेना न थी। उसमें उजवेग, मुगल, तुर्क, ईरानी, अफगान, भारतीय, आदि सम्मिलित थे जो अपनी ही जाति के सरदारों की अधीनता में थे। ऐसी सेना में एकता के स्थान पर ईर्ष्या और द्वेष की सम्भावना अधिक थी। ऐसी सेना केवल बाबर के समान प्रभावशाली सेनापति के नेतृत्व में उपयोगी हो सकती थी, अन्यथा योग्य सेनापतित्व के अभाव में वह दुर्बल थी।

6. हुमायूँ की व्यक्तिगत दुर्बलताएँ

जबकि मुगल-साम्राज्य इतने संकटों से घिरा हुआ था, उसे एक कठोर, अनुशासनप्रिय और एक योग्य सेनापति-शासक की आवश्यकता थी। हुमायूँ में इन गुणों का अभाव था। हुमायूँ साहसी होते हुए भी योग्य सेनापति न था और बुद्धिमान होते हुए भी नीतिज्ञ न था। उसमें परिस्थितियों को ठीक तरह से समझने की योग्यता न थी। उसमें दृढ़ता और निरन्तर प्रयत्न करते रहने की शक्ति का अभाव था और उसमें नेतृत्व करने की योग्यता न थी। हुमायूँ की सेना अब भी वही सेना थी जिसने पानीपत और खानुवा के युद्धों को जीता था परन्तु नेतृत्व के अभाव में वह सेना दुर्बल हो गयी थी। हुमायूँ की एक बड़ी दुर्बलता उसकी अत्यधिक उदारता थी जिसके बारे में लेनपूल ने लिखा है : "हुमायूँ की असफलता का एक मुख्य कारण, उसकी सुन्दर परन्तु विवेकरहित दयालुता थी।"[1] इस कारण, हुमायूँ के चरित्र के कुछ दोष भी उसकी प्रमुख कठिनाई थे।

1 "His failure was no small a measure due to his beautiful but unwise clemency." —*Lane-Poole.*

हुमायूँ ने अपने भाइयों को विस्तृत भू-प्रदेश दिये। आरम्भ में ही उसने अस्करी को सम्भल, हिन्दाल को मेवात और कामरान को काबुल तथा कन्धार प्रदान कर दिये। बाद में, उसने कामरान को पंजाब और हिसार-फिरोजा पर भी अधिकार कर लेने दिया। डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव के अनुसार यह हुमायूँ की एक बड़ी भूल थी क्योंकि जब मुगल-राज्य को एकता की आवश्यकता थी, हुमायूँ ने उसे टुकड़ों में बाँट दिया। परन्तु डॉ. आर. पी. त्रिपाठी के अनुसार यह कार्य हुमायूँ को प्राचीन तुर्क-मंगोल परम्परा के कारण बाध्य होकर करना पड़ा था। यदि वह ऐसा न करता तो चारों भाइयों में गृह-युद्ध की सम्भावना थी। इस बँटवारे का कारण चाहे हुमायूँ की उदारता हो और चाहे उसकी बाध्यता परन्तु एक गलती हुमायूँ ने अवश्य की थी। उसे कामरान को अपने उत्तर-पश्चिम के प्रदेश नहीं देने चाहिए थे जहाँ से मुगल-सेना को अच्छे सैनिक प्राप्त होते रहते थे। इसी कारण डॉ. ईश्वरीप्रसाद ने लिखा है: "यह सुविधाएँ देना हुमायूँ की भूल थी" क्योंकि इन्होंने उसे अफगान पहाड़ियों के परे के भू-क्षेत्रों से अलग कर दिया।"[1] कामरान के हाथों में हिसार-फिरोजा के चले जाने से दिल्ली कन्धार की मुख्य सड़क पर भी उसका अधिकार हो गया।

7. हुमायूँ का साम्राज्य-विभाजन

[2]

कठिनाइयों को दूर करने के प्रयत्न और अफगानों से संघर्ष

सिंहासन पर बैठने के कुछ माह पश्चात् ही हुमायूँ को संघर्ष में लगना पड़ा। उसके मुख्य शत्रु अफगान थे, और उन्हीं से उसके संघर्ष का आरम्भ हुआ। कालिंजर पर आक्रमण उस संघर्ष की एक कड़ी था। कालिंजर के शासक प्रतापरुद्रदेव के बारे में यह अनुमान किया गया था कि वह अफगानों के प्रति सहानुभूति रखता था। इस अवसर पर वह काल्पी पर अपना दबाव बढ़ा रहा था। यह हुमायूँ के लिए हानिकारक था क्योंकि काल्पी मालवा और यमुना की घाटी को मिलाने वाला स्थान था। विरोधी बादशाह के हाथों में होने से वह मुगल बादशाह के लिए संकट उपस्थित कर सकता था। यदि प्रतापरुद्रदेव के अधिकार में काल्पी आ जाता और वह गुजरात के शासक बहादुरशाह के पक्ष में हो जाता तो हुमायूँ को बहुत कठिनाई होती। इस कारण, मूलतया बहादुरशाह की बढ़ती हुई शक्ति को रोकने के लिए हुमायूँ को कालिंजर पर आक्रमण करने की आवश्यकता अनुभव हुई। 1531 में उसने कालिंजर पर आक्रमण किया। कालिंजर का किला एक पहाड़ी पर कई सौ फीट की ऊँचाई पर बना हुआ एक दृढ़ किला था। वह सर्वदा से तुर्कों और राजपूतों के बीच युद्ध का कारण बना हुआ था। उसे जीतना सरल कार्य न था। जब हुमायूँ किले का घेरा डाले हुए था, उसे सूचना प्राप्त हुई कि महमूद लोदी के नेतृत्व में अफगान बिहार से आगे बढ़कर जौनपुर की तरफ बढ़ते चले आ रहे थे। इससे पहले शेरखाँ ने चालाकी से चुनार के किले पर अधिकार कर लिया था। अफगानों की यह कार्य-

1. कालिंजर पर आक्रमण (1531)

---

1 "It was a mistake on Humayun's part to make these concessions, because they created a barrier between him and the lands beyond the Afghan hills." —*Dr. Ishwari Prasad.*

वाही हुमायूँ के लिए अधिक खतरनाक थी। इस कारण, कालिंजर के राजा से धन और सैनिकों की हानि का मुआवजा लेकर और एक सन्धि करके हुमायूँ वापस चला गया।

इस समय तक अफगानों ने महमूद लोदी के नेतृत्व में जौनपुर तक अपना अधिकार कर लिया था और वे अवध में अपनी शक्ति को दृढ़ कर रहे थे। हुमायूँ जब अपनी सेना को लेकर उधर पहुँचा तो दोहरिया नामक स्थान पर अफगानों ने उसका मुकाबला किया। शेरखाँ ने वक्त पर महमूद लोदी का साथ छोड़ दिया। अफगानों ने बहादुरी से मुगलों का मुकाबला किया परन्तु उनकी पराजय हुई। महमूद लोदी भाग गया और इसके पश्चात् राजनीति से पृथक् हो गया।

2. दोहरिया (दवरा) का युद्ध और चुनार का प्रथम घेरा (1532)

अब हुमायूँ ने चुनारगढ़ का घेरा डाल दिया। चुनार का किला न केवल दृढ़ था बल्कि महत्वपूर्ण भी था। आगरा को पूरब से मिलाने वाली भूमि और नदी, दोनों के मार्गों की सुरक्षा इस किले का अधिकारी कर सकता था। हुमायूँ ने शेरखाँ के हाथों से इसे छीनने का प्रयत्न किया। चार माह के घेरे के पश्चात् भी किले को जीतने की कोई आशा दिखायी न दी। इस बीच में गुजरात के शासक बहादुरशाह का दबाव राजस्थान पर बढ़ गया। ऐसी स्थिति में हुमायूँ ने शेरखाँ से समझौता कर लिया। किला शेरखाँ के आधिपत्य में छोड़ दिया गया, शेरखाँ ने मुगल आधिपत्य को स्वीकार कर लिया और अपने पुत्र कुतुबखाँ के नेतृत्व में एक सेना हुमायूँ की सेवा में छोड़ दी।

हुमायूँ आगरा वापस आ गया, जहाँ उसने करीब डेढ़ वर्ष ऐश-आराम में व्यतीत किया और बहुत-सा धन 'दीनपनाह' नामक एक किले को बनवाने में खर्च किया। डॉ. आर. पी. त्रिपाठी के अनुसार यह किला और नगर कामरान और बहादुरशाह की आकांक्षाओं को देखते हुए सुरक्षा के दृष्टिकोण से बनाया गया था। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि यदि हुमायूँ इस समय धन का उपयोग बहादुरशाह की बढ़ती हुई शक्ति के लिए करता, तो अधिक उचित था।

इसी अवसर पर (1534) मुहम्मद जमान मिर्जा और मुहम्मद सुल्तान मिर्जा ने मिलकर बिहार में विद्रोह किया। वे असफल हुए और कैद कर लिये गये (यद्यपि बाद में वे कैद से भाग गये)।

इस समय तक गुजरात के शासक बहादुरशाह की शक्ति में बहुत वृद्धि हो गयी थी। दक्षिण-भारत के कई राजाओं ने उससे सन्धियाँ कर ली थीं। 1531 में वह मालवा को जीत चुका था। 1532 में उसने रायसीन के महत्वपूर्ण किले को जीत लिया था और 1533 में उसने मेवाड़ को सन्धि करने के लिए बाध्य किया था। तुर्की के एक प्रसिद्ध तोपची रूमीखाँ की सहायता से उसने एक अच्छा तोपखाना भी तैयार कर लिया था। दिल्ली को विजय करना उसकी एक महत्वाकांक्षा थी। बंगाल के शासक और बिहार के शेरखाँ से उसका पत्र-व्यवहार था। हुमायूँ के सभी शत्रुओं को उसने शरण दी थी और इस अवसर पर मुहम्मद जमान मिर्जा को भी उसने शरण दी तथा हुमायूँ के उसे वापस माँगने पर देने से इंकार कर दिया। उसने मुगल-साम्राज्य को दुर्बल करने के लिए प्रयत्न आरम्भ कर दिये थे। आलमखाँ लोदी के लड़के

3. बहादुरशाह से संघर्ष (1535-36)

तातारखाँ को एक बड़ी सेना के साथ आगरा और दिल्ली की ओर आक्रमण करने के लिए भेजा गया। आलमखाँ लोदी को उत्तरी और पूर्वी भारत में विद्रोहियों को सहायता देने के लिए कालिंजर की ओर भेजा गया और स्वयं बहादुरशाह मेवाड़ पर आक्रमण करने के लिए आगे बढ़ा। तातारखाँ को हराकर मार दिया गया (1534) और आलमखाँ लोदी मुगलों को कोई हानि न पहुँचा सका। परन्तु यह समय बहादुरशाह के लिए बहुत सुविधा का था। कामरान पंजाब को छोड़कर कन्धार की सुरक्षा के लिए चला गया था, मुहम्मद सुल्तान मिर्जा ने कैद से भागकर पूरब में विद्रोह कर दिया था और इन सबसे अधिक खतरा शेरखाँ उपस्थित कर रहा था। शेरखाँ न केवल दक्षिणी बिहार का ही वास्तविक मालिक बन बैठा था बल्कि वह बंगाल को भी अपने अधिकार में करने के लिए प्रयत्नशील था। सूरजगढ़ के युद्ध (1534) में बंगाल की सेना को परास्त करने के कारण उसके सम्मान और शक्ति में वृद्धि हुई थी और विभिन्न अफगान सरदार उसके नेतृत्व में एकत्रित हो गये थे।

हुमायूँ को शेरखाँ की बढ़ती हुई शक्ति चुनौती दे सकती थी। परन्तु गुजरात का शासक बहादुरशाह उसे चुनौती दे रहा था और वह शक्तिशाली शत्रु था। हुमायूँ ने बहादुरशाह से निर्णायक युद्ध का निश्चय किया और अपनी सेना लेकर मालवा में प्रवेश कर गया। उस समय बहादुरशाह चित्तौड़ के किले का घेरा डाले हुए था। चित्तौड़ की राजमाता कर्णवती ने राखी भेजकर हुमायूँ से सहायता माँगी। बहादुर-शाह ने भी हुमायूँ से प्रार्थना की कि वह उस समय तक उस पर आक्रमण न करे जब तक कि वह काफिरों के विरुद्ध 'जिहाद' में लगा हुआ है। हुमायूँ ने धर्म के आधार पर की गयी बहादुरशाह की प्रार्थना स्वीकार कर ली परन्तु धीरे-धीरे चित्तौड़ की तरफ बढ़ता रहा और जनवरी 1536 में सारंगपुर जाकर रुक गया। डॉ. आर. पी. त्रिपाठी के अनुसार धर्म के अतिरिक्त हुमायूँ के सारंगपुर में रुक जाने के कुछ अन्य कारण भी थे। हुमायूँ बहादुरशाह का मुकाबला करने से पहले अपनी सेना को व्यवस्थित करना चाहता था तथा उसे मालवा में बहादुरशाह के विरोधी तत्वों को अपनी तरफ करने के लिए समय की आवश्यकता थी। हुमायूँ बहादुरशाह के दक्षिण के मित्र-राज्यों से शंकित था। वह ऐसा स्थान चुनना चाहता था जहाँ से वह माण्डू या अहमदाबाद से बहादुरशाह के लिए आने वाली सहायता को रोक सके और बहा-दुरशाह के वापस जाने के मार्ग को भी रोक सके। आलमखाँ लोदी कालिंजर की तरफ गया हुआ था और यह सम्भव था कि वह हुमायूँ पर पीछे की ओर से आक्रमण कर देता। उपर्युक्त कारणों से हुमायूँ ने बहादुरशाह पर आक्रमण नहीं किया और प्रतीक्षा की। 10 दिन के पश्चात् बहादुरशाह के तोपखाने के मुकाबले चित्तौड़ के किले का पतन हो गया। बहादुरशाह ने तीन दिन तक वहाँ लूटमार की। चित्तौड़ के पतन का समाचार प्राप्त होते ही हुमायूँ आगे बढ़ा और मन्दसौर के निकट पहुँच गया। बहादुरशाह की विजयी सेना हुमायूँ के मुकाबले आ गयी। परन्तु बहादुरशाह ने रूमीखाँ के परामर्श और अपने तोपखाने पर विश्वास करते हुए रक्षात्मक नीति अपनायी और हुमायूँ पर तुरन्त आक्रमण न किया। हुमायूँ ने अपनी सेना को गुजराती सेना की तोपों से दूर रखा और उसकी रसद के मार्ग को बन्द कर दिया। बहादुरशाह की सेना अपने ही जाल में फँस गयी। अकर्मण्यता और भुखमरी ने उनके साहस और आत्म-विश्वास को समाप्त कर दिया। एक रात अपने तोपखाने और अन्य बहुत-सी वस्तुओं को नष्ट करके या छोड़कर बहादुरशाह माण्डू की तरफ भाग गया। हुमायूँ

ने उसका पीछा किया। बहादुरशाह माण्डू से चम्पानेर, चम्पानेर से काम्बे और काम्बे से ड्यू भाग गया। हुमायूँ ने काम्बे तक उसका पीछा किया परन्तु वहाँ से चम्पानेर के दुर्ग को जीतने के लिए वापस आ गया। चम्पानेर का दुर्ग बहुत सुरक्षित और मज़बूत था। वहाँ अच्छा तोपखाना और भरपूर रसद थी। गुप्त-मार्ग से वहाँ रसद भी पहुँच रही थी। हुमायूँ ने उस स्थान को खोज निकाला जहाँ से किले की दीवार केवल 60 या 70 मीटर ऊँची थी, और उसमें कीलें ठोककर उसने स्वयं अपने लगभग 300 सैनिकों को लेकर अचानक आक्रमण कर दिया। किलेदार इख्तियारखाँ को आत्मसमर्पण करना पड़ा। यहाँ हुमायूँ को बहुत-सा धन प्राप्त हुआ जिसे उसने अपने सरदारों और सैनिकों में उदारतापूर्वक बाँटा।

उस समय तक लगभग सम्पूर्ण मालवा और गुजरात हुमायूँ के अधिकार में आ चुके थे। माण्डू और चम्पानेर के किलों की विजयें हुमायूँ की महान् विजयें थीं। अपने भाई अस्करी को गुजरात का सूबेदार बनाकर और हिन्दूबेग को उसकी सहायता के लिए छोड़कर हुमायूँ मालवा चला गया। परन्तु जो विस्तृत साम्राज्य हुमायूँ को प्राप्त हुआ था उसके संगठन की आवश्यकता थी। बहादुरशाह जीवित था, गुजरात और मालवा के अधिकांश नागरिक और सरदार अब भी बहादुरशाह को अपना शासक मानते थे, रणथम्भौर, चित्तौड़ और अजमेर के किले अब भी अफगानों के अधिकार में थे और बहादुरशाह का विश्वासपात्र और योग्य अधिकारी इमाद-उल-मुल्क गुजरात में लगान वसूल करने और मुगलों के विरुद्ध गुजरात में विद्रोह भड़काने के लिए कार्य कर रहा था।

अस्करी गुजरात में ठीक व्यवस्था न कर सका बल्कि मुगल सैनिकों और सरदारों के व्यवहार से वहाँ के नागरिक असन्तुष्ट हो गये। इससे इमाद-उल-मुल्क को एक बड़ी सेना एकत्र करने का अवसर मिला। बहादुरशाह भी गुजरात वापस आ गया। अस्करी ने अपनी बिखरी हुई सेना को अहमदाबाद में एकत्रित कर लिया। इसी अवसर पर हिन्दूबेग और कुछ अन्य सरदारों ने अस्करी को अपने आपको स्वतन्त्र शासक घोषित करने की सलाह दी जिससे मुगल सैनिकों को प्रोत्साहन मिले और गुजराती नागरिक उसके प्रति वफादार हो जायें। अस्करी ने इस प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया और युद्ध की तैयारियाँ कीं। उसका निश्चय गियासपुर के निकट इमाद-उल-मुल्क की सेना से खुला युद्ध करने का था क्योंकि अहमदाबाद इसके लिए उपयुक्त स्थान न था। परन्तु यह भी सम्भव न हुआ। साधारण युद्ध के पश्चात् मुगल सेना ने चम्पानेर के दुर्ग में लौटना ठीक समझा। एक प्रकार से यह सम्पूर्ण गुजरात को खोना था परन्तु इसके अतिरिक्त कोई मार्ग न रह गया था। चम्पानेर के दुर्गरक्षक तार्दीबेग ने अस्करी का सम्मान तो किया परन्तु न तो उसे किले में प्रवेश दिया और न हुमायूँ की आज्ञा के बिना उसे सहायता देना स्वीकार किया। तार्दीबेग अस्करी के प्रति शंकित था। अस्करी ने अपनी सेना को लेकर आगरा की ओर बढ़ना आरम्भ किया। तार्दीबेग स्वयं भी किले की रक्षा न कर सका। बहादुरशाह ने जब किले पर आक्रमण किया तो तार्दीबेग माण्डू चला गया। हुमायूँ को तार्दीबेग ने सूचना दी थी कि सम्भवतया अस्करी आगरा पर अधिकार करने के लिए आगे बढ़ रहा है। ऐसी स्थिति में हुमायूँ भी माण्डू को छोड़कर आगरा की तरफ चल दिया। दोनों भाइयों की मार्ग में भेंट हुई और हुमायूँ की शंकाएँ समाप्त हो गयीं। हुमायूँ ने अस्करी और हिन्दूबेग आदि सभी को उदारता से माफ कर दिया।

हुमायूँ के माण्डू को छोड़ते ही मालवा भी मुगलों के हाथ से निकल गया। मल्लूखाँ ने शीघ्र माण्डू को जीत लिया और बहादुरशाह के नाम से सम्पूर्ण मालवा पर अधिकार कर लिया। इस प्रकार, प्रायः एक ही वर्ष में मुगलों ने सम्पूर्ण गुजरात और मालवा को विजय भी किया और उसे खो भी दिया। बहादुरशाह एक बार फिर इनका स्वामी बन गया यद्यपि बहुत समय तक वह उस सत्ता का उपयोग न कर सका। फरवरी 1537 में उसकी मृत्यु हो गयी। डॉ. आर. पी. त्रिपाठी के अनुसार, इन दो बड़े सूबों का मुगलों के हाथों से निकल जाने का दोष किसी व्यक्ति-विशेष का नहीं था बल्कि मुगलों की आन्तरिक फूट, सेनापतियों का एकमत न होना और कुछ दैवयोग परिस्थितियों का था। इसके अतिरिक्त, अस्करी की अयोग्यता और उसकी स्वतन्त्रता की इच्छा, अनुभवहीन अधिकारियों की नियुक्ति और हुमायूँ का विजय के पश्चात् स्वयं शासन की देखभाल के स्थान पर ऐश-आराम में लग जाना भी मुगलों की इस बड़ी हानि के कारण थे। इस हानि के बारे में लेनपूल ने लिखा है : "मालवा और गुजरात के सूबे जो हुमायूँ के शेष सम्पूर्ण साम्राज्य के बराबर थे, एक पके फल की भाँति उसके हाथों में गिर गये थे। कोई भी विजय इतनी सरल नहीं हो सकती थी। साथ ही साथ कोई भी विजय इतनी लापरवाही से नष्ट नहीं की गयी थी।"[1]

जिस समय हुमायूँ बहादुरशाह के साथ संघर्ष कर रहा था, शेरखाँ बिहार और बंगाल में अपनी शक्ति को दृढ़ कर रहा था। दक्षिण बिहार उसके आधिपत्य में आ चुका था, चुनार का किला उसका अपना था, उसका पुत्र कुतुबखाँ हुमायूँ की सेना को छोड़कर सुरक्षित वापस पहुँच गया था और विभिन्न अफगान सरदार उसके नेतृत्व में एकत्रित हो रहे थे।

4. शेरशाह से संघर्ष (1537-1540)

शेरखाँ ने बंगाल की गिरती हुई स्थिति का लाभ उठाया। नुसरतशाह की मृत्यु हो चुकी थी और उसका उत्तराधिकारी महमूदशाह योग्य शासक सिद्ध नहीं हुआ। 1536 में शेरखाँ ने बंगाल पर आक्रमण किया और उसकी राजधानी गौड़ को घेर लिया। दुर्बल महमूदशाह ने 13 लाख दीनार देकर शेरखाँ से सन्धि कर ली। हुमायूँ ने शेरखाँ की इस बढ़ती हुई शक्ति की ओर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया। उसने हिन्दू-बेग को जौनपुर का सूबेदार नियुक्त किया और शेरखाँ के बारे में उससे सूचना माँगी। शेरखाँ ने हिन्दूबेग को कीमती उपहार दिये जिनसे प्रभावित होकर हिन्दूबेग ने हुमायूँ को सूचना दी कि 'शेरखाँ बादशाह के प्रति वफादार है।' हुमायूँ ने इस पर विश्वास कर लिया और एक वर्ष तक वह आराम करता रहा, जब तक कि उसे यह सूचना नहीं मिल गयी कि शेरखाँ ने बंगाल की राजधानी गौड़ पर पुनः आक्रमण (1537) कर दिया है।

चुनारगढ़ की विजय (1538)—जुलाई 1537 में हुमायूँ ने पूरब की ओर बढ़ना आरम्भ किया। अक्टूबर में उसने चुनारगढ़ का घेरा डाल दिया जहाँ कुतुबखाँ ने शेरखाँ की योजना के अनुसार हुमायूँ को अधिकाधिक समय तक रोके रखने का

---

1 "Malwa and Gujrat—two provinces equal in area to all the rest of Humayun's kingdom—had fallen like ripe fruits into his hands. Never was conquest so easy. Never, too, was conquest more recklessly squandered away." —*Lane-Poole.*

निश्चय कर रखा था। रूमीखाँ (यह बहादुरशाह की सेवाओं को त्यागकर हुमायूँ की सेवा में आ गया था) के प्रयत्न करने के बावजूद भी किले को आक्रमण करके न जीता जा सका। छः माह के पश्चात् मार्च 1538 में चालाकी और तोपखाने की सहायता से किले पर अधिकार किया जा सका। उस समय तक शेरखाँ ने गौड़ को जीत लिया था और उसके खजाने को लूटकर रोहतासगढ़ के किले में लाकर सुरक्षित रख दिया था। चुनार को जीतने में जो समय हुमायूँ ने लगाया, वह उसकी एक बड़ी भूल मानी गयी है। डॉ. आर. पी. त्रिपाठी भी यह स्वीकार करते हैं कि "यद्यपि चुनार को अफगानों के हाथ में छोड़कर बंगाल की ओर बढ़ जाना हुमायूँ के लिए उपयुक्त न था परन्तु अपनी सम्पूर्ण सेना को लेकर चुनार के किले के सामने पड़ा रहना भी एक भूल थी" जिसके कारण शेरखाँ अपनी बंगाल-विजय को सरलता से पूर्ण कर सका।

बंगाल की विजय—चुनार से आगे बढ़कर हुमायूँ बनारस रुका। उसने शेरखाँ से सन्धि की बातचीत आरम्भ की। यह निश्चय किया गया कि बिहार हुमायूँ को और बंगाल मुगलों की अधीनता में शेरखाँ को दे दिया जायेगा जिसके बदले में शेरखाँ हुमायूँ को प्रति वर्ष 10 लाख रुपया देगा। शेरखाँ ने इन शर्तों को स्वीकार कर लिया। परन्तु इसी समय बंगाल के शासक महमूदशाह के एक राजदूत ने आकर हुमायूँ से अपने सुल्तान के लिए सहायता माँगी और बंगाल पर आक्रमण करने की प्रार्थना की। हुमायूँ ने बंगाल की ओर बढ़ने का निश्चय किया। शेरखाँ ने हुमायूँ द्वारा अपने वायदे को तोड़ने का लाभ उठाया। उसने अफगानों को यह विश्वास दिला दिया कि मुगल अफगानों का सर्वनाश करना चाहते हैं और मुगलों से की गयी सन्धि पर विश्वास नहीं किया जा सकता। हुमायूँ के रास्ते में शेरखाँ के पुत्र जलालखाँ ने बाधा डाली। इसमें उसका उद्देश्य हुमायूँ से युद्ध करना न था बल्कि थोड़े समय तक उसे रोके रखना था। इस कार्य की पूर्ति के पश्चात् जलालखाँ अपने पिता के पास वापस चला गया। अब हुमायूँ को गौड़ का मार्ग साफ मिल गया। शेरखाँ और उसकी सेना पहले ही बंगाल को छोड़ चुके थे, सुलतान महमूद की मृत्यु हो चुकी थी और उसके बच्चों का वध कर दिया गया था। इस कारण बंगाल पर हुमायूँ ने सरलता से अधिकार कर लिया।

डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव के अनुसार, "हुमायूँ ने आठ महीने बंगाल में ऐश-आराम किया और दिल्ली, आगरा या बनारस तक से अपना सम्पर्क नहीं रखा।" डॉ. आर. पी. त्रिपाठी के अनुसार, "हुमायूँ ने इस समय में बंगाल में व्यवस्था स्थापित की और अपनी सेना का पुनर्गठन किया।" स्थिति दोनों में से कोई भी रही हो परन्तु जो समय हुमायूँ ने बंगाल में लगाया शेरखाँ ने उसका सदुपयोग किया। अफगानों ने बनारस, कड़ा, कन्नौज, सम्भल, आदि स्थानों पर अधिकार कर लिया, जौनपुर और चुनारगढ़ को घेर लिया और इस प्रकार हुमायूँ के वापस लौटने के मार्ग को बन्द कर दिया। कई माह के पश्चात् हुमायूँ को ये सूचनाएँ प्राप्त हुईं और साथ ही पता लगा कि उसके भाई हिन्दाल ने उसके विश्वासपात्र व्यक्ति शेख बहलोल को मार दिया है और आगरा में अपने को स्वतन्त्र बादशाह घोषित कर दिया है। ये सूचनाएँ मिलने पर हुमायूँ ने वापस लौटने का निर्णय किया। बंगाल में जहाँगीर-कुलीबेग को केवल 5000 सैनिकों के साथ छोड़कर मार्च 1539 में हुमायूँ गौड़ से चल दिया।

चौसा का युद्ध (27 जून, 1539)—वापस आने के लिए हुमायूँ ने गंगा का दक्षिण का तट चुना और मुख्य सड़क ग्राण्ड-ट्रंक रोड से वापस चला। डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव के अनुसार, "यह हुमायूँ की बड़ी भूल थी" क्योंकि इस मार्ग पर अफगानों का अधिकार था। डॉ. आर. पी. त्रिपाठी के अनुसार, "यह मार्ग ठीक था क्योंकि मुगल सेना इसी रास्ते से बंगाल गयी थी और इससे परिचित थी। इसके अतिरिक्त यह रास्ता हुमायूँ को चुनारगढ़ ले जाता था जहाँ मुगल सेना अफगानों का मुकावला कर रही थी।" इसी रास्ते से आगे बढ़ते हुए हुमायूँ ने एक बार फिर गंगा को पार किया और उसके उत्तरी तट पर आ गया जहाँ चौसा का मैदान था। शेरखाँ भी अपनी सेना को लेकर इसी स्थान पर आ गया। हुमायूँ को अपने भाइयों से कोई सहायता न मिली और न उसकी सेना व्यवस्थित थी। शेरखाँ ने वर्षा की प्रतीक्षा की क्योंकि मुगल सेना गंगा और कर्मनाशा नदी के बीच में थी और वह भाग नीचा था जिससे वर्षा का पानी आने पर उन नदियों में बाढ़ आ सकती थी तथा मुगल सेना कठिनाई में फँस सकती थी। इस कारण, तीन महीने तक दोनों सेनाएँ एक-दूसरे के सामने पड़ी रहीं। इस समय सन्धि की बातचीत भी हुई परन्तु उसका कोई लाभ न निकला। वर्षा के आरम्भ होते ही मुगलों की सेना को कठिनाई होने लगी। ऐसे ही समय में 25 जून की रात को शेरखाँ ने अचानक मुगल सेना पर आक्रमण कर दिया। मुगलों में भगदड़ मच गयी और वह बड़ी संख्या में मारे गये अथवा भाग गये। मुहम्मद जमान मिर्जा, जिसे हुमायूँ से बार-बार विद्रोह करने के बाद भी माफ कर दिया था, इस युद्ध में मारा गया। स्वयं हुमायूँ भी बड़ी कठिनाई से और एक भिश्ती की सहायता लेकर गंगा पार कर सका। हुमायूँ और अस्करी आगरा चले गये। शेरखाँ ने मुगल बेगमों और स्त्रियों को ससम्मान वापस भेज दिया।

शेरखाँ ने इस युद्ध के पश्चात् अपने को सुल्तान घोषित किया और 'शेरशाह' की उपाधि ग्रहण की। उसने शीघ्र बंगाल पर भी अधिकार कर लिया और पूरब में मुगलों की शक्ति को पूर्णतया नष्ट करके कन्नौज आ गया, जहाँ उसके सैनिक पहले से ही अधिकार कर चुके थे।

कन्नौज या बिलग्राम का युद्ध (17 मई, 1540)—जबकि शेरशाह पूरब में अपनी स्थिति दृढ़ कर रहा था, हुमायूँ और उसके भाई अपने मतभेदों को लेकर समय नष्ट कर रहे थे। हुमायूँ ने हिन्दाल को ही माफ नहीं कर दिया था बल्कि विद्रोही सुल्तान मिर्जा को भी माफ कर दिया था। परन्तु तब भी हुमायूँ की यह उदारता उसके भाइयों को एक न कर सकी। कामरान का स्वास्थ्य खराब हो गया। उसे सन्देह हुआ कि हुमायूँ उसे धीरे-धीरे जहर दिलवा रहा था। इस कारण वह अपनी अधिकांश सेना को लेकर लाहौर चला गया। इस बीच में मुगलों की एक सेना ने मालवा में कुतुबखाँ के नेतृत्व में भेजी गयी अफगान सेना को परास्त कर दिया और कुतुबखाँ को मार दिया। परन्तु वे शेरशाह के विरुद्ध कोई कदम नहीं उठा सके। अन्त में, हुमायूँ ने देर करना ठीक न समझा और अपनी सेना को लेकर कन्नौज की तरफ चल दिया। कन्नौज के निकट दोनों सेनाएँ एक-दूसरे के सामने आ गयीं। परन्तु डेढ़ माह तक दोनों ने एक-दूसरे पर आक्रमण न किया। 15 मई को घनघोर वर्षा हुई जिससे मुगल खेमों में पानी भर गया। 17 मई को जबकि मुगल अपनी सेना और खेमों को ऊँची भूमि पर ले जाने का प्रयत्न कर रहे थे, अफगानों ने आक्रमण कर दिया। मुगलों ने डटकर मुकाबला किया परन्तु वे अपने तोपखाने का प्रयोग नहीं

कर सके। शेरशाह ने मुगल युद्ध-नीति का प्रयोग मुगलों के ही विरुद्ध किया और सफल हुआ। अन्त में, मुगल सेना के पैर उखड़ गये और वह भाग खड़ी हुई। हुमायूँ और उसके भाई बड़ी कठिनाई से जान बचाकर भाग सके।

यह युद्ध निर्णयात्मक था। हुमायूँ भागकर आगरा पहुँचा परन्तु वहाँ ठहर न सका। इस बार शेरशाह उसका पीछा करता हुआ आ रहा था। हुमायूँ भागकर लाहौर गया जहाँ उसके भाई उसे मिले परन्तु तब भी वे मिलकर कोई कार्य न कर सके। शेरशाह ने सरलता से आगरा और दिल्ली पर अधिकार कर लिया और इस प्रकार उसने मुगलों से उत्तरी भारत की राज्यसत्ता छीन ली। हुमायूँ पंजाब में भी न ठहर सका। वहाँ से उसने कश्मीर या बदख्शां जाने का प्रयत्न किया परन्तु प्रत्येक बार उसके मार्ग में कामरान ने रुकावट डाली। अन्त में, हुमायूँ सिन्ध चला गया जहाँ उसका छोटा भाई हिन्दाल भी गया हुआ था।

शेरशाह के विरुद्ध हुमायूँ की पराजय के विभिन्न कारण बताये जाते हैं। विभिन्न भूलें जो हुमायूँ ने अपने शासन के आरम्भ से कीं, वे अन्त में हुमायूँ की असफलता के लिए उत्तरदायी हुईं। इस सम्बन्ध में हुमायूँ के प्रति डॉ. आर. पी. त्रिपाठी का

5. हुमायूँ की असफलता के कारण

दृष्टिकोण सबसे उदार है। उनके कहने के अनुसार, हुमायूँ की असफलता के लिए उसके भाइयों के विरोध और उसके चरित्रगत दोषों को बहुत महत्व दिया गया है जो अनुचित और अन्यायपूर्ण है। उसे अपने भाइयों में साम्राज्य का विभाजन प्राचीन तैमूरी परम्परा के कारण करना पड़ा था अन्यथा गृह-युद्ध का भय था। उसने गुजरात को जीतने के पश्चात् माण्डू में और बंगाल को जीतने के पश्चात् गौड़ में जो समय व्यतीत किया उसका कारण ऐश-आराम अथवा आलस्य न था बल्कि जीते हुए प्रदेशों की व्यवस्था करने की आवश्यकता थी। उसके भाइयों में से कामरान ने आरम्भ के दस वर्षों में उसके विरुद्ध कोई कार्य नहीं किया था। कन्नौज के युद्ध के पश्चात् कामरान की अपने भाई की योग्यता में विश्वास न रह गया था और अपने अधीन क्षेत्रों को बचाने की भावना से उसने हुमायूँ से अपना रास्ता पृथक् कर लिया था। अस्करी ने हुमायूँ के विरुद्ध कभी भी विद्रोह नहीं किया बल्कि वह प्रायः सभी बड़े युद्धों में हुमायूँ के साथ रहा था। जब कामरान हुमायूँ से पृथक् हुआ तब अस्करी भी कामरान के साथ चला गया क्योंकि वे एक माँ के पुत्र थे। तब भी उसने चालाकी से हुमायूँ को ईरान भागने में सहायता दी और उसके बच्चे अकबर की देखभाल और सुरक्षा की। सबसे छोटा भाई हिन्दाल दुर्बल बुद्धि का था और शीघ्र ही दूसरों के प्रभाव में आ जाता था। इस कारण उसने हुमायूँ के विरुद्ध विद्रोह तो किये परन्तु संकोचपूर्ण हृदय से। कई अवसरों पर उसने भूलें तो की थीं परन्तु तब भी उसके सम्बन्ध हुमायूँ से प्रेम के रहे थे और अन्त में हुमायूँ की तरफ से युद्ध में लड़ता हुआ मारा गया। निस्सन्देह, यदि कामरान और हिन्दाल ने समय से चौसा के युद्ध से पहले हुमायूँ को सहायता पहुँचा दी होती तो हुमायूँ का भाग्य बच जाता परन्तु उस समय भी इसका कारण उनकी दुर्भावना नहीं बल्कि भूल थी। जिस समय हुमायूँ युद्ध के पश्चात् परास्त होकर वापस आया उस समय उन्होंने उसकी दुर्बलता से कोई लाभ नहीं उठाया। व्यक्तिगत चरित्र की दृष्टि से भी हुमायूँ में कोई ऐसी दुर्बलता न थी जिससे वह एक सफल शासक न होता। वह एक साहसी सैनिक और अनुभवी सेनापति था। उसका अफीम का नशा, बाबर के विभिन्न नशों की तुलना में बहुत कम था। बाबर की

सफलता हुमायूँ की तुलना में कम होती यदि उसने पानीपत के युद्ध को न जीता होता अथवा उसका मुकाबला शेरशाह से होता। इस कारण, हुमायूँ की असफलता के कारण ये न थे। हुमायूँ की पराजय का कारण यह था कि उसके शत्रुओं के पास भी अच्छा तोपखाना था जो बाबर के शत्रुओं के पास न था और शेरशाह हुमायूँ की तुलना में, निस्सन्देह, अधिक अनुभवी और योग्य था। हुमायूँ की एक दुर्बलता उसकी दुर्बल आर्थिक व्यवस्था थी। बाबर की भाँति वह अपव्ययी और उदार था। हुमायूँ के चरित्र की यह दुर्बलता भी उसके लिए हानिकारक थी कि वह दूसरे के शब्दों पर अत्यधिक विश्वास कर लिया करता था। हुमायूँ अपने भाग्य का भी शिकार था। तार्दीबेग का अस्करी की सहायता न करना गुजरात और मालवा के खो जाने का कारण बना, बंगाल का शासक महमूदशाह कुछ महीने भी अपनी रक्षा न कर सका और कन्नौज के युद्ध के अवसर पर घनघोर वर्षा हो गयी जो हुमायूँ की पराजय का मुख्य कारण बनी। "हुमायूँ को न तो भाग्य का ही इतना समर्थन प्राप्त था और न प्रकृति से ही वह इतना योग्य था जो उन गम्भीर समस्याओं के बोझ को बर्दाश्त कर पाता जिनका उसे मुकाबला करना पड़ा। उसके मुख्य शत्रु शेरशाह के पक्ष में ये दोनों चीजें थीं।"[1] हुमायूँ के राजनीतिक निर्णय भी दोषपूर्ण थे। वे यह सिद्ध करते थे कि वह मनुष्य और उनके उद्देश्यों को समझने का पारखी न था और न वह राजनीतिक परिस्थितियों और प्रशासकीय समस्याओं को ही ठीक प्रकार समझता था। उसने अपने शत्रुओं को सुदृढ़ होने का अवसर प्रदान किया। वह न समय से उनकी महत्वाकांक्षाओं को समझ सका और न उनके बारे में ठीक सूचना पा सका। "एक कूटनीतिज्ञ एवं राजनीतिज्ञ के रूप में वह बाबर अथवा शेरशाह के समकक्ष नहीं था।"[2]

डॉ. एस. आर. शर्मा के अनुसार, "हुमायूँ का अपने साम्राज्य के उत्तर-पश्चिमी भाग को कामरान के हाथों में छोड़ना, अपनी अर्थ-व्यवस्था की समुचित व्यवस्था न करना, समय पर चित्तौड़ की सहायता न करके राजपूतों की सहानुभूति पाने के अवसर को खो देना, दोहरिया के युद्ध के पश्चात् चुनार को अपने आधिपत्य में न लेना, मालवा और गुजरात की विजय के पश्चात् अपनी विजय को संगठित करने के स्थान पर ऐश-आराम में लीन हो जाना, समय रहते शेरशाह को न दबाना, आदि उसकी असफलता के कारण थे। हुमायूँ के चरित्र की अत्यधिक उदारता, सैनिक परिस्थितियों को ठीक प्रकार न समझना, निर्णय लेने की शक्ति का अभाव, आदि दुर्बलताएँ भी उसकी असफलता का कारण थीं।"

डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव के अनुसार, "हुमायूँ का अपने भाइयों में राज्य का बँटवारा, रचनात्मक कार्य करने के स्थान पर आरम्भ से ही युद्ध-नीति का अपनाना, उसका कालिंजर-अभियान, शेरशाह की शक्ति का ठीक अनुमान न करना, 1532 में चुनार का घेरा डालने के पश्चात् अधूरी सन्धि करके वापस आ जाना, बहादुरशाह

1 "Humayun was neither favoured by luck, nor so gifted by nature as to be able to sustain the weight of the great problems which he was called upon to tackle. His chief opponent Sher Shah had the advantage of both." —*Dr. R. P. Tripathi.*

2 "As a diplomat politician he was no match to Babur or Sher Shah." —*Dr. R. P. Tripathi.*

और शेरखाँ के पारस्परिक सहयोग को न समझ पाना, बहादुरशाह पर उसी समय आक्रमण न करना जबकि वह चित्तौड़ पर आक्रमण कर रहा था, गुजरात और मालवा को जीतकर उसकी उचित शासन-व्यवस्था न करना, चुनारगढ़ के दूसरे आक्रमण के अवसर पर 6-7 महीने का समय उसके घेरे में नष्ट करना, बिहार में शेरखाँ की शक्ति को समाप्त किये बिना बंगाल चले जाना, चौसा के युद्ध के पश्चात् शेरखाँ को अपने विजित प्रदेशों को संगठित करने का अवसर प्रदान करना, कन्नौज के युद्ध के अवसर पर अपनी सेना के लिए नीची भूमि तलाश करना, आदि उसकी असफलता के कारण थे। इसके अतिरिक्त नेतृत्व का अभाव, संगठनकर्ता की कमी, धन का अपव्यय, समय-समय पर विलासिता में फँस जाना और दृढ़तापूर्वक निरन्तर कार्य करने की क्षमता न होना, आदि चारित्रिक दोष भी उसकी असफलता के कारण थे।

इस प्रकार हुमायूँ की असफलता के विभिन्न कारण बताये जाते हैं। इनसे स्पष्ट होता है कि हुमायूँ की विभिन्न दुर्बलताएँ और विभिन्न भूलें तथा इनके विपरीत शेरशाह की योग्यता और उसका व्यक्तित्व हुमायूँ की असफलता के मुख्य कारण बने। लेनपूल ने लिखा है कि "हुमायूँ जीवनपर्यन्त लड़खड़ाता रहा और लड़खड़ाते हुए ही उसकी मृत्यु हुई।"[1]

[3]
हुमायूँ का निष्कासित जीवन (1540-1555)

हुमायूँ शेरशाह से परास्त होकर सिन्ध चला गया। अगले 15 वर्ष हुमायूँ के कठिनतम संघर्ष के थे। उसने सिन्ध को जीतने का प्रयत्न किया परन्तु असफल रहा। इसी अवसर पर उसने 1541 में हिन्दाल के गुरु मीरअली अकबर की पुत्री हमीदा-बानू बेगम से शादी की। इस समय हिन्दाल उसका साथ छोड़ गया और उसके पश्चात् उसका विश्वासपात्र यादगार मिर्जा भी उसका साथ छोड़ गया। उसे जोधपुर के शक्तिशाली शासक मालदेव से सहायता का आश्वासन प्राप्त हुआ और हुमायूँ उससे मिलने जोधपुर की तरफ चल दिया। बाद में, सम्भवतया, शेरशाह की बढ़ती हुई शक्ति और हुमायूँ की दुर्बल स्थिति को देखकर मालदेव का विचार बदल गया और हुमायूँ उससे बिना मिले ही वापस लौट पड़ा। मार्ग में अमरकोट के राजा वीरसाल ने उसे संरक्षण और सहायता प्रदान की और यहीं उसके पुत्र अकबर का जन्म हुआ। परन्तु हुमायूँ वहाँ पर भी न रह सका। इस समय सिन्ध के शासक शाहहुसैन अरगों ने हुमायूँ से छुटकारा पाने के लिए उसे कन्धार के लिए मार्ग देने और रसद तथा सहायता देने का आश्वासन दिया। हुमायूँ ने उसे स्वीकार कर लिया और कन्धार की ओर चल दिया। कन्धार में कामरान की ओर से अस्करी सूबेदार था और कामरान के आदेश से उसने हुमायूँ को पकड़ने का प्रयत्न किया। हुमायूँ अपने एक वर्ष के बच्चे अकबर को छोड़कर बड़ी कठिनाई से अपनी जान बचाकर भाग सका। 1544 में हुमायूँ ईरान के शाह तहमास्प के संरक्षण में चला गया। उसी वर्ष इन शर्तों के बाद कि हुमायूँ शिया मत को स्वीकार करेगा, अपने राज्य की सीमाओं में शिया धर्म का प्रसार करेगा और कन्धार को जीतने के पश्चात् उसे ईरान को दे देगा,

---

1 "Humayun tumbled through life and he tumbled out of it."
—*Lane-Poole.*

शाह ने उसे कन्धार जीतने के लिए एक सेना की सहायता दी। हुमायूँ ने अस्करी और कामरान से कन्धार और काबुल जीत लिया (1545)। कन्धार को एक बार ईरानियों के हाथों में दे दिया गया परन्तु शाह के पुत्र की मृत्यु हो जाने के पश्चात् हुमायूँ ने उसे पुनः अपने अधीन कर लिया। लेकिन काबुल और कन्धार को जीतने से हुमायूँ की समस्याओं का हल नहीं हो गया। यद्यपि हिन्दाल और यादगार मिर्जा हुमायूँ के साथ आ गये थे और बैरमखाँ हुमायूँ का योग्य और वफादार सरदार सिद्ध हुआ परन्तु कामरान और अस्करी हुमायूँ का विरोध करते रहे थे। दो बार कामरान ने काबुल पर अधिकार किया। उसने कभी अफगानों की सहायता ली, कभी उजबेगों की और कभी सिन्ध के अमीर की। परन्तु प्रत्येक बार उसे परास्त किया गया और प्रत्येक बार हुमायूँ कामरान और अस्करी को माफ करता रहा। उसने बहुत बाद में ही उनको दण्डित किया। कामरान की आँखें निकाल ली गयीं और उसे मक्का जाने की आज्ञा दे दी गयी जहाँ, 1557 में उसकी मृत्यु हुई। उसी प्रकार अस्करी को भी कैद से छोड़कर मक्का जाने की आज्ञा दे दी गयी और रुम में 1558 में उसकी मृत्यु हुई। हिन्दाल हुमायूँ की ओर से युद्ध करता हुआ 1551 में ही मारा जा चुका था। इस प्रकार, 1554 तक हुमायूँ अपने भाइयों से छुटकारा पा चुका था और अफगानिस्तान को अपनी अधीनता में लाने में सफल हो चुका था। उस समय एक बार फिर उसे अपने भारत के खोये हुए साम्राज्य को प्राप्त करने का अवसर मिला।

[4]

भारत की पुनःविजय और मृत्यु (1555-1556)

शेरशाह के उत्तराधिकारी इस्लामशाह की नवम्बर 1553 में मृत्यु हो गयी। इस्लामशाह अफगानों की स्वतन्त्र प्रकृति को समाप्त करने में असमर्थ रहा। उसकी मृत्यु के पश्चात् अफगानों में फूट फैल गयी। इस्लामशाह के पुत्र फीरोजशाह की हत्या करके उसके मामा मुबारिजखाँ ने गद्दी पर अधिकार कर लिया और मुहम्मद आदिलशाह की उपाधि ग्रहण की। वह अयोग्य और विलासी सिद्ध हुआ जिससे उसके विरुद्ध विद्रोह हुए। लाहौर में सिकन्दरशाह ने, बयाना में इब्राहीम शाह ने और बंगाल में मुहम्मदशाह ने अपने को स्वतन्त्र शासक घोषित कर दिया। दिल्ली पर पहले अहमदशाह ने और फिर उसके पश्चात् सिकन्दरशाह ने अपना अधिकार कर लिया। ऐसी स्थिति में जबकि अफगानों में आपस में संघर्ष चल रहा था, हुमायूँ ने पुनः भारत पर आक्रमण किया। नवम्बर 1554 में हुमायूँ पेशावर की ओर रवाना हुआ और 1555 के आरम्भ में लाहौर तक का प्रदेश सरलता से उसके अधिकार में आ गया। सिकन्दरशाह ने, जिसने निकट समय में ही इब्राहीम सूर को परास्त करके दिल्ली पर अधिकार किया था, एक बड़ी सेना तातारखाँ और हैबतखाँ के नेतृत्व में मुगलों के विरुद्ध भेजी। 15 मई, 1555 को मच्छीवारा का युद्ध हुआ जिसमें मुगलों की जीत हुई। इस युद्ध के पश्चात् सम्पूर्ण पंजाब मुगलों के अधिकार में आ गया। अब मुगलों का मुकाबला करने के लिए स्वयं सिकन्दर सूर आगे बढ़ा। 22 जून, 1555 को सरहिन्द का युद्ध हुआ। इसमें भी मुगलों की जीत हुई और सिकन्दर सूर भागकर पंजाब की पहाड़ियों में जा छिपा। सरहिन्द का युद्ध निर्णयात्मक सिद्ध हुआ। अफगानों ने भारत की सत्ता को सर्वदा के लिए खो दिया। हुमायूँ ने आगे बढ़कर दिल्ली पर अधिकार कर लिया (जुलाई 1555)। आगरा, सम्भल और आस-पास के क्षेत्रों पर भी मुगलों ने अधिकार कर लिया।

(अभी हुमायूँ अपने जीते हुए भारत के राज्य की सुरक्षा का प्रबन्ध भी नहीं कर पाया था कि उसका अन्त समय आ गया। एक दिन जबकि वह 'दीनपनाह' के पुस्तकालय की सीढ़ियों से उतर रहा था, उसका पैर फिसल गया और वह लुढ़कता हुआ नीचे जा गिरा। उसकी खोपड़ी की हड्डी टूट गयी और इसी चोट से 27 जनवरी, 1556 को हुमायूँ की मृत्यु हो गयी। अपनी मृत्यु के अवसर पर उसने अपने पुत्र अकबर को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया।)

[5]

हुमायूँ का चरित्र और मूल्यांकन

व्यक्ति की दृष्टि से हुमायूँ का चरित्र प्रशंसा के योग्य था। अपने पिता बाबर की भाँति यह सुसंस्कृत और शिक्षित था। तुर्की और फारसी साहित्य के अतिरिक्त उसे भूगोल, गणित, ज्योतिष, मुसलिम-धर्मशास्त्र आदि में भी रुचि थी। वह आज्ञाकारी पुत्र, स्नेही सम्बन्धी, और प्रेमी पति एवं पिता था। वह अपने सैनिकों और सरदारों के प्रति उदार था तथा उनकी सफलताओं और असफलताओं में भाग लेता था। सभी के प्रति उसका व्यवहार बहुत मीठा और सुसंस्कृत था। धर्म में उसकी पूर्ण आस्था थी परन्तु वह धर्मान्ध न था। अपने राजनीतिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसने ईरान के शिया शासक से सन्धि की तथा शिया धर्म को मानने एवं फैलाने की शर्त को स्वीकार कर लिया। उसकी पत्नी हमीदाबानू बेगम तथा उसका मुख्य सलाहकार और समर्थक बैरमखाँ शिया थे। निस्सन्देह उसने युद्ध के अवसर पर हिन्दू मन्दिरों को नष्ट किया परन्तु हिन्दुओं के प्रति उसकी नीति कटु नहीं कही जा सकती। सभी विद्वानों को वह संरक्षण प्रदान करता था और उसका दरबार शान-शौकत का ही नहीं बल्कि कला और विद्या का भी केन्द्र था। हुमायूँ अत्यधिक उदार और क्षमाशील था। जिस भिश्ती ने चौसा के युद्ध के पश्चात् गंगा पार करने में उसकी सहायता की थी और उसकी जान बचाई थी, उसने उसे एक दिन के लिए दिल्ली का बादशाह बना दिया। मेंहदी ख्वाजा, जिसने प्रारम्भ में सिंहासन को प्राप्त करने के लिए षड्यन्त्र किया था, उसको पद से हटाने के अतिरिक्त न कोई दण्ड दिया गया और न किसी भाँति असम्मानित किया गया। निरन्तर उसके भाइयों, मिर्जा सम्बन्धियों और बड़े-बड़े सरदारों ने हुमायूँ का साथ छोड़ा, उसकी आज्ञा की अवहेलना की और उसके विरुद्ध विद्रोह भी किया परन्तु हुमायूँ ने निरन्तर उनको माफ किया। हुमायूँ शारीरिक दृष्टि से बलवान, साहसी और कुशल सैनिक था। वह कठिन से कठिन परिस्थितियों को बर्दाश्त कर सकता था। एक भी युद्ध ऐसा न था जिसमें उसने भाग न लिया हो और अपने जीवन को खतरे में न डाला हो। अन्त तक धैर्य रखने की क्षमता भी उसमें थी। इस कारण हुमायूँ का चरित्र प्रशंसनीय ही नहीं बल्कि आकर्षक भी था।

परन्तु हुमायूँ में कुछ दुर्बलताएँ भी थीं जो व्यक्ति और शासक दोनों ही दृष्टि से हानिकारक थीं। उसने विभिन्न विद्याओं को पढ़ा था परन्तु विद्वत्ता वह किसी में भी प्राप्त न कर सका। भाषा और लेखन-शैली की दृष्टि से भी उसने अच्छी योग्यता प्राप्त नहीं की। उसकी उदारता और क्षमाशीलता उसके भाइयों, सरदारों और सम्बन्धियों के उद्दण्ड व्यवहार और विद्रोह का कारण बनी। इसी कारण शासक की दृष्टि से हुमायूँ असफल हुआ। लेनपूल ने लिखा है कि "उसका चरित्र आकर्षक है परन्तु प्रभावशाली नहीं। अपने व्यक्तिगत जीवन में वह एक प्रसन्नता-

वर्धक साथी और एक वफादार मित्र हो सकता था। उसके गुण ईसाई की भाँति थे और उसका सम्पूर्ण जीवन एक सज्जन व्यक्ति का जीवन था। लेकिन एक बादशाह की दृष्टि से वह असफल था।"[1] हुमायूँ एक योग्य सेनापति और सैन्य-संगठनकर्ता न था। जिस सेना ने बाबर के समय में पानीपत, खानुवा और घाघरा के युद्धों को विजय किया और हुमायूँ के आरम्भ के समय में भी जिसने गुजरात और मालवा के विस्तृत राज्य को सरलता के अपने अधिकार में किया, वह बाद में नेतृत्व के अभाव में दुर्बल हो गयी। चौसा और कन्नौज के युद्ध में मुगलों की पराज्य का एक मुख्य कारण कुशल नेतृत्व और रणनीति का अभाव था। हुमायूँ एक योग्य सेनापति की भाँति न तो अपनी दुर्बलता को छिपा सकता था और न अपने शत्रु की दुर्बलताओं को समझ सकता था। हुमायूँ में कूटनीतिज्ञता का अभाव था। वह राजनीतिक दाँवपेचों और परिस्थितियों को नहीं समझ सकता था। शेरशाह के विरुद्ध उसकी असफलता का यह एक मूल कारण रहा था। उसे न तो अपने शत्रु को समय से पहचानना आया और न बुद्धिमानी से अपने भाइयों को अपने साथ रखना आया। मुगलों की शक्ति उसके नेतृत्व में बिखर गयी और वह अफगानों के विरुद्ध उसकी पराजय का एक मुख्य कारण बना। हुमायूँ योग्य शासन-प्रबन्धक न था। अपने विजित प्रदेशों की शासन-व्यवस्था वह कभी भी ठीक प्रकार से न कर सका। अपने अन्तिम दिनों में भारत के शासन के लिए जो योजना उसने बनायी थी, वह न तो कभी लागू ही की जा सकी और न सिद्धान्ततः वह लाभदायक अथवा प्रभावपूर्ण ही थी। आर्थिक व्यवस्था पर कभी हुमायूँ ने भी नियन्त्रण नहीं रखा। बाबर के समय से उत्पन्न हुई आर्थिक दुर्व्यवस्था उसके समय में ठीक होने के स्थान पर और खराब हुई। इसी कारण मेलीसन ने लिखा है कि "बहादुर, प्रसन्नचित, हँसमुख, सुखद मित्र, उच्च शिक्षा-प्राप्त, उदार और करुणापूर्ण हुमायूँ दृढ़ सिद्धान्तों के आधार पर एक राज्यवंश की स्थापना करने में अपने पिता से भी कम योग्य था।"[2] हुमायूँ की यह दुर्बलताएँ उसकी असफलता का कारण थीं।

परन्तु तब भी हुमायूँ के पक्ष में यह कहा जा सकता है कि हुमायूँ में अपने पिता की भाँति दृढ़ता थी। असफलताओं ने उसे निराश और अकर्मण्य नहीं बनाया। उसने पर्शिया के शाह की प्रारम्भिक सहायता मात्र से अपने भाइयों से अफगानिस्तान का राज्य छीन लिया और उसके पश्चात् जैसे ही उसे अवसर मिला, उसने अफगानों से भारत को पुनः छीन लिया। भारत की पुनर्विजय हुमायूँ को भारतीय इतिहास में स्थान प्रदान कर देती है और एक बार फिर अफगानों की शक्ति को तोड़कर मुगल-वंश को दिल्ली में स्थापित कर देती है। इस कारण हुमायूँ का चरित्र, उसकी अच्छाइयाँ और बुराइयाँ, उसकी सफलताएँ और असफलताएँ—सभी कुछ मिलकर—हुमायूँ के प्रति सहानुभूति का एक दृष्टिकोण बनाती हैं और इसी कारण इतिहासकार उसे 'भाग्यहीन हुमायूँ' पुकारते हैं।

---

1 "His character attracts but never dominates. In private life, he might have been a delightful companion and a staunch friend, his virtues were Christian and his whole life was that of a gentleman. But as a king he was a failure." —*Lane-Poole*.

2 "Brave, genial, witty, a charming companion, highly educated, generous and merciful, Humayun was less qualified than his father to found a dynasty on principles which should endure." —***Malleson.***

4
शेरशाह सूर और उसके उत्तराधिकारी
[1540—1555 ई.]

[1]

शेरशाह सूर (1540-1545)

"अगर भाग्य ने मेरी सहायता की और सौभाग्य मेरा मित्र रहा तो मैं मुगलों को सरलता से हिन्दुस्तान से बाहर निकाल दूंगा।"[1] यह शेरशाह ने उस समय कहा था जब वह मुगल सेना में था और बाबर को चन्देरी के आक्रमण में सहयोग दे रहा था। शेरशाह ने अपने शब्दों को सत्य सिद्ध किया और **उत्तरी भारत में सूर-वंश और द्वितीय अफगान साम्राज्य की स्थापना की।** शेरशाह इतिहास के उन महान् व्यक्तियों में से एक था जो केवल अपने परिश्रम, योग्यता और अपनी तलवार के बलबूते पर साधारण व्यक्ति के स्तर से उठकर राजपद तक पहुँचे। शेरशाह न किसी राजवंश से सम्बन्धित था, न किसी धनाढ्य परिवार से और न किसी ख्याति प्राप्त धार्मिक अथवा सैनिक नेता से। जो कुछ भी उसने प्राप्त किया, वह केवल अपने स्वयं के पौरुष से प्राप्त किया। इस कारण, शेरशाह की गिनती महान् व्यक्तियों में की जाती है।

1. प्रारम्भिक जीवन (1472-1530)

शेरशाह का **बचपन का नाम फरीद था।** उसका बाबा इब्राहीम घोड़ों का व्यापार करता था। इब्राहीम सूर और उसके लड़के हसन सूर ने हिसार-फिरोजा के अफगान सरदार जमालखाँ के यहाँ सैनिक नौकरी की और यहीं पर हसन की अफगान पत्नी से बजवाड़ा नामक स्थान पर 1472 (डॉ. कानूनगो के अनुसार 1486) में फरीद का जन्म हुआ। जब सिकन्दर लोदी के समय में जमालखाँ को बिहार में जौनपुर की जागीर दी गयी तब हसन भी उसके साथ गया और जमालखाँ ने उसे सहसराम, ख्वासपुर और टाँडा की जागीर प्रदान की। हसन के चार पत्नियाँ और आठ पुत्र थे। फरीद और निजाम पहली पत्नी से और सुलेमान तथा अहमद उसकी चौथी पत्नी से उत्पन्न हुए थे। हसन अपनी चौथी पत्नी से अधिक प्रभावित था। उसने अपनी पहली पत्नी के बच्चों की परवाह नहीं की। इस कारण, फरीद का प्रारम्भिक जीवन सुखमय न हो सका। अपने पिता से झगड़ा करके फरीद 22 वर्ष की आयु में जौनपुर भाग गया जो उस समय शिक्षा और संस्कृति का केन्द्र माना जाता था। तीन वर्ष तक उसने वहाँ शिक्षा प्राप्त की, अरबी और फारसी का ज्ञान

---

1 "If luck aided me and fortune stood my friend, I could easily oust the Mughals from Hindustan." —*Sher Shah.*

प्राप्त किया, फारसी के प्रसिद्ध ग्रन्थ गुलिस्तां, बुस्तां और सिकन्दरनामा का अध्ययन किया और, सम्भवतया, हिन्दी तथा गणित को भी सीखा। उसने अपनी प्रतिभा से अपने पिता के मालिक जमालखाँ को प्रभावित कर दिया। जमालखाँ ने बाप-बेटे में समझौता करा दिया। उसी के कहने से हसन ने अपनी जागीर का प्रबन्ध फरीद को सौंप दिया। 1497 से 1518 तक, निरन्तर 21 वर्ष फरीद ने अपने पिता की जागीर की देखभाल की, उसको समृद्धि व शान्ति प्रदान की और शासन का अनुभव प्राप्त किया। उसने अपने पिता से कहा था कि "मैं जिले की सम्पन्नता में वृद्धि के लिए प्रयत्न करूँगा और यह एक न्यायपूर्ण शासन पर निर्भर करता है।"[1] शेरशाह के शासन की भावना उसके इन उपर्युक्त शब्दों में प्रकट होती है। उसने सफलता से इन शब्दों की पूर्ति की। 1518 में अपनी सौतेली माँ और भाइयों के कारण उसका झगड़ा अपने पिता से हो गया और वह दौलतखाँ की सेवा में आगरा चला गया जिससे इब्राहीम लोदी से उसकी सिफारिश करते हुए उसे उसके बाप की जागीर दे देने की हिमायत की। इब्राहीम ने उस समय तक तो नहीं परन्तु 1520 में जब हसन की मृत्यु हो गयी तब फरीद को उसके पिता की जागीर दे दी और फरीद ने फौरन जाकर अपनी जागीर पर अधिकार कर लिया। उसके सौतेले भाई सुलेमान ने एक शक्तिशाली अफगान सरदार मुहम्मदखाँ के सहयोग से फरीद से जागीर के बँटवारे की बात की। फरीद ने इससे इन्कार कर दिया और अपनी रक्षा के लिए उसने दक्षिणी बिहार के सूबेदार बहारखाँ लोहानी के यहाँ नौकरी कर ली। यहाँ एक शेर को मारने के उपलक्ष में फरीद को शेरखाँ की उपाधि दी गयी। बहारखाँ ने उसकी सेवाओं से प्रसन्न होकर उसे अपने पुत्र जलालखाँ का संरक्षक और उसके पश्चात् दक्षिणी बिहार का उप-सूबेदार नियुक्त कर दिया।

शेरखाँ की इस शीघ्र उन्नति से ईर्ष्यालु होकर लोहानी सरदारों ने बहारखाँ के कान भरने शुरू कर दिये। इसी अवसर पर पानीपत के युद्ध (1526) के पश्चात् मुगलों ने दिल्ली तथा आगरा पर अधिकार कर लिया और बहारखाँ ने अपने आप को मुहम्मदशाह के नाम से स्वतन्त्र शासक घोषित कर दिया। शेरखाँ के शत्रुओं ने मुहम्मदशाह को भड़काने में सफलता प्राप्त की और शेरखाँ को दक्षिणी बिहार छोड़ना पड़ा। शेरखाँ बाबर की सेवा में चला गया जहाँ उसने मुगलों के सैनिक-संगठन और रणनीति को समझा। चन्देरी के युद्ध में वह शामिल था। बाद में वह वहाँ से भाग कर बिहार आ गया। मुहम्मदशाह ने उसे पुनः अपने पुत्र जलालखाँ का संरक्षक नियुक्त कर दिया। 1528 में मुहम्मदशाह की मृत्यु हो गयी और उसकी विधवा पत्नी दूदू ने शेरखाँ को अपना संरक्षक नियुक्त कर लिया क्योंकि उसका पुत्र जलालखाँ अभी बच्चा था। एक प्रकार से इस समय दक्षिणी बिहार का शासन-प्रबन्ध शेरखाँ ने ही किया। इस अवसर का उपयोग उसने अपने योग्य और विश्वास-पात्र व्यक्तियों को अच्छे-अच्छे पद प्रदान करके किया जिससे वे उसके प्रति वफादार रहें और शासन पर उसका अधिकार बना रहे। 1529 में इब्राहीम लोदी के छोटे भाई महमूद लोदी की तरफ से उसने अनिच्छापूर्वक मुगलों से युद्ध करना स्वीकार किया। युद्ध (घाघरा का युद्ध) में अफगानों की पराजय हुई और जलालखाँ के साथ-साथ मुगलों की अधीनता स्वीकार करने से उसे भी अपनी जागीर वापस मिल गयी

---

1 "I shall devote myself to increase the prosperity of the district and that depends on a just administration." —*Sher Shah.*

और वह पुनः जलालखाँ के संरक्षक के रूप में कार्य करने लगा। 1529 में बंगाल के शासक नुसरतखाँ ने दक्षिणी बिहार पर आक्रमण किया परन्तु शेरखाँ ने उसे परास्त कर दिया। लोहानी-वंश के सरदार शेरखाँ की बढ़ती हुई शक्ति को बर्दाश्त न कर सके और उन्होंने उसकी हत्या का प्रयत्न किया। उसमें असफल होने पर उन्होंने नुसरतशाह से सहायता माँगी और जब उससे भी कोई लाभ न हुआ तो वह अल्पवयस्क जलालखाँ को लेकर बंगाल भाग गये। जलालखाँ के भाग जाने से शेरखाँ का मार्ग स्वतः ही साफ हो गया। उसने 'हजरत-ए-आला' की उपाधि ग्रहण की और दक्षिणी बिहार का वास्तविक स्वामी बन बैठा। 1530 में उसने चुनार के किलेदार ताजखाँ की विधवा पत्नी लाड मलिका से विवाह करके न केवल चुनार के शक्तिशाली किले पर अधिकार कर लिया बल्कि बहुत सी सम्पत्ति भी प्राप्त की।

दक्षिणी बिहार के आधिपत्य और बंगाल की सेना पर विजय ने शेरखाँ की महत्वाकांक्षाओं को बढ़ा दिया। अब उसने नियमित रूप से अफगानों का संगठन आरम्भ किया और सभी अफगानों को सैनिक बनने के लिए बाध्य किया। उसने अफगानों की मुगलों के प्रति घृणा का लाभ उठाया और दूर-दूर से अफगानों को अपने साथ आने के लिए आह्वान किया। उसकी शक्ति दिन-प्रतिदिन बढ़ती गयी। परन्तु तब भी उस समय तक शेरखाँ अफगानों का एकमात्र नेता न था। 1530 में हुमायूँ मुगल बादशाह बन चुका था और अफगानों ने महमूद लोदी के नेतृत्व में एक बार फिर मुगलों से संघर्ष का निश्चय किया। बिहार में अफगान सरदार एकत्रित होने लगे। शेरखाँ को यह सिद्ध करने के लिए कि वह मुगलों के विरुद्ध अफगान-एकता को आवश्यक मानता है, उनका साथ देना पड़ा। 1532 में हुए दोहरिया के युद्ध में शेरखाँ हुमायूँ के विरुद्ध अफगानों के साथ था परन्तु युद्ध में उसका भाग महत्वपूर्ण न था। अफगानों की पराजय हुई और महमूद लोदी भाग गया। महमूद लोदी के राजनीति से हटते ही शेरखाँ को अफगानों के नेतृत्व का अवसर प्राप्त हो गया।

2. साम्राज्य के लिए संघर्ष (1530-1540)

1532 में हुमायूँ ने चुनार का घेरा डाला परन्तु चार महीने के घेरे के पश्चात् भी उसे सफलता न मिली। गुजरात के शासक बहादुरशाह की बढ़ती हुई शक्ति को देखकर हुमायूँ ने शेरखाँ से सन्धि करना श्रेयस्कर समझा। चुनार का किला शेरखाँ के पास ही रहा। शेरखाँ ने अपने पुत्र कुतुबखाँ के नेतृत्व में 5000 सैनिक हुमायूँ की सेवा में भेज दिये। शेरखाँ के लिए यह समझौता हानिकारक न था। उसका पुत्र कुतुबखाँ मन्दसौर के युद्ध के पश्चात् हुमायूँ को छोड़कर उसके साथ आ मिला।

उस समय जबकि हुमायूँ गुजरात और मालवा में व्यस्त था, शेरखाँ को बंगाल की ओर बढ़ने का अवसर मिला। बंगाल का शासक महमूदशाह अयोग्य था। उसके समय में बंगाल की स्थिति दुर्बल हो रही थी परन्तु भगोड़े जलालखाँ का पक्ष लेकर उसने दक्षिणी बिहार पर आक्रमण किया। इस आक्रमण के बारे में डॉ. कानूनगो ने लिखा है कि "इस आक्रमण का अन्त मध्ययुगीन भारत के इतिहास के निर्णयात्मक युद्धों में से एक युद्ध में होना था। यह शेरशाह के जीवन की दिशा को मोड़ देने वाली एक महत्वपूर्ण घटना थी।"[1] 1534 में सूरजगढ़ का महत्वपूर्ण युद्ध

---

1 "This campaign was destined to end in one of the most decisive battles of medieval history of India. It was a turning-point in the career of Sher Shah." —*Dr. K. R. Qanungo.*

हुआ जिससे शेरखाँ की पूर्ण विजय हुई और उसे भूमि, तोपखाना, हथियार, हाथी, आदि सभी कुछ मिला। 1535 में शेरखाँ ने बंगाल पर आक्रमण किया और महमूदशाह ने 13 लाख सोने के सिक्के देकर उससे सन्धि कर ली। 1537 में शेरखाँ ने पुनः इस आधार पर बंगाल पर आक्रमण किया कि महमूदशाह ने उसे वार्षिक कर नहीं दिया था। शेरखाँ को महमूदशाह से कर माँगने का न तो कानूनी अधिकार था और न ही उनमें एक प्रकार की कोई सन्धि या शर्त थी। परन्तु इस समय तक शेरखाँ बंगाल के राज्य को समाप्त करने का अथवा उसकी सम्पत्ति को लूटने का पूर्ण निश्चय कर चुका था। हुमायूँ से उसे कोई भय न था बल्कि, सम्भवतया, यह हुमायूँ से युद्ध करने की पृष्ठभूमि थी। गुजरात के शासक बहादुरशाह से उसका पत्र-व्यवहार भी रहा था। महमूदशाह अपनी सुरक्षा न कर सका और अपनी राजधानी गौड़ से भाग गया तथा हुमायूँ से सहायता की याचना की।

1537 में हुमायूँ शेरखाँ की शक्ति को दबाने के लिए पूरब की ओर बढ़ा। 1537-38 में हुमायूँ ने 6 माह चुनार के किले को जीतने में लगाये। इस समय में शेरखाँ ने गौड़ को जीतकर लूट लिया और उसकी सेना वहाँ से वापस आ गयी। डॉ. जे. एन. चौधरी के अनुसार शेरखाँ ने बंगाल में ही अपना राज्याभिषेक किया और शाह की उपाधि ग्रहण की। 1538 में शेरखाँ ने चालाकी से दक्षिणी बिहार के एक शक्तिशाली किले रोहतासगढ़ पर अधिकार कर लिया। यह किला एक हिन्दू राजा के अधिकार में था और शेरखाँ ने उसे अपने परिवार की सुरक्षा के लिए राजा से माँगा था। एक बार किले में प्रवेश करने के पश्चात् उसने राजा को किले से निकाल दिया और उस पर स्वयं अपना अधिकार कर लिया। इसी किले में उसने अपने परिवार और खजाने को सुरक्षित कर दिया और हुमायूँ से संघर्ष की तैयारी की। हुमायूँ बिना बिहार को जीते हुए बंगाल चला गया और यहाँ 6 या 7 माह रहा। इसी बीच में शेरखाँ ने उसके वापस लौटने के मार्ग को रोक दिया। 1539 में चौसा का युद्ध हुआ जिसमें हुमायूँ पराजित होकर भाग गया। इस विजय के पश्चात् अपने सरदारों की सम्मति से शेरखाँ ने **'शेरशाह-सुल्तान-ए-आदिल'** की **उपाधि ग्रहण** की और सुल्तान बन बैठा। बंगाल में जिस छोटी सेना को हुमायूँ छोड़ आया था, उसे परास्त करके बंगाल पर अधिकार कर लिया गया और इस प्रकार चौसा के युद्ध के पश्चात् शेरशाह बंगाल और बिहार का सुल्तान बन गया। 1540 में कन्नौज या बिलग्राम के युद्ध में शेरशाह ने हुमायूँ को पुनः पराजित किया। इसके पश्चात् शेरशाह ने दिल्ली, आगरा, सम्भल, ग्वालियर, लाहौर, आदि सभी स्थानों पर अपना अधिकार कर लिया, हुमायूँ को भारत से निकालने के लिए एक सेना भेज दी और इस प्रकार मुगलों को भारत से निकालकर, एक बार फिर उत्तरी भारत में अफगान-साम्राज्य को स्थापित किया। [हुमायूँ के साथ संघर्ष के विस्तृत अध्ययन के लिए अध्याय 3 पढ़िए।]

दिल्ली तथा आगरा पर अधिकार करने के पश्चात् शेरशाह का प्रमुख कार्य हुमायूँ को भारत से बाहर निकालना तथा उत्तर-पश्चिम की ओर से मुगलों के पुनः प्रवेश को असम्भव बनाना था। उसे उन सभी प्रदेशों को भी जीतना था जो किसी समय मुगलों अथवा लोदी सुल्तानों के आधिपत्य में थे। इसके अतिरिक्त शेरशाह ने अपने साम्राज्य की दृढ़ता के लिए कुछ

3. साम्राज्य-विस्तार, अन्तिम समय और मृत्यु (1540-1545)

अन्य प्रदेशों को अपने अधिकार में करना आवश्यक समझा। इस कारण 1545 में अपनी मृत्यु के समय तक; एक अच्छी शासन-व्यवस्था को स्थापित करने के अतिरिक्त, शेरशाह निरन्तर युद्धों और राज्य-विस्तार में लगा रहा।

शेरशाह ने हुमायूँ को भारत से बाहर निकालने के लिए खवासखाँ और कुतुबखाँ को नियुक्त किया और स्वयं भी आगरा और दिल्ली की व्यवस्था करने के पश्चात् लाहौर और उसके पश्चात् खुशाव तक गया। यहाँ पर बहुत से बलूची सरदारों ने उसके आधिपत्य को स्वीकार कर लिया और जब वह हुमायूँ की ओर से निश्चिन्त हो गया तब वह उत्तर-पश्चिम सीमा के गक्खर प्रदेश को जीतने के लिए चल दिया।

1. **गक्खर प्रदेश** (1541)—शेरशाह का उद्देश्य बोलन दर्रे और पेशावर से आने वाले मार्गों को मुगलों के आक्रमणों से सुरक्षित करना था। विभिन्न बलूची सरदारों और सिन्ध के कुछ भाग पर अधिकार करने से कुछ सुरक्षा उसे प्राप्त हो गयी थी परन्तु गक्खर जाति मुगलों के प्रति वफादार थी। शेरशाह ने जब गक्खर सरदारों से अपना आधिपत्य स्वीकार करने के लिए कहा तो उन्होंने उत्तर दिया कि "हम सिंह और सैनिक हैं। तुम हमसे सिंहों और तीरों के अतिरिक्त किसी अन्य प्रकार की आशा नहीं कर सकते हो।"[1] शेरशाह ने गक्खरों को समाप्त करने का निश्चय किया। उसने उनके प्रदेश पर आक्रमण किया, उनके मुख्य स्थानों को नष्ट कर दिया और अनेक गक्खरों को कैदी बना लिया। वह गक्खरों की शक्ति को तोड़ तो सका परन्तु समाप्त न कर सका। अनेक गक्खर सरदार इसके बाद भी शेरशाह का विरोध करते रहे और एक लम्बे समय तक यह संघर्ष चलता रहा।

अपनी उत्तर-पश्चिम सीमा की सुरक्षा के लिए शेरशाह ने यहाँ एक दृढ़ किला बनवाया जिसका नाम उसने 'रोहतासगढ़' रखा। वहाँ उसने हैबतखाँ और खवासखाँ के नेतृत्व में एक शक्तिशाली अफगान सेना को रखा। यहीं से शेरशाह ने एक भागे हुए राजकुमार की सहायता करके कश्मीर के शासक मिर्जा हैदर को गद्दी से हटाने का प्रयत्न किया, परन्तु उसे सफलता न मिली।

2. **बंगाल का विद्रोह** (1541)—अभी शेरशाह पंजाब को ठीक प्रकार से व्यवस्थित भी न कर सका था कि उसे बंगाल से चिंन्ताजनक सूचनाएँ प्राप्त हुईं। सूबेदार खिज्रखाँ ने मृत सुल्तान महमूदशाह की पुत्री से विवाह कर लिया था और एक स्वतन्त्र शासक की तरह से व्यवहार कर रहा था। शेरशाह स्वयं वहाँ गया और खिज्रखाँ को कैद कर लिया। बंगाल जैसे दूरस्थ और धनवान सूबे में विद्रोह की आशंकाओं को समाप्त करने के लिए शेरशाह ने वहाँ एक अन्य प्रकार की शासन-व्यवस्था की। उसने बंगाल को सरकारों (जिलों) में बाँटकर उनमें से प्रत्येक को एक छोटी सेना के साथ शिकदारों के नियन्त्रण में दे दिया और शिकदारों की देखभाल के लिए एक असैनिक अधिकारी 'आमीन-ए-बंगला' अथवा अमीर-ए-बंगला' को नियुक्त किया। सर्वप्रथम काजी फजीलत को यह पद दिया गया। इस प्रकार बंगाल में किसी भी अधिकारी के पास एक बड़ी सेना न रही जिससे उनमें से कोई भी विद्रोह करने की स्थिति में न रहा।

---

1 "We are tigers and soldiers. From us you cannot demand anything except tigers and arrows." —*Dr. R. P. Tripathi.*

3. मालवा (1542)—मालवा में मल्लूखाँ गुजरात के शासक के सूबेदार के रूप में था। परन्तु बहादुरशाह की मृत्यु के पश्चात् वह प्रायः स्वतन्त्र हो गया था। उसने अपने को 'कादिरशाह' की उपाधि से विभूषित कर लिया था (1537)। माण्डू, सारंगपुर, उज्जैन और रणथम्भौर के दृढ़ किले उसके अधिकार में थे। उसने 1540 में शेरशाह के लड़के कुतुबखाँ को सहायता देने से इन्कार किया था जिसके कारण वह काल्पी के युद्ध में अस्करी और हिन्दाल के द्वारा मार दिया गया था। उसने शेरशाह के आधिपत्य को मानने से इन्कार कर दिया था। परन्तु, सम्भवतया, शेरशाह को इस बात का अधिक भय था कि कहीं दुर्बल कादिरशाह जोधपुर के शासक मालदेव अथवा हुमायूँ के आधिपत्य में न चला जाय जिससे शेरशाह को खतरा हो सकता था। मालवा उत्तरी और दक्षिणी भारत के राजमार्गों के मार्ग पर था। इस कारण, उसकी विजय आवश्यक थी। परन्तु उस पर आक्रमण किये जाने का एक मुख्य कारण शेरशाह की साम्राज्यवादी नीति थी। इस कारण, शेरशाह ने मालवा पर आक्रमण किया। मार्ग में उसने ग्वालियर के किले को अपने अधिकार में किया। कादिरशाह ने भयभीत होकर सारंगपुर आकर शेरशाह के समक्ष आत्मसमर्पण कर दिया। माण्डू, उज्जैन, सारंगपुर सभी स्थान शेरशाह के अधिकार में आ गये। शुजातखाँ को मालवा का सूबेदार नियुक्त किया गया और कादिरशाह को लखनौती या काल्पी की जागीर दी गयी। परन्तु कादिरशाह अपनी जान बचाकर गुजरात भाग गया। वापस आते हुए शेरशाह ने रणथम्भौर के किलेदार को भी आत्मसमर्पण के लिए विवश कर दिया और यह दृढ़ किला भी शेरशाह को प्राप्त हो गया। बाद में मालवा को पुनः जीतने का कादिरशाह का प्रयत्न असफल हुआ।

4. रायसीन (1543)—मालवा को जीतने के पश्चात् शेरशाह बिहार गया। वहाँ उसने पटना नगर को बसाया और वहाँ एक दृढ़ किला बनवाया। यहाँ उसे यह समाचार मिला कि रायसीन के राजा पूरनमल ने मुसलमानों पर इतने अत्याचार किये हैं कि सम्मानित मुसलिम परिवारों की स्त्रियों को नाचने-गाने का पेशा करना पड़ रहा है। शेरशाह ने पूरनमल को दण्ड देने की शपथ ली। परन्तु डॉ. कानूनगो के अनुसार, "शेरशाह का रायसीन पर आक्रमण करने का कारण धार्मिक न होकर राजनीतिक था।" पूरनमल के अधिकार में रायसीन और चन्देरी के दृढ़ किले थे जिनका शासन वह अपने बड़े भाई के छोटे पुत्र के नाम से करता था। मालवा में इन शक्तिशाली किलों को राजपूतों के आधिपत्य में छोड़ना शेरशाह के लिए कभी भी खतरनाक हो सकता था। यद्यपि शेरशाह के मालवा-आक्रमण के अवसर पर पूरनमल ने शेरशाह के आधिपत्य को स्वीकार कर लिया था परन्तु शेरशाह उससे सन्तुष्ट न रह सका। राजनीतिक और धार्मिक कारणों के अतिरिक्त शेरशाह की निगाह रायसीन राज्य की सम्पत्ति पर भी थी।

1543 में शेरशाह ने रायसीन पर आक्रमण किया। कई माह तक किले का घेरा पड़ा रहा परन्तु शेरशाह को सफलता न मिली। अन्त में, शेरशाह ने चालाकी से काम लिया। उसने कुरान पर हाथ रखकर शपथ ली कि पूरनमल और उसके सरदारों के परिवारों के सम्मान और जीवन को हानि नहीं पहुँचायेगा यदि किला उसे सौंप दिया जाय। कुतुबखाँ और शाहजादा आदिलखाँ इस शर्त को पूरा करने के गवाह बने। इसके पश्चात् पूरनमल ने आत्मसमर्पण कर दिया और अपने राजपूतों

को लेकर किले से बाहर आ गया तथा शेरशाह के खेमों के निकट ही ठहर गया। किला अफगानों को सौंप दिया गया। इसके पश्चात् रायसीन के मुसलिम परिवारों और स्त्रियों ने शेरशाह से रो-रोकर पूरनमल को सजा देने की प्रार्थना की और मुल्लाओं ने शेरशाह को अपनी शपथ तोड़ देने की राय दी। शेरशाह भी केवल एक बहाना चाहता था। एक रात उसने राजपूतों के खेमों को घेर लिया। प्रातःकाल जब राजपूतों ने अफगानों के उद्देश्यों को समझ लिया तब उन्होंने अपने बच्चों और स्त्रियों को कत्ल करना आरम्भ कर दिया जिससे उनके सम्मान की सुरक्षा हो सके। इसी अवसर पर अफगानों ने राजपूतों पर आक्रमण किया। सभी राजपूत बहादुरी से युद्ध करते हुए मारे गये, स्त्रियों ने 'जौहर' कर लिया और दुर्भाग्य से जो थोड़े से बाकी रह गये उन्हें अफगानों ने गुलाम बना लिया। इन्हीं में पूरनमल की एक छोटी पुत्री थी जिसे बाजारों में नाचने के लिए छोड़ दिया गया। शेरशाह ने कम से कम कीमत देकर रायसीन के दृढ़ किले को जीत लिया था। परन्तु इस घटना ने "शेरशाह के नाम पर सबसे गहरा धब्बा छोड़ा।" इस विश्वासघात से कुतुबखाँ ने इतनी यन्त्रणा अनुभव की कि उसने आत्महत्या कर ली।

5. मुल्तान (1543)—शेरशाह ने खवासखाँ को पंजाब से वापस बुला लिया था और हैदरखाँ को पंजाब का सूबेदार नियुक्त किया था। हैबतखाँ ने फ़तहखाँ जाट को परास्त करके कैद किया और शेरशाह के आदेश से मुल्तान को भी विजय किया। वहाँ पर शेरशाह ने बलूचियों की परम्परा का ध्यान रखते हुए शासन-व्यवस्था की। सम्भवतया, सिन्ध के कुछ भाग पर शेरशाह का अधिकार पहले ही हो चुका था। दोनों ही स्थानों पर शेरशाह ने अपने अधिकारियों की नियुक्ति कर दी।

6. राजस्थान : मालदेव से युद्ध (1544)—1532 में अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् मालदेव मारवाड़ का शासक बना था। उसकी राजधानी जोधपुर थी। वह योग्य, साहसी और महत्वाकांक्षी था। मेवाड़ के पतन के पश्चात् राजस्थान में कोई एक बड़ी शक्ति नहीं रह गयी थी। मालदेव ने उसका लाभ उठाया। धीरे-धीरे उसने नागौर, अजमेर, बीकानेर, जालौर, बेदनूर, आदि विभिन्न स्थानों पर अधिकार कर लिया। एक तरफ उसकी सीमाएँ गुजरात से और दूसरी तरफ दिल्ली-साम्राज्य के निकट पहुँच गयी थीं। मालदेव, शेरशाह के दिल्ली के सिंहासन को प्राप्त करने तक राजस्थान का सबसे शक्तिशाली राजा बन चुका था। उस समय तक मालदेव ने मेरठ, सिवाना, जालौर, टोंक, नागौर और अजमेर जैसे महत्वपूर्ण स्थानों पर अधिकार कर लिया था। उसके राज्य की सीमाएँ दिल्ली के निकट तक पहुँच गयी थीं। जज्झर जो उसके राज्य की सीमाओं में था, दिल्ली से प्रायः तीस मील दूर था। शेरशाह किसी भी राजपूत राजा की बढ़ती हुई शक्ति को पसन्द नहीं करता था। मालदेव कभी भी उसके लिए संकट उपस्थित कर सकता था। मालदेव ने एक बार हुमायूँ की सहायता देने का भी आश्वासन दिया था। परन्तु बाद में शेरशाह की शक्ति की यथार्थता को देखकर उसने हुमायूँ को सहायता तो न दी परन्तु, जैसी कि शेरशाह की इच्छा थी, उसने हुमायूँ को कैद करने का भी प्रयत्न नहीं किया। इस कारण, शेरशाह मालदेव की शक्ति को समाप्त करने के लिए उत्सुक था। जब बीकानेर के राजा राव कल्याणमल और मेरटा के राजा बीरमदेव ने मालदेव के विरुद्ध शेरशाह से सहायता माँगी तब शेरशाह को बहाना मिल गया और

उसने 80,000 की विशाल सेना लेकर राजस्थान में प्रवेश किया। जोधपुर में 70 मील दूर मालदेव और शेरशाह की सेनाएँ एक-दूसरे के सम्मुख आ गयीं। शेर-शाह को रसद की कठिनाई थी और राजपूतों की सेना दृढ़ और शक्तिशाली थी। मालदेव भी अवसर की तलाश में था। इस कारण, प्रायः एक माह तक दोनों सेनाएँ एक-दूसरे के सम्मुख पड़ी रहीं। शेरशाह ने एक बार फिर शौर्य के स्थान पर चालाकी का सहारा लिया। उसने एक झूठा पत्र तैयार कराया जो मालदेव के कुछ राजपूत सरदारों की तरफ से शेरशाह को लिखा गया थां और जिसमें उनकी तरफ से यह आश्वासन दिया गया था कि वे युद्ध के अवसर पर मालदेव का साथ छोड़ देंगे तथा मालदेव को कैद करके शेरशाह को सौंप देंगे। इस पत्र को मालदेव के खेमों के निकट डलवा दिया गया जिससे वह सुविधा से मालदेव को मिल जाये। मालदेव के एक सरदार को वह पत्र मिल गया और वह मालदेव तक पहुँचा दिया गया। उस पत्र का वही परिणाम हुआ जैसा कि शेरशाह चाहता था। मालदेव को अपने सरदारों पर भरोसा न रहा। उसने युद्ध करने का निश्चय छोड़ दिया और वापस हटने का निश्चय किया। कुछ सम्मानित सरदारों, जैसे जयता और कुम्पा, ने इस विश्वासघात के कलंक और आरोप को धोने का निश्चय किया और अपने कुछ हजार राजपूतों को लेकर शेरशाह पर आक्रमण किया। एक-एक राजपूत अन्त तक बहादुरी से लड़ता हुआ मारा गया। मालदेव को सत्यता प्रकट हो गयी परन्तु उस समय तक देर हो चुकी थी। उसकी सेना की व्यवस्था नष्ट हो चुकी थी। ऐसी स्थिति में उसे वापस लौटने के लिए बाध्य होना पड़ा। शेरशाह की यह विजय कूटनीति की विजय थी अन्यथा राजपूतों के शौर्य से शेरशाह इतना अधिक प्रभावित हुआ था कि उसने कहा था कि "मुट्ठी भर बाजरे के लिए मैं हिन्दुस्तान के साम्राज्य को प्रायः खो चुका था।"[1] शेरशाह ने मालदेव का पीछा किया तथा अजमेर, जोधपुर, नागौर, मेरटा, आबू, आदि सभी नगर और किले उसने जीत लिये। मालदेव के पास मारवाड़ की भूमि का बहुत छोटा भाग रह गया। वीरमदेव को मेरटा और कल्याणमल को बीकानेर दिया गया और बाकी जोधपुर से लेकर मेवात तक के सभी क्षेत्र को खवासखाँ की सूबेदारी में दे दिया गया। परन्तु शेरशाह की मेवाड़-विजय स्थायी न रह सकी। शेर-शाह की मृत्यु के पश्चात् खवासखाँ ने विद्रोह कर दिया और मालदेव ने धीरे-धीरे पुनः सम्पूर्ण मेवाड़ पर अधिकार कर किया। परन्तु यह कार्य शेरशाह की मृत्यु के पश्चात् 1546 में सम्भव हो सका।

मारवाड़ की विजय से वापस आते हुए, शेरशाह ने मेवाड़ को अधीनता स्वीकार करने के लिए बाध्य किया। राणा साँगा के उपरान्त मेवाड़ की स्थिति निरन्तर दुर्बल होती गयी थी। बनवीर नामक एक व्यक्ति ने तत्कालीन राजा विक्रमाजीत को मारकर गद्दी पर अपना अधिकार कर लिया था। उसने उसके छोटे बच्चे उदयसिंह को भी मारने का प्रयास किया था परन्तु राजकुमार की धाय पन्ना ने अपने बच्चे का जीवन देकर राजकुमार को बचा लिया। वही बच्चा उदयसिंह 1542 में राजा बना। परन्तु राज्य की स्थिति अभी ठीक न थी। जब शेरशाह ने मेवाड़ पर आक्रमण किया तो उदयसिंह के मन्त्रियों ने चित्तौड़ को स्वेच्छा से शेरशाह को समर्पित कर दिया और इस प्रकार शेरशाह के स्वामित्व को स्वीकार कर लिया।

---

1 "For a handful of *bajra* I had almost lost Empire of Hindustan."
—*Sher Shah.*

शेरशाह ने रणथम्भौर को भी अपने अधीन किया और, सम्भवतया, जयपुर के कछवाहा राजपूत सरदारों ने भी उसके आधिपत्य को स्वीकार कर लिया।

इस प्रकार, शेरशाह ने राजस्थान को अपने अधीन करने में सफलता पायी। मारवाड़ के अतिरिक्त, शेरशाह ने राजपूत राजाओं को उनके राज्यों से वंचित नहीं किया बल्कि अपनी अधीनता स्वीकार कराने के पश्चात् उनके राज्य उन्हें वापस कर दिये। उसने उनको एक-दूसरे से पृथक् किया और विभिन्न दृढ़ किलों पर अधिकार करके और अफगान सेना की वहाँ नियुक्ति करके अफगान साम्राज्य की सुरक्षा और उसके आधिपत्य को स्थायी रखने का प्रयत्न किया। इसी कारण, उसकी राजपूत-नीति सफल हुई।

7. बुन्देलखण्ड (कालिंजर : 1545)—कालिंजर का दृढ़ किला कीरतसिंह के अधिकार में था। मध्यकालीन विद्वानों ने शेरशाह के आक्रमण के भिन्न कारण बताये। फरिश्ता के अनुसार राजा कीरतसिंह का शेरशाह के आधिपत्य को स्वीकार न करना उसका कारण था। अब्बास ने भी यहीं कारण बताया जबकि अहमद यादगार ने बताया कि कीरतसिंह का बीरसिंह देव को जिसे उसने शरण दी थी, शेरशाह को वापस न सौंप देना था। वस्तुतः मालवा और राजस्थान की विजय के पश्चात् प्रशासकीय और सैनिक महत्व के कारण शेरशाह ने इसको जीतना आवश्यक समझा। राजा कीरतसिंह ने हुमायूँ के आधिपत्य को स्वीकार किया था और, सम्भवतया, उसके पुत्र वीरभान ने चौसा के युद्ध के पश्चात् हुमायूँ को कड़ा तक सुरक्षित पहुँचाने में सहायता दी थी। इस कारण, जब तक वह शेरशाह के आधिपत्य को स्वीकार न कर लेता तब तक यह विश्वास किया जा सकता था कि उसकी सहानुभूति मुगल-वंश के प्रति थी। अभी तक उसने ऐसा नहीं किया था। यह भी कहा जाता है कि शेरशाह कीरतसिंह की एक नाचने-गाने वाली दासी को भी हथियाना चाहता था जिसकी उसने बहुत प्रशंसा सुनी थी। जब रीवां के राजा वीरभान बघेला ने शेरशाह की आज्ञा को ठुकराकर राजा कीरतसिंह के यहाँ शरण ली तब शेरशाह ने उसे वापस माँगा। कीरतसिंह के इन्कार करने पर शेरशाह को कालिंजर पर आक्रमण करने का बहाना प्राप्त हो गया। नवम्बर 1544 में शेरशाह ने किले का घेरा डाल दिया। लगभग 6 या 7 माह के घेरे के पश्चात् भी किले को जींता न जा सका। 22 मई, 1545 को शेरशाह ने भयंकर रूप से किले की दीवार को गोला-बारूद से उड़ाने की आज्ञा दी। इन्हीं में से बारूद का एक गोला किले की दीवार से टकराकर वापस आया और गोला-बारूद के ढेर में आकर गिरा जिससे उसमें आग लग गयी। शेरशाह पास ही खड़ा था। वह बुरी तरह से जल गया। उसने किले को जीतने की आज्ञा दी। अफगानों को सफलता मिली और शाम तक किले पर अधिकार कर लिया गया। मृत्यु से पहले किले पर अधिकार की सूचना पाकर, शेरशाह सन्तोष प्रकट करता हुआ 22 मई, 1545 को मर गया। डॉ. कानूनगो के शब्दों में, "इस प्रकार, एक महान् सैनिक और राजनीतिज्ञ का अन्त अपने जीवन की विजयों और लोकहितकारी कार्यों के मध्य में ही हो गया ... ।"[1]

---

1 "Thus passed away in the mid-career of victory and beneficent activity the great soldier and statesman ..." —*Dr. K. R. Qanungo.*

अपनी मृत्यु के समय तक शेरशाह ने गुजरात, असम और कश्मीर को छोड़ कर उत्तरी भारत से प्रायः सम्पूर्ण भू-प्रदेश पर अपनी सत्ता स्थापित करने में सफलता पायी। एक मामूली जागीरदार के पुत्र की स्थिति से उठकर शेरशाह ने सुल्तान का पद प्राप्त किया और एक विस्तृत साम्राज्य स्थापित्य किया। अफगान शासकों में श्रेष्ठता प्रदान करने के लिए शेरशाह का यही कार्य पर्याप्त था। परन्तु शेरशाह की योग्यता इससे भी अधिक थी। वह एक महान् शासक-प्रबन्धक भी सिद्ध हुआ। अतः वह मध्य-युग के श्रेष्ठ शासकों में से एक माना जाता है।

"सैनिक और असैनिक दोनों ही मामलों में शेरशाह ने संगठनकर्त्ता की दृष्टि से शानदार योग्यता का परिचय दिया।"[1] यह विचार ई. बी. हेवेल ने प्रकट किया है। इर्स्किन ने लिखा है: "अकबर से पहले के सभी शासकों की तुलना में शेरशाह में अपनी प्रजा के लिए कानून-निर्माण और संरक्षक की दृष्टि से कार्य करने की सबसे अधिक भावना थी।"[2] ये कथन स्पष्ट करते हैं कि इतिहासकारों को शेरशाह की शासन-क्षमता ज्ञात थी परन्तु शासन-प्रबन्धक की दृष्टि से शेरशाह को उसके उपयुक्त कथन दिलाने का श्रेय इसी सदी में की गयी डॉ. कालिकारंजन कानूनगो की महत्वपूर्ण खोजों को है। आज से 40 वर्ष पहले शेरशाह का मुख्य स्थान एक सैनिक और साम्राज्य-निर्माता की दृष्टि से था। परन्तु डॉ. कानूनगो ने सिद्ध किया कि "शासन-प्रबन्धक और सैनिक-प्रतिभा की दृष्टि से शेरशाह अफगानों में सर्वश्रेष्ठ था।"[3] डॉ. कानूनगो ने शेरशाह को अकबर से भी श्रेष्ठ रचनात्मक बुद्धि वाला और राष्ट्रनिर्माता बताया है। सर वूल्जले हेग ने उसके बारे में लिखा है: "सत्यता से देखा जाय तो शेरशाह दिल्ली के सिंहासन पर बैठने वाले महान् शासकों में से एक था। ऐबक से लेकर औरंगजेब तक हुए शासकों में से किसी को भी शासन की विस्तृत बातों का इतना ज्ञान न था अथवा सार्वजनिक कार्यों पर इतनी बारीकी से अधिकार और प्रभाव न था जितना कि शेरशाह को।"[4] इस प्रकार, एक योग्य शासन-प्रबन्धक की दृष्टि से शेरशाह का इतिहास में स्थान स्थायी हो गया है। परन्तु डॉ. कानूनगो के पश्चात् इतिहासकारों ने इस सम्बन्ध में और भी खोजें की हैं। डॉ. रामप्रसाद त्रिपाठी और डॉ. परमात्मा सरन जैसे इतिहासकारों ने यह विचार प्रकट किया है कि "शेरशाह एक कुशल शासन-प्रबन्धक तो था परन्तु उसमें मौलिकता का अभाव था।" अब इसी सम्मति को स्वीकार किया जाता है। निःसन्देह, शेरशाह मध्य युग के महान् शासन-प्रबन्धकों में से एक है, परन्तु उसने किसी

4. शासन-प्रबन्धक (शेरशाह अकबर का अग्रणी)

1 "Sher Shah showed brilliant capacity as an organiser, both in military and civil affairs." —*E. B. Havell.*

2 "Sher Shah had more of the spirit of the legislator and guardian of his people than any prince before Akbar." —*William Erskine.*

3 "The greatest administrative and military genius among the Afghans." —*Mr. K. R Qanungo.*

4 "He was in truth one of the greatest rulers who ever sat on the throne of Delhi. No other ruler, from Akbar to Aurangzeb, possessed such intimated knowledge of the details of administration or was able to control public business so minutely and effectively as he." —*Sir Woolseley Haig.*

नवीन शासन-व्यवस्था को जन्म नहीं दिया था। उदाहरणार्थ, उसने अपनी सैनिक-व्यवस्था के सिद्धान्त अलाउद्दीन खलजी से प्राप्त किये थे और उसकी लगान-व्यवस्था भी नितान्त नवीन नहीं थी। परन्तु शेरशाह ने अपने से पहले योग्य शासकों के अनुभव का लाभ उठाया। उसने उन पुराने सिद्धान्तों और संस्थाओं को इस कुशलता से लागू किया कि उनका स्वरूप नवीन दिखायी दिया और वे इतनी सफलता से लागू किये गये कि उनसे जन-कल्याण सम्भव हो सका तथा शासन स्थिर एवं व्यवस्थित हुआ।

शेरशाह ने शासन का प्रथम अनुभव उस समय प्राप्त किया था जब वह अपने पिता की जागीर की देखभाल कर रहा था। उसी समय जो विचार उसने प्रकट किये थे वह शासन-प्रबन्धक की दृष्टि से उसकी भावना को प्रकट करते हैं। शासक की दृष्टि से किसानों के प्रति उसका क्या दृष्टिकोण था, यह भी उसके उसी समय में प्रकट किये गये विचारों से स्पष्ट होता है। उसने अपने अधिकारियों से कहा था: "मैं अच्छी तरह से जानता हूँ कि कृषि गरीब किसानों पर निर्भर करती है। अगर वे दुखी होंगे तब वे कुछ भी उत्पादन नहीं करेंगे परन्तु यदि वे समृद्धशाली हैं तो वे बहुत उत्पादन करेंगे।"[1] उसने किसानों से कहा था: "जो कुछ भी तुम कहना चाहते हो, सर्वदा स्वयं आकर मुझे बताओ। मैं किसी को भी तुम पर अत्याचार नहीं करने दूंगा।"[2] उसके पश्चात् शेरशाह ने अपने मालिक जलालखाँ के संरक्षक के रूप में दक्षिणी बिहार का शासन किया और इस पद से उसने एक बड़े सूबे के शासन का अनुभव प्राप्त किया। वह मुगलों के सम्पर्क में भी आया और उसने उनकी शासन और सैनिक व्यवस्था को भी समझा। इस प्रकार, दिल्ली का सुल्तान बनने से पहले शेरशाह ने शासन का गम्भीर अनुभव प्राप्त कर लिया था। सुल्तान बनने के पश्चात् शेरशाह ने इस भावना और अनुभव के साथ परिश्रम को भी सम्मिलित कर दिया। वह प्रतिदिन 16 घण्टे कार्य करता था और सेना, संगठन, भर्ती, कवायद, न्याय, लगान के कागज, आदि शासन के सभी कार्यों की स्वयं देखभाल करता था। युद्धों के अवसर पर भी उसके कार्यक्रम में कठिनाई से ही अन्तर पड़ता था। इसी कारण, शेरशाह शासन-प्रवन्ध को व्यवस्थित करने में सफल हुआ।

1. **केन्द्रीय शासन**—(i) **सुल्तान**—शेरशाह ने अफगानों की भावनाओं और परम्पराओं का ध्यान रखा परन्तु वह यह जानता था कि उनकी परम्पराओं पर आधारित शासन-व्यवस्था भारत में पूर्ण रूप से सफल नहीं हो सकती थी। इस कारण व्यवहार में उसने उसमें परिवर्तन कर दिया। उसके राज्य-सम्बन्धी सिद्धान्त तुर्क और अफगानों का मिला-जुला स्वरूप थे और व्यवहार में देखा जाय तो वे तुर्कों के सिद्धान्त के अधिक निकट थे। शेरशाह स्वयं शासन का प्रधान था। शासन की सम्पूर्ण शक्तियाँ उसमें केन्द्रित थीं। शेरशाह की सहायता के लिए निश्चय ही मन्त्रियों की भाँति उच्च पदाधिकारी थे परन्तु शेरशाह ने अपने मन्त्रियों को विस्तृत अधिकार नहीं दिये। उसके मन्त्री स्वयं निर्णय नहीं लेते थे बल्कि

---

1 "I know well that the cultivation depends on the humble peasants; for if they be ill off they will produce nothing, but if prosperous they will produce much." —*Sher Shah.*

2 "Whatever matter you have to represent, bring it always before me. I will suffer no one to oppress you." —*Sher Shah.*

केवल उसकी आज्ञा का पालन करते थे और उसके द्वारा दिये गये कार्यों की पूर्ति करते थे। सम्भवतया, शेरशाह ने केन्द्रीय शासन-व्यवस्था की विस्तृत योजना बनाने की ओर समुचित ध्यान नहीं दिया (अथवा उसके बारे में पूर्णतया पता नहीं लग सका है)। यह उसके शासन की एक दुर्बलता भी मानी गयी है, क्योंकि ऐसी स्थिति में केन्द्रीय व्यवस्था पूर्णतया सुल्तान की योग्यता पर निर्भर करती थी और सुल्तान के अयोग्य होने पर उसके नष्ट होने की सम्भावना थी। डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव ने उसकी केन्द्रीय व्यवस्था के बारे में अवश्य कुछ तथ्य दिये हैं।

(ii) **मन्त्री**—यद्यपि शेरशाह ने शासन में मन्त्रियों को कोई विशेष स्थान नहीं दिया, तब भी जैसा कि डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव का कथन है: "इतने विशाल साम्राज्य की देखभाल मन्त्रियों की सहायता के बिना एक ही व्यक्ति के द्वारा करना मानव-शक्ति की दृष्टि से असम्भव था।" उनका कहना है कि इस कारण शासन की सुविधा की दृष्टि से शेरशाह को भी सल्तनत-काल की व्यवस्था के आधार पर चार मन्त्री-विभाग स्थापित करने पड़े थे। उनके अनुसार ये विभाग निम्नलिखित थे:

(अ) **दीवान-ए-वजारत**—इस विभाग का प्रधान (वजीर) लगान और अर्थ-व्यवस्था का प्रधान था। राज्य की आय और व्यय की देखभाल करना उसका उत्तरदायित्व था। अन्य मन्त्रियों के कार्यों की देखभाल का अधिकार भी उसे था।

(ब) **दीवान-ए-आरिज**—इस विभाग का प्रधान (अरीज-ए-मायलिक) सेना के संगठन, भर्ती, रसद, शिक्षा और नियन्त्रण की देखभाल करता था, परन्तु वह सेनापति न था। शेरशाह स्वयं ही सेना का सेनापति था और स्वयं सेना के संगठन और सैनिकों की भर्ती में शौक रखता था।

(स) **दीवान-ए-रसालत**—अथवा दीवान-ए-मुहतासिब जो इस विभाग का प्रधान था, एक प्रकार से विदेश-मन्त्री की भाँति कार्य करता था। अन्य राज्यों से पत्र-व्यवहार और उनसे सम्पर्क रखना इसका उत्तरदायित्व था। कभी-कभी राज्य की ओर से दिये जाने वाले दान की देखभाल भी वही करता था।

(द) **दीवान-ए-इंशा**—इस विभाग के प्रधान के कार्य सुल्तान के आदेशों को लिखना, उनका लेखा-जोखा रखना, राज्य के विभिन्न भागों में उनकी सूचना पहुँचाना और प्रान्तों से पत्र-व्यवहार करना थे।

डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव के अनुसार 'दीवान-ए-कजा' और 'दीवान-ए-बरीद' यह दो विभाग और थे जिनके अधिकारी भी मन्त्रि-पद के समान ही थे। 'दीवान-ए-कजा' का प्रधान सुल्तान के पश्चात् राज्य के मुख्य न्यायाधीश (काजी) की भाँति कार्य करता था और 'दीवान-ए-बरीद' का प्रधान राज्य के गुप्तचर-विभाग और डाक-व्यवस्था की देखभाल करता था। इनके अतिरिक्त, एक विश्वास-पात्र अधिकारी ऐसा भी होगा जो सुल्तान के महल, उसकी रक्षा और उसकी व्यक्तिगत आवश्यकताओं की पूर्ति की देखभाल करता होगा और सुल्तान के निकट सम्पर्क में रहने के कारण प्रभावशाली होगा।

2. **प्रान्तीय-शासन**—(i) **सूबा या इक्ता**—शेरशाह के प्रान्तीय शासन के बारे में बहुत कम पता लग सका है, और जो कुछ भी पता लगा है उसके बारे में विभिन्न मत प्रकट किये गये हैं। डॉ. कानूनगो के अनुसार "शेरशाह के समय में सरकारों से ऊँचा विभाजन नहीं किया गया था और उसके समय में प्रान्त या सूबा जैसी शासन

की कोई इकाई न थी ।" डॉ. परमात्मा सरन के अनुसार "प्रान्त और फौजी गवर्नरों की व्यवस्था थी ।" डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव के अनुसार "शेरशाह के समय में एक तो उन हिन्दू राजाओं के राज्य थे जिन्होंने शेरशाह के आधिपत्य को स्वीकार कर लिया था परन्तु उन्हें अपने राज्य का शासन करने के लिए स्वतन्त्र छोड़ दिया गया था । इसके अतिरिक्त, ऐसे सूबे थे जिन्हें 'इक्ता' पुकारा जाता था और जिनमें फौजी गवर्नरों या सूबेदारों की नियुक्ति की गयी थी । लाहौर, मालवा और अजमेर में सूबेदारों की नियुक्ति की गयी थी ।" डॉ. ए. बी. पाण्डे का कहना है कि 'सूबों के प्रधान को हाकिम, अमीन या फौजदार पुकारते थे ।' पंजाब के हाकिम हैबतखाँ को 'मसनद-ए-आला' की उपाधि दी गयी थी और उसे 30,000 की सेना रखने तथा अपने अधिकारियों में जागीर बाँटने का अधिकार था । उसी प्रकार खवासखाँ को राजपूताने का सूबेदार नियुक्त किया गया था और उसे 20,000 सैनिक रखने का अधिकार था । इसके अतिरिक्त, बंगाल के सूबे में शेरशाह ने एक अन्य प्रकार की व्यवस्था की थी । सम्पूर्ण सूबे को सरकारों में बाँटकर प्रत्येक को एक सैनिक अधिकारी की देखरेख में छोड़ दिया गया था । उनकी देखभाल करने के लिए सूबे में एक असैनिक अधिकारी 'अमीर-ए-बंगला' की नियुक्ति की गयी थी । इस प्रकार बंगाल में ऐसा कोई फौजी सूबेदार न था जिसके पास कोई बड़ी सेना होती । यह प्रबन्ध विद्रोह की आशंका को समाप्त करने के लिए किया गया था । इसी उद्देश्य से शेरशाह ने कुछ प्रान्तों में उप-प्रान्तपतियों की नियुक्ति की थी, जैसे पंजाब में दो उप-प्रान्तपति थे और मुल्तान में फतहखाँ जंग उप-प्रान्तपति था ।

इस प्रकार, शेरशाह के समय में सूबों अथवा इक्ता के शासन की व्यवस्था एक-समान न थी और न विभिन्न अधिकारियों को समान अधिकार थे। शेरशाह इन अधिकारियों पर कठोर नियन्त्रण भी रखता था । 1541 में बंगाल में विद्रोह अवश्य हुआ परन्तु शेरशाह के वहाँ पहुँचते ही वह समाप्त हो गया । उसके पश्चात् किसी भी सूबेदार ने शेरशाह के विरुद्ध विद्रोह करने का साहस नहीं किया ।

(ii) सरकारें (जिलें)—प्रत्येक इक्ता या सूबा सरकारों में बँटा होता था । प्रत्येक सरकार में दो प्रमुख अधिकारी होते थे—'शिकदार-ए-शिकदारां' और 'मुन्सिफ-ए-मुन्सिफां' । 'शिकदार-ए-शिकदारां' का पद अधिक सम्मान का था । वह एक सैनिक अधिकारी था और सैनिकों का एक अच्छा दल उसके साथ रहता था । अपने सरकार में शान्ति स्थापित रखना और अधीन शिकदारों के कार्यों की देखभाल करना उसका कर्तव्य था । 'मुन्सिफ-ए-मुन्सिफां' मुख्यतया एक न्याय अधिकारी था । दीवानी मुकदमों का निर्णय करना और अपने अधीन मुन्सिफों के कार्यों की देखभाल करना उसका कर्तव्य था । इन दो बड़े अधिकारियों के अतिरिक्त इनकी सहायता के लिए अन्य बहुत से छोटे अधिकारी भी प्रत्येक सरकार में अवश्य होते होंगे ।

(iii) परगने—प्रत्येक सरकार कई परगनों में बँटा होता था । प्रत्येक परगने में एक शिकदार, एक मुन्सिफ, एक फोतदार (खजांची) और दो कारकुन (क्लर्क) होते थे । शिकदार के साथ एक सैनिक दस्ता होता था और परगने में शान्ति स्थापित रखना उसका कर्तव्य था । मुन्सिफ का कार्य दीवानी मुकदमों का निर्णय और भूमि की नाप एवं लगान-व्यवस्था की देखभाल करना था । फोतदार परगने का खजांची था और दोनों कारकुनों का कार्य हिसाब-किताब लिखना था ।

(iv) गाँव—प्रत्येक गाँव शासन की स्वयं एक इकाई था। सरकार की ओर से वहाँ कोई अधिकारी नियुक्त नहीं किया जाता था। परन्तु गाँव के चौकीदार, पटवारी और प्रधान को सरकार स्वीकार करती थी तथा शासन में इनसे सहायता लेती थी। गाँव की अपनी पंचायत होती थी जो गाँव में सुरक्षा, शिक्षा, सफाई, आदि का प्रबन्ध करती थी। शेरशाह ने गाँव की परम्परागत व्यवस्था में कोई परिवर्तन नहीं किया परन्तु गाँव के इन अधिकारियों को अपने कर्तव्य का पालन करना पड़ता था अन्यथा इनको दण्ड दिया जाता था।

3. अर्थ-व्यवस्था (लगान)—केन्द्रीय सरकार की आय के मुख्य साधन लगान, लावारिस सम्पत्ति, व्यापारिक कर, टकसाल, नमक-कर, अधीन राजाओं, सरदारों और व्यापारियों, आदि के द्वारा दिये गये उपहार, युद्ध में लूटे गये माल का 1/5 भाग जजिया, आदि थे। सरकार के व्यय के मुख्य साधन सेना, अधिकारियों के वेतन तथा सुल्तान और उसके परिवार का व्यक्तिगत खर्चा था।

निस्सन्देह, राज्य की आय का प्रमुख साधन भूमि पर लगान-कर था। अबुल फजल ने लिखा था कि "उसने अलाउद्दीन की व्यवस्था को लागू किया जिसके विषय में उसने तारीख-ए-फीरोजशाही में पढ़ा था और उसके कारण वह कई पीढ़ियों की प्रशंसा का पात्र बन गया।" परन्तु अबुल फजल का यह विचार ठीक नहीं है। शेरशाह ने आँखें बन्द करके अलाउद्दीन की लगान-व्यवस्था को लागू नहीं किया था अपितु उसने वही किया जिसे वह ठीक समझता था। शेरशाह ने इस क्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्य किया। किसानों की भलाई में ही वह राज्य की भलाई मानता था। जब वह अपने पिता की जागीर का प्रबन्ध कर रहा था, तभी उसने किसानों की भलाई को प्रमुखता दी थी। शेरशाह की लगान-व्यवस्था बहुत अच्छी मानी गयी है। उनकी निम्नलिखित विशेषताएँ थीं :

(i) शेरशाह की लगान-व्यवस्था मुख्यतया रैयतवारी थी जिसमें किसानों से सीधा सम्पर्क स्थापित किया गया था। मुल्तान के अतिरिक्त राज्य के सभी भागों में इस लगान-व्यवस्था को लागू करने का प्रयत्न किया गया। यद्यपि इस कार्य में शेरशाह को पूर्ण सफलता नहीं मिली और जागीरदारी-प्रथा भी चलती रही। मालवा और राजस्थान में भी इस व्यवस्था को लागू किया जाना सम्भव न हो सका। परन्तु तब भी उसने इस दिशा में पर्याप्त सफलता प्राप्त की।

(ii) उत्पादन के आधार पर भूमि को तीन श्रेणियों में बाँटा गया था—अच्छी, मध्यम और बुरी।

(iii) कृषि-योग्य सभी भूमि की नाप की जाती थी और पता लगाया जाता था कि किस किसान के पास कितनी और किस श्रेणी की भूमि है। उस आधार पर पैदावार का औसत निकाला जाता था और तब औसत पैदावार का 1/3 भाग किसान से लगान के रूप में लिया जाता था। डॉ. जे. एन. चौधरी के अनुसार 'आइन-ए-अकबरी' में यह पैदावार का 1/4 भाग बताया गया है। डॉ. कानूनगो के अनुसार भी लगान पैदावार का 1/4 भाग था।

(iv) किसानों को सुविधा थी कि वे अपना लगान सिक्के की शक्ल में दें या गल्ले की शक्ल में यद्यपि सिक्के की शक्ल में लगान लेना सरकार अधिक ठीक समझती थी। स्थानीय बाजार में जो मूल्य गल्ले का होता था उसी के आधार पर

सिक्के की शक्ल में किसान सरकार को लगान देता था। निस्सन्देह, ऐसी स्थिति में विभिन्न स्थानों पर गल्ले की विभिन्न कीमतें होती थीं। इस कारण, विभिन्न स्थानों पर गल्ले को सिक्के की शक्ल में बदलने की कीमतें भी विभिन्न होती थीं।

(v) शीघ्र नष्ट होनें वाली वस्तुओं का लगान सिक्के की शक्ल में ही देना होता था।

(vi) किसानों को फसल के अनुसार वर्ष में दो बार लगान जमा करने की सुविधा थी।

(vii) किसानों को सरकार की ओर से 'पट्टे' दिये जाते थे जिनमें स्पष्ट किया गया होता था कि इस वर्ष उन्हें कितना लगान देना है। किसान 'कबूलियात पत्र' के द्वारा इनको स्वीकार करते थे।

(viii) लगान के अतिरिक्त किसानों को जमीन की नाप और लगान वसूल करने में लगे हुए अधिकारियों के वेतन आदि के लिए सरकार को 'जरीबाना' और 'महासीलाना' नामक अतिरिक्त कर देने पड़ते थे जो पैदावार का 2½ प्रतिशत से 5 प्रतिशत तक होते थे।

(ix) इसके अतिरिक्त किसान को पैदावार का 2½ प्रतिशत भाग अकाल, बाढ़, आदि के समय के लिए सुरक्षा के दृष्टिकोण से स्थानीय सरकारी गल्लाघरों में गल्ले की शक्ल में जमा करना पड़ता था जो आवश्यकता के समय उनको वापस कर दिया जाता था।

(x) शेरशाह का आदेश था कि लगान लगाते समय किसानों के साथ सहानुभूति का बर्ताव किया जाय लेकिन लगान वसूल करते समय कोई उदारता न की जाय।

(xi) शेरशाह यह ध्यान रखता था कि युद्ध के अवसर पर कृषि को कोई हानि न पहुँचाई जाय और जो हानि हो जाती थी उसकी पूर्ति कर दी जाती थी।

शेरशाह की यह लगान-व्यवस्था पूर्णतया दोषरहित न थी। इसमें मध्यम और बुरी भूमि के मालिक-किसानों को अच्छी भूमि के मालिक-किसानों की तुलना में अधिक लगान देना पड़ता था। पैदावार का 1/3 भाग लगान, जरीबाना, महासीलाना और सुरक्षा-कर आदि सभी कुछ मिलकर बहुत अधिक भार डालते थे। विभिन्न स्थानों पर गल्लों की कीमतें भिन्न-भिन्न होती थीं जिससे सिक्के की शक्ल में लगान देने में किसानों को असुविधा होती थी। लगान प्रति वर्ष निश्चित किया जाता था। इस कारण भी किसानों को असुविधा होती थी। जागीरदारी-प्रथा को शेरशाह समाप्त नहीं कर सका था। इस कारण, जागीरदारों की भूमि में निवास करने वाले किसानों को उसकी व्यवस्था से कोई लाभ नहीं पहुँचा था। शेरशाह अपने कर्मचारियों के भ्रष्टाचार को भी पूर्णतया नहीं रोक सका था। वे बहुत लाभ प्राप्त करते थे। स्वयं शेरशाह इस बात को जानता था और उसकी नीति थी कि वह प्रत्येक वर्ष या दो वर्ष पश्चात् लगान-अधिकारियों को स्थानान्तरित कर दिया करता था जिससे उसके अधिक से अधिक कर्मचारी लाभ उठा सकें।

तब भी तुलनात्मक दृष्टि से शेरशाह की लगान-व्यवस्था बहुत अच्छी मानी गयी है। मध्य-युग के उससे पहले के शासकों में से फिरोज तुगलक को छोड़कर अन्य

किसी भी शासक ने अपने किसानों की भलाई का इतना अधिक ध्यान नहीं रखा था जितना कि शेरशाह ने। किसानों की समृद्धि में ही वह राज्य की भलाई मानता था और किसानों को कष्ट देने वालों को वह कठोर दण्ड देता था। तुलनात्मक दृष्टि से उसने किसानों से बहुत अधिक कर नहीं लिये थे। शेरशाह का आतंक था और वह स्वयं विस्तृत रूप से शासन की देखभाल करता था। इस कारण उसने पर्याप्त मात्रा में किसानों की भलाई करने में सफलता प्राप्त की थी। सभी यह स्वीकार करते हैं कि शेरशाह ने सरकार और किसानों के बीच लगान को निश्चित करके किसानों को सरकारी कर्मचारियों के एक पक्षीय निश्चय और कठोरता से बचाया था। अफगानों में वही एक शासक हुआ जिसने लगान-व्यवस्था की ओर इतना अधिक ध्यान दिया था। डॉ. कानूनगो ने लिखा है, "यदि शेरशाह 10 या 20 वर्ष और जीवित रह गया होता तो जमींदार-वर्ग समाप्त हो जाता और हिन्दुस्तान उत्साही और परिश्रमी किसानों द्वारा खेती किया जाने वाला तथा सिंचाईयुक्त एक ऐसा विस्तृत भू-प्रदेश होता जिसमें कोई झाड़ी या घास न होती।"[1]

4. न्याय-व्यवस्था—राज्य का सबसे बड़ा न्यायाधीश शेरशाह था और प्रत्येक बुधवार की शाम को वह स्वयं न्याय के लिए बैठता था। लगान-सम्बन्धी मुकदमों का निर्णय परगनों में मुन्सिफ और सरकारों में 'मुन्सिफ-ए-मुन्सिफां' किया करते थे। इनके अतिरिक्त काजी असैनिक मुकदमों का निर्णय करते थे। फौजदारी मुकदमों का निर्णय शिकदार और 'शिकदार-ए-शिकदारां' करते थे, और फिर उनके पश्चात् सूबेदार करते थे। सुल्तान की अदालत में नीचे की अदालतों की अपीलें सुनी जाती थीं और मुकदमे आरम्भ भी हो सकते थे। फौजदारी कानून कठोर था और सभी पर समान रूप से लागू होता था। कैद, कोड़े से पीटा जाना, शरीर के अंगों को काट दिया जाना, जुर्माना, आदि प्रकार के दण्ड दिये जाते थे।

शेरशाह एक न्यायप्रिय शासक था और न्याय करते समय धर्म या धन किसी के अन्तर को स्वीकार नहीं करता था। उसका कहना था: "न्याय करना धार्मिक कार्यों में सर्वश्रेष्ठ है, और इसे सभी काफिर और मुसलमान बादशाह स्वीकार करते हैं।"[2] उसने कहा था: "न्याय यह नहीं है कि अन्याय न किया जाय बल्कि व्यक्तियों के साथ निष्पक्षता और ईमानदारी से व्यवहार करना न्याय है।"[3] इस कारण, शेरशाह न्याय करते समय गरीब-अमीर अथवा सम्मानित और साधारण व्यक्ति में कोई अन्तर नहीं करता था।

5. पुलिस-व्यवस्था—शेरशाह के समय में पुलिस की कोई पृथक् व्यवस्था न थी। विभिन्न सैनिक अधिकारी अपने-अपने क्षेत्रों में शान्ति स्थापित करते थे,

---

1 "Had Sher Shah been spared for a decade or two more, the zamindars as a class would have disappeared and Hindustan could have become one vast expanse of arable land without a bush or a bramble, cultivated under the zealous care of indefatigable farmers." —*D. K. R. Qanungo.*

2 "Justice is the most excellent of religious rites and it is approved both by the kings of the infidels and the faithful." —*Sher Shah.*

3 "Justice does not consist in abstaining from oppression, but in fair and honest dealing with men." —*Sher Shah.*

चोरों और लुटेरों को पकड़ते थे और जन-साधारण के जीवन और सम्मान की सुरक्षा करते थे। अब्बास के अनुसार, इस विषय में शेरशाह ने स्थानीय उत्तरदायित्व के सिद्धान्त पर कार्य किया था। जिस क्षेत्र में जो अधिकारी था उसी का उत्तरदायित्व उस क्षेत्र में शान्ति स्थापित रखना था। गाँव के चौधरियों और मुकद्दम का इसमें मुख्य भाग होता था। जिस गाँव में चोरी या हत्या होती थी, उस गाँव के चौधरी या मुखिया को ही अपराधी का पता लगाना पड़ता था और यदि वह इस कार्य में असफल होता था तो चोरी की क्षति-पूर्ति उसे करनी पड़ती थी और हत्या के बदले में उसको मृत्युदण्ड दिया जाता था। यह व्यवस्था कठोर थी परन्तु सफल थी। फरिश्ता ने लिखा है कि व्यापारी और यात्री पूर्ण सुरक्षा से सड़कों के किनारे रात को आराम करते थे। इलियट ने लिखा है : "शेरशाह के समय में एक वृद्ध स्त्री अपने सिर पर आभूषणों से भरी हुई टोकरी लेकर यात्रा कर सकती थी।"[1]

6. **व्यापार**—शेरशाह ने स्थान-स्थान पर लिये जाने वाले करों को समाप्त कर दिया। उसके समय में व्यापारिक वस्तुओं से केवल दो स्थानों पर कर लिया जाता था। एक उस समय पर जहाँ से वस्तुएँ उसके राज्य की सीमा में प्रवेश करती थीं और दूसरे उस स्थान पर जहाँ वस्तुएँ बिक्री के लिए जाती थीं। इस व्यवस्था से व्यापार को लाभ हुआ। शेरशाह की पुलिस-व्यवस्था, सड़कों और सरायों की व्यवस्था और अच्छे सिक्कों के प्रचलन ने भी व्यापार को प्रोत्साहन दिया। शेरशाह व्यापारियों की सम्पत्ति की सुरक्षा का भी ध्यान रखता था। उसने अपने सभी अधिकारियों को यह आदेश दिये थे कि व्यापारियों की सुरक्षा की जाय और उनके साथ सद्व्यवहार किया जाय।

7. **मुद्रा**—शेरशाह ने पुराने और घिसे हुए तथा पूर्ववर्ती विभिन्न शासकों के द्वारा चलाये सिक्कों का चलन बन्द कर दिया। उसने सोने, चाँदी और ताँबे के नये सिक्के चलाये, उनका परस्पर लेन-देन का अनुपात निश्चित किया और चाँदी के रुपये और ताँबे के सिक्के 'दाम' के आधे, चौथाई, आठवें और सोलहवें भाग के भी सिक्के चलाये। सभी सिक्कों में अच्छी धातु का प्रयोग किया गया और उन पर शेरशाह का नाम, पद और टकसाल का नाम अरबी या नागरी लिपि में अंकित किया गया। शेरशाह की मुद्रा-व्यवस्था बहुत श्रेष्ठ रही। उसके चाँदी के रुपये का वजन 180 ग्रेन था जिसमें 175 ग्रेन शुद्ध चाँदी थी। शेरशाह के रुपये के बारे में इतिहासकार स्मिथ ने लिखा था : "यह रुपया वर्तमान ब्रिटिश मुद्रा-प्रणाली का आधार है।"[2]

8. **सड़कें और सरायें**—शेरशाह ने अपने समय में कई सड़कों का निर्माण कराया और पुरानी सड़कों की मरम्मत करायी। सड़कों के दोनों तरफ छायादार और फलों वाले पेड़ लगाये गये। शेरशाह ने मुख्यतया चार प्राचीन सड़कों को ठीक कराया। ये सड़कें निम्नलिखित थीं :

(1) एक बंगाल में सोनार गाँव से लेकर आगरा, दिल्ली, लाहौर होती हुई पंजाब में अटक तक जाती थी;

---

1 "In the times of Sher Shah, an old woman might place a bask of ornaments on her head and go on journey..." —*Elliot.*

2 "This rupee is the basis of the existing British currency system." —*Dr. V. A. Smith.*

(2) दूसरी आगरा से बुरहानपुर तक जाती थी;
(3) तीसरी आगरा से जोधपुर और चित्तौड़ तक जाती थी; और
(4) चौथी लाहौर से मुल्तान तक जाती थी।

यातायात, डाक, व्यापार आदि के लिए ये सड़कें बहुत लाभदायक थीं। शेरशाह ने इन सभी सड़कों पर प्रायः दो-दो कोस के फासले पर सरायों का निर्माण कराया। अपने समय में उसने करीब 1,700 सरायों का निर्माण कराया। इन सभी सरायों में हिन्दू और मुसलमानों के ठहरने के लिए अलग-अलग प्रबन्ध था। प्रत्येक सराय की देखभाल एक शिकदार करता था। व्यापारी, यात्री, डाक-कर्मचारी आदि सभी यहाँ संरक्षण और भोजन प्राप्त करते थे। इनके व्यय के लिए सरायों के आस-पास की भूमि सराय के नाम से कर दी गयी थी। डॉ. कानूनगो के शब्दों में ये सराएँ 'साम्राज्य रूपी शरीर की धमनियाँ थीं।'

9. **गुप्तचर और सूचना-विभाग**—शेरशाह का गुप्तचर और सूचना-विभाग बहुत श्रेष्ठ था। प्रत्येक सूबेदार, सेना-अधिकारी, सेना, आदि के साथ गुप्तचर नियुक्त किये गये थे। प्रत्येक नगर और राज्य के दूर-दूर भागों में भी गुप्तचर और समाचार भेजने वालों की नियुक्ति की गयी थी। जो भी गुप्तचर महत्वपूर्ण सूचनाएँ समय पर नहीं भेज पाता था उसे दण्डित किया जाता था। प्रत्येक सराय में दो घोड़े सूचना देने वालों के प्रयोग के लिए रहते थे जिससे एक वाहक को निरन्तर स्थान-स्थान पर नवीन घोड़ा मिलता जाय और वह तीव्र गति से यात्रा कर सके। अपने गुप्तचरों और तीव्र गति से चलने वाले सन्देश-वाहकों के कारण शेरशाह अपने सम्पूर्ण राज्य के शासन पर नियन्त्रण रखता था और उसमें सफल था। बहुत से अवसरों पर जो सूचनाएँ उसके सूबेदारों या स्थानीय अधिकारियों को भी नहीं मिल पाती थीं, वे शेरशाह के पास पहले पहुँच जाती थीं।

10. **धार्मिक विचार और दान-व्यवस्था**—व्यक्तिगत दृष्टि से शेरशाह सुन्नी मुसलमान था और इस्लाम के सिद्धान्तों का पालन करता था। इसी कारण, उसने दान-दक्षिणा का प्रबन्ध किया था। सरकारी भोजनालय का प्रतिदिन का व्यय 500 अशर्फी था। प्रत्येक सैनिक, किसान, व्यापारी, धार्मिक व्यक्ति आदि को वहाँ से मुफ्त भोजन प्राप्त होता था। शासक की दृष्टि से वह सभी के प्रति उदार रहा था।

हिन्दुओं के प्रति उसकी नीति के बारे में विभिन्न मत प्रकट किये गये हैं। डॉ. एस. आर. शर्मा के अनुसार "शेरशाह के विचार दिल्ली-सल्तनत के अन्य तुर्क या अफगान शासकों से पृथक नहीं थे।" डॉ. कानूनगो के अनुसार "हिन्दुओं के प्रति उसका व्यवहार सहिष्णुतापूर्ण और आदरपूर्ण था।" डॉ. आर. पी. त्रिपाठी ने लिखा है: "शेरशाह की सहिष्णुता का पता उसके समय में धार्मिक, साहित्यिक और वास्तु-कला की दृष्टि से हुए कार्यों से लगता है। मलिक मुहम्मद जायसी ने इसी समय में 'पद्मावत' की रचना की। इसी समय में मथुरा के आस-पास वैष्णव-धर्म का बहुत प्रचार हुआ। शेरशाह की इमारतें भी यह स्पष्ट करती हैं कि उसने हिन्दू, मुस्लिम, अफगान, तुर्क और पर्शियन कलाओं में कोई अन्तर नहीं किया था।" परन्तु वह भी उसे मुख्यतया अफगानों का शासक मानते हैं। शेरशाह ने अनेक अवसरों पर असहिष्णुता का परिचय दिया था। उसने राजपूत शासकों से युद्ध करते हुए 'जिहाद' घोषित किये थे। रायसीन के शासक पूरनमल के प्रति उसका दुर्व्यवहार

धार्मिक असहिष्णुता का ही परिणाम था और जोधपुर में उसने हिन्दू-मन्दिर को तोड़कर मस्जिद बनवायी थी। इन विभिन्न तथ्यों और मतों के आधार पर यह माना जाता है कि शेरशाह ने राजनीतिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए तो धर्म का सहारा अवश्य लिया परन्तु शासन की नीति की दृष्टि से उसने धार्मिक कट्टरता की नीति नहीं अपनायी। शेरशाह का धार्मिक व्यवहार न तो पहले के तुर्क और पठान शासकों की भाँति असहिष्णु माना जा सकता है और न अपने पश्चात् के शासक अकबर की भाँति उदार ही। इनके मध्य में शेरशाह को कहीं भी स्थान प्रदान किया जा सकता है। इस प्रकार यह मानना अधिक ठीक है कि व्यक्तिगत दृष्टि से कट्टर होते हुए भी, शेरशाह शासक की दृष्टि से धार्मिक कट्टरता की नीति में विश्वास नहीं करता था और उसके समय में हिन्दुओं के प्रति साधारणतया सहिष्णुता की नीति का पालन किया गया था।

11. शेरशाह की इमारतें—शेरशाह ने अपने थोड़े समय में इमारतें बनवाने का कार्य भी किया। उसने अपनी उत्तर-पश्चिम की सीमा की सुरक्षा के लिए 'रोहतासगढ़' नाम का एक दृढ़ दुर्ग बनवाया, दिल्ली का पुराना किला बनवाया, यहीं यमुना नदी के निकट नगर बनाने का प्रयत्न किया और कन्नौज नगर को बरबाद करके 'शेरसूर' नामक नगर को बसाया। दिल्ली के पुराने किले में बनायी गयी उसकी मस्जिद भारतीय और इस्लामी कला का मिला-जुला एक अच्छा उदाहरण है। उसके समय की कला को 'तुगलक-शासकों' की कला की सादगी और शाहजहाँ के समय की स्त्रीत्व-प्रधान सौन्दर्य के बीच की कड़ी माना गया है। शेरशाह की सर्वश्रेष्ठ कृति उसका सहसराम (बिहार) का स्वयं का मकबरा है। डॉ. कानूनगो ने उसके बारे में लिखा है : "बाहर से मुस्लिम और अन्दर से हिन्दू।" हैवेल ने उसमें 'शेरशाह के चरित्र और व्यक्तित्व को देखा।' पर्सी ब्राउन ने शेरशाह की सभी इमारतों की प्रशंसा की है। कनिंघम ने उसके मकबरे को ताजमहल से भी सुन्दर कहा है। झील के बीच में एक चबूतरे पर बना हुआ शेरशाह का यह मकबरा, निस्सन्देह, भारत की श्रेष्ठतम इमारतों में से एक है।

12. शेरशाह का सैनिक प्रबन्ध—शेरशाह ने एक शक्तिशाली सेना का संगठन किया। अलाउद्दीन खलजी की भाँति उसने केन्द्र पर एक शक्तिशाली सेना रखी जो सुल्तान की सेना थी और जिसके सैनिक अपने को बादशाह के सैनिक मानते थे। घुड़सवार-सेना, पैदल-सेना, हाथी और तोपखाना उसकी सेना के मुख्य भाग थे। केन्द्र की सेना में 1,50,000 घुड़सवार, 25,000 पैदल और 5,000 हाथी थे। सम्भवतया, शेरशाह का तोपखाना बहुत श्रेष्ठ न था। उसकी घुड़सवार-सेना में मुख्यतया अफगान थे। बाकी अन्य वर्गों के मुसलमान और हिन्दू भी उसकी सेना में थे। शेरशाह सैनिकों की भर्ती, वस्त्र, घोड़े, हथियार, वेतन, पद-वृद्धि, आदि सभी की स्वयं देखभाल करता था। इस कार्य में अपनी सहायता के लिए उसने एक प्रमुख अधिकारी 'बख्शी-ए-लश्कर' की नियुक्ति की थी। उस प्रधान बख्शी के अधीन अनेक छोटे बख्शी भी नियुक्त किये गये थे। सैनिकों को नकद वेतन दिया जाता था यद्यपि सरदारों को जागीरें दी जाती थीं। बेईमानी को रोकने के लिए उसने घोड़ों को 'दागने की प्रथा' और सैनिकों का 'हुलिया' रखा जाने की प्रथाओं को आरम्भ किया। केन्द्र की इस विशाल सेना के अतिरिक्त अधीन राजाओं और सूबेदारों की अपनी पृथक सेनाएँ थीं जो आवश्यकता के अनुसार सुल्तान की सेवा

के लिए प्रस्तुत की जाती थीं। विभिन्न किलों और सैनिक-चौकियों में भी बहुत से सैनिक रहते थे। 16 बड़ी-बड़ी सैनिक चौकियों का विवरण तो प्राप्त होता है, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि सैनिक चौकियों की संख्या इनसे कहीं अधिक होगी। विभिन्न स्थानों पर फैले हुए इन सैनिकों की संख्या भी लाखों में होगी, यह विश्वास किया जा सकता है। डॉ. कानूनगो ने लिखा है : "शेरशाह ने अलाउद्दीन खलजी की पद्धति को पुनर्जीवित किया और सेना को सही अर्थों में शाही संस्था बना दिया।"

इस प्रकार, शेरशाह की असैनिक और सैनिक, दोनों ही प्रकार की शासन-व्यवस्था बहुत श्रेष्ठ मानी गयी है। जो इतिहासकार बाबर की शासन की अयोग्यता को समय की कमी मानकर माफ कर देते हैं, शेरशाह उनके लिए एक श्रेष्ठ उदाहरण है। शेरशाह का स्थान मध्य-युग के महान् शासन-प्रबन्धकों में आता है। अब्बासखाँ सर्वानी शेरशाह के विवरण को इन शब्दों में समाप्त करता है : "बुद्धिमत्ता और अनुभव में शेरशाह द्वितीय हैदर था। उसने बहुत थोड़े समय में देश के साम्राज्य को प्राप्त किया, मार्गों की सुरक्षा का प्रबन्ध किया, अच्छा शासन स्थापित किया और अपने सैनिकों और प्रजा के सुख की व्यवस्था की। नेकी पर ईश्वर की दृष्टि रहती है।"[1] इसी प्रकार कीन ने लिखा है : "किसी भी सरकार ने—यहाँ तक कि अंग्रेजों तक ने इतनी बुद्धिमत्ता का परिचय नहीं दिया जितना कि इस पठान ने।"[2] इस प्रकार, शेरशाह एक सफल शासन-प्रबन्धक सिद्ध हुआ। दिल्ली सल्तनत के बाद के समय में उत्पन्न हुई शासन-अव्यवस्था मुगलों और अफगानों के संघर्ष-काल में और भी अधिक बढ़ गयी थी। शेरशाह ने उसको ठीक करके जन-साधारण के जीवन को स्थिर और सुखी बनाया। शेरशाह ने एक प्रकार से अकबर के कार्य को सरल कर दिया क्योंकि अपने थोड़े से शासनकाल में ही शेरशाह ने शासन की पृष्ठभूमि का निर्माण कर दिया और अकबर के लिए एक स्पष्ट मार्ग बना दिया। शेरशाह को बहुत थोड़ा समय प्राप्त हुआ था जैसा कि उसने स्वयं कहा था कि "अफसोस ! मैंने शक्ति को उस समय प्राप्त किया है जब दिन (जीवन) समाप्त होने पर है।"[3] 68 वर्ष की आयु में भारत की सत्ता को प्राप्त करने वाले शेरशाह का यह कहना उचित ही था। परन्तु तब भी जो सफलता शेरशाह ने प्राप्त की, वह अद्वितीय थी।

शेरशाह को अकबर का अग्रणी (पथ-प्रदर्शक) माना गया है। शासन-प्रबन्धक की दृष्टि से ही शेरशाह को यह स्थान दिया जा सकता है। उसने एक अच्छा शासन-प्रबन्ध स्थापित करके न केवल अकबर के शासन की आधारशिला का ही निर्माण किया बल्कि शासन में कई ऐसे कार्य आरम्भ किये जिनसे अकबर को

---

1 "Sher Shah, in his wisdom and experience, was a second Haider. In a very short period, he gained the dominion of the country, and provided for the safety of the highways, the administration of the Government, and the happiness of the soldiery and people. God is a discerner of righteousness." —*Abbas Khan Sarwani.*

2 "No Government—not even the British has shown so much wisdom as this Pathan." —*H. G. Keene.*

3 "Alas that I should have attained power, only at the close of the day." —*Sher Shah.*

सहायता प्राप्त हुई। रशब्रुक विलियम्स ने लिखा है : "तैमूर-वंश का यह दुर्लभ सौभाग्य था कि उन्होंने अपने जीते हुए राज्य को पुनः प्राप्त कर लिया जिसे एक मौलिक शासन-प्रबन्धक शेरशाह अफगान ने दृढ़ कर दिया था और जिसने अनजाने में मुगलों के लिए एक ऐसी शासन-व्यवस्था का संगठन कर दिया था जो बादशाहत के उस नवीन आदर्श की सफलता के लिए आवश्यक थी जिसका वे प्रतिनिधित्व करते थे परन्तु जिसको बनाने में वे स्वयं पूर्णतया असफल रहे थे।"[1] शेरशाह का सैनिक-प्रबन्ध, सरदारों पर उसका नियन्त्रण, उसकी न्याय की भावना, उसकी प्रजा के हित की भावना और शासन के मूल सिद्धान्त, आदि सभी से अकबर ने लाभ प्राप्त किया। शेरशाह ने राजपूतों से अधीनता स्वीकार कराकर उनके राज्य उन्हें वापस कर दिये थे। अकबर ने इसको अधिक विस्तार से अपनाया। शेरशाह की लगान-व्यवस्था भी अकबर के लिए मार्ग-दर्शक बनी। अपनी हिन्दू-प्रजा के लिए शेरशाह साधारणतया सहिष्णु था। वह उन्हें उनके उत्सव, त्यौहार और धार्मिक कार्य करने के लिए स्वतन्त्रता प्रदान करता था। न्याय भी सभी को समान रूप से प्रदान किया जाता था। इन सबसे भी अधिक शेरशाह की प्रजा की भलाई करने की भावना थी। शेरशाह ने उस सिद्धान्त को आरम्भ किया था कि शासक का कार्य केवल शान्ति और सुरक्षा स्थापित करने का ही नहीं बल्कि जन-कल्याण करने का भी है। इसी कारण, किसानों, व्यापारियों, सैनिकों और जन-कल्याण की भलाई के लिए निरन्तर प्रयत्न करते रहना उसका प्रमुख उद्देश्य था। इसी भावना के कारण वह इतने थोड़े समय में अच्छा शासन-प्रबन्ध और जन-हित के कार्य कर सका था। मि. डब्लू. क्रुक ने लिखा है : "शेरशाह प्रथम शासक था जिसने प्रजा की इच्छा के आधार पर भारतीय साम्राज्य को स्थापित करने का प्रयत्न किया।"[2] अकबर ने भी मूलतया इसी भावना के आधार पर कार्य किया। निस्सन्देह, अकबर ने शेरशाह द्वारा आरम्भ किये हुए कार्यों में परिवर्तन किया, सुधार किया और उन्हें श्रेष्ठ बनाया। अकबर की लगान-नीति शेरशाह से श्रेष्ठ थी, अकबर की राजपूत-नीति शेरशाह से अधिक उदार थी और अकबर की धार्मिक नीति का आधार शेरशाह से बहुत अधिक विस्तृत था। इसी कारण, अकबर एक शासन-प्रबन्धक और एक शासक की दृष्टि से अधिक महान् था। परन्तु शेरशाह ने अकबर से पहले ही एक श्रेष्ठ शासन-व्यवस्था को स्थापित करने में सफलता प्राप्त की। इस प्रकार, उसने अकबर के शासन की आधार-शिला को बनाया और उसके अग्रसर अथवा पथ-प्रदर्शक के रूप में कार्य किया। डॉ. आर. पी. त्रिपाठी ने लिखा है कि "यदि शेरशाह अधिक समय जीवित रहता तो वह अकबर से महान्

---

1 "It was the rare good fortune of the house of Timur that they were at last to regain their heritage of conquest, strengthened by the work of Afghan Sher Shah, an administrator of marked originality, who, all unwillingly built for the Mughals that structure of the administrative machinery which, while it was necessary for securing the triumph of the new ideal of kingship they represented, they had been entirely unable to construct for themselves."
—*Rushbrooke Williams.*

2 "Sher Shah was the first who attempted to found an Indian Empire broadly based on people's will." —*W. Crook.*

हो जाता। निस्सन्देह, दिल्ली के सुल्तानों में वह सर्वश्रेष्ठ राजनीतिज्ञों में से एक था। निश्चय ही उसने अकबर की महान् उदार नीति के मार्ग का निर्णय किया और सही अर्थ में वह उसका अग्रगामी था।"[1]

शेरशाह का चरित्र आकर्षक न था। आरम्भ से ही कठिनाइयों में पले होने के कारण उसके चरित्र की विशेषता, उदारता या मानवता नहीं रह सकी थी।

5. शेरशाह का चरित्र, मूल्यांकन और इतिहास में स्थान (अफगानों में श्रेष्ठतम शासक)

वह मुख्यतया एक व्यावहारिक व्यक्ति रहा। वह अपने लक्ष्य को ठीक प्रकार से समझता था और उस लक्ष्य की पूर्ति के लिए बहुत ही शान्ति और नियोजन से प्रयत्न करता था। वह असफलता को अपने जीवन में स्थान नहीं दे सकता था क्योंकि एक भी असफलता उसके सम्पूर्ण भविष्य को समाप्त कर सकती थी। इस कारण, उसके चरित्र में अनुपात से अधिक साहस, भावना, मानवता और सब कुछ दाँव पर लगा देने का उत्साह नहीं आ सका था जिससे एक व्यक्ति का चरित्र आकर्षक बन पाता है, चाहे वह उसकी असफलता का ही कारण क्यों न बन जाय। शेरशाह का चरित्र शान्त, नीतिपूर्ण, बुद्धिमत्तापूर्ण, कुशलता, स्वार्थ तथा उसकी पूर्ति के लिए सभी आवश्यक साधनों के प्रयोग करने की भावना से पूर्ण था। अपने परिवार के सभी व्यक्तियों से उसके व्यवहार का यही आधार था। उसकी शिक्षा का भी यही आधार था। अरबी, फारसी भाषा का ज्ञान और इतिहास के अध्ययन का उसे शौक था। उसे सुशिक्षित कहा गया है और विद्वानों के संरक्षण का भी उसे ध्यान था। परन्तु उसे न तो विद्वान ही स्वीकार किया जा सकता है और न उसके संरक्षण में किसी विद्वान की प्रगति हुई। उसकी शिक्षा का लक्ष्य भी व्यावहारिक ज्ञान की प्राप्ति करना था। इस प्रकार, उसके सम्पूर्ण चरित्र के निर्माण का आधार सांसारिक सफलता थी और शेरशाह ने उसे प्राप्त किया। उसने विभिन्न अवसरों पर अपनी सफलता के लिए चालाकी का प्रयोग किया। रोहतासगढ़, चुनार तथा रायसीन के किलों पर अधिकार और मालदेव के विरुद्ध उसकी सफलता का कारण उसकी चालाकी थी। इसके अतिरिक्त वह सभी युद्धों में शौर्य के साथ चालाकी का प्रयोग भी करता था। वह अपने शत्रु को दुर्बल और असावधान करने के पश्चात् उस पर आक्रमण करता था। जब तक वह शत्रु को जीतने की पूर्ण आशा नहीं कर लेता था, तब तक वह उस पर आक्रमण नहीं करता था। इसी प्रकार, उसने धीरे-धीरे अपनी शक्ति का संचय किया था।

परन्तु शेरशाह में मानवीय गुण बिल्कुल न थे, यह स्वीकार नहीं किया जा सकता। चौसा के युद्ध के पश्चात् जब मुगल बेगमें और उनके परिवार के सदस्य उसके सामने लाये गये तो उसकी आँखों में आँसू आ गये थे और उसने उनको सम्मान सहित वापस भेज दिया था। एक धार्मिक मुसलमान की दृष्टि से वह अपने धार्मिक कृत्यों को नियमपूर्वक करता था। ईश्वर में उसका पूर्ण विश्वास था। उसने राज-

---

1 "Had Sher Shah lived longer, he might have taken the wind out of Akbar's sails. He was undoubtedly one of the greatest statesmen among the Sultans of Delhi. Indeed, he had paved the way for the highly enlightened policy of Akbar and was his true precursor." —*Dr. R. P. Tripathi.*

धानी में मुफ्त खाने का प्रबन्ध कर रखा था। उसे अपनी प्रजा और उसकी सम्पन्नता का पूर्ण ध्यान था और उसके लिए वह कठोर परिश्रम करता था। इस प्रकार, व्यक्तिगत दृष्टि से भावनात्मक न होते हुए भी शेरशाह जन-साधारण के प्रति उदार और कर्तव्यपरायण था।

एक सैनिक और सेनापति के गुणों का शेरशाह में अभाव न था। वह साहसी, परिश्रमी और हथियार चलाने में कुशल था। एक शेर को अकेले मारने के उपलक्ष में उसे 'शेरखाँ' की उपाधि दी गयी थी। सैनिक की दृष्टि से उसने अनेक युद्धों में भाग लिया था। एक सेनापति की दृष्टि से वह जन्मजात सेनापति तो न था परन्तु अपने अनुभव से वह एक योग्य सेनापति अवश्य बन गया था। कम से कम मूल्य पर किस प्रकार शत्रु पर विजय प्राप्त की जा सकती है, यह उसे अच्छी प्रकार आता था। उसका लक्ष्य विजय प्राप्त करना था, केवल युद्ध मात्र नहीं। इस दृष्टि से वह सफल रहा। सेनापति की दृष्टि से उसने जीवन में एक भी युद्ध में पराजय नहीं पायी। शेरशाह एक महान् संगठनकर्ता था। मुगलों के विरुद्ध अफगानों की शक्ति को एकत्रित करके और समय पर मुगलों पर आक्रमण करके उसने अफगान साम्राज्य को भारत में पुनः स्थापित किया। यह शेरशाह का एक गौरवपूर्ण कार्य था। इस प्रकार, शेरशाह के चरित्र में चाहे आकर्षण न हो परन्तु सफलता के गुण अवश्य थे।

इतिहास में शेरशाह का स्थान बहुत महत्वपूर्ण है। वूल्जले हेग ने कहा है: "वह भारत के मुसलमान सम्राटों में सर्वश्रेष्ठ था। डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव उसे अकबर के पश्चात् स्थान प्रदान करते हैं। डॉ. एस. आर. शर्मा ने लिखा है: "यह अनुचित न होगा यदि जागीरदारों के प्रति उसके व्यवहार की तुलना हेनरी सप्तम से, सैनिक संगठन और असैनिक शासन की देखभाल करने में प्रशा के महान् शासक फ्रेडरिक विलियम प्रथम से, व्यावहारिक ज्ञान और राजनीतिक सिद्धान्तों के सम्बन्ध में कौटिल्य और मैकियावली से और उदार भावनाओं तथा अपनी प्रजा के सभी वर्गों की भलाई के लिए प्रयत्न करने में अशोक से की जाय। वास्तव में वह बाबर और प्रशा के फ्रेडरिक महान् का मिश्रण था।"[1] डॉ. जदुनाथ सरकार ने लिखा है: "अपने बचपन के पारिवारिक वातावरण में, अपने प्रारम्भिक जीवन और शिक्षा में, अपने चरित्र के विकास में—यहाँ तक कि जिस प्रकार उन्होंने सिंहासन को प्राप्त किया—तिरस्कृत शाहजी भोंसले का पुत्र पूर्णतया हसन सूर के पुत्र के समान था। शिवाजी और शेरशाह चरित्र और योग्यता की दृष्टि से ही समान न थे बल्कि

1 "It would not be unfair to compare him with Henry VII in his dealings with the feudal nobility; with Frederick William I—Prussia's greatest 'internal king'—in the care he bestowed upon both military organisation and civil administration; with Kautilya and Machiavelli in his practical outlook and political principles; and Asoka in his benevolent intentions and solicitude for the welfare of all classes of his subject. In fact, he was a combination of Babur and Frederick the Great of Prussia."

—Dr. S. R. Sharma.

समान परिस्थितियों में ही उनका विकास हुआ था।"[1] डॉ. आर. पी. त्रिपाठी भी इस मत से सहमत हैं। वे लिखते हैं : "शेरशाह के सबसे निकट आने वाला व्यक्तित्व मराठा राष्ट्र के महान् निर्माता शिवाजी का है।"[2] इस प्रकार स्पष्ट है कि शेरशाह मध्य युग के शासकों में एक श्रेष्ठ स्थान रखता है। यह तो नहीं माना जा सकता कि वह उनमें सर्वश्रेष्ठ था, क्योंकि अकबर निस्सन्देह उसकी तुलना में श्रेष्ठ स्थान रखता है परन्तु यह अवश्य माना जा सकता है कि वह मध्य-युग के महान् शासकों में से एक था।

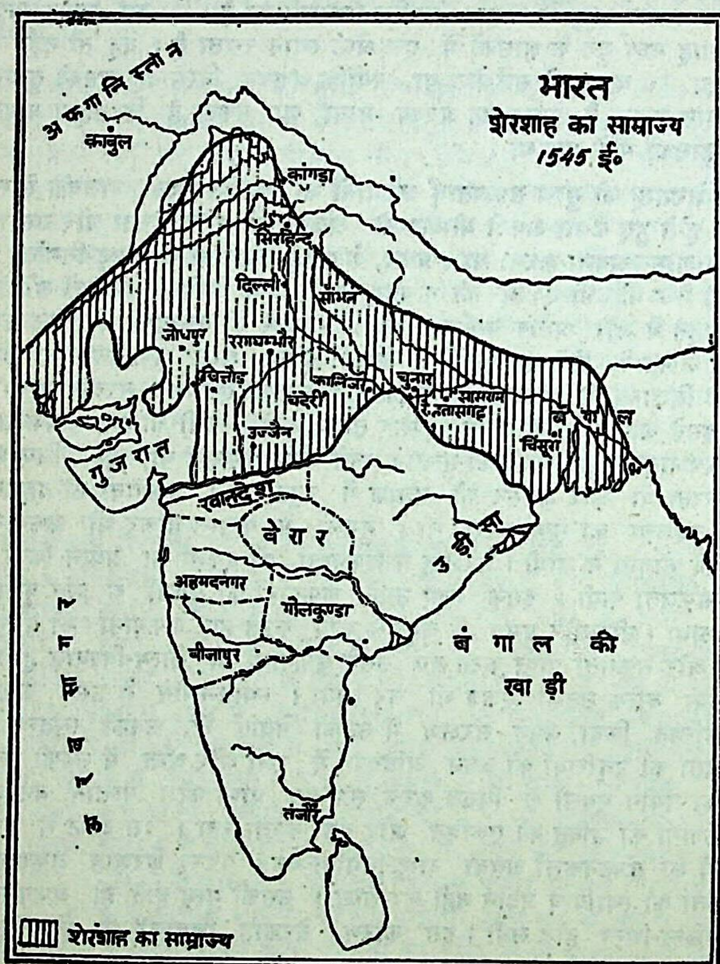
शेरशाह की मुख्य सफलताएँ अफगानों को एकत्रित करना, राजवंश से सम्बन्धित न होते हुए केवल अपनी योग्यता से राजपद को प्राप्त करना और उस राज्य का श्रेष्ठ शासन-प्रबन्ध करना था। प्रथम, शेरशाह अफगानों का राष्ट्र-निर्माता था। अफगानों में कभी भी एकता की भावना न थी। वे विभिन्न कबीलों और वंशों में बँटे रहते थे और प्रत्येक कबीला और वंश अपने को एक-दूसरे से श्रेष्ठ मानता था तथा शक्ति के लिए एक-दूसरे से संघर्ष करता था। अफगानों का राजत्व सम्बन्धी सिद्धान्त भी पृथक् था। उनके लिए सुल्तान एक बड़ा सरदार मात्र था। वे उसे इससे अधिक सम्मान देने के लिए तत्पर न थे। इसी कारण, प्रत्येक शक्तिशाली अफगान सरदार अपने को सुल्तान बनने योग्य समझता था, इसके लिए शक्ति संचय करता था और अवसर की तलाश में रहता था। अफगानों की यह प्रवृत्ति उनकी दुर्बलता का मुख्य कारण थी। मुगलों से परास्त होकर भी अफगानों में एकता की भावना न आयी। शेरशाह ने अफगानों की एकता का प्रयत्न किया और उसमें सफलता पायी। इसके लिए उसने अफगानों की मुगलों के प्रति घृणा का लाभ उठाया। धीरे-धीरे समय के अनुकूल कार्य करते हुए, अफगानों को प्रोत्साहन देते हुए और सफलता प्राप्त करते हुए उसने अफगानों को आत्म-विश्वास ही प्रदान नहीं किया बल्कि उनको एकत्र भी कर लिया। स्थान-स्थान से उसने अफगानों को आमन्त्रित किया, अपने संरक्षण में उनको सेवाएँ दीं, उनकी स्वतन्त्र और स्वच्छन्दता की प्रवृत्तियों को अपने अधिकार में रखा और अन्त में उनकी एकत्रित शक्ति का प्रयोग मुगलों के विरुद्ध करके सफलता प्राप्त की। सुल्तान बनकर भी वह अफगानों की शक्ति को एकत्रित और दृढ़ करता रहा। इस दृष्टि से शेरशाह अफगानों का संगठनकर्त्ता अथवा राष्ट्र-निर्माता था। परन्तु शेरशाह अफगानों की इस एकता को स्थायित्व प्रदान नहीं कर सका। उसकी मृत्यु होते ही अफगानों की एकता छिन्न-भिन्न होने लगी। इस कारण, शेरशाह शिवाजी के निकट तो आ

---

1 "In the condition of the homes of their boyhood, their early life and training, and the development of their character—even as in the steps by which they mounted to thrones—the forsaken son of Shahji Bhonsla was the exact parallel of the son of Hasan Sur. Shivaji and Sher Shah were not only alike in character and geinius but also grew up amidst like circumstances."
—*Dr. J. N. Sarkar.*

2 "The personality which comes nearest to Sher Shah is that of Shivaji, the Master Builder of Maratha Nation."
—*Dr. R. P. Tripathi.*

सकता है परन्तु समान नहीं हो सकता। शिवाजी ने जिस राष्ट्र का निर्माण किया, वह उसकी मृत्यु के पश्चात् भी राष्ट्र बना रहा। शम्भाजी की मृत्यु और महाराष्ट्र



पर औरंगजेब का अधिकार हो जाने के पश्चात् जिस स्वतन्त्रता-संग्राम को मराठों ने आरम्भ किया, वह राष्ट्रीय भावना से प्रेरित था। इसी कारण, उन्होंने औरंगजेब की शक्ति को तोड़ दिया और उसके पश्चात् अपना विकास करने में भी सफलता पायी। शेरशाह ऐसी स्थायी भावना अफगानों को प्रदान नहीं कर सका। उसके पक्ष में यह अवश्य कहा जा सकता है कि वह अपने समय में अवश्य सफल रहा। **शेरशाह का दूसरा कार्य अपनी योग्यता से दिल्ली के सिंहासन को प्राप्त करना था।** उसका यह कार्य अद्वितीय था और केवल स्वयं का था। उसका पिता एक साधारण जागीरदार था और उस पर भी उसके सम्बन्ध अपने पिता से अच्छे न थे। उसके सौतेले भाई उसकी जागीर का बँटवारा चाहते थे। दिल्ली के शासक

इब्राहीम लोदी का चाचा आलमखाँ लोदी और उसका भाई महमूद लोदी अभी जीवित थे। अफगान यदि मान सकते थे तो उन्हीं के अधिकार को दिल्ली के सिंहासन पर मान सकते थे। गुजरात का शासक बहादुरशाह भी अफगान था, वह शक्तिशाली था और दिल्ली के सिंहासन को प्राप्त करने की इच्छा रखता था। दक्षिणी बिहार में बहारखाँ ने मुहम्मदशाह के नाम से स्वतन्त्र अफगान-राज्य को स्थापित करने का प्रयत्न किया था और बंगाल के अफगान शासक नुसरतशाह और बाद में महमूदशाह बिहार को भी अपने राज्य में सम्मिलित करना चाहते थे। इनमें से प्रत्येक राजवंश से सम्बन्धित था, प्रत्येक शक्तिशाली था और प्रत्येक शेरशाह से अधिक अफगानों के नेतृत्व का दावा कर सकता था। परन्तु इनमें से प्रत्येक असफल हुआ और एक मामूली जागीरदार के पुत्र ने शेरशाह के नाम से दिल्ली के सिंहासन को प्राप्त किया। यह शेरशाह की एक महान् सफलता थी, और यही उसे इतिहास में एक सम्मानित स्थान प्रदान करने के लिए पर्याप्त है। **शेरशाह की तीसरी महान् सफलता एक शासन-प्रबन्धक के रूप में है।** अपने थोड़े समय में जो सफलता उसने शासन में प्राप्त की और जिस व्यवस्था को उसने स्थापित किया वह अद्वितीय थी। अलाउद्दीन खलजी मौलिक सिद्धान्तों की दृष्टि से उससे श्रेष्ठ था, परन्तु व्यावहारिक प्रयोग में शेरशाह उससे श्रेष्ठ था। अकबर, निःसन्देह शासन-प्रबन्धक की दृष्टि से उससे श्रेष्ठ सिद्ध हुआ था। इसके अतिरिक्त, मध्य-युग के अन्य शासकों में से कोई भी शेरशाह से तुलना करने के योग्य नहीं है। इस कारण, मध्य-युग के महान् शासन-प्रबन्धकों में से शेरशाह एक है।

इस प्रकार, शेरशाह का स्थान मध्य-युग के महान् शासकों में है, जबकि अफगान शासकों में वह, निःसन्देह, सर्वश्रेष्ठ था। उसकी सफलता और उसकी योग्यता उन सभी की तुलना में सर्वश्रेष्ठ मानी जा सकती है।

[2]

शेरशाह के उत्तराधिकारी (1545-1555)

जिस समय शेरशाह की मृत्यु हुई, उसके दोनों पुत्रों में से कोई भी उसके निकट न था। उसका बड़ा पुत्र आदिलखाँ रणथम्भौर में और छोटा पुत्र जलालखाँ रीवा के निकट था। शेरशाह ने अपने ज्येष्ठ पुत्र को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया था परन्तु बहुत से सरदारों ने जलालखाँ को बादशाह बनाना उपयुक्त समझा, क्योंकि जबकि आदिलखाँ विलासी और आरामपसन्द था, जलालखाँ परिश्रमी और योग्य सेनापति था। जलालखाँ को शीघ्र बुलाने के लिए दूत भेजा गया और उसके आ जाने पर 26 मई, 1545 को उसे इस्लामशाह के नाम से सुल्तान घोषित कर दिया गया।

1. इस्लामशाह (1545-1553)

आदिलखाँ ने आगरा पर आक्रमण किया, परन्तु जब आगरा के किलेदार ने उसको किले में प्रवेश नहीं दिया तो वह रणथम्भौर वापस चला गया। इस्लामशाह ने आगरा पहुँचकर उस पर अपना अधिकार कर लिया। उसने अपने सैनिकों को दो माह का वेतन दिया जिसमें एक माह का वेतन पुरस्कार के रूप में दिया गया। उसने अपने स्वयं के सैनिकों और सरदारों की पदोन्नति की जिससे वे उसके प्रति स्वामिभक्त बन जायें। परन्तु इससे कुछ अन्य सरदार असन्तुष्ट भी हो गये।

1. आदिलखाँ से संघर्ष—जब तक उसका बड़ा भाई आदिलखाँ जीवित रहा, इस्लामशाह स्वयं को सुरक्षित अनुभव नहीं कर सकता था। उसने आदिलखाँ से आग्रह किया कि यदि वह दरबार में उपस्थित होकर उसके आधिपत्य को स्वीकार कर लेगा तो उसे सुरक्षा से वापस चला जाने दिया जायगा और बयाना की जागीर उसे दे दी जायगी। खवासखाँ और ईसाखाँ जैसे सम्मानित सरदारों के आश्वासन पर आदिलखाँ आगरा आ गया और भाई से मिलकर तुरन्त बयाना की जागीर पर वापस चला गया। इस बीच में उसकी हत्या करने का प्रयत्न किया गया परन्तु वह असफल हुआ। उसके पश्चात् भी इस्लामशाह ने अपने भाई को असम्मानित करने और उसकी हत्या करने का प्रयत्न किया। आदिलखाँ ने खवासखाँ से संरक्षण और सहायता की माँग की। खवासखाँ ने उसे आगरा पर आक्रमण करने की सलाह दी। ईसाखाँ भी उसके साथ हो गया। इस्लामशाह के दरबार के अन्य बहुत से सरदारों ने भी युद्ध के समय पर इस्लामशाह का साथ छोड़ने का वायदा किया। परन्तु आगरा शहर के बाहर जो युद्ध हुआ उसमें आदिलखाँ की पराजय हुई। आदिलखाँ पन्ना की तरफ भाग गया और उसके पश्चात् उसका नाम भी सुनने को नहीं मिला। खवासखाँ भाग कर सरहिन्द की तरफ चला गया। इस प्रकार, इस्लामशाह का सिंहासन सुरक्षित हो गया।

2. सरदारों का विद्रोह और दमन—इस्लामशाह ने उन सभी सरदारों को समाप्त करने का निश्चय किया जिन पर उसे शंका थी। ये सभी शेरशाह के समय के पुराने सरदार थे जो आदिलखाँ के पक्ष में कहे जा सकते थे। जलालखाँ और खुदादादखाँ को मार दिया गया और करीब 13 सरदार ग्वालियर के किले में ले जाकर मार दिये गये। सईदखाँ नियाजी अपने भाई, पंजाब के सूबेदार आजम हुमायूँ के पास भाग गया। इस्लामशाह ने शुजातखाँ को मालवा से और पंजाब से आजम हुमायूँ को दरबार में आने के आदेश दिये। उसका इरादा उनको भी नष्ट करने का था। शुजातखाँ दरबार में आ गया और उसके दत्तक-पुत्र के हस्तक्षेप के कारण उसे सम्मान दिया गया परन्तु आजम हुमायूँ ने आने से इन्कार कर दिया। इस्लामशाह की इस नीति से सभी पुराने सूबेदार शंकित और भयभीत हो गये। उनमें से जो शक्तिशाली थे, वे विद्रोह करने को तत्पर हो गये। इनमें से पहला विद्रोह आजम हुमायूँ का था।

(i) आजम हुमायूँ नियाजी—आजम हुमायूँ ने न केवल दरबार में आने से इन्कार किया बल्कि उसने विद्रोह किया। खवासखाँ भी अपने सैनिकों के साथ उससे मिल गया। एक विशाल सेना के साथ आजम हुमायूँ नियाजी राजधानी की तरफ बढ़ा। इस्लामशाह उसका मुकाबला करने के लिए अम्बाला पहुँच गया। खवासखाँ युद्ध से पहले ही नियाजियों का साथ छोड़ गया क्योंकि वह आदिलखाँ के नाम से युद्ध करना चाहता था जबकि नियाजियों ने यह घोषणा की थी कि "सल्तनत का फैसला तलवार से होगा।" युद्ध में नियाजियों की पराजय हुई और वे बुरी तरह से कत्ल किये गये। आजम हुमायूँ भाग गया। उसके पश्चात् भी नियाजी पंजाब में उपद्रव करते रहे और गक्खरों से उन्होंने सहायता ली। इस्लामशाह दो वर्ष तक गक्खर प्रदेश को नष्ट करता रहा यद्यपि वह उनको समाप्त न कर सका। इसके पश्चात् आजम हुमायूँ ने कश्मीर में प्रवेश किया और वहाँ की राजनीति में हस्तक्षेप करने से एक युद्ध में लड़ता हुआ मारा गया। इस्लामशाह ने नियाजी-स्त्रियों के

साथ बुरा व्यवहार किया। बन्दी स्त्रियों को महीनों तक नग्न रखा गया और बाद में उन्हें वेश्यावृत्ति के लिए छोड़ दिया गया।

(ii) शुजातखाँ—शुजातखाँ मालवा का सूबेदार था, परन्तु सुल्तान के बुलाने पर वह ग्वालियर आ गया। यहाँ एक अफगान ने उसकी हत्या करने का प्रयत्न किया। उसे इसका सन्देह इस्लामशाह पर गया और वह वहाँ से मालवा भाग गया। इस्लामशाह ने मालवा पर आक्रमण किया। शुजातखाँ बिना विरोध के भाग खड़ा हुआ। बाद में नियाजी-विद्रोह और शुजातखाँ के पुत्र के हस्तक्षेप के कारण शुजातखाँ को माफ कर दिया गया और मुख्य भागों को छोड़कर मालवा का अधिकांश प्रदेश उसे वापस दे दिया गया।

(iii) खवासखाँ—खवासखाँ आदिलखाँ का समर्थक रहा था। युद्ध में आदिलखाँ की पराजय के पश्चात् वह सरहिन्द की तरफ भाग गया था। उसने नियाजियों की सहायता करने का प्रयत्न किया था परन्तु उनकी स्वतन्त्रता की भावना को देखकर वह उनका साथ छोड़ गया था और उसने कुमायूँ के राजा के यहाँ शरण ली थी। इस्लामशाह ने राजा से उसे वापस माँगा और उसे अस्वीकार करने पर खवासखाँ को स्वयं दरबार में आने के लिए कहा। सुल्तान के व्यक्तिगत आश्वासन पर खवासखाँ दरबार में लाने के लिए तैयार हो गया। जब वह दरबार में आ रहा था, तब मार्ग में सम्बल के सूबेदार ने इस्लामशाह के इशारे से उस पर अचानक आक्रमण किया और उसे मार दिया। इस्लामशाह ने उसकी लाश को दिल्ली के बाजार में फिकवा दिया जिससे विद्रोही उससे सबक ले सकें। परन्तु दिल्ली के नागरिकों ने उस बहादुर व्यक्ति का सम्मान किया और सैनिकों की उपस्थिति के होते हुए भी वे तीन रात तक लगातार उसकी लाश को फूलों से ढंकते रहे। इस प्रकार, शेरशाह के एक योग्य और वफादार सरदार का अन्त हुआ।

(iv) विद्रोहों का परिणाम—विद्रोहों को दबाकर और राज्य के बड़े-बड़े सरदारों को दण्डित करके इस्लामशाह ने सुल्तान के सम्मान और शक्ति में वृद्धि की और अफगानों की स्वतन्त्र प्रकृति को दबा दिया। इस्लामशाह के समय में प्रान्तीय सूबेदार सुल्तान का तो क्या सुल्तान के जूतों का भी सम्मान करते थे। सुल्तान के आदेशों का पूर्णतया पालन किया जाता था। यह उसकी शेरशाह से भी बड़ी सफलता थी। परन्तु पुराने सरदारों के प्रति इतनी कठोरता की नीति के दुष्परिणाम भी हुए। दो बार इस्लामशाह की हत्या का प्रयत्न किया गया। इस्लामशाह इन प्रयत्नों के कारण और भी अधिक कठोर और शंकालु हो गया। उसने लगभग सभी सूबों से पुराने सूबेदारों को हटाकर नवीन सूबेदारों की नियुक्ति की। बंगाल से काजी-फजीलात को हटाकर महमूदखाँ सूर की नियुक्ति की गयी। उसकी इस नीति से अफगान-सरदारों में असन्तोष फैल गया। उसके समय में तो वे शान्त पड़े रहे परन्तु उनमें राजवंश के प्रति भक्ति न रही। इस्लामशाह की मृत्यु होते ही सिंहासन का फैसला तलवार के आधार पर किया गया। इस प्रकार, इस्लामशाह की सबसे बड़ी असफलता यह थी कि जिस अफगान-एकता के लिए शेरशाह प्रयत्न कर रहा था उसके लिए वह कोई कार्य न कर सका बल्कि अपनी कठोर नीति से उसने उस पर प्रबल आघात किया।

3. अन्तिम दिन और मृत्यु—अपने समय में इस्लामशाह सफल रहा। उसने न केवल राज्य की सुरक्षा ही की बल्कि उसका विस्तार भी किया। पूर्वी

बंगाल को उसके समय में विजय किया गया। उसके समय के सभी विद्रोह असफल हुए और 1553 में जब हुमायूँ ने सीमा पर अतिक्रमण का प्रयत्न किया तब बीमारी की दशा में भी इस्लामशाह युद्ध के लिए चल दिया और हुमायूँ को वापस लौटना पड़ा। उसके समय में उसका भय और सम्मान था और उसके आदेशों का अक्षरशः पालन किया जाता था। शासन-व्यवस्था में उसने विभिन्न सुधार किये जिनमें से अनेक लाभदायक भी थे। परन्तु इस्लामशाह अधिक समय तक जीवित न रह सका। बीमारी के कारण 30 अक्टूबर, 1553 को उसकी मृत्यु हो गयी।

4. शासन-प्रबन्ध—इस्लामशाह एक योग्य पिता का योग्य उत्तराधिकारी सिद्ध हुआ। उसने न केवल अपने पिता के समय की अच्छी शासन-व्यवस्था को ही स्थापित रखा बल्कि उसमें कुछ सुधार भी किये। उसकी शासन-व्यवस्था और लगान-व्यवस्था वही रही जो शेरशाह के समय में थी। उसने उसको दृढ़ किया। शेरशाह ने प्रत्येक चार मील पर एक सराय बनवायी थी, इस्लामशाह ने अब प्रत्येक दो मील पर सरायें बनवा दीं। शेरशाह के समय में मुफ्त खाने की व्यवस्था केवल राजधानी में थी, इस्लामशाह ने प्रत्येक सराय में मुफ्त खाने की व्यवस्था की। इस्लामशाह जागीरदारी-प्रथा को समाप्त न कर सका परन्तु उसने पुराने जागीरदारों से जागीरों को छीनकर नवीन जागीरदारों को दीं। इससे एक तो नवीन जागीरदार उसके लिए वफादार हुए और दूसरे जागीरदारी-प्रथा के स्थायित्व पर चोट पहुँची। उसने पुलिस-व्यवस्था के लिए गाँव के मुखिया और मुकद्दमों के अतिरिक्त सरकारी अधिकारियों को भी उत्तरदायी बना दिया।

सेना की व्यवस्था में उसने सुधार किये। घुड़सवार सेना को 50, 200, 250 और 500 घुड़सवारों की टुकड़ियों में बाँटा गया और पैदल-सैनिकों को 5000, 10,000 और 20,000 तक की बड़ी-बड़ी टुकड़ियों में संगठित किया गया। उसकी इच्छा, सम्भवतया, दशमलव के आधार पर सेना को विभिन्न टुकड़ियों और विभिन्न अधिकारियों के नेतृत्व में बाँटने की थी। अकबर की मनसबदारी-प्रथा में इस व्यवस्था को विस्तृत रूप प्रदान किया गया। उत्तर-पश्चिम की सीमा की सुरक्षा के लिए उसने वहाँ पर पाँच किलों की एक शृंखला का निर्माण किया। ये किले शेरगढ़, इस्लामगढ़, रशीदगढ़, फिरोजगढ़ और मानकोट के थे। इनको सम्मिलित रूप में 'मानकोट के किले' पुकारते थे।

इस्लामशाह ने अपने सरदारों को कठोर नियन्त्रण में रखा। वे सभी उससे डरते थे। इस्लामशाह के आदेशों को प्रत्येक जिले में प्रत्येक शुक्रवार को एक दरबार करके सुनाया जाता था। उस दरबार में इस्लामशाह के जूते एक सिंहासन पर रखे जाते थे और उसी के सम्मुख आदेश सुनाये जाते थे। शासन के बड़े-बड़े अधिकारी मीलों आगे आकर इस्लामशाह के आदेश-पत्रों को लेते थे और सम्मान से अपने सिरों पर रखकर उनको ले जाते थे। सरदारों के प्रभाव को कम करने के लिए उसने आज्ञा दी थी कि कोई भी सरदार हाथी नहीं रखेगा, नर्तकियाँ नहीं रखेगा और लाल रंग के खेमे का प्रयोग नहीं करेगा। ये सुल्तान के विशेषाधिकार थे। इस प्रकार इस्लामशाह ने अफगान-सरदारों की स्वतन्त्रता की भावना को कठोरता से दबाकर रखा। अपने समय में वह सफल रहा यद्यपि उसके पश्चात् उसके दुष्परिणाम निकले। अफगान-सरदारों ने उसके वंश के प्रति भक्तिभाव नहीं

रखा और उसकी मृत्यु होते ही सिंहासन के भाग्य का फैसला तलवार के आधार पर किया।

इस्लामशाह के शासन-सम्बन्धी सुधारों में सबसे महत्वपूर्ण सुधार उसका विभिन्न कानूनों का निर्माण और उनको सभी स्थानों पर लागू किया जाना था। उसने कानून-व्यवस्था को राज्य की शक्ति के आधार पर लागू करने का प्रयत्न किया। उसने सैनिक, लगान, व्यापार आदि सभी के सम्बन्ध में विस्तृत कानून बनाये और उनको समान रूप से लागू किया। उससे पहले भी इनके विषय में विभिन्न कानून थे परन्तु उनके पीछे धर्म की शक्ति थी। इस्लामशाह ने राज्य की तरफ से कानून बनाकर उनको समान बनाया और धर्म के प्रभाव को कानून-व्यवस्था से समाप्त करने का प्रयत्न किया। ऐसा प्रयत्न अलाउद्दीन खलजी और मुहम्मद तुगलक जैसे शासक तो क्या उसका पिता शेरशाह भी नहीं कर सका था।

इस प्रकार, इस्लामशाह एक योग्य शासन-प्रबन्धक था। कुछ इतिहासकारों ने लिखा है कि उसके कुछ सुधार केवल इस दृष्टिकोण से किये गये थे कि जन-साधारण उसके पिता की कीर्ति, यथा—नवीन सरायों के निर्माण और वहाँ पर मुफ्त भोजन की व्यवस्था आदि को भूल जायें। परन्तु इस दृष्टिकोण को स्वीकार करना कठिन है। इस्लामशाह के सुधार शेरशाह के सुधारों में परिवर्तन करने के लिए न थे बल्कि उनको और अच्छा बनाने के लिए थे और यदि इस्लामशाह में दम्भ की भावना रही भी हो तो उससे जनसाधारण को लाभ ही हुआ था।

5. चरित्र—इस्लामशाह एक शिक्षित और सुसंस्कृत व्यक्ति था। उसने अच्छी शिक्षा पायी थी और फारसी में वह स्वयं कविता करता था। व्यक्तिगत दृष्टि से वह कट्टर मुसलमान था परन्तु वह धर्मान्ध न था। एक सैनिक, एक सेनापति और एक शासन-प्रबन्धक की दृष्टि से वह योग्य सिद्ध हुआ था। वह साहसी और परिश्रमी भी था। परन्तु इस्लामशाह ईर्ष्यालु, निर्दयी, धोखेबाज और प्रतिहिंसात्मक था। मानवीय गुणों की दृष्टि से उसमें बहुत त्रुटियाँ थीं और उसकी ये दुर्बलताएँ उसके वंश और अफगानो के लिए हानिकारक भी हुईं। उसकी मृत्यु के पश्चात् अफगानों में इन्हीं प्रवृत्तियों की प्रधानता दिखायी देती है।

इस्लामशाह की मृत्यु होते ही सूर-साम्राज्य की एकता नष्ट हो गयी और उसके पतन का मार्ग खुल गया। इस्लामशाह के पश्चात् उसका 12 वर्ष का पुत्र फीरोजशाह गद्दी पर बैठा (1553)। परन्तु तीन दिन के पश्चात् ही उसके मामा मुबारिजखाँ ने उसकी हत्या करके गद्दी पर अधिकार कर लिया और मुहम्मद आदिलशाह की उपाधि ग्रहण की। आदिलशाह ने गद्दी पर नाजायज तरीके से अधिकार किया था और वह अयोग्य भी था। अफगानों की स्वतन्त्रता और शक्ति-संघर्ष की भावना को इससे खुला मार्ग मिल गया तथा विभिन्न सरदारों ने विद्रोह करने आरम्भ कर दिये। आरम्भ में आदिलशाह ने कुछ सफलता प्राप्त की परन्तु वह साम्राज्य के विभाजन को रोकने में असफल रहा। उसी के बहनोई इब्राहीमखाँ सूर ने दिल्ली और आगरा पर अधिकार करके अपने को इब्राहीम-शाह के नाम से बादशाह घोषित कर दिया। उस समय आदिलशाह चुनार में था और उसका मुख्य सहायक और सेनापति हेमूँ पूरब में युद्ध करने गया हुआ था। इस कारण, आदिलशाह कुछ न कर सका। इस घटना से आदिलशाह के एक अन्य

2. फीरोजशाह, मुहम्मद आदिलशाह : सूर-साम्राज्य का पतन

बहनोई अहमदखाँ को प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। वह पंजाब का सूबेदार था। उसने अपने आप को सिकन्दरशाह के नाम से स्वतन्त्र शासक घोषित कर दिया। उसी प्रकार बंगाल में मुहम्मदखाँ सूर ने और मालवा में बाजबहादुर ने अपने-अपने को स्वतन्त्र शासक घोषित कर दिया। थोड़े समय पश्चात् ही सिकन्दरशाह ने दिल्ली तथा आगरा पर अधिकार कर लिया। इस प्रकार, सूर-साम्राज्य पाँच भागों में बँट गया। सिकन्दरशाह के अधिकार में पंजाब, दिल्ली और आगरा थे; इब्राहीमशाह का अधिकार दोआब और सम्भल पर था; चुनार से बिहार तक आदिलशाह का अधिकार था; बंगाल में मुहम्मदशाह का आधिपत्य, था और मालवा में बाजबहादुर की स्वतन्त्र सत्ता थी। इनमें से प्रत्येक शासक सम्पूर्ण सूर-साम्राज्य को अपने अधिकार में करने के लिए प्रयत्नशील था।

ऐसी परिस्थिति में जबकि सूर-साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया था और विभिन्न सूर सरदार आपस में संघर्ष कर रहे थे, हुमायूँ ने भारत पर आक्रमण किया। इनके संघर्षों के कारण हुमायूँ लाहौर तक सरलता से पहुँच गया और फिर मच्छीवारा तथा सरहिन्द के युद्धों को जीतकर उसने दिल्ली पर अधिकार कर लिया।

5

अकबर महान्

[1556—1605 ई.]

मुगल शासकों में ही नहीं अपितु सम्पूर्ण मध्य-युग के भारतीय शासकों में अकबर को श्रेष्ठ स्थान दिया गया है। मुगल-साम्राज्य को वास्तविकता में भारत में स्थापित करने का, उसका विस्तार करने का और उसे स्थायित्व प्रदान करने का ही श्रेय अकबर को नहीं है बल्कि राजस्व और शासन में जिन नवीन और उदार सिद्धान्तों का उसने पालन किया, वह उसे भारत के ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण विश्व के महान् शासकों में स्थान प्रदान करता है। प्रायः 350 वर्ष का मुस्लिम शासन अभी तक भारत में अस्थिर था और एक भी मुस्लिम शासक न तो अपने राजवंश को स्थिरता प्रदान कर सका था और न शासन के उन सिद्धान्तों को व्यवहार में ला सका था जिनके आधार पर एक विदेशी सत्ता और एक भिन्न धर्म के मतावलम्बी एक अन्य देश में स्थायी रूप से निवास करने या शासन का संचालन करने का अधिकार प्राप्त कर पाते। अकबर से पहले केवल शेरशाह ने, निःसन्देह प्रजा की भलाई के हितार्थ शासन-सत्ता स्थापित करने का प्रयत्न किया था। परन्तु शेरशाह को बहुत थोड़ा समय मिल सका था। उसकी नीति अभी अस्पष्ट ही थी और उसके प्रभाव के परिणामों को समझने का अवसर भी प्राप्त नहीं हुआ था कि उसकी मृत्यु हो गयी। अकबर को अपनी नीति और उसके प्रभाव को देखने के लिए एक लम्बा समय प्राप्त हुआ। इसके अतिरिक्त, वह निश्चित ही शेरशाह की तुलना में अधिक उदार, अधिक दृढ़, अधिक नीतिज्ञ और अधिक विशाल दृष्टिकोण का सिद्ध हुआ। निस्सन्देह, अकबर ने अपने राजवंश को स्थायित्व प्रदान किया और शासन के उन सिद्धान्तों का व्यावहारिक दृष्टि से प्रयोग किया जिसके आधार पर मुगल और इस्लाम के समर्थक शासकों को एक विदेशी देश और अपने से पृथक् धर्म के मतावलम्बियों पर शासन करने का नैतिक अधिकार प्राप्त हो सका। इसी में अकबर की महानता थी। लेनपूल ने लिखा है : "वह भारतीय बादशाहों में सबसे महान् था।"[1] डॉ. ईश्वरीप्रसाद लिखते हैं, "अकबर भारतीय इतिहास का ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण विश्व का एक महत्वपूर्ण शासक है यूरोपियन शासकों से अकबर की तुलना करने से, योग्यता और सफलताओं की दृष्टि से, उसकी श्रेष्ठता सरलतापूर्वक स्थापित हो जाती है।"[2]

---

1 "He was the greatest of all the Indian monarchs." —*Lane-Poole.*

2 "Akbar is one of the most remarkable kings, not only in the (history of India but of the whole world...) A comparison of European monarch with Akbar easily establishes the superiority of the later, both in genius and achievements." —*Dr. Ishwari Prasad.*

[1]

राज्याभिषेक और प्रारम्भिक कठिनाइयाँ

अमरकोट के राजा वीरसाल के यहाँ 15 अक्टूबर, 1542 को अकबर का जन्म हुआ। यह वह समय था जबकि हुमायूँ शेरशाह से परास्त होकर सिन्ध में इधर-उधर भटक रहा था। जिस समय हुमायूँ भारत से बाहर गया और पर्शिया के शाह के यहाँ शरण के लिए गया, उस समय वह अपने पुत्र अकबर को कन्धार के निकट छोड़कर भागा था। अस्करी ने अकबर को अपने संरक्षण में ले लिया। 3 वर्ष की आयु में अकबर की अपने पिता से उस समय भेंट हुई जब हुमायूँ ने कन्धार और काबुल पर अधिकार किया। यहीं उसका नाम 'जलालुद्दीन मुहम्मद अकबर' रखा गया। एक बार पुनः अकबर को अपने पिता से बिछुड़ना पड़ा। एक बार कामरान ने बालक अकबर को कन्धार के किले की दीवार पर लटका दिया था, जबकि हुमायूँ की तोपें किले पर आग बरसा रही थीं। भाग्य से ही अकबर बच सका। पाँच वर्ष की आयु से अकबर पिता के साथ ही रहा और उसकी शिक्षा का प्रबन्ध किया गया। साहित्यिक शिक्षा में अकबर ने कोई रुचि नहीं दिखायी यद्यपि घुड़सवारी और अस्त्र-शस्त्र चलाने में वह निपुण हो गया। उसने गजनी और लाहौर के सूबेदार के रूप में भी कार्य किया और हुमायूँ की मृत्यु के अवसर पर वह पंजाब में सिकन्दर सूर को समाप्त करने के प्रयत्न में संघर्षरत था। इस अवसर पर बैरमखाँ उसके संरक्षक के रूप में कार्य कर रहा था। हुमायूँ की मृत्यु की सूचना मिलने पर पंजाब में गुरुदासपुर जिले के निकट कलानौर नामक स्थान पर 14 फरवरी, 1556 को अकबर को मुगल बादशाह घोषित कर दिया गया। उस समय अकबर अपनी 14 वर्ष की आयु को भी पूरा न कर सका था।

अकबर को अपने पिता से काँटों का ताज प्राप्त हुआ था। भारत से बाहर मुगल-साम्राज्य के अन्तर्गत काबुल, बदख्शां और कन्धार थे। काबुल में अकबर का सौतेला भाई मिर्जा हकीम मुनीमखाँ के संरक्षण में शासन कर रहा था। हुमायूँ की मृत्यु की सूचना पाते ही बदख्शां के सूबेदार मिर्जा सुलेमान ने अपने को स्वतन्त्र ही घोषित नहीं किया बल्कि वह मिर्जा हकीम और अकबर को अपने आधिपत्य में लाने के लिए उत्सुक हो गया। इस आशय से उसने काबुल पर आक्रमण किया। कन्धार पर, जो बैरमखाँ की जागीर में था, पर्शिया के आक्रमण का निरन्तर खतरा रहता था। ऐसी स्थिति में अकबर को अफगानिस्तान से कोई सहायता मिलने की आशा न थी बल्कि वहाँ कभी भी सहायता की आवश्यकता हो सकती थी। भारत में दिल्ली, आगरा और इनके निकट के भागों के अतिरिक्त मुगलों के हाथ में कुछ न था। पंजाब मुगलों के अधिकार में होते हुए भी सिकन्दर सूर की उपस्थिति के कारण अरक्षित था। इस मुगल भू-प्रदेश में अपने अधिकार को बनाये रखने के लिए मुगल-सरदार और सेना विभिन्न स्थानों पर बिखरी हुई पड़ी थी। ग्वालियर, मालवा, बिहार, बंगाल, गुजरात आदि विभिन्न प्रदेशों में अफगान स्वतन्त्र हो गये थे और उत्तरी भारत का अधिकांश भाग अफगान सरदारों के हाथों में था। सूर-वंश के उत्तराधिकारी सिकन्दरशाह सूर, इब्राहीम सूर और मुहम्मद आदिल सूर अभी तक जीवित थे, वे विभिन्न प्रदेशों पर अधिकार किये हुए थे और दिल्ली के सिंहासन को प्राप्त करने को लालायित थे। राजस्थान में जोधपुर (मारवाड़) का शासक

मालदेव अभी जीवित था और उसके अतिरिक्त मेवाड़, अम्बर, जैसलमेर आदि के शासकों ने पुनः अपनी शक्ति को एकत्रित कर लिया। मुगल-सरदारों की आपस की एकता और वफादारी पर भी अधिक निर्भर रहना कठिन था। शाह अब्दुल माली ने, जिसे हुमायूँ 'फर्जन्द' (पुत्र) पुकारता था, अकबर के राज्याभिषेक में सम्मिलित होने से इन्कार कर दिया था। यद्यपि बैरमखाँ ने उसे चालाकी से पकड़कर लाहौर के किले में कैद कर लिया था परन्तु तब भी ऐसी घटनाएँ हो सकती थीं जिनसे विद्रोह की आशंकाएँ बढ़ती थीं। आर्थिक दृष्टि से अकबर की स्थिति बहुत दुर्बल थी। हुमायूँ ने खजाने में धन नहीं छोड़ा था, अधीनस्थ प्रदेशों से तलवार के आधार पर ही लगान या अन्य कर वसूल किये जा सकते थे और दिल्ली तथा आगरा के निकट के क्षेत्रों में भयंकर अकाल पड़ रहा था। इस प्रकार तेरह वर्षीय अकबर के लिए ये सभी परिस्थितियाँ कठिन थीं। इन कठिनाइयों में सबसे बड़ी समस्या मुहम्मद आदिलशाह की थी जिसके अधिकार में सम्भल से बिहार तक का क्षेत्र था। स्वयं आदिलशाह तो योग्य न था परन्तु उसका वजीर और सेनापति हेमूँ निस्सन्देह योग्य था और आदिलशाह के आदेश से उसने आगरा और दिल्ली पर अधिकार करने की दृष्टि से उस ओर बढ़ना आरम्भ कर दिया था। ऐसी स्थिति में मुगल-साम्राज्य की सुरक्षा बड़ी अनिश्चित थी।

[2]

बैरमखाँ की संरक्षकता का समय (1556-1560)

अकबर ने अपने संरक्षक बैरमखाँ को अपना 'वकील' (वजीर) नियुक्त किया और उसे 'खान-ए-खाना' की उपाधि से विभूषित किया। अगले चार वर्ष एक प्रकार से अकबर की नहीं बल्कि बैरमखाँ की सत्ता के थे। अकबर की प्रारम्भिक कठिनाइयों का हल निकालने और भारत में मुगल-साम्राज्य की सुरक्षा करने का श्रेय बैरमखाँ को गया। बैरमखाँ का वंश पर्शिया का रहने वाला था। उसके पिता सैफ अलीबेग ने बाबर के यहाँ नौकरी प्राप्त की थी और स्वयं बैरमखाँ 16 वर्ष की आयु से हुमायूँ की सेवा में आ गया था। वह बहुत ही सुसंस्कृत, शिक्षित, वफादार, साहसी, बहादुर, योग्य सैनिक और सेनापति था। उसने हुमायूँ की तरफ से कन्नौज के युद्ध में भाग लिया था और उस समय जबकि हुमायूँ कन्धार भागने की तैयारी कर रहा था, उससे जाकर मिल गया था। उसके पश्चात् से वह निरन्तर हुमायूँ के साथ रहा और पर्शिया, कन्धार, काबुल तथा हुमायूँ की भारत की पुनर्विजय के अवसर पर उसने हुमायूँ की प्रत्येक प्रकार से सेवा की। हुमायूँ की भारत की पुनर्विजय में ही नहीं बल्कि उसने अकबर की प्रारम्भिक कठिनाइयों को समाप्त करने में भी पूर्ण सहयोग दिया। देखा जाय तो आरम्भ में अकबर की स्थिति को दृढ़ करने में सबसे बड़ा भाग उसी का था।

जबकि अकबर पंजाब में ही था, हेमूँ ने ग्वालियर से आगरा की ओर बढ़ना आरम्भ किया। आगरा के सूबेदार इस्कन्दरखाँ उजबेग ने हेमूँ की शक्तिशाली सेना से युद्ध करना बेकार समझा और वह भागकर दिल्ली चला गया। आगरा पर अधिकार करने के पश्चात् हेमूँ दिल्ली की ओर बढ़ा।

1. हेमूँ से युद्ध और पानीपत का द्वितीय युद्ध (5 नवम्बर, 1556)

वहाँ के सूबेदार तार्दीबेग ने किले से निकलकर उसका मुकाबला किया परन्तु उसकी

पराजय हुई। तार्दीबेग किले को छोड़कर पंजाब की ओर भाग गया। सम्भल का सूबेदार अलीकुलीखाँ भी पंजाब की ओर भाग गया। इस प्रकार, दिल्ली, आगरा और सम्भल का सम्पूर्ण क्षेत्र हेमूं के अधिकार में चला गया। दिल्ली में हेमूं ने अपने को स्वतन्त्र शासक घोषित किया और 'विक्रमादित्य' की उपाधि ग्रहण की।

उस समय मुगलों की स्थिति बहुत दुर्बल थी और अनेक सरदारों ने अकबर को काबुल की ओर कूच करने की सलाह दी। परन्तु अकबर और बैरमखाँ ने इसे स्वीकार नहीं किया और पंजाब की सुरक्षा का प्रबन्ध करके मुगल सेना ने दिल्ली की ओर बढ़ना आरम्भ किया। सरहिन्द के निकट तार्दीबेग, इस्कन्दरखाँ उजबेग और अलीकुलीखाँ अकबर से मिले। इस अवसर पर बैरमखाँ ने चुपके से तार्दीबेग को मरवा दिया और बाद में अकबर को इसकी सूचना दी। तत्कालीन इतिहासकारों ने बैरमखाँ के इस कार्य को व्यक्तिगत प्रतिस्पर्धा और ईर्ष्या का कारण बताया है। आधुनिक इतिहासकार यह अवश्य कहते हैं कि सम्भवतः बैरमखाँ ने तार्दीबेग की हत्या इस कारण करायी हो कि वह भी राज्य के पुराने सरदारों में से एक योग्य और प्रभावशाली सरदार था और बैरमखाँ का प्रतिद्वन्द्वी हो सकता था। परन्तु उस अवसर पर उसकी हत्या किया जाना भगोड़ों को सबक देने, मुगल सेना के आत्म-बल को बढ़ाने और उन सलाहकारों की आवाज को समाप्त करने के लिए आवश्यक था जो अकबर को काबुल जाने की सलाह दे रहे थे। इस कारण, वह कार्य एक हत्या होते हुए भी राजनीति की दृष्टि से उचित था।

हेमूं ने अपने तोपखाने को साधारण संरक्षण में आगे भेज दिया था जिस पर अलीकुलीखाँ के नेतृत्व में मुगलों के अग्रगामी दल ने अधिकार कर लिया। 5 नवम्बर, 1556 को पानीपत के मैदान में हेमूं का मुगलों से मुकाबला हुआ। तोप-खाने के न होते हुए भी हेमूं के आक्रमण से मुगल सेना में खलबली मच गयी। परन्तु इसी अवसर पर हेमूं की आँख में एक तीर लगा और वह मूर्छित होकर अपने हाथी के हौदे में गिर गया। उसके महावत ने उसे सुरक्षित स्थान पर ले जाने का प्रयत्न किया परन्तु वह असफल हुआ और हेमूं पकड़ा गया। हेमूं की सेना इधर-उधर भाग गयी अथवा नष्ट कर दी गयी। हेमूं को अकबर के सामने ले जाया गया। अकबर सम्भवतया अपनी तलवार उसकी गर्दन तक ले गया और बैरमखाँ ने उसका सिर काट दिया। इस प्रकार, हेमूं की पराजय और मृत्यु हुई। हेमूं की पराजय का मुख्य कारण उसके तोपखाने का पहले ही मुगलों के हाथों में चला जाना और युद्ध के अवसर पर उसकी आँख में तीर लग जाना था। डॉ. आर. पी. त्रिपाठी ने लिखा है कि "उसकी पराजय दुर्घटना थी और अकबर की विजय दैवी संयोग।"[1]

हेमूं अथवा हेमराज मध्य-युग के इतिहास में एक विशेष स्थान रखता है। हेमूं वैश्य था और रेवाड़ी के बाजार में नमक बेचता था। इस्लामशाह ने इसे अपनी सेवा में ले लिया था और आदिलशाह के समय में उसका सम्मान और पद बढ़ गया था। धीरे-धीरे उसने अपनी योग्यता से राजकीय सम्मान को प्राप्त किया। आदिल-शाह ने उसकी सैनिक प्रतिभा से सन्तुष्ट होकर उसे अपना वजीर और सेनापति नियुक्त किया। आदिलशाह की तरफ से उसने 24 युद्धों में भाग लिया जिनमें से

1 "His defeat was accidental and the victory of Akbar providential."
—*Dr. R. P. Tripathi.*

22 युद्धों में उसने सफलता प्राप्त की। उसकी सेना में हिन्दू ही नहीं बल्कि अफगान भी थे और वे सभी उसमें विश्वास करते थे। दिल्ली पर अधिकार करने के पश्चात् उसने विक्रमादित्य के नाम से अपने को स्वतन्त्र शासक घोषित किया। हेमूं पर अपने मालिक आदिलशाह से गद्दारी करने के आरोप लगाना गलत होगा। मध्ययुग में तलवार की शक्ति के आधार पर राज्य-शक्ति प्राप्त करना साधारण परम्परा थी। मुहम्मद आदिलशाह ने न केवल अपने भानजे को मारकर ही गद्दी पर अधिकार किया था बल्कि उस समय दिल्ली उसके अधिकार में भी न थी। इसके अतिरिक्त, आदिलशाह विलासी और अयोग्य था। स्वयं उसके सम्बन्धियों ने उससे शासन-सत्ता छीनने का प्रयत्न किया था। ऐसी स्थिति में हेमूं का अपने को स्वतन्त्र शासक घोषित करना और एक हिन्दू-साम्राज्य की स्थापना करने का प्रयत्न करना गलत नहीं माना जा सकता। हेमूं ने साधारण स्थिति से उठकर अपने को सम्राट बनाया था, इससे उसकी योग्यता स्पष्ट होती है। यह बात और है कि उसकी सफलता अल्पकालीन थी।

अप्रैल 1559 में बंगाल के खिज्रखाँ ने आदिलशाह सूर को एक युद्ध में मार दिया। इसके बाद में मुगलों को बंगाल और बिहार की ओर बढ़ने का अवसर मिला।

2. सूर-वंश के दावेदारों की समाप्ति

पंजाब में सिकन्दरशाह सूर ने कुछ माह के पश्चात् आत्मसमर्पण कर दिया। उसे बिहार में एक मामूली जागीर दी गयी, परन्तु बाद में वह बंगाल की तरफ भाग गया और वहीं उसकी मृत्यु हो गयी। इब्राहीमशाह सूर को खान-ए-जमान ने जौनपुर से बाहर भगा दिया और वह उड़ीसा की ओर भाग गया। वहीं उसकी मृत्यु हुई। इस प्रकार, 1559 तक दिल्ली के सिंहासन पर दावा करने वाले सूर-वंश के सभी उत्तराधिकारी समाप्त कर दिये गये और मुगलों को उनकी ओर से कोई भय न रहा।

पानीपत के युद्ध को जीतने के पश्चात् मुगलों ने सरलता से दिल्ली तथा आगरा पर अपना अधिकार कर लिया। इसके पश्चात् मेवात पर अधिकार किया गया और

3. खोये हुए भू-क्षेत्रों की प्राप्ति और सुरक्षा

हेमूं के पिता को मृत्यु-दण्ड दिया गया। इसके पश्चात् अजमेर, सम्भल, लखनऊ, ग्वालियर और जौनपुर पर मुगलों का आधिपत्य हो गया। चुनार, रणथम्भौर और मालवा को भी जीतने के प्रयत्न किये गये परन्तु चुनार और रणथम्भौर पर अधिकार न हो सका तथा मालवा को जीतने के लिए भेजी गयी सेना को अकबर और बैरमखाँ के सम्बन्ध खराब हो जाने के कारण वापस बुलाना पड़ा।

सुलेमान मिर्जा ने काबुल का घेरा कई महीनों तक डाले रखा परन्तु जब उसे जीतने की आशा दिखायी न दी तो वह उजबेगों के भय तथा आने वाले जाड़े और बर्फ की सम्भावना को देखकर केवल इस शर्त पर वापस चला गया कि उसका नाम केवल एक दिन के लिए 'खुतबा' में पढ़ दिया जायगा। इस प्रकार, मुगलों की उत्तर-पश्चिम की सीमाएँ सुरक्षित हो गयीं। परन्तु इस समय कन्धार मुगलों के हाथ से निकल गया जिसे वहाँ के सूबेदार शाह मुहम्मद को बाध्यतावश एशिया को सौंपना पड़ा।

इस प्रकार, बैरमखाँ की संरक्षकता का चार वर्ष का समय कन्धार की हानि के अतिरिक्त सफलता, सुरक्षा और संगठन का था। काबुल से लेकर जौनपुर तक

और पंजाब की पहाड़ियों से लेकर अजमेर तक अकबर की सत्ता को स्वीकार कर लिया गया। गक्खरों को भी मुगल-आधिपत्य को स्वीकार करने के लिए राजी कर लिया गया।

यद्यपि बैरमखाँ ने मुगल-वंश की बहुत सेवा की थी और राज्य में उसका बहुत प्रभाव था, परन्तु 1560 में उसका पतन हो गया। निजामुद्दीन ने उसके पतन का कारण 'विभिन्न सरदारों का अकबर को भड़काना' बताया। 'अकबरनामा' में लिखा है कि

4. बैरमखाँ का पतन

"उसके पतन का कारण उसका दम्भ था।" अबुल फजल ने लिखा है कि 'उसका व्यवहार बर्दाश्त के बाहर हो गया था और उसका दिमाग उसके खुशामदियों ने खराब कर दिया था।" फरिश्ता ने लिखा है कि "बैरमखाँ पर कामरान मिर्जा के पुत्र अबुल कासिम मिर्जा का पक्ष लेने का सन्देह किया गया था।" इस प्रकार, तत्कालीन इतिहासकारों ने बैरमखाँ के पतन के विभिन्न कारण बताये हैं। यद्यपि बैरमखाँ की वफादारी पर सन्देह करना अनुचित होगा, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि बैरमखाँ का व्यक्तिगत व्यवहार, तुर्की सरदारों मुख्यतया अकबर के निकट के सम्बन्धियों का अकबर को भड़काना और अकबर का स्वयं शासन-सत्ता को अपने हाथ में लेने की इच्छा आदि बैरमखाँ के पतन के कारण बने। अनेक तुर्की सरदार और मुख्यतया अकबर के निकट के सम्बन्धी जैसे अकबर की धायमाँ माहम अनगा और उसका पुत्र आधमखाँ, माहम अनगा की लड़की जीजी अनगा और उसका पति शमसुद्दीन आदि यह अनुभव करते थे कि उनको ठीक प्रकार से पद और सम्मान न मिलने का कारण बैरमखाँ था। पीर मुहम्मद, जिसे बैरमखाँ ने उसके पद से हटा दिया था, उनके साथ हो गया था और उसे उसके पद से हटाये जाने से अन्य तुर्की सरदारों को अपने बारे में आशंकाएँ हो गयी थीं। बैरमखाँ शिया था, जबकि अकबर के सम्बन्धी सुन्नी थे। उन्होंने बैरमखाँ पर यह दोष लगाया कि वह सुन्नी मत के विरुद्ध कार्य कर रहा था। सुन्नियों में मान्यता प्राप्त शेख मुहम्मद गयास को हटाकर शिया शेख गदाई को 'सद्र' का पद देना भी सन्देह और असन्तोष से देखा गया। तुर्की सरदारों ने तार्दीबेग के कत्ल, मुसाहिबबेग के मृत्यु-दण्ड और शमसुद्दीन अनगा को निरन्तर आगाह किये जाने के कार्यों को भी तुर्की सरदारों की शक्ति को बैरमखाँ द्वारा तोड़े जाने का प्रयत्न माना। बैरमखाँ ने हुमायूँ की एक भानजी, सलीमा सुल्तान बेगम से विवाह करके राज्य-परिवार से अपने सम्बन्ध स्थापित कर लिये थे। इससे भी सुन्नी सरदार उससे ईर्ष्या करने लगे थे। परन्तु एक मुख्य बात यह थी कि बैरमखाँ का व्यवहार अकबर के प्रति एक अल्पवयस्क बालक की तरह था जबकि अकबर जवान होता जा रहा था। अकबर और उसके परिवार को उचित धन-राशि व्यय के लिए नहीं मिलती थी। अकबर के स्वयं के सेवकों और सम्बन्धियों को उचित सम्मान और पद प्राप्त नहीं हो रहे थे जबकि बैरमखाँ के सेवकों को अच्छे पद प्राप्त हो रहे थे। एक-दो घटनाएँ ऐसी भी हुईं जिनके कारण अकबर को अनुभव हुआ कि बैरमखाँ उसका ठीक सम्मान नहीं करता। अनेक अवसरों पर ऐसा हुआ था जबकि बैरमखाँ ने बिना अकबर की सलाह के महत्वपूर्ण निर्णय ले लिये थे। यह सभी अकबर को रुचिकर नहीं था। परन्तु सबसे महत्वपूर्ण बात यह थी कि अकबर वयस्क हो गया था और अपने अधिकार का प्रयोग स्वयं करना चाहता था। बैरमखाँ अकबर की इस मनोस्थिति को समझने में असफल रहा। इन सभी कारणों से अकबर बैरमखाँ की संरक्षता से छुट-

कारा पाने के लिए उत्सुक हो गया। बैरमखाँ के विरोधी भी बहुत अधिक हो गये थे और वे सभी अकबर के साथ थे।

अकबर ने बैरमखाँ से खुला झगड़ा करना ठीक न समझा। एक बार जबकि अकबर आगरा में था, वह शिकार खेलने गया। वहीं उसे समाचार मिला कि उसकी माँ बीमार है। बैरमखाँ को सूचना भेजकर वह वहीं से दिल्ली पहुँच गया जहाँ सभी बेगमों और बादशाह के सम्बन्धियों ने उससे बैरमखाँ को उसके पद से हटाने की माँग की। अकबर ने बैरमखाँ को पद से हटाने का निर्णय कर लिया और बैरमखाँ को इस बात के आदेश भेज दिये गये। बैरमखाँ ने बादशाह की आज्ञा का पालन किया और मक्का जाने को तैयार हो गया। वह धीरे-धीरे पंजाब की ओर चल दिया जहाँ से, सम्भवतया, उसे अपना खजाना लेना था। बैरमखाँ के विरोधियों ने इससे सन्तोष नहीं किया और अकबर ने बैरमखाँ के शत्रु मुल्ला पीर मुहम्मद को एक सेना के साथ उसे भारत से शीघ्र निकालने के लिए भेज दिया। बैरमखाँ ने इसे अपना असम्मान माना और उसने मुगल सेना का विरोध करने का निश्चय किया। तिलवाड़ा नामक स्थान पर एक युद्ध में बैरमखाँ की पराजय हुई और थोड़े समय पश्चात् उसने आत्म-समर्पण कर दिया। उसे अकबर के सामने ले जाया गया। अकबर ने उसका सम्मान सहित स्वागत किया और उसके सम्मुख तीन प्रस्ताव रखे कि यदि वह चाहे तो कालपी और चन्देरी का सूबेदार बन जाय अथवा बादशाह के व्यक्तिगत सलाहकार के रूप में दरबार में रहे अथवा मक्का चला जाय। बैरमखाँ ने मक्का जाने का निर्णय किया। परन्तु बैरमखाँ मक्का न पहुँच सका। गुजरात में अफगानों के एक दल ने उस पर आक्रमण किये और मुबारकखाँ नामक एक व्यक्ति ने जिसके पिता को बैरमखाँ ने मच्छीवारा के युद्ध में कत्ल किया था, उसे मार दिया। बैरमखाँ के परिवार को दयनीय स्थिति में अहमदाबाद पहुँचाया जा सका। अकबर ने उनको दरबार में बुलाया, बैरमखाँ की विधवा पत्नी सलीमा बेगम से विवाह कर लिया और उसके बच्चे अब्दुर्रहीम का पालन-पोषण अपने पुत्र की तरह से किया। बाद में वही लड़का अपनी योग्यता के कारण खानखाना के पद तक पहुँचा।

स्मिथ ने लिखा है : "बैरमखाँ के पतन और मृत्यु की कहानी एक दुखद प्रभाव छोड़ती है।"[1] निस्सन्देह, जिस व्यक्ति ने मुगल-वंश की जड़ों को भारत में स्थापित करने में इतना सहयोग दिया हो उसका ऐसा अन्त कि उसकी लाश को फकीरों ने दफनाया, दर्दनाक था। परन्तु इसका अधिक दोष अकबर पर न था। बैरमखाँ के शत्रु और मुख्यतया हरम का दल, और जैसा कि अबुल फजल ने लिखा है, अकबर की धायमाँ माहम अनगा इसके लिए सबसे अधिक उत्तरदायी थे।

[3]

तथाकथित पर्दा-शासन (1560-64)

बैरमखाँ के पतन में अकबर के सम्बन्धियों और हरम की स्त्रियों का बड़ा भाग था। उसके पश्चात् कुछ वर्षों तक अकबर ने अपने सम्बन्धियों को शासन में कुछ हस्तक्षेप करने का अवसर दिया। इस कारण, कुछ इतिहासकारों ने उस समय को

1 "The story of the transaction leading upto the fall and death of Bairam Khan leaves an unpleasant taste." —*V. A. Smith.*

'पर्दा-शासन' अथवा 'पेटीकोट-सरकार' का समय पुकारा है। यह कहना तो भूल होगी कि उस समय में अकबर पूर्णतया हरम की स्त्रियों के प्रभाव में था। यदि ऐसा होता तो अकबर की उदार और साम्राज्यवादी नीति का आरम्भ उस समय में नहीं हुआ होता। उसी समय अकबर ने 1562 में 'दास-प्रथा' (युद्ध-बन्दियों को दास बनाना) को समाप्त किया, 1563 में 'तीर्थयात्रा-कर' (हिन्दुओं के तीर्थस्थानों पर लिया जाने वाला यात्रा-कर) और 1564 में 'जजिया-कर' समाप्त किया था। इन उदार सुधारों को किया जाना हरम की स्त्रियों के प्रभाव के कारण हो, यह सोचना भूल होगी। उसी प्रकार, अकबर की विस्तारवादी नीति भी इसी समय में आरम्भ हो चुकी थी। मालवा, चुनार, मेड़ता और गोंडवाना पर आधिपत्य किया गया और आमेर (जयपुर) के राजपूत राजवंश से विवाह-सम्बन्ध किये गये। निस्सन्देह, इस विस्तारवादी नीति का श्रेय, मुख्यतया, अकबर को ही दिया जा सकता है। इस कारण, यह कहना उपयुक्त नहीं होगा कि अकबर चार वर्षों (1560-1564) तक हरम की स्त्रियों के प्रभाव में रहा। हाँ, यह स्वीकार किया जा सकता है कि इन चार वर्षों में उसकी नीति पर हरम की स्त्रियों और उसके सम्बन्धियों का कुछ प्रभाव अवश्य रहा होगा और अकबर पूर्णतया अपने स्वयं के प्रभाव को समय-समय पर प्रयोग में न ला सका होगा। उसमें भी आरम्भ के दो वर्षों को ही सम्मिलित करना अधिक ठीक है। शमसुद्दीन का कत्ल, आधमखाँ को मृत्यु-दण्ड और माहम अनगा की मृत्यु से ही अकबर ने अपने आप को अपने निकट के सम्बन्धियों के प्रभाव से मुक्त कर लिया। 1564 में ख्वाजा मुअज्जम को दिये गये मृत्यु-दण्ड ने इस अध्याय को पूर्णतया समाप्त कर दिया। स्मिथ ने लिखा है कि अकबर ने अपनी माँ के प्रति उपयुक्त श्रद्धा सर्वदा प्रदर्शित की किन्तु उसने अपनी नीति के निर्णयों को उसके प्रभाव से मुक्त रखा था।

आधमखाँ माहम अनगा का पुत्र था और अत्यन्त महत्वाकांक्षी था। अकबर ने शमसुद्दीन अनगाखाँ को अपना वजीर नियुक्त किया था। इससे आधमखाँ असन्तुष्ट था। एक दिन अपने साथियों के साथ महल में पहुँच कर उसने कार्यरत अनगाखाँ की हत्या कर दी। उसके पश्चात् वह अकबर के शयनागार की ओर बढ़ा तब एक ख्वाजा ने उसके मार्ग को रोका। शोरगुल सुनकर अकबर तलवार लेकर कमरे से बाहर आ गया। आधमखाँ ने अकबर से अपनी गलती की माफी तो माँगी परन्तु उसकी तलवार को पकड़ने का दुस्साहस किया। इस पर क्रोधित होकर अकबर ने एक घूंसा मारकर उसे मूर्छित कर दिया। इसके पश्चात् उसके हाथ-पैर बँधवाकर उसे ऊपर से नीचे फेंका गया जिससे उसकी मृत्यु हो गयी (1562)। अकबर ने स्वयं माहम अनगा को उसकी मृत्यु की सूचना दी। वह बीमार पहले से ही थी। इस घटना के कुछ दिनों पश्चात् उसकी मृत्यु हो गयी।

1564 में अकबर ने अपने मामा ख्वाजा मुअज्जम को अपनी पत्नी को कत्ल करने के अपराध में दण्ड दिया। पहले उसे नदी में डुबाया गया। परन्तु इस प्रकार जब वह नहीं मरा तो उसे ग्वालियर के किले में बन्दी रखा गया जहाँ कुछ समय पश्चात् उसकी मृत्यु हो गयी।

इन घटनाओं के कारण अकबर के सम्बन्धियों का उससे अपने लिये विशेष सुविधाएँ माँगने अथवा उसके कार्यों में हस्तक्षेप करने का साहस समाप्त हो गया।

[4]

साम्राज्य-विस्तार

अकबर को विजय और साम्राज्य-विस्तार की लालसा थी। मुगल शासकों में अकबर प्रथम शासक था जिसने सम्पूर्ण भारत में मुगल-वंश का राज्य स्थापित करने का प्रयत्न किया। राज्य की प्रगति और सुरक्षा के लिए वह इसे आवश्यक मानता था। उसका विश्वास था कि "यदि पड़ोसी राज्यों के साथ युद्ध नहीं किया जायेगा तो वे उसके विरुद्ध युद्ध करेंगे।" इस कारण अकबर अपने जीवनपर्यन्त राज्य-विस्तार में लगा रहा। इस कार्य के लिए उसे समय भी मिला और सफलता भी। अपने जीवन में उसने काबुल से लेकर बंगाल तक और कश्मीर से लेकर विन्ध्याचल पर्वत तक के सीमा-क्षेत्रों को अपने अधीन कर लिया। दक्षिणी भारत की विजय के लिए अकबर ने प्रयत्न आरम्भ कर दिये थे और कुछ सफलता भी उसे मिली थी किन्तु तभी उसकी मृत्यु हो गयी। इस प्रकार, अकबर ने भारत के बहुत बड़े भाग में साम्राज्य की स्थापना करने में सफलता पायी।

मालवा में बाजबहादुर शासक था। वह संगीत और कला का प्रेमी था। अपनी प्रेयसी और पत्नी रूपमती के साथ संगीत और नृत्य में लगा रहता था। शासन का न उसे शौक था और न उधर उसका ध्यान था। 1561 में आधमखाँ को मालवा पर आक्रमण करने के लिए भेजा गया। जब मुगल सेना उसकी राजधानी सारंगपुर से केवल 20 मील दूर रह गयी तब बाजबहादुर उसका मुकाबला करने के लिए निकला। सारंगपुर से कुछ मील दूर एक युद्ध हुआ जिसमें बाजबहादुर परास्त हुआ और भाग गया। आधमखाँ ने उसकी सम्पूर्ण सम्पत्ति और स्त्रियों पर अपना अधिकार कर लिया। रूपमती ने जहर खाकर अपने सतीत्व की रक्षा की। आधमखाँ ने लूटी हुई सम्पत्ति का अधिकांश भाग अपने पास रख लिया जिससे अकबर असन्तुष्ट हो गया और स्वयं सारंगपुर पहुँचा। अकबर ने आधमखाँ के माफी माँगने पर उसे माफ कर दिया और उसी को सूबेदार बनाकर स्वयं वापस आ गया।

1. मालवा

1562 में मालवा का सूबेदार मुल्ला पीर मुहम्मद था। उसने वहाँ की प्रजा पर बहुत अत्याचार किये। दक्षिणी भारत के शासकों की सहायता लेकर बाजबहादुर ने मालवा पर आक्रमण किया। पीर मुहम्मद उसका मुकाबला करने के लिए गया, परन्तु उसे पराजित होकर भागना पड़ा। नर्मदा नदी को पार करते हुए उसका घोड़ा गिर गया और पीर मुहम्मद नदी में डूबकर मर गया। मालवा पर पुनः बाजबहादुर का अधिकार हो गया। परन्तु अकबर ने अब्दुल्लाखाँ उजबेग के नेतृत्व में एक मुगल सेना मालवा को जीतने के लिए भेजी जिसने बाजबहादुर को परास्त करके मालवा को अपने अधीन कर लिया। बाजबहादुर बहुत समय तक इधर-उधर भटकता रहा। परन्तु अन्त में उसने मुगल-सेवा स्वीकार कर ली और उसे मुगल-मनसबदार बना दिया गया।

2. चुनार

1561 में अकबर ने आसफखाँ को चुनार का किला जीतने के लिए नियुक्त किया और उसी वर्ष उस पर अधिकार कर लिया गया।

गोंडवाना का हिन्दू-राज्य वर्तमान मध्य-प्रदेश के उत्तरी जिलों से लेकर

गोंडवाना का शासक वीरनारायण था।

दक्षिणी भारत की सीमा तक फैला हुआ था। उसका शासक वीरनारायण था लेकिन उसके वयस्क हो जाने के पश्चात् भी उसकी माता दुर्गावती उसके संरक्षक के रूप में शासन की देखभाल कर रही थी।

3. गोंडवाना

दुर्गावती बहुत ही साहसी, बहादुर और योग्य शासक थी। अपनी योग्यता के कारण वह मालवा और दक्षिणी भारत के मुसलमान शासकों के मुकाबले अपने राज्य की स्वतन्त्रता की रक्षा करने में समर्थ हो सकी थी। अकबर की साम्राज्यवादी नीति के अन्तर्गत गोंडवाना के स्वतन्त्र राज्य का कोई स्थान न था। अकबर ने आसफखाँ को गोंडवाना की विजय के लिए नियुक्त किया। चौरागढ़ के निकट रानी दुर्गावती ने मुगलों की विशाल सेना का मुकाबला किया। प्रेमनारायण को घायल हो जाने के कारण युद्ध से हटना पड़ा। रानी दुर्गावती भी तीरों से घायल हो गयी और उसने वहीं पर अपनी छाती में कटार भोंककर आत्महत्या कर ली। आसफखाँ ने राजधानी चौरागढ़ पर आक्रमण किया। राजपूत स्त्रियों ने जौहर कर लिया, प्रेमनारायण और अनेक राजपूत युद्ध करते हुए मारे गये और किले पर 1564 में मुगलों का अधिकार हो गया। बहुत-सा धन, हाथी और सामान आसफखाँ के हाथ लगा। आसफखाँ ने बहुत थोड़ा हिस्सा अकबर के पास भेजा और अधिकांश स्वयं अपने पास रख लिया।

रानी दुर्गावती के साहस, योग्यता और बहादुरी की सभी तत्कालीन और वर्तमान इतिहासकारों ने प्रशंसा की है। महोबा के प्रख्यात चन्देल-वंश से सम्बन्धित इस रानी की प्रजा भी उसके शासन से बहुत सन्तुष्ट थी। अकबर का साम्राज्य-विस्तार के अतिरिक्त उसके राज्य पर आक्रमण करने का कोई कारण नहीं था। इतिहासकार स्मिथ ने लिखा है: "अकबर का इतनी सच्चरित्र राजकुमारी पर आक्रमण करने का कारण सिर्फ राज्य-विस्तार था। विजय और लूट के अतिरिक्त उसका कारण न न्यायसंगत था और न उसके लिए कोई उत्तेजना का कारण दिया गया था।"[1]

4. राजस्थान

राजस्थान को अपनी अधीनता में लाना भी अकबर की विस्तारवादी नीति का परिणाम था। राजपूत-शासकों के प्रति अकबर की नीति अन्य शासकों से भिन्न रही। राजस्थान में राज्य-विस्तार के सम्बन्ध में उसकी नीति की निम्नलिखित विशेषताएँ थीं:

(अ) महत्वपूर्ण दुर्गों पर आधिपत्य;

(ब) स्वेच्छा से अधीनता स्वीकार करने वाले अथवा विवाह-सम्बन्धों के इच्छुक राजपूत राजाओं को अपनी अधीनता में लेना और उनको मुगल-सेवा में लेकर उनके राज्य उन्हीं को वापस कर देना; तथा

(स) विरोधी राजाओं को युद्ध करके अपनी अधीनता में लाने का प्रयत्न।

इस नीति का पालन करते हुए अकबर ने राजस्थान में बहुत सफलता प्राप्त

---

1 "Akbar's attack on a princess of a character so noble, was mere aggression wholly unprovoked and devoid of all justification other than the lust for conquest and plunder." —*V. A. Smith.*

की। राजस्थान के सभी राजपूत शासकों ने अकबर की अधीनता और मित्रता स्वीकार कर ली।

(i) आमेर (जयपुर)—आमेर का शासक भारमल (बिहारीमल) पहला राजपूत राजा था जिसने स्वेच्छा से अकबर की अधीनता स्वीकार की। 1562 में जब अकबर अजमेर के शेख मुईमुद्दीन चिश्ती की दरगाह की यात्रा पर गया तब मार्ग में राजा भारमल ने उससे भेंट की और अपनी पुत्री का विवाह अकबर से करने की इच्छा प्रकट की। अकबर ने इसे स्वीकार कर लिया। इसी राजपूत राजकुमारी से अकबर के उत्तराधिकारी जहाँगीर का जन्म हुआ। अकबर ने भारमल के पुत्र भगवानदास और पोते मानसिंह को मुगल-सेवा में ले लिया और उन्हें उच्च मनसबदार बनाया।

(ii) मेड़ता—मेड़ता मेवाड़ के राजा उदयसिंह के अधीन जागीरदार जयमल के अधिकार में था। जब मुगल अधिकारी सरफुद्दीन ने उस पर आक्रमण किया तो जयमल किले को छोड़कर चला गया। देवदास ने मुगलों का मुकाबला किया, परन्तु उसे उसके 200 साथियों के साथ समाप्त कर दिया गया, और मेड़ता का किला 1562 में मुगलों के हाथ में चला गया।

(iii) मेवाड़—मेवाड़ के शासकों ने निरन्तर मुगल-सत्ता का विरोध किया था। राणा साँगा की मृत्यु के पश्चात् मेवाड़ के सम्मान में कमी हुई थी। परन्तु धीरे-धीरे उसने पुनः अपनी शक्ति और सम्मान में वृद्धि कर ली थी। मेवाड़ का सिसोदिया-वंश अब भी राजस्थान में सम्मानित था। तत्कालीन शासक उदयसिंह ने भी उसकी शक्ति के विकास में सहयोग दिया था। उसने अकबर के आधिपत्य को स्वीकार करने से इन्कार कर दिया। वह आमेर के कछवाहा-राजवंश को असम्मान की दृष्टि से देखता था क्योंकि उस वंश ने अकबर से विवाह-सम्बन्ध किया था। राणा ने अकबर के शत्रु बाजबहादुर को शरण दी थी और विद्रोही मिर्जाओं ने भी उससे संरक्षण प्राप्त किया था। मेवाड़ गुजरात से उत्तरी भारत के मार्ग पर स्थित था। गुजरात की विजय के लिए उसे जीतना आवश्यक था। परन्तु सबसे बड़ी बात यह थी कि मेवाड़ की सत्ता और सम्मान को समाप्त किये बिना राजस्थान और उत्तरी भारत की विजय पूर्ण नहीं हो सकती थी। इस कारण, 1567 में अकबर ने मेवाड़ पर आक्रमण किया। अपने सरदारों के निर्णय को मानकर राणा उदयसिंह चित्तौड़ के किले से बाहर जंगलों में चला गया और जयमल को किले की रक्षा का भार सौंपा गया। करीब पाँच महीने तक किले का घेरा पड़ा रहा परन्तु मुगलों को सफलता न मिली। एक रात जब जयमल किले की टूटी दीवार की मरम्मत करा रहा था, अकबर ने अपनी बन्दूक से निशाना लगाया। उससे जयमल घायल हो गया और उसकी मृत्यु हो गयी। रात को राजपूत स्त्रियों ने 'जौहर' किया और प्रातःकाल फतहसिंह (फत्ता), उसकी माँ और पत्नी के नेतृत्व में राजपूतों ने मुगलों पर आक्रमण किया और अन्त तक लड़ते हुए मारे गये। अकबर ने किले में प्रवेश करके हत्याकाण्ड का आदेश दिया जिसमें हजारों राजपूत मारे गये। जन-साधारण के कत्लेआम की आज्ञा देना अकबर के लिए शोभनीय नहीं था। यह उसके नाम पर एक बड़ा धब्बा है, यद्यपि बाद में उसने आगरा के किले के द्वार पर जयमल और फतहसिंह की हाथी पर बैठी हुई मूर्तियाँ बनवायीं। आसफखाँ को किलेदार बनाकर अकबर आगरा आ गया।

कर्नल टॉड का यह कथन एक भूल है कि उदयसिंह दुर्बल व डरपोक था। राणा उदयसिंह न तो दुर्बल था और न ही डरपोक। उसने कभी भी अकबर की अधीनता स्वीकार नहीं की और मेवाड़ के पतन के पश्चात् भी उसने देश के सम्मान के साथ समझौता नहीं किया। चित्तौड़ के किले को उसने अपने सरदारों की सलाह से छोड़ा था। सम्भवतया राजपूत जानते थे कि किला मुगल-आक्रमण के सम्मुख न टिक सकेगा। इस कारण, अपने राजवंश की सुरक्षा के लिए उन्होंने राणा और उसके परिवार को किला छोड़ने का परामर्श दिया था। इस प्रकार, राणा उदयसिंह पर कायरता का दोष नहीं लगाया जा सकता। यह बात दूसरी है कि उसका लड़का प्रतापसिंह साहस और संघर्ष में अपने पिता से अधिक दृढ़ सिद्ध हुआ।

1568 में मुगलों ने मेवाड़ की राजधानी और चित्तौड़ के किले पर तो अधिकार कर लिया परन्तु मेवाड़ का अधिकांश भू-प्रदेश राणा उदयसिंह के अधिकार में ही रहा। 1572 में राणा उदयसिंह की मृत्यु के पश्चात् उसका बेटा प्रतापसिंह गद्दी पर बैठा। राणा प्रताप ने गद्दी पर बैठते ही शपथ ली कि जब तक वह अपनी राजधानी को स्वतन्त्र नहीं करा लेगा, वह थाली में रोटी नहीं खायेगा और बिस्तर पर नहीं लेटेगा। राणा ने जीवनभर इस शपथ का पालन किया। समझौते के सभी प्रयत्न असफल हुए। अकबर ने राजा मानसिंह को भेजकर राणा से मुगल आधिपत्य स्वीकार करने के लिए कहा परन्तु राणा ने इसे स्वीकार नहीं किया। 1576 में मानसिंह और आसफखाँ के नेतृत्व में एक सेना मेवाड़ पर आक्रमण के लिए भेजी गयी। 18 जून, **1576 को राणा प्रताप ने हल्दीघाटी में उस सेना का मुकाबला किया।** थोड़ी संख्या में होते हुए भी राणा ने मुगल-सेना में उथल-पुथल मचा दी। परन्तु जब राणा शत्रुओं से घिर गया तब सरदार झाला ने राणा का मुकुट उतारकर स्वयं पहन लिया और राणा को भागने में सहायता दी। हल्दीघाटी में राणा की पराजय हुई परन्तु मुगल इतने थक गये थे कि वे भी आगे न बढ़ सके। गोगुण्डा जिसे राणा खाली कर गया था, राजा मानसिंह के अधिकार में आ गया। परन्तु उससे आगे उसे कोई विशेष सफलता नहीं मिल सकी। अकबर ने मानसिंह को वापस बुला लिया। उसके पश्चात् भी अकबर विभिन्न सरदारों को भेजकर मेवाड़ से युद्ध करता रहा परन्तु राणा प्रताप ने उसका आधिपत्य स्वीकार नहीं किया। राणा भूखा रहा, जंगलों में घूमा और उसके परिवार व बच्चों को स्थान-स्थान पर छिपकर रहना पड़ा परन्तु राणा ने संघर्ष जारी रखा। **1597 में राणा प्रताप की मृत्यु हुई और अपनी मृत्यु से पहले मेवाड़ के अधिकांश भू-भाग पर अधिकार करने में उसने सफलता प्राप्त की।** मेवाड़ और राणा प्रताप का मुगल-साम्राज्य से युद्ध राजस्थान के इतिहास की एक गौरवपूर्ण कहानी है।

(iv) **रणथम्भौर**—रणथम्भौर का किला राजा सुरजनराय के अधिकार में था जो मेवाड़ के अधीन था। 1569 में मुगलों ने उस पर आक्रमण किया। डेढ़ महीने के घेरे के पश्चात् किला मुगलों को सौंप दिया गया। बदायूंनी ने लिखा है कि राजा सुरजनराय ने विरोध को बेकार मानकर अपने दो पुत्रों को सन्धि की बातचीत के लिए अकबर के पास भेजा था और तब अकबर की शर्तों को मानकर किला मुगलों को सौंपा था। सर वूल्जले हेग ने इस मत को ठीक माना है। परन्तु राजपूतों के वर्णन के अनुसार अकबर का आक्रमण सफल न होने पर राजा भगवान-

इस प्रकार कालिंजर, मारवाड़, गुजरात, बिहार और बंगाल, कश्मीर काबुल, सिन्ध उड़ीसा, बलूचिस्तान, कन्धार पर अकबर

दास और राजा मानसिंह ने सुरजनराय से मिलकर उसे अकबर का आधिपत्य स्वीकार करने के लिए मना लिया।

(v) **कालिंजर**—1569 में कालिंजर के दृढ़ किले पर अकबर का आधिपत्य हो गया। अकबर ने मजनूखाँ को किले पर आक्रमण करने के लिए भेजा, परन्तु किले के मालिक राजा रामचन्द्र ने चित्तौड़ और रणथम्भौर के किलों के पतन से सबक ले लिया था और उसने बिना किसी विरोध के किले को मुगलों को सौंप दिया। राजा रामचन्द्र को इलाहाबाद के निकट एक जागीर दे दी गयी और किले पर मुगलों ने अधिकार कर लिया।

(vi) **मारवाड़**—1570 में मारवाड़ ने स्वेच्छा से अकबर का आधिपत्य स्वीकार कर लिया। अकबर के दृढ़ उद्देश्य और चित्तौड़ एवं रणथम्भौर के किलों के पतन ने राजपूत शासकों की विरोध करने की शक्ति समाप्त कर दी। इसके अतिरिक्त, राजपूत शासकों के प्रति अकबर की उदारता की नीति भी विभिन्न राजपूत राजाओं के आत्मसमर्पण के लिए उत्तरदायी रही। जोधपुर के शासक मालदेव की मृत्यु हो चुकी थी। उसके बेटे और तत्कालीन शासक राजा चन्द्रसेन ने (उसके पश्चात् उदयसिंह ने) अकबर से भेंट की और उसकी अधीनता स्वीकार कर ली। बीकानेर के शासक राय कल्याणमल और जैसलमेर के शासक हरराय ने भी अकबर से भेंट की और न केवल अकबर की अधीनता ही स्वीकार की अपितु अकबर से विवाह-सम्बन्ध भी स्थापित किये।

इस प्रकार, 1570 तक मेवाड़ के अधीन कुछ किलों और अधीनस्थ प्रदेशों के अतिरिक्त राजस्थान के सभी शासकों ने मुगल अधीनता स्वीकार कर ली। अकबर पहला मुसलमान शासक था जिसने राजस्थान में इतनी अधिक सफलता प्राप्त की। सभी राजपूत शासकों ने अकबर की अधीनता को ही स्वीकार नहीं किया था बल्कि वे उसकी सेवा में भी आ गये थे। अकबर ने राजस्थान के कुछ महत्वपूर्ण किलों पर ही मुगल आधिपत्य स्थापित किया अन्यथा प्रायः सभी राजपूत शासकों के राज्य उनको वापस कर दिये। इसके अतिरिक्त उनकी विदेश-नीति अकबर ने अवश्य अपने हाथों में ले ली और उन सभी को या उनके सम्बन्धियों को मुगल-मनसबदार बना लिया। कर्नल टॉड ने लिखा है : "वास्तव में, मुगल-साम्राज्य का संस्थापक अकबर था। वह राजपूत-स्वतन्त्रता का प्रथम सफल विजेता था।"[1]

5. गुजरात

गुजरात एक धनवान प्रदेश था। उसे पश्चिमी देशों से व्यापार करने का केन्द्रस्थल माना जाता था। मक्का की यात्रा करने वाले मुसलमान यात्रियों को यहाँ से होकर जाना पड़ता था। राजस्थान को जीतने के पश्चात् ही गुजरात की विजय और सुरक्षा सम्भव थी। अकबर के विद्रोही सम्बन्धी मिर्जाओं ने यहाँ शरण ले रखी थी और गुजरात की अव्यवस्था से लाभ उठाकर वे काफी शक्तिशाली बन चुके थे। गुजरात का शासक मुजफ्फरखाँ तृतीय अयोग्य था और एक प्रकार से अपने अधिकारी इतमादखाँ का कैदी था। राज्य की स्थिति बहुत ही अव्यवस्थित थी और वहाँ की प्रजा में असन्तोष था। ऐसी परिस्थितियों में अकबर ने गुजरात को जीतने

1 "Akbar was the real founder of the Empire of the Moghuls, the first successful conqueror of Rajput independence." —*Tod.*

का निश्चय किया और 1572 में स्वयं वहाँ आक्रमण के लिए गया। मुगलों का कोई विशेष विरोध न हुआ और साधारण युद्ध के पश्चात् अहमदाबाद पर अधिकार कर लिया गया। मुजफ्फरखाँ, इतमादखाँ आदि सभी ने अकबर को आत्मसमर्पण कर दिया। अकबर ने आगे बढ़कर काम्बे तक अधिकार किया, इब्राहीम मिर्जा का पीछा किया और अति विषम परिस्थितियों में सरनाल के युद्ध में उसे परास्त किया। वापस आते ही उसने सूरत के किले पर अधिकार किया। इस प्रकार गुजरात की विजय सम्पूर्ण हो गयी और खान-ए-आजम (मिर्जा अजीज कोका) को गुजरात का सूबेदार बनाकर अकबर वापस आ गया।

अकबर आगरा वापस पहुँचा ही था कि गुजरात में विद्रोह हो गया (1573)। मुहम्मद हुसैन मिर्जा, जो दौलताबाद भाग गया था, गुजरात वापस आ गया और असन्तुष्ट सरदारों को एकत्रित करके उसने अहमदाबाद पर आक्रमण कर दिया। खान-ए-आजम ने अकबर से सहायता माँगी। अकबर ने फतहपुरसीकरी से अहमदाबाद तक की 450 मील लम्बी यात्रा को केवल 9 दिन में पूर्ण किया। स्वयं अकबर की उपस्थिति से विद्रोही आश्चर्यचकित रह गये। अहमदाबाद के निकट जो युद्ध हुआ उसमें विद्रोही परास्त हो गये। शाह मिर्जा भाग गया और गुजरात का विद्रोह समाप्त हो गया। खान-ए-आजम को ही गुजरात का सूबेदार रखा गया। टोडरमल को गुजरात की लगान-व्यवस्था का उत्तरदायित्व सौंपा गया जिसने छः माह में उसे व्यवस्थित कर दिया। गुजरात का दूसरा आक्रमण अकबर के ही नहीं बल्कि संसार के इतिहास में बहुत ही 'द्रुतगामी आक्रमण' माना गया है। गुजरात मुगल-साम्राज्य का अंग बन गया। यहीं पर अकबर की भेंट पहली बार पुर्तगाली व्यापारियों से हुई।

सूर-वंश के पतन के पश्चात् बिहार के अफगान सूबेदार सुलेमान किरानी ने अपने को स्वतन्त्र शासक बना लिया था। उसने बंगाल को जीतकर आसाम की सीमा तक अपने राज्य का विस्तार कर लिया। उसने अकबर के आधिपत्य को स्वीकार कर लिया। 1572 में उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका जवान पुत्र दाऊद उसकी गद्दी का मालिक बना। दाऊद ने अपने को स्वतन्त्र शासक घोषित कर दिया और पटना के मुगल किले पर आक्रमण करके उसे नष्ट कर दिया। अकबर ने मुनीमखाँ खानखाना को दाऊद पर आक्रमण करने और बिहार को जीतने का आदेश दिया। 1574 में मुनीमखाँ ने दाऊद पर आक्रमण किया। स्वयं अकबर भी उसकी सहायता के लिए गया। हाजीपुर के किले को जीतकर अकबर ने सम्पूर्ण बिहार को अपने अधिकार में कर लिया। दाऊद बंगाल की ओर भाग गया। 'मुनीमखाँ को बंगाल को जीतने का उत्तरदायित्व देकर अकबर फतहपुरसीकरी वापस आ गया। मुनीमखाँ ने गढ़ी और उसके पश्चात् बंगाल की राजधानी टाँडा को जीत लिया। अभी तक दाऊद ने एक भी स्थान पर मुगलों का मुकाबला नहीं किया था। 1575 में तुकरोई नामक स्थान पर पहली बार उसने मुगलों का मुकाबला किया, परन्तु उसकी पराजय हुई और वह भाग गया। दाऊद ने मुनीमखाँ से एक सन्धि कर ली जिसके अनुसार उसने मुगल-आधिपत्य स्वीकार कर लिया और उड़ीसा की जागीर उसे दे दी गयी। परन्तु शीघ्र ही मुनीमखाँ की मृत्यु हो गयी और दाऊदखाँ ने मुगलों से की गयी सन्धि को ठुकरा दिया तथा टाँडा पर आक्रमण करके उसे जीत लिया।

6. बिहार और बंगाल

अकबर ने खानेजहान को बंगाल का सूबेदार बनाकर भेजा। अन्त में, राजमहल के निकट हुए एक युद्ध में दाऊद पकड़ा गया और उसे मृत्यु-दण्ड दिया गया। बंगाल पर मुगलों का अधिकार हो गया। इस प्रकार, **दो वर्ष (1574-76) के संघर्ष के पश्चात् बिहार और बंगाल पर मुगलों का अधिकार हुआ।** स्मिथ ने लिखा है : "बंगाल का स्वतन्त्र राज्य जिसका अस्तित्व प्रायः 236 वर्ष (1340-1576) तक रहा, मक्कार दाऊद के साथ, जिसे शासन के बारे में कुछ नहीं आता था, समाप्त हो गया।"[1]

7. काबुल

अकबर का सौतेला भाई हकीम मिर्जा काबुल का शासक था। 1566-67 में उसने पंजाब पर आक्रमण किया परन्तु उसे विफल कर दिया गया। 1581 में उसने भारत पर पुनः आक्रमण किया। उस समय बंगाल और बिहार में विद्रोह हो रहे थे और विद्रोही अकबर के स्थान पर हकीम मिर्जा को दिल्ली के सिंहासन पर बैठाने के लिए तत्पर थे। अकबर की धार्मिक नीति से असन्तुष्ट होकर कुछ मुल्ला-मौलवियों ने अकबर के विरुद्ध विद्रोह करना धार्मिक कर्तव्य बता दिया। अकबर के कुछ प्रतिष्ठित सरदार भी हकीम मिर्जा से अकबर के विरुद्ध पत्र-व्यवहार कर रहे थे। इसी स्थिति से हकीम मिर्जा को लाभ प्राप्त करने की आशा थी। परन्तु जब वह सिन्धु नदी पार करके लाहौर की तरफ बढ़ा, तब वह अपनी आशा के विपरीत उसने देखा कि पंजाब में उसे कोई सहायता नहीं मिली। इस बीच अकबर स्वयं उसका मुकाबला करने के लिए आगे बढ़ा। हकीम मिर्जा ने जब यह देखा कि भारत में अकबर की स्थिति दृढ़ है और यहाँ उसे कोई सहायता न मिल सकेगी तब वह काबुल वापस लौट गया। अकबर ने राजा मानसिंह को काबुल पर अधिकार करने के लिए आगे भेजा और स्वयं भी धीरे-धीरे उधर बढ़ा। राजा मानसिंह ने काबुल पर अधिकार कर लिया और हकीम मिर्जा बिना लड़े ही भाग गया। उसने अकबर की अधीनता स्वीकार करने का सन्देश भेजा परन्तु अकबर ने उससे व्यक्तिगत रूप से पेश होने की माँग की जिसे उसने स्वीकार न किया। अकबर उसकी बहिन बख्तुनिसा बेगम को काबुल का सरदार बनाकर वापस आ गया।

अकबर के वापस आ जाने पर हकीम मिर्जा काबुल आ गया और स्वयं शासन की देखभाल करने लगा यद्यपि नाम उसकी बहिन का ही रहा। परन्तु उसी वर्ष जुलाई 1581 में उसकी मृत्यु हो गयी। अकबर ने **काबुल को मुगल-साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया (1581)** और राजा मानसिंह को वहाँ का सूबेदार बनाया।

8. कश्मीर

कश्मीर के शासक यूसुफखाँ ने अकबर की अधीनता स्वीकार करना मान लिया था परन्तु वह स्वयं अकबर से भेंट करने नहीं आया था। इस कारण, अकबर उससे सन्तुष्ट न था। उसने कश्मीर को अपने साम्राज्य में सम्मिलित करने का निश्चय किया। 1585 में वह स्वयं एक बड़ी सेना लेकर लाहौर की ओर बढ़ा।

---

1 "The independent kingdom of Bengal, which had lasted for about two hundred and thirty-six years (1340-1576), perished along with Daud, the dissolute scamp, who knew nothing of the business of governing." —*V. A. Smith.*

1586 में कासिमखाँ और राजा भगवानदास को कश्मीर विजय के लिए भेजा गया। यूसुफखाँ ने मुगलों का मुकाबला किया। परन्तु युद्ध अधिक न चला। यूसुफखाँ अपनी दुर्बलता समझता था और मुगल सेना जाड़े, बर्फ और रसद की कमी से दुखी थी। यूसुफखाँ सन्धि को तैयार हो गया परन्तु जब वह अकबर के सामने प्रस्तुत हुआ तब उसे कैद कर लिया गया क्योंकि सन्धि की शर्तें अकबर को स्वीकार नहीं थीं। यूसुफखाँ के पुत्र याकूबखाँ ने मुगलों के मुकाबले की तैयारी की परन्तु राजधानी श्रीनगर में विद्रोह हो जाने के कारण उसे वापस जाना पड़ा। अकबर के आदेश से आगे बढ़ती हुई मुगल सेना ने श्रीनगर पर अधिकार कर लिया। याकूबखाँ भाग गया। बाद में उसने आत्मसमर्पण कर दिया और उसे कैद कर लिया गया। इस प्रकार, 1586 में **कश्मीर को मुगल-साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया गया।**

9. सिन्ध

अब्दुर्रहीम खानखाना को सुल्तान का सूबेदार बनाकर अकबर ने उसे सिन्ध को जीतने का उत्तरदायित्व दिया। 1591 में खानखाना ने सिन्ध पर आक्रमण किया। सिन्ध के शासक जानीबेग ने साहस से मुगलों का मुकाबला किया परन्तु दो युद्धों में उसकी पराजय हुई और उसने मुगल आधिपत्य स्वीकार कर लिया। थट्टा और सेहवान के किले और सम्पूर्ण सिन्ध मुगलों के अधिकार में आ गये।

10. उड़ीसा

इस समय राजा मानसिंह बिहार का सूबेदार था। कुतलूखाँ ने अपने को उड़ीसा में स्वतन्त्र शासक बनाया था। 1590 में राजा मानसिंह ने उड़ीसा पर आक्रमण किया। कुतलूखाँ की मृत्यु हो चुकी थी। उसके पुत्र निसारखाँ ने राजा मानसिंह का मुकाबला किया परन्तु पराजित होकर आत्मसमर्पण कर दिया। उड़ीसा की जागीर उसे ही दे दी गयी। परन्तु 1592 में उसने विद्रोह किया। इस बार राजा मानसिंह ने उसे परास्त करके भगा दिया और उड़ीसा को 1592 में मुगल-साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया गया।

11. बलूचिस्तान

1595 में मीर मासूम को बलूचिस्तान पर आक्रमण के लिए भेजा गया जिसने उसी वर्ष सीवी के किले पर आक्रमण करके उसे जीत लिया। बलूचियों से मुगलों ने कन्धार की सीमा तक के सभी भू-क्षेत्र छीन लिये। इस प्रकार बलूचिस्तान मुगल साम्राज्य का अंग बन गया।

12. कन्धार

1595 में कन्धार बिना किसी युद्ध के मुगलों को प्राप्त हो गया। कन्धार पर्शिया के अधिकार में था परन्तु वहाँ के तत्कालीन किलेदार मुजफ्फर हुसैन मिर्जा के सम्बन्ध पर्शियन दरबार से खराब हो गये थे। अपनी सुरक्षा के कारण, उसने किला स्वेच्छा से मुगल सरदार शाहबेग को सौंप दिया और स्वयं मुगलों की सेवा में आ गया।

अकबर दक्षिणी भारत को भी अपनी अधीनता में लाने के लिए उत्सुक था। 1591 ने उसने दक्षिण के खानदेश, बीजापुर, अहमदनगर और गोलकुण्डा राज्यों के

शासकों के पास यह सन्देश भेजा कि वे उसकी अधीनता स्वीकार कर लें। खानदेश का राज्य मुगलों की सीमा के सबसे अधिक निकट था और एक प्रकार से दक्षिण भारत का प्रवेश-द्वार था। उसके शासक अलीखाँ ने मुगल-आधिपत्य स्वीकार कर लिया और वार्षिक कर देना भी स्वीकार किया। अन्य तीनों राज्यों ने अकबर का प्रस्ताव सज्जनता से ठुकरा दिया। परन्तु यह स्पष्ट हो जाने के बाद भी कि मुगलों की बढ़ती हुई शक्ति किसी-न-किसी समय उनको समाप्त कर देगी, दक्षिण के इन राज्यों ने अपनी शक्ति को संचित करने का प्रयत्न नहीं किया और पहले की भाँति आपस में लड़ते रहे। अकबर ने 1593 में शाहजादा मुराद और अब्दुर्रहीम खानखाना को अहमदनगर पर आक्रमण करने के लिए भेजा। 1594 में अहमदनगर के शासक बुरहानुलमुल्क की मृत्यु हो जाने से राज्य में आन्तरिक संघर्ष हो गया और राज्य के एक दल ने मुराद को अपनी सहायता के लिए आमन्त्रित भी किया। परन्तु मुगलों के वहाँ पहुँचने से पहले ही वजीर मिंदान मंजू ने विद्रोह को दबा दिया, स्वयं बीजापुर की सीमा पर जा डटा और किले की सुरक्षा का उत्तरदायित्व चाँदबीवी को सौंप गया। 1595 में मुगलों ने अहमदनगर का घेरा डाला। कई माह तक चाँदबीवी ने बड़ी योग्यता से किले की सुरक्षा की। 1596 में आपस के मतभेदों, रसद की कमी और बीजापुर तथा गोलकुण्डा से अहमदनगर के लिए सहायता आ जाने की सम्भावना के कारण मुगलों ने सन्धि करना ठीक समझा। चाँदबीवी इसके लिए तत्पर थी। एक सन्धि के द्वारा बुरहानुलमुल्क के पोते बहादुरशाह को अहमदनगर का शासक स्वीकार कर लिया गया। उसने अकबर की अधीनता स्वीकार कर ली और बरार का प्रदेश तथा अन्य बहुत-सी भेंटें मुगलों को दीं। परन्तु यह सन्धि अधिक समय तक न रह सकी। चाँदबीवी ने अपने को शासन से पृथक कर लिया और अन्य सरदारों ने सन्धि को ठुकराकर बरार को मुगलों से छीनने का प्रयत्न किया। अकबर ने खान-खाना और मुराद को अहमदनगर पर पुनः आक्रमण करने के आदेश दिये परन्तु दोनों के मतभेदों की जानकारी होने पर बाद में खानखाना के स्थान पर अबुल फजल को भेजा गया। 1597 में शाहजादा मुराद की मृत्यु हो गयी और खानखाना को शाहजादा दानियाल के साथ भेजा गया। स्वयं अकबर भी दक्षिण की ओर चल दिया। 1599 में दौलताबाद पर मुगलों का अधिकार हो गया और 1600 में अहमदनगर के किले को भी जीत लिया गया। इससे पहले ही चाँदबीबी को, जिसने मुगलों से सन्धि करने का प्रस्ताव रखा था, या तो उसी के सरदारों ने मार दिया अथवा उसने स्वयं आत्महत्या कर ली। बालक निजामशाह को ग्वालियर के किले में बन्दी बनाकर भेज दिया गया। इस प्रकार, वर्षों के संघर्ष के पश्चात् बरार, दौलताबाद और अहमदनगर के किले मुगलों को प्राप्त हो गये। परन्तु इससे अहमदनगर का राज्य समाप्त नहीं हुआ। अहमदनगर के सरदार एक अन्य बालक शासक के नाम से मुगलों से संघर्ष करते रहे और अहमदनगर-राज्य का अधिकांश भाग मुगल-सत्ता से स्वतन्त्र रहा।

13. दक्षिणी भारत : अहमदनगर और खानदेश

खानदेश का शासक राजा अलीखाँ वफादारी से मुगलों की तरफ से अहमद-नगर के युद्ध में लड़ता हुआ मारा गया था। उसके पुत्र मीरन बहादुरशाह ने मुगल-आधिपत्य को मानने से इन्कार कर दिया और अपने पिता से की गयी मुगलों

की सन्धि को ठुकरा दिया। अहमदनगर से युद्ध चल ही रहा था कि खानदेश ने स्वतन्त्रता के रुख को अपना लिया। 1599 में स्वयं अकबर ने खानदेश की राजधानी बुरहानपुर पर आक्रमण किया और उसे जीत लिया। परन्तु मीरन बहादुरशाह ने अपनी सुरक्षा का प्रबन्ध असीरगढ़ के दृढ़ किले में किया। अकबर ने असीरगढ़ का घेरा डाल दिया। कई माह के घेरे के पश्चात् मीरन बहादुरशाह ने डरकर 1600 में आत्मसमर्पण कर दिया। उसे ग्वालियर के किले में बन्दी बनाकर भेज दिया गया, और 4000 अशर्फियाँ वार्षिक उसके निर्वाह के लिए निश्चित कर दी गयीं।

इस प्रकार, 1600 तक मुगलों ने खानदेश के स्वतन्त्र राज्य को समाप्त कर दिया और अहमदनगर से बरार तथा कुछ अन्य भू-प्रदेश छीन लिये। बुरहानपुर, असीरगढ़, दौलताबाद और अहमदनगर के नगर और किलों पर भी आधिपत्य कर लिया गया।

इस प्रकार, अकबर ने अपने समय में न केवल मुगल-साम्राज्य को उत्तरी भारत में स्थायित्व ही प्रदान किया, अपितु उसका विस्तार भी किया। अपनी विजयों से अकबर ने कन्धार और काबुल से लेकर बंगाल तक और कश्मीर से लेकर बरार तक का भू-क्षेत्र अपने अधिकार में कर लिया था। अब मुगल-साम्राज्य भारत में सबसे अधिक विस्तृत और शक्तिशाली साम्राज्य था। मुगलों के विरोधी अफगान पूर्णतया समाप्त कर दिये गये थे। अब ये केवल अधीन जागीरदार मात्र थे और स्वतन्त्र राज्य की इच्छा उनकी शक्ति से बाहर की बात थी। राजपूत शासक (मेवाड़ को छोड़कर) मुगलों के विरोधी न रहकर सहायक बन गये थे और मुगलों की अधीनता में थे। अकबर सम्पूर्ण भारत को तो विजय न कर सका, परन्तु उत्तरी भारत पूर्णतया उसके अधीन था और दक्षिणी भारत में वह प्रवेश कर चुका था। अपने उत्तराधिकारियों के लिए उसने सम्पूर्ण भारत की विजय का मार्ग खोल दिया था।

[5]
अकबर के समय के विद्रोह

अकबर के पुराने अमीरों में एक शक्तिशाली वर्ग उजबेग अमीरों का था। जौनपुर का सूबेदार खानेजमाँ, उसका भाई बहादुरखाँ और चाचा इब्राहीमखाँ, अवध का सूबेदार खानेआलम और मालवा का सूबेदार अब्दुल्लाखाँ इनके महत्वपूर्ण नेता थे। ये सभी महत्वाकांक्षी और स्वतन्त्र प्रकृति के थे। अकबर की सत्ता को अपने हाथ में केन्द्रित करने की नीति इन्हें पसन्द न थी और ये अनुभव करते थे कि अकबर ने उनको उनकी योग्यता का उचित पुरस्कार नहीं दिया था।

1. उजबेग-वर्ग

1564 में जब अब्दुल्लाखाँ ने अपनी स्वतन्त्र प्रकृति का परिचय दिया, तब अकबर ने उस पर आक्रमण कर दिया। अब्दुल्लाखाँ भागकर गुजरात चला गया और बहादुरखाँ को मालवा का सूबेदार बनाकर अकबर वापस आ गया।

कुछ समय पश्चात् इब्राहीमखाँ, खानेआलम, खानजमाँ और बहादुरखाँ ने सम्मिलित होकर विद्रोह की योजना बनायी और मानिकपुर का घेरा डाल दिया। अकबर को स्वयं विद्रोहियों के विरुद्ध जाना पड़ा। खानेआलम लखनऊ के निकट

पराजित हुआ और भागकर खानजमाँ से मानिकपुर में मिल गया। अकबर के पीछा करने पर वे बिहार की तरफ भाग गये और उपद्रव करते रहे। अन्त में, बहादुरखाँ को पकड़कर फाँसी की सजा दी गयी और खानजमाँ युद्ध में मारा गया। इसके पश्चात् यह विद्रोह समाप्त हो गया। इस प्रकार, प्रायः 1564 से 1567 तक उजबेगों ने अकबर को तंग किया, परन्तु अन्त में वे परास्त हुए।

2. मिर्जा-वर्ग

अकबर के विभिन्न सम्बन्धियों और मिर्जा-वर्ग के व्यक्तियों ने प्रायः उसी समय विद्रोह किया, जबकि उजबेगों ने विद्रोह किया था। इब्राहीम मिर्जा, मुहम्मद हुसैन मिर्जा, मसूद हुसैन मिर्जा, सिकन्दर मिर्जा और महमूद मिर्जा उन व्यक्तियों में से थे जो अकबर के रक्त से सम्बन्धित थे, और शाही वंश के सदस्य होने के कारण अधिक सम्मान और पद चाहते थे। इन्होंने राज्य की भूमि पर बिना शाही आज्ञा के अधिकार कर लिया। मुनीमखाँ ने इनको मालवा से भगा दिया और वहाँ से वे गुजरात भाग गये। ये उस समय तक निरन्तर उपद्रव करते रहे जब तक कि अकबर ने गुजरात पर दुबारा आक्रमण (1573) करके इनकी शक्ति को न तोड़ दिया।

3. बंगाल और बिहार में विद्रोह

बंगाल और बिहार में 1580 में विद्रोह हुआ। वहाँ के सूबेदार की कठोरता इस विद्रोह का कारण थी। बंगाल में बाबाखाँ काकशल ने और बिहार में मुहम्मद मासूम काबुली और अरब बहादुर ने विद्रोहियों का नेतृत्व किया। ये सभी विद्रोही मिलकर एक हो गये। उन्होंने बंगाल के सूबेदार मुजफ्फरखाँ को धोखे से मार डाला और टाँडा के किले पर अधिकार कर लिया। सम्पूर्ण बिहार और बंगाल विद्रोहियों के हाथों में चला गया। अकबर ने राजा टोडरमल को इस विद्रोह को दबाने के लिए भेजा, जिसने बड़ी कुशलता और बहादुरी से 1581 तक इस विद्रोह को समाप्त कर दिया। अधिकांश विद्रोही भाग गये अथवा मार दिये गये। कुछ समय बाद तक भी यह विद्रोह चलता रहा परन्तु उसकी शक्ति 1581 में समाप्त हो चुकी थी। अकबर ने मिर्जा अजीज कोका को बंगाल का सूबेदार बनाया और कुछ अन्य अधिकारियों जैसे दीवान शाह मंसूर को, जो सैनिकों के प्रति कठोरता करने के लिए उत्तरदायी थे, उनके पद से हटा दिया।

4. अफगान-बलूचियों का विद्रोह

जिस समय अकबर ने कश्मीर को जीतने की योजना (1585) बनायी थी, उसी अवसर पर उत्तर-पश्चिम सीमा पर अफगानों और बलूचियों ने उपद्रव कर रखा था। उन्होने काबुल से भारत को आने वाले मार्ग पर अधिकार कर रखा था। राजा बीरबल, जैनखाँ और अबुलफतह को उनके विरुद्ध भेजा गया। एक युद्ध में बीरबल मारा गया और जैनखाँ को पीछे हटना पड़ा। अकबर ने अब राजा टोडरमल को उनके विरुद्ध भेजा जिन्हें उसने कई बार परास्त किया। राजा मानसिंह ने भी खैबर दर्रे में अफगानों को परास्त किया। इसके बाद यह विद्रोह समाप्त हो गया।

अकबर के अन्तिम दिनों में गद्दी के उत्तराधिकारी शाहजादा सलीम ने अपने बाप अकबर के विरुद्ध विद्रोह किया। लाड़-प्यार में पला होने के कारण सलीम विलासी और आरामपसन्द था। अकबर के बहुत समय तक स्वस्थ और जीवित रहने के कारण सलीम गद्दी पर बैठने के लिए अधीर हो उठा था। 1599 में वह बिना

आज्ञा के अजमेर से इलाहाबाद चला गया। उसने वहाँ एक स्वतन्त्र शासक की तरह व्यवहार करना आरम्भ कर दिया। अकबर ने, जो उस समय असीरगढ़ के किले को घेरे हुए था, इस तरफ कोई ध्यान नहीं दिया और चुपके-चुपके सलीम को समझाने की कोशिश की। 1602 में जब अकबर अपनी राजधानी वापस लौटा, तब भी उसने उसे समझाने की कोशिश की और परामर्श के लिए अपने मित्र अबुल फजल को दक्षिण से बुलाया। सलीम के इशारे से ओरछा के बुन्देला सरदार वीरसिंह देव ने मार्ग में अबुल फजल की हत्या कर दी। इससे अकबर बहुत दुःखी और क्रोधित हुआ। इस अवसर पर सलीमा बेगम ने इलाहाबाद जाकर सलीम को समझाया। सलीम ने आगरा जाकर (1603) अपने पिता से माफी माँग ली और अकबर ने उसे माफ कर दिया। उसी वर्ष उसे मेवाड़ पर आक्रमण करने के लिए भेजा गया परन्तु वह अकबर से आज्ञा लेकर पुनः इलाहाबाद चला गया जहाँ वह शराब और नाच-रंग में लिप्त हो गया। उसकी पहली पत्नी, मानसिंह की बहन, ने उसकी आदतों से दुःखी होकर आत्महत्या कर ली। अकबर इन सभी बातों से असन्तुष्ट था। परन्तु अकबर के दोनों छोटे पुत्र मुराद और दानियाल की मृत्यु हो चुकी थी। इस कारण अकबर ने सलीम की सभी आदतों को सहन किया। जब सलीम 1604 में अपनी दादी की मृत्यु पर आगरा आया तब भी अकबर ने उसे माफ कर दिया। इसके पश्चात् सलीम अपने पिता के पास ही रहा। यद्यपि सलीम ने अकबर के विरुद्ध विद्रोह करके कोई युद्ध तो नहीं किया परन्तु अपने गलत और स्वतन्त्र व्यवहार से अकबर को उसके अन्तिम दिनों में दुःखी अवश्य किया।

5. शाहजादा सलीम का विद्रोह

इस प्रकार, अकबर के विरुद्ध विभिन्न विद्रोह हुए परन्तु उनमें से कोई भी न तो सफल हुआ और न राज्य को कोई बड़ा धक्का ही लगा सका। अपने समय में सभी विद्रोहों को दबाने में अकबर ने सफलता पायी।

[6]

अकबर की मृत्यु

3 अक्टूबर, 1605 को अकबर बीमार हो गया। उसे पेचिश अथवा इसी प्रकार की कोई अन्य बीमारी थी। उसके मर्ज को ठीक प्रकार न समझा जा सका और 25 अक्टूबर, 1605 को उसकी मृत्यु हो गयी।

[7]

अकबर का चरित्र, मूल्यांकन और इतिहास में स्थान
(अकबर एक राष्ट्रीय सम्राट)

अकबर मुगल शासकों में सर्वश्रेष्ठ, भारतीय शासकों में महान् और विश्व के शासकों में श्रेष्ठ और सम्पादित पद का अधिकारी है। सभी तत्कालीन और आधुनिक इतिहासकारों ने अकबर की प्रशंसा की है। लेनपूल ने उसे "भारत में हुए बादशाहों में सर्वश्रेष्ठ बादशाह"[1] और "साम्राज्य का वास्तविक संस्थापक एवं व्यवस्थापक"[2] तथा उसके युग को "मुगल-साम्राज्य का स्वर्णकाल"[3] कहा। डॉ.

1 "The noblest king that ruled in India." —*Lane-Poole.*
2 "The true founder and the organiser of the Empire."—*Lane-Poole.*
3 "Represents the golden age of the Empire." —*Lane-Poole.*

ईश्वरीप्रसाद ने लिखा : "अकबर भारत के इतिहास में ही नहीं बल्कि विश्व-इतिहास में अद्वितीय बादशाहों में से एक है। यूरोप के बादशाहों से तुलना करने से अद्भुत योग्यता और सफलताओं में उसकी श्रेष्ठता सरलता से स्थापित हो जाती है।"[1] इतिहासकार स्मिथ ने भी, जो विभिन्न दृष्टिकोणों से अकबर का आलोचक रहा, लिखा है : "वह मनुष्यों का जन्मजात बादशाह था। इतिहास के सर्वशक्तिशाली बादशाहों में से एक होने का उसका न्यायपूर्ण अधिकार है। निस्सन्देह, उसके इस अधिकार का आधार उसके प्रकृतिदत्त असाधारण गुण, उसके मौलिक विचार और उसकी अद्वितीय सफलताएँ थीं।"[2]

इस प्रकार, इतिहास में अकबर को एक श्रेष्ठ स्थान प्रदान किया गया है। अकबर का व्यक्तित्व सुन्दर और प्रभावशाली था। वह एक आज्ञाकारी पुत्र, प्रिय पति और उदार पिता था। अपने सभी सम्बन्धियों और मित्रों से वह प्रेम और आदर का व्यवहार करता था। अबुल फजल की मृत्यु पर वह बहुत रोया था और दो दिन तक उसने भोजन करने से इन्कार कर दिया था। उसके गुण मानवीय थे, जिसके कारण वह अपनी प्रजा के प्रति अपने कर्तव्य को समझता था और जन-साधारण तथा निर्धनों के प्रति प्रेम और उदारता का व्यवहार करता था। वह स्वस्थ और शक्तिशाली था। खेल-कूद और शिकार का उसे शौक था। हथियार चलाने, बन्दूक का निशाना लगाने तथा घुड़सवारी में वह अद्वितीय था। कठोर परिश्रम करने तथा कठिनाइयों को बर्दाश्त करने का उसका स्वभाव था। साहस और धैर्य उसमें कूट-कूट कर भरे हुए थे। अनेक अवसरों पर उसने अपने स्वयं के जीवन को युद्ध के समय पर संकट में डाला था। ईश्वर में उसका अटूट विश्वास था परन्तु सभी धर्मों के प्रति उसका व्यवहार उदारता का था। धार्मिक दृष्टि से वह अपने युग का प्रवर्तक था। अकबर शिक्षित न था, परन्तु विभिन्न विद्वानों के निकट सम्पर्क में आकर उसने दर्शन, धर्म, साहित्य, इतिहास आदि विभिन्न शास्त्रों का पर्याप्त ज्ञान प्राप्त कर लिया था। वह विद्वानों का सम्मान करता था और तत्कालीन विभिन्न विद्वानों ने उससे संरक्षण प्राप्त किया था। उसने एक पुस्तकालय का भी निर्माण कराया जिसमें प्रायः 65 लाख रुपयों की 24,000 पुस्तकें थीं। उसके व्यावहारिक ज्ञान की योग्यता इससे स्पष्ट होती है कि उसने धर्म, राजनीति, समाज-सुधार और सैनिक तथा असैनिक शासन में मौलिक नीतियों, विचारों और सिद्धान्तों को जन्म ही नहीं दिया, अपितु उनका सफल व्यावहारिक प्रयोग भी किया। उसकी स्मरण-शक्ति बहुत तीव्र थी। वह सुनकर अनेक बातों को विस्तृत रूप से याद कर लेता था। यद्यपि अकबर शराब, अफीम आदि मादक द्रव्यों का सेवन करता था परन्तु उनका वह आदी न था और

---

1 "Akbar is one of the most remarkable kings, not only in the history of India but of the whole world. A comparison of European monarchs with Akbar easily establishes the superiority of the latter, both in genius and achievements."
—*Dr. Ishwari Prasad.*

2 "He was a born-king of men, with a rightful claim to be one of the mightiest sovereigns known to history. That claim rests surely on the basis of his extraordinary natural gifts, his original ideas, and his magnificent achievements." —*V. A. Smith.*

जैसे-जैसे उसकी आयु बढ़ती गयी, वह संयमी होता गया, यहाँ तक कि उसने अपने बाद के जीवन में माँस का प्रयोग भी कम कर दिया अथवा उसे समाप्त कर दिया। अकबर ने तत्कालीन अन्य शासकों की भाँति बहु-विवाह किये। उसके हरम में करीब 5,000 स्त्रियाँ थीं और इनमें उसकी स्त्रियों अथवा रखैलों की संख्या भी बहुत रही होगी। परन्तु जैसा कि प्रति सप्ताह मीना बाजार लगाकर सुन्दर स्त्रियों को खोजना और बीकानेर के पृथ्वीराज राठौर की पत्नी के शील पर आक्रमण करने की चेष्टा आदि किंवदन्तियाँ अकबर के चरित्र के साथ जोड़ी जाती हैं, वे सत्य प्रतीत नहीं होतीं। सम्भवतया, युवावस्था में उसका जीवन उच्छृंखल रहा हो, परन्तु जैसे-जैसे अकबर की आयु बढ़ती गयी, वह गम्भीर और संयमी होता गया। उसके आरम्भिक जीवन में ऐसी घटनाएँ भी हुईं जब उसने उत्तेजना और क्रोध में कार्य किये, परन्तु बाद के जीवन में ऐसी घटनाएँ प्राप्त नहीं होतीं। उसने अपने जीवन का कोई भी महत्वपूर्ण निश्चय उत्तेजना, आवेश या मोहवश नहीं किया। स्मिथ ने लिखा है : "साधारणतया उसे अपने ऊपर पूर्ण आत्म-नियन्त्रण था।"[1]

अकबर एक कुशल सैनिक तथा प्रतिभाशाली सेनापति था। अनेक युद्धों में उसने साहस और दृढ़ता से भाग लिया। सेनापति की दृष्टि से उसने अनेक सैनिक अभियानों में सफलता प्राप्त की। उसके समय में मुगल-सेना बहुत द्रुतगामी हो गयी। गुजरात के विद्रोह को दबाने के लिए उसने जिस तीव्रता से यात्रा की, वह एक 'ऐतिहासिक सैनिक अभियान' माना गया है। उसने सेना का बहुत श्रेष्ठ संगठन किया। उसके समय में मुगल सेना अजेय बन गयी। संगठन और युद्ध-नीति दोनों ही इसके लिए उत्तरदायी थीं और अकबर के व्यक्तित्व का इसमें बहुत बड़ा योग था। अकबर के समय का इतिहास निरन्तर सफल युद्धों और राज्य-विस्तार का इतिहास है।

एक शासन-प्रबन्धक की दृष्टि से अकबर में मौलिकता और व्यावहारिकता, दोनों ही थीं। मुगल शासन-व्यवस्था को स्थापित करने का श्रेय उसी को है। उसकी केन्द्रीय शासन-व्यवस्था तथा बादशाह के पद और अधिकारों एवं कर्तव्यों की व्याख्या, उसका प्रान्तीय शासन, उसकी लगान-व्यवस्था, उसकी मुद्रा-व्यवस्था, उसकी सैनिक शासन की मनसबदारी व्यवस्था, आदि सभी ने न केवल उसी के समय में सफलता प्राप्त की बल्कि वह उसके उत्तराधिकारियों के लिए भी आधार बनीं। बाद के मुगल शासक उसमें परिवर्तन करने की आवश्यकता अनुभव न कर सके अथवा उससे श्रेष्ठ शासन-व्यवस्था की खोज में असफल रहे। अकबर के शासन की एक मुख्य विशेषता यह थी कि उसने साम्राज्य के विभिन्न अंगों को एक धागे में पिरो दिया था जिससे मुगल-साम्राज्य राजनीतिक स्थायित्व प्राप्त कर सका और शासन की सुविधा सभी प्रजा को समान रूप से प्राप्त हो सकी।

एक शासक और नीतिज्ञ की दृष्टि से अकबर की धार्मिक उदारता की नीति और राजपूत-नीति अद्वितीय थीं। उन्होंने मुगल राज्य को एक नवीन आधार प्रदान किया और शासन के लिए एक नवीन दृष्टिकोण दिया। मुगल-साम्राज्य की शक्ति का विस्तार और उसका वैभव उसकी इन नीतियों पर आधारित था। सांस्कृतिक दृष्टि से अकबर की नीति श्रेष्ठ थी। भाषा, साहित्य और कला की दृष्टि से जो

---

1 "As a rule, he had perfect self control." —*V. A. Smith.*

प्रगति और समन्वय का दृष्टिकोण उसने अपनाया वह मुगल-साम्राज्य की बौद्धिक व सांस्कृतिक प्रगति का आधार बना।

इस प्रकार, अकबर का चरित्र उदार और प्रभावशाली था तथा उसका व्यक्तित्व एक महान् व्यक्ति और एक महान् बादशाह का व्यक्तित्व था। एक व्यक्ति, एक विजेता, एक शासक, एक नीतिज्ञ और एक बादशाह की दृष्टि से उसका जीवन सफल और प्रेरणा प्रदान करने वाला था। इसी कारण, अकबर को 'महान्' की पदवी से विभूषित किया गया है। इतिहासकार एडवर्ड्स और गैरेट ने लिखा है : "अकबर ने अपनी योग्यता जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में सिद्ध की। वह एक बहादुर सैनिक, एक महान् प्रजापालक, एक बुद्धिमान शासन-प्रबन्धक, एक लोकहितकारी शासक और मनुष्य-चरित्र का पारखी था। वह मनुष्यों का जन्मजात नेता था और इतिहास के सर्व-शक्तिशाली शासकों में एक स्थान प्राप्त करने का उसका न्यायपूर्ण अधिकार है। उसने अपने पचास वर्ष के शासनकाल में एक ऐसा शक्तिशाली साम्राज्य स्थापित किया, जो शक्तिशाली से शक्तिशाली राज्य से समानता का दावा कर सकता था और उसने एक ऐसे राजवंश की स्थापना की जिसका मुकाबला प्रायः एक-सौ वर्ष तक भारत में किसी विरोधी ने नहीं किया। उसके शासनकाल में मुगल एक सैनिक आक्रमणकारी मात्र से एक स्थायी भारतीय राजवंश के रूप में बदल गये।"[1] उसी प्रकार, सर वूल्जले हेग ने लिखा है : "अकबर का युग महान् शासकों का युग बताया गया है और कुछ व्यक्तियों का कहना है कि वह अपने तत्कालीन शासक इंगलैण्ड की एलिजाबेथ, फ्रान्स के हेनरी चतुर्थ और पर्शिया के अब्बास महान् से किसी भी भाँति कम न था। कुछ व्यक्तियों ने लिखा है कि जिस दिखावे का आरोप उसके शत्रु उस पर लगाते हैं; वह उससे कम न था। परन्तु दोषों से युक्त होते हुए भी जो दोष किसी भी मात्रा में कम अथवा सिद्धान्तपूर्ण न थे, वह भारत में इस्लाम की सत्ता-काल के शासकों में सबसे महान् शासक था।"[2]

---

1 "Akbar has proved his worth in different fields of action. He was an intrepid soldier, a great general, a wise administrator, a benevolent ruler, and a sound judge of character. He was a born leader of men and can rightly claim to be one of the mightiest sovereigns known to history..... During a reign of nearly fifty years, he built up a powerful empire which could vie with the strongest and established a dynasty whose hold over India was not contested by any rival for about a century. His reign witnessed the final transformation of the Mughals from mere military invaders into a permanent Indian dynasty."

—*Edwards and Garrett.*

2 "The age of Akbar has been described as an age of great rulers, and some hold that among his contemporaries, Elizabeth of England, Henry IV of France, and Abbas the Great of Persia, he was not the least. Some have written of him as thought he was no less than what his enemies alleged he pretended to be. But with all his faults, and they were neither few or venial, he was by far the greatest of all who ruled India during the era of the dominance of Islam in that land." —*Sir Woolseley Haig.*

अकबर की महानता का एक मुख्य कारण यह था कि **वह एक राष्ट्रीय सम्राट (National King) था।** एक शासक को राष्ट्रीय सम्राट तभी स्वीकार किया जा सकता है जब उसके शासन में उसकी सम्पूर्ण प्रजा के साथ शासन के सभी क्षेत्रों में समान व्यवहार किया जाय और राज्य की ओर से व्यक्ति और व्यक्ति में धर्म, जाति, वंश आदि के आधार पर कोई भेदभाव न किया जाय। अकबर ऐसा ही सम्राट था। उसने न केवल अपनी प्रजा की भलाई के लिए ही प्रयत्न किये थे बल्कि सभी के साथ समान व्यवहार किया था। उससे पहले के सभी मुसलमान शासकों ने अपनी प्रजा को दो मुख्य भागों में बाँट रखा था—मुसलमान और हिन्दू। मुसलमान वर्ग को सिर्फ मुसलमान होने के नाते राज्य की ओर से कुछ विशेष सुविधाएँ प्राप्त थीं और हिन्दू-वर्ग को सिर्फ हिन्दू होने के नाते कुछ विशेष कठिनाइयों और उत्तरदायित्वों को भुगतना पड़ता था। अकबर ने इस अन्तर को समाप्त कर दिया। वह भारत का पहला मुसलमान शासक था जिसने अपनी सम्पूर्ण प्रजा के साथ समान व्यवहार किया और राज्य की नीति का आधार राष्ट्रीय हित को स्वीकार किया। **अकबर का भारत को राजनीतिक एकता प्रदान करने का प्रयत्न, एक शासन-व्यवस्था, एक अर्थ और लगान-व्यवस्था, एक कर-व्यवस्था, सभी को योग्यता के आधार पर राज्य की सेवाओं में उच्चतम स्थान प्राप्त करने की सुविधा, राजपूतों से विवाह सम्बन्ध और सम्मान की नीति, सभी धर्मों को समान सुविधा और आदर तथा धार्मिक दृष्टि से एकता लाने का प्रयत्न, फारसी भाषा को राज्य-भाषा बनाना और सभी भाषाओं की प्रगति में सहयोग, विभिन्न ललित कलाओं की प्रगति तथा उनकी कलाविधियों के समन्वय का प्रयत्न, सांस्कृतिक एकता का प्रयत्न, आदि सभी ऐसे कार्य थे जो राष्ट्रीय हित और प्रगति के आधार पर किये गये थे। इस कारण अकबर को एक राष्ट्रीय सम्राट स्वीकार किया गया है।**

डॉ. आर. पी. त्रिपाठी ने लिखा है : "अकबर का भारत की एकता का प्रयत्न एक पहला कदम था। इस्लाम और चंगेजखाँ के आदर्शों से प्रभावित होकर वह सम्पूर्ण संसार को एक सत्ता के अधीन करने के लिए उत्सुक था।" वे लिखते हैं : "यदि दक्षिण के राज्यों ने उसकी योजना को पूर्णतया समझा होता और उसके साथ सहयोग किया होता तो, सम्भवतया, भारत यूरेशिया में सबसे शक्तिशाली तथा सबसे धनवान देश होता और उसका इतिहास भिन्न होता। भारत की एकता को पूर्ण करने के पश्चात् अकबर विश्व-साम्राज्य की स्थापना करने के उद्देश्य से मध्य-पूर्व और पश्चिमी एशिया को भी भारत के साथ सम्मिलित करना चाहता था।"[1] डॉ. त्रिपाठी का यह मत सभी इतिहासकारों को मान्य नहीं है परन्तु सभी इतिहासकार यह अवश्य स्वीकार करते हैं कि अकबर का उद्देश्य भारत की

---

1 "If his plan had been fully appreciated by the states of the Deccan and they could co-operate with him, India would have been possibly the strongest and most prosperous country in Eurasia, and her history would have been different. After uniting India; Akbar wanted to unite the mid east and western Asia with her as a very important step towards the establishment of a world empire." —*Dr. R. P. Tripathi.*

एकता, उसकी उन्नति और उसके सभी निवासियों की समान प्रगति तथा उन्हें समान सुविधाएँ प्रदान करना अवश्य था। इस दृष्टि से उसे राष्ट्रीय सम्राट प्रायः सभी इतिहासकार स्वीकार करते हैं। अकबर की महानता का सबसे बड़ा कारण यही था। के. टी. शाह लिखते हैं : "अकबर मुगलों व सर्वश्रेष्ठ और सम्भवतया शक्तिशाली मौर्यों के पश्चात् एक हजार वर्ष के भारतीय शासकों में सबसे महान् था। यह सरलता से कहा जा सकता है कि जन्मजात पैतृक संस्कारों से प्राप्त अद्भुत योग्यता के अतिरिक्त अकबर की महानता का कारण यह था कि उसने अपने आपको पूर्ण भारतीय बना लिया था।"[1]

जिस समय अकबर ने अपने कार्य को आरम्भ किया, उस समय उसकी सबसे बड़ी कठिनाई मुगल-साम्राज्य की सुरक्षा करना था। उसे प्राप्त करने के पश्चात् उसका लक्ष्य सम्पूर्ण भारत को एक राज्य और एक शासन के अन्तर्गत संगठित करने का था। मेलेसन ने लिखा है कि "अकबर का महान् उद्देश्य सम्पूर्ण भारत को एक शासक की अधीनता में लाने का था। नियमों में उसका नियम एक शासक और एक साम्राज्य के संस्थापक की दृष्टि से सबसे महान् था।"[2] उसके इस मार्ग में बहुत कठिनाइयाँ थीं। वह स्वयं विदेशी तुर्क मुसलमान था जबकि उसे भारत में अफगान, हिन्दू, पर्शियन, तुर्क आदि सभी से व्यवहार करना था। परन्तु इसमें अकबर ने सफलता प्राप्त की। उसने अपने जीवन-काल में सम्पूर्ण उत्तरी भारत और दक्षिणी भारत के कुछ भाग पर अपना अधिकार कर लिया और अपने उत्तराधिकारियों के लिए सम्पूर्ण दक्षिणी भारत की विजय का मार्ग खोल दिया। परन्तु अकबर ने विजयमात्र से सन्तोष नहीं किया। उसने एक अच्छा शासन भी स्थापित किया। उसने अपने अधीन प्रदेशों का शासन राज्य की सुरक्षा तथा शक्ति के विस्तार के आधार पर ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण राज्य की प्रगति और सम्पूर्ण प्रजा की भलाई पर आधारित किया। अकबर का प्रान्तीय शासन, अर्थ-व्यवस्था, लगान-व्यवस्था, कर-प्रणाली, आदि सम्पूर्ण राज्य में समान थी। हिन्दुओं से तीर्थयात्रा-कर और जजिया समाप्त कर दिये गये थे, व्यापारिक कर सभी पर समान रूप से था और जागीरदारों की भूमि की लगान-व्यवस्था भी वही थी जो खालसा-भूमि (बादशाह की भूमि) की थी। राज्य के सभी असैनिक और सैनिक कर्मचारी एक स्थान से दूसरे स्थान पर स्थानान्तरित किये जाते थे। बिना किसी जाति, धर्म या प्रदेश के भेद-भाव के सभी व्यक्तियों को अपनी योग्यतानुसार राज्य की सेवाओं में स्थान प्राप्त करने का अधिकार था। राजा मानसिंह को सात हजारी मनसबदार का पद दिया गया था और राजा टोडरमल तथा राजा बीरबल मन्त्रीपद तक पहुँच गये थे। राज्य की सेवाओं में सभी जाति और

---

1 "Akbar was the greatest of the Mughals and perhaps the greatest of all India rulers for a thousand years, if not ever since the days of the mighty Mauryas. But, without detracting in the least from the genius of the man of the inheritance of his birth, it may yet be said that Akbar was so great, because he was so thoroughly Indianised." —*K. T. Shah.*

2 "Akbar's great idea was the union of all India under one head ...His code was the greatest of codes for a ruler, for the founder of an empire." —*Malleson.*

धर्म के व्यक्ति सम्मिलित किये गये थे। इस प्रकार, अकबर की शासन-व्यवस्था ऐसी थी जिसमें उसके सभी नागरिक अपने को एक राज्य का नागरिक मान सकते थे, और राज्य से समान सुविधाओं और सुरक्षा की आशा कर सकते थे। सर वूल्जले हेग ने लिखा है : "वह रक्त से विदेशी था, यद्यपि वह भारत की भूमि पर पैदा हुआ था। परन्तु इस्लाम को मानने वाले अनेक शासकों में से वही एक ऐसा शासक था जिसने एक सैनिक और सत्ता-प्राप्त अल्पमतवादी उस जाति का, जिसे भारतीय नस्ल और धर्म से विदेशी मानते थे, नेता होने के स्थान पर अपनी सम्पूर्ण प्रजा का पिता होने के विचार को जन्म दिया।"[1] अकबर की शासन की इस नीति ने राज्य को एकता और शक्ति प्रदान की। इसके अतिरिक्त, उसने राज्य के व्यवसाय और व्यापार को भी नियन्त्रित किया। एक बड़ा राज्य, आवागमन के साधनों की सुविधा, सम्पत्ति और जीवन की सुरक्षा तथा राज्य की ओर से व्यवसायों और व्यापार को प्रोत्साहन आदि ऐसे साधन बने जिनसे राज्य धनवान बना। उसकी लगान-व्यवस्था से कृषि और किसानों की स्थिति में सुधार हुआ। इन प्रयत्नों से प्रजा और राज्य, दोनों ही सुखी और सम्पन्न हुए। इससे प्रजा में एकता और राज्य के प्रति उसकी श्रद्धा में वृद्धि हुई।

अकबर ने भारत की सांस्कृतिक एकता और उन्नति के लिए प्रयत्न किये। फारसी भाषा को राज्य-भाषा बनाया गया और विभिन्न भाषाओं के श्रेष्ठ ग्रन्थों का अनुवाद फारसी में किया गया। इस कार्य के लिए अकबर ने एक 'अनुवाद-विभाग' खोला। इस विभाग की देखभाल में संस्कृत, अरबी, तुर्की और ग्रीक भाषा के अनेक ग्रन्थों का फारसी में अनुवाद किया गया। इसी प्रकार, अकबर ने ललित कलाओं की विभिन्न पद्धतियों के समन्वय और उनकी उन्नति के लिए प्रयत्न किया। उसके समय में 'स्थापत्य-कला-स्कूल', 'गान-कला-स्कूल', 'चित्रकला-स्कूल', आदि स्थापित किये गये जहाँ सभी प्रकार के कलाकार एकत्रित होते थे और कार्य करते थे। इससे भारत की सभी कलाओं की विभिन्न पद्धतियों का समन्वय हो सका और पर्शियन, मुस्लिम तथा हिन्दू कला एक-दूसरे के निकट आ सकीं तथा मुगल-कला को एक ऐसा विशेष स्वरूप प्रदान कर सकीं जिसमें विदेशीपन कम और भारतीयता अधिक थी।

अकबर ने अनेक सामाजिक कुरीतियों को समाप्त करने का प्रयत्न किया। दास-प्रथा समाप्त कर दी गयी और सती-प्रथा, बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह, आदि को रोकने का प्रयत्न किया गया। 12 वर्ष की आयु से पहले ही खतना करने की प्रथा को उसने रोका। इस प्रकार, सामाजिक कुरीतियों को रोकने का प्रयत्न करके, उसने न केवल मानवता का परिचय दिया बल्कि समाज को शक्तिशाली बनाने का भी प्रयत्न किया।

परन्तु अकबर ने जिन उदार और नवीन सिद्धान्तों को जन्म दिया, उनमें सबसे प्रमुख हिन्दू और मुसलमानों को निकट लाने का था। यह नहीं कहा जा सकता कि

---

1 "A foreigner in blood, though he happened to have been born of Indian soil, he was the only one of the long line of rulers professing Islam who even conceived the idea of becoming the father of all his subjects, rather than the leader of a militant and dominant minority, alien in faith and to a great extent in race, to the nations of India." —*Sir Woolseley Haig.*

इस दिशा में उसका प्रयत्न सफल था। परन्तु वह पहला मुस्लिम शासक था, जिसने इस आवश्यकता को समझा और उसके लिए कुछ ठोस कदम उठाये। उसकी उदार धार्मिक और राजपूत-नीति का एक महत्वपूर्ण आधार यह भी था। हिन्दुओं की सभी सामाजिक और आर्थिक कठिनाइयाँ समाप्त कर दी गयीं। उन्हें राज्य की सेवाओं में स्थान प्राप्त करने और सम्मान से रहने का अधिकार दिया गया। जजिया, तीर्थयात्रा-कर और अन्य सभी अतिरिक्त कर समाप्त कर दिये गये। न्याय में हिन्दुओं के साथ समान व्यवहार किया गया। जिन राजपूतों से अकबर ने विवाह-सम्बन्ध किये थे, वह स्वेच्छा से किये गये थे और उसके पश्चात् अपनी राजपूत पत्नियों और सम्बन्धियों से अकबर ने सर्वदा सम्मान का व्यवहार किया था। अकबर ने विवाह के अवसर पर यह शर्त नहीं रखी कि पहले राजपूत राजकुमारियों को मुसलमान बनाया जाय। उसी प्रकार, उसकी हिन्दू पत्नियों को अपने धर्म के अनुसार कार्य करने की स्वतन्त्रता थी। उसकी धार्मिक नीति सभी धर्मों को समान स्वतन्त्रता और समान सम्मान प्रदान करने की थी। सम्भवतया, इसी उद्देश्य की रक्षा और पूर्ति के लिए उसने इस्लाम के विवादों के निर्णय करने के अधिकार को अपने हाथों में ले लिया तथा 'दीन इलाही' को फैलाने का प्रयत्न किया था। शासक और व्यक्ति, दोनों ही दृष्टियों में अकबर धार्मिक मामलों में बहुत उदार था। सभी धर्मावलम्बी अपनी पूजा, उत्सव आदि करने के लिए स्वतन्त्र ही न थे, बल्कि बादशाह स्वयं होली, दीवाली, वसन्त आदि जैसे महत्वपूर्ण त्यौहारों और उत्सवों में भाग लिया करता था। अकबर ने तुलादान, झरोखा-दर्शन आदि जैसी विभिन्न हिन्दू-प्रथाओं को भी स्वीकार कर लिया। उसने अन्धविश्वास और धार्मिक कट्टता को भी रोकने का प्रयत्न किया। सम्भवतया, यही कारण था जिससे उसने हिन्दू और मुसलमानों में प्रचलित कुछ सामाजिक कुरीतियों को रोकने का प्रयत्न किया। अकबर की राजपूत-नीति सफल रही। जो राजपूत शासक सदियों से मुस्लिम सत्ता का निरन्तर विरोध करते आये थे, वे मुगल-साम्राज्य के सबसे अधिक वफादार सेवक बन गये। लेनपूल ने लिखा है कि "हिन्दू राजाओं को सम्मिलित कर लेना अकबर के समय की सबसे स्पष्ट विशेषता थी।"[1] इसी प्रकार, अकबर की उदार धार्मिक नीति मुगल-शासकों की नीति को एक नवीन मोड़ देने वाली सफल नीति थी। विभिन्न धर्मों का समन्वय करने का और हिन्दू व मुसलमानों के अन्तरों को समाप्त करने का अकबर का उद्देश्य सफल तो नहीं हुआ परन्तु विभिन्न धर्मों और हिंन्दू-मुसलमानों के साथ रहने की प्रवृत्ति और साथ-साथ कार्य करने की क्षमता प्रदान करने में अकबर अवश्य सफल हुआ। यह उस युग की भावना और आवश्यकता थी, और अकबर ने ठीक प्रकार से उसका पोषण किया। इस कारण डॉ. आर. पी. त्रिपाठी ने लिखा है कि "अकबर अपने युग की सन्तान और पिता दोनों था।"[2]

इस कारण, अकबर को एक राष्ट्रीय सम्राट माना जाता है। उसे अपने प्रयत्नों में पूर्ण सफलता न मिली और भारत एक राष्ट्र की भावना प्राप्त न कर

---

1 "Assimilation of the Hindu chiefs was the most conspicuous feature of Akbar's reign." —*Lane-Poole.*

2 "He was at once the child and the father of his age." —*Dr. R. P. Tripathi.*

सका, यह अन्य बात है। इसी कारण, उसे 'राष्ट्र-निर्माता' नहीं पुकारा जाता। परन्तु उसकी नीति, भावना और प्रयत्नों के कारण मध्य-युग के शासकों में उस अकेले को ही राष्ट्रीय सम्राट का सम्मान प्रदान किया गया है। उस युग की परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए यदि हम अकबर के कार्यों का मूल्यांकन करें, तो उसे यह सम्मान देना अनुचित नहीं है।[1]

---

1 अकबर की राजपूत-नीति और धार्मिक नीति के लिए अध्याय 10 व अकबर के शासन-प्रबन्ध, मनसबदारी-प्रथा आदि के लिए अध्याय 12 देखिए।

6
जहाँगीर
[1605—1627 ई.]

बहुत से सन्तों और फकीरों की दुआओं तथा फतहपुरसीकरी के शेख सलीम चिश्ती के आशीर्वाद से अकबर की पत्नी और जयपुर की राजकुमारी मरियम उज्जमानी ने 30 अगस्त, 1569 को मुहम्मद सलीम को जन्म दिया। सलीम की शिक्षा का अच्छा प्रबन्ध किया गया। उसके विभिन्न शिक्षकों में से सबसे महत्वपूर्ण अपने समय का प्रमुख विद्वान अब्दुर्रहीम खानखाना था। विभिन्न भाषाओं और शास्त्रों के ज्ञान के अतिरिक्त सलीम ने सैनिक-शिक्षा भी प्राप्त की। यद्यपि तत्कालीन बादशाहों की परम्पराओं के अनुसार सलीम (बादशाह जहाँगीर) ने बहुत विवाह किये परन्तु उसका पहला विवाह अम्बर (जयपुर) के राजा भगवानदास की पुत्री और राजा मानसिंह की बहन मानबाई से 1585 में हुआ। सलीम का सबसे बड़ा पुत्र खुसरो इसी की सन्तान था। 1586 में उसका दूसरा महत्वपूर्ण विवाह राजा उदयसिंह की पुत्री जगतगोसाइँ (जोधाबाई) से हुआ जिसकी सन्तान शाहजादा खुर्रम (बादशाह शाहजहाँ) था। जहाँगीर के तीसरे पुत्र परवेज का जन्म उसकी बेगम साहिब-ए-जमाल से और उसके चौथे पुत्र शहरयार का जन्म एक रखैल से हुआ था।

सलीम को बहुत लाड़-प्यार से पाला गया था। इस कारण, वह आरम्भ से ही ऐशो-आराम और शराब का शौकीन हो गया था। अपने पिता के अन्तिम दिनों में उसने अपने पिता अकबर की अवज्ञा की और अपने को स्वतन्त्र शासक बनाने का प्रयत्न किया। अन्त में, बाप-बेटे में समझौता हो गया। अकबर के दो अन्य पुत्र, दानियाल और मुराद, की मृत्यु पहले ही हो चुकी थी। अपनी मृत्यु के अवसर पर अकबर ने सलीम को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया और वही उसकी मृत्यु के पश्चात् जहाँगीर के नाम से बादशाह बना।

3 नवम्बर, 1605 को आगरा के किले में जहाँगीर का राज्याभिषेक हुआ और उसने 'नूरुद्दीन मुहम्मद जहाँगीर बादशाह गाजी' की उपाधि ग्रहण की। जहाँगीर ने अपने पक्ष के सरदारों को उच्च पद दिये, जिनमें से एक अबुल फजल का हत्यारा राजा वीरसिंह बुन्देला भी था। अकबर की परम्परा को स्थापित रखते हुए जहाँगीर ने अपना शासन उदारता से आरम्भ किया और गद्दी पर बैठते ही उसने निम्नलिखित आदेश दिये :

1. तमगा और मीर-बहरी जैसे स्थानीय कर नहीं लिये जायें।
2. जागीरदारों और सरकारी अधिकारियों को दूर और निर्जन सड़कों के

निकट कुएँ और सराएँ बनाने के आदेश दिये गये जिससे वहाँ आबादी हो सके और चोर-लुटेरों से रक्षा हो सके।

3. व्यापारियों की वस्तुओं की बिना उनकी इच्छा के तलाशी न ली जाय। एक व्यापारी की मृत्यु के पश्चात् उसकी सम्पत्ति उसके उत्तराधिकारी को सौंप दी जाय और यदि कोई उत्तराधिकारी न हो तो उसकी सम्पत्ति का प्रयोग कुएँ, सराएँ, पुल आदि बनवाने के लिए किया जाय।

4. शराब तथा अन्य मादक द्रव्य न बनाये जायें और न बेचे जायें।

5. किसी के घर पर जबरदस्ती अधिकार न किया जाय। अपराध के दण्ड-स्वरूप किसी के नाक-कान न काटे जायें।

6.' किसानों की भूमि पर कोई भी जबरदस्ती अधिकार न करे।

7. राज्य के खर्च से बड़े नगरों में अस्पताल खोले जायें और वहाँ चिकित्सकों की नियुक्ति की जाय।

8. सप्ताह के दो दिन बृहस्पतिवार और इतवार को तथा वर्ष में अन्य कई दिनों पशु-हत्या न की जाय।

9. अकबर के समय के सभी अधिकारी और जागीरदार उसी प्रकार अपने-अपने पदों पर कार्य करें।

10. बिना बादशाह की आज्ञा के राज्य के जागीरदार, सरदार और बड़े अधिकारी परस्पर विवाह-सम्बन्ध न करें।

11. दान में दी गयी भूमि उसी प्रकार पुराने व्यक्तियों के पास रहे।

12. सभी कैदी छोड़ दिये जायें।

इस प्रकार, जहाँगीर ने अपने शासन का आरम्भ उदारता और जन-हित की भावना से किया। उसने आगरा के किले के शाह-बुर्ज से लेकर बाहर यमुना नदी के किनारे तक एक सोने की जंजीर भी डलवा दी जिसे खींचकर कोई भी व्यक्ति बादशाह से न्याय की माँग कर सकता था।

[1]

खुसरो का विद्रोह (1606)

खुसरो, जहाँगीर का सबसे बड़ा पुत्र, राजा मानसिंह का भानजा और मिर्जा अजीज कोका का दामाद था। वह सुशिक्षित, सुन्दर, उदार और चरित्रवान था। वह प्रजा में लोकप्रिय था और राज्य के दो बड़े सरदारों का सम्बन्धी था। अकबर के अन्तिम दिनों में राजा मानसिंह और मिर्जा अजीज कोका ने सलीम के दुर्बल चरित्र को देखकर खुसरो को गद्दी पर बैठाने का प्रयत्न किया परन्तु जब अन्य सरदार इसके लिए तैयार न हुए, तब यह प्रयत्न छोड़ दिया गया। अजीज कोका ने जहाँगीर से माफी माँग ली और उसे बादशाह ने मान लिया। राजा मानसिंह ने खुसरो को लेकर बंगाल भागने की तैयारी की परन्तु जहाँगीर के आश्वासन पर वह वापस आ गया और खुसरो को उसने जहाँगीर को सौंप दिया। जहाँगीर ने उन दोनों को माफ कर दिया, परन्तु खुसरो को अर्द्ध-बन्दी रूप में रखा और कुछ समय पश्चात् राजा मानसिंह को बंगाल की सूबेदारी से पृथक कर दिया।

खुसरो 17 वर्ष की आयु का था। वह बादशाह बनने के स्वप्न को न छोड़ सका। 6 अप्रैल, 1606 को वह आगरा के किले से भाग निकला। वह दिल्ली होता हुआ लाहौर की तरफ गया। इस समय तक उसके समर्थकों की संख्या करीब 12,000 हो गयी। उसने सिख-गुरु अर्जुन का आशीर्वाद प्राप्त किया। परन्तु लाहौर के किलेदार ने उसके लिए किले के फाटक न खोले। खुसरो के भागने की सूचना जहाँगीर को कुछ घण्टों के पश्चात् ही मिल गयी। उसने एक सेना शाहजादे का पीछा करने के लिए तुरन्त भेजी और स्वयं भी लाहौर की तरफ चल दिया। खुसरो ने भैरोवल के मैदान में जहाँगीर का मुकाबला किया परन्तु उसकी पराजय हुई और वह भाग खड़ा हुआ। उसके कुछ समर्थकों ने उसे अपने मामा राजा मानसिंह के पास भाग चलने की सलाह दी परन्तु उसने हुसैनबेग की काबुल चले जाने की सलाह को अंगीकार किया। इससे बहुत से सरदार और सैनिकों ने उसका साथ छोड़ दिया। चिनाब नदी को पार करते हुए वह अपने साथियों के साथ पकड़ा गया। उसे जहाँगीर के सम्मुख लाहौर में लाया गया। उसके साथियों को कठोर दण्ड दिया गया और एक लम्बी कतार में उनको सूली पर लटकाकर शाहजादे को उनके सामने से ले जाया गया। कहते हैं कि खुसरो को इसका इतना दुःख हुआ कि वह फिर आजीवन मुस्करा भी न सका। इस अवसर पर खुसरो को सिर्फ कैद कर दिया गया। एक माह में ही खुसरो का विद्रोह समाप्त हो गया।

1607 में, जब जहाँगीर काबुल से लाहौर वापस आ रहा था, तब मार्ग में उसकी हत्या का षड्यन्त्र रचा गया। खुसरो के अतिरिक्त इसमें राज्य के कुछ अन्य सरदार भी सम्मिलित थे। परन्तु शाहजादा खुर्रम को इसकी सूचना मिल गयी और उसने जहाँगीर को यह सूचना दे दी। जहाँगीर ने इसके बारे में पूरी छानबीन की और जब सभी षड्यन्त्रकारियों के बारे में उसे ठीक-ठीक पता लग गया तब उसने उनको कठोर दण्ड दिये और खुसरो को अन्धा करा दिया। बाद में शाहजादे पर दया करके उसकी आँखों का इलाज कराया गया परन्तु उसकी एक ही आँख में थोड़ी रोशनी आ सकी। खुसरो उसके पश्चात् प्रायः बन्दी ही रहा। अन्त में, दक्षिण-युद्ध के अवसर पर खुर्रम ने उसे अपने साथ ले जाने की माँग बादशाह से की। बादशाह उसे इन्कार न कर सका और खुर्रम ने, जिसे 'शाहजहाँ' की उपाधि से विभूषित किया जा चुका था, एक हत्यारे के द्वारा गला घोंटकर खुसरो को 1621 में मरवा दिया। शाहजहाँ ने यह कार्य इसलिए किया था कि जहाँगीर का स्वास्थ्य गिरने लगा था और जहाँगीर की मृत्यु के पश्चात् खुसरो सिंहासन के लिए उसका विरोधी हो सकता था। इस प्रकार जहाँगीर के सबसे बड़े पुत्र खुसरो की मृत्यु हुई।

यदि अकबर के पश्चात् जहाँगीर के स्थान पर खुसरो भारत का बादशाह होता तो भारतीय इतिहास क्या होता, यह कहना कठिन है। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि खुसरो अपने पिता की तुलना में अधिक उदार और चरित्रवान था। उसने अपने बाबा अकबर के कुछ गुणों को प्राप्त किया था। परन्तु खुसरो अनुभवहीन और बच्चा था और उसके समर्थकों, जैसे राजा मानसिंह और मिर्जा अजीज कोका ने गृह-युद्ध के संकट अथवा राज्य-भक्ति के कारण उसका पूरी तरह से साथ नहीं दिया। इस कारण खुसरो असफल रहा। खुसरो के विद्रोह ने कुछ अन्य छोटे-छोटे विद्रोहों को भी जन्म दिया जैसे बीकानेर के राजा जयसिंह का, बिहार के संग्राम का और बिहार में ही कुतुब का जिसने स्वयं को खुसरो घोषित किया। ये सभी विद्रोह दबा दिये गये।

परन्तु खुसरो के विद्रोह का एक परिणाम मुगलों और सिक्खों के सम्बन्धों का खराब होना था क्योंकि जहाँगीर ने सिक्खों के गुरु अर्जुन पर खुसरो को सहायता देने के अपराध में दो लाख रुपया जुर्माना किया और जब गुरु अर्जुन ने उस जुर्माने को देने से इन्कार कर दिया, तब उन्हें मृत्यु-दण्ड दिया। इसे सिक्खों ने अपने धर्म पर अत्याचार माना। जहाँगीर का यह कार्य उचित न था क्योंकि गुरु अर्जुन ने खुसरो को आशीर्वाद और थोड़ा धन अवश्य दिया था परन्तु उसका आधार राजनीतिक न होकर मानवता का था।

[2]
साम्राज्य-विस्तार

अकबर ने जिस साम्राज्य-विस्तार की परम्परा को स्थापित किया था, जहाँगीर ने उसके अनुकूल कार्य करने का प्रयत्न किया। उत्तरी भारत की विजय छोटे-छोटे कुछ राज्यों के अतिरिक्त प्रायः पूर्ण थी। अकेला मेवाड़ ही ऐसा राज्य था जिसने मुगलों की सत्ता को मानने से इन्कार कर दिया था। दक्षिणी भारत में राज्य-विस्तार की सम्भावना थी, जहाँ अहमदनगर के राज्य को भी समाप्त नहीं किया जा सका था। जहाँगीर के समय में इन्हीं राज्यों को विजय करने के प्रयत्न किये गये।

अकबर ने अपने समय में मेवाड़ को जीतने का निरन्तर प्रयत्न किया था। चित्तौड़ तथा निकट के कुछ क्षेत्रों को मुगलों ने अपने अधिकार में कर लिया था।

1. मेवाड़ से युद्ध और सन्धि

परन्तु महाराणा प्रताप के दृढ़ विरोध और निरन्तर संघर्ष के कारण सम्पूर्ण मेवाड़ पर मुगलों का अधिकार न हो सका था अपितु अपनी मृत्यु से पहले राणा प्रताप ने चित्तौड़ को छोड़कर मेवाड़ के प्रायः सभी भू-क्षेत्रों को अपने अधिकार में कर लिया था। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र अमरसिंह राणा बना और जहाँगीर के शासन-काल के आरम्भ में वही मेवाड़ का शासक था।

गद्दी पर बैठते ही 1605 में जहाँगीर ने शाहजादा परवेज को एक बड़ी सेना के साथ मेवाड़-विजय के लिए भेजा। जफरबेग, आसफखाँ और राजा जगन्नाथ जैसे योग्य अधिकारी उसके साथ भेजे गये। राणा अमरसिंह के चाचा सागर को भी, जो मुगल-सेवा में था, चित्तौड़ और उसकी मुगल-भूमि का स्वामी बनाकर भेजा गया। राणा अमरसिंह ने आधिपत्य स्वीकार करने के स्थान पर युद्ध का निर्णय किया। देवार के दर्रे में एक युद्ध हुआ जिसमें कोई निर्णय न हो सका और युद्ध चलता रहा। खुसरो के विद्रोह के कारण शाहजादा परवेज को आसफखाँ सहित बुला लिया गया। इस प्रकार 1606 में युद्ध समाप्त हो गया। 1608 में महावतखाँ को इसी उद्देश्य से भेजा गया। उसने राणा को जंगलों में शरण लेने के लिए बाध्य किया। वह उससे अधिक सफलता न पा सका। 1609 में अब्दुल्लाखाँ को उसके स्थान पर नियुक्त किया गया। अब्दुल्लाखाँ की 1611 में रानपुर की दर्रे में पराजय हुई यद्यपि थोड़े समय के पश्चात् राजकुमार करन को एक युद्ध में परास्त करके उसने अपने सम्मान को पुनः स्थापित कर लिया। उसे 'फीरोजजंग' की उपाधि दी गयी। परन्तु वह भी अधिक सफलता न पा सका। उसके पश्चात् राजा बसु और उसके असफल होने पर मिर्जा अजीज कोका को इस कार्य के लिए नियुक्त किया गया। 1613 में स्वयं जहाँगीर अजमेर गया और शाहजादा खुर्रम को मेवाड़ पर आक्रमण करने के

लिए भेजा। खुर्रम और अजीज कोका साथ-साथ कार्य न कर सके। इस कारण अजीज कोका को वापस बुला लिया गया और शाहज़ादा खुर्रम को इस कार्य के लिए सम्पूर्ण अधिकार दे दिये गये। खुर्रम ने राणा पर हर प्रकार से दबाव डाला। खेती बरबाद कर दी गयी, रसद के रास्ते बन्द कर दिये गये, जगह-जगह पर राणा का पीछा किया गया और उसकी सूचना प्राप्त करने के लिए चौकियाँ बना दी गयीं। राजपूत निरन्तर साहस से युद्ध करते रहे परन्तु परिस्थितियाँ प्राय: वही हो गयीं जो राणा प्रताप के समय में हल्दीघाटी के युद्ध के पश्चात् हो गयी थीं। राणा के साथियों की संख्या कम होने लगी और सेना के लिए रसद एकत्रित करना कठिन हो गया। अन्त में, राजकुमार करन और अन्य राजपूत सरदारों ने मुगलों से सन्धि करने की सलाह राणा को दी। राणा ने इसे स्वीकार कर लिया और अपना एक राजदूत शाहज़ादा खुर्रम के पास भेजा। खुर्रम ने उसका स्वागत किया और जहाँगीर के पास उसे भेजा। जहाँगीर ने प्रसन्नता से राजा के सन्धि-प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया और 1515 में **मेवाड़ और मुगलों में निम्नलिखित शर्तों पर सन्धि हो गयी :**

1. राणा ने मुगल आधिपत्य स्वीकार कर लिया।

2. राणा से मुगल-वंश से विवाह-सम्बन्ध के लिए नहीं कहा गया। राणा ने स्वयं के स्थान पर अपने पुत्र करन को मुगल-दरबार में भेजने की स्वीकृति माँगी। जहाँगीर ने इसे स्वीकार कर लिया।

3. जहाँगीर ने मेवाड़ का सम्पूर्ण भू-प्रदेश और चित्तौड़ का किला उदारता-पूर्वक राणा को दे दिया। शर्त सिर्फ यह थी कि चित्तौड़ के किले को सुरक्षित नहीं किया जायगा।

इस प्रकार, मेवाड़ और मुगलों का लम्बा संघर्ष समाप्त हुआ। मेवाड़ के राणाओं ने इस सन्धि का उस समय तक पालन किया जब तक कि औरंगजेब की नीति के कारण राणा राजसिंह को मुगलों का विरोध करने के लिए बाध्य न होना पड़ा। मेवाड़ और मुगलों का संघर्ष राजस्थान के इतिहास का सबसे गौरवपूर्ण अध्याय है। शक्तिशाली मुगल-साम्राज्य से मुकाबला करने में राजपूतों का मुख्य साधन उनका दृढ़ निश्चय और सम्मान-रक्षा की भावना मात्र थी। मेवाड़ के सिसौदिया-वंश ने राणा कुम्भा और राणा साँगा के गौरव की रक्षा राणा प्रताप और राणा अमरसिंह के समय में भी की। इसी में उनकी महानता और मेवाड़ का गौरव था।

यह कहना भूल होगी कि राणा अमरसिंह ने मेवाड़ के गौरव की रक्षा करने का प्रयत्न नहीं किया और मुगलों के आधिपत्य को स्वीकार करके राणा प्रताप के नाम को लज्जित कर दिया। राणा अमरसिंह ने मुगलों से उसी प्रकार और उन्हीं परिस्थितियों में रहते हुए युद्ध किया था जिस प्रकार राणा प्रताप ने किया था। कई अवसरों पर उसने मुगल सेना को परास्त किया था। युवराज करनसिंह और अपने सरदारों के कहने पर ही उसने मुगलों से सन्धि करना स्वीकार किया था। सन्धि की शर्तें भी सम्मानित थीं। वह स्वयं कभी मुगल दरबार में नहीं गया और न उसने मुगलों से विवाह सम्बन्ध किया। इससे भी उसे सन्तोष न था। कुछ समय के पश्चात् उसने अपना सिंहासन युवराज करन को दे दिया और एक एकान्त स्थान नौ-चौकी में जाकर उसने अपने जीवन के शेष दिन व्यतीत किये। यह कहना भी अनुचित नहीं है कि मेवाड़ का मुगलों से संघर्ष मेवाड़ की प्रजा के लिए लाभदायक

न था। निरन्तर संघर्ष के कारण न राज्य में शान्ति सम्भव थी, न सम्पत्ति और न सुख। शक्तिशाली और समृद्धशाली मुगल-साम्राज्य से युद्ध करते हुए मेवाड़ कब तक सफलता पा सकता था तथा सम्मान की रक्षा के अतिरिक्त क्या प्राप्त कर सकता था.? मुगलों के आधिपत्य मात्र को स्वीकार करने से राणा को मेवाड़ की सम्पूर्ण भूमि और चित्तौड़ का किला प्राप्त हो गया तथा प्रजा को शान्ति प्राप्त हो गयी।

मेवाड़ के प्रति जहाँगीर का व्यवहार भी सराहनीय था। शाहजादा खुर्रम ने राणा अमरसिंह और युवराज करन का सम्मान से स्वागत किया था। जहाँगीर ने सन्धि की शर्तें सम्मानित रहने दीं। उसने राणा के सम्मान को कहीं भी चोट नहीं पहुँचाई और जीते हुए मेवाड़ में भू-प्रदेश तथा चित्तौड़ उदारता से राणा को वापस कर दिये। युवराज करन को मुगल दरबार में बादशाह के दाहिनी ओर बैठने का स्थान 5,000 सवार और 5,000 जात का पद, दिया गया और अनेक बहुमूल्य उपहार जहाँगीर तथा नूरजहाँ की ओर से दिये गये। साधारणतया ऐसा सम्मान बादशाह की ओर से किसी को नहीं दिया जाता था।

2. दक्षिण-भारत

दक्षिण-भारत में जहाँगीर ने अपने पिता द्वारा आरम्भ किये गये कार्य को पूरा करने का प्रयत्न किया। अकबर के समय में खानदेश और अहमदनगर राज्य के कुछ भागों को जीत लिया गया था परन्तु अहमदनगर का राज्य समाप्त नहीं हुआ था तथा बीजापुर और गोलकुण्डा पूर्णतया स्वतन्त्र थे। जहाँगीर के समय में इनको जीतने या आधिपत्य में लेने का कार्य पुनः आरम्भ किया गया।

इस समय मुगलों को दक्षिण-भारत की विजय में सबसे बड़ी बाधा अहमदनगर के वजीर मलिक अम्बर ने उपस्थित की। जब मुगल भारत के अन्य भागों में व्यस्त थे, उसने निजामशाह की तरफ से बहुत से प्रदेशों को मुगलों से छीन लिया। निस्सन्देह, मलिक अम्बर अपने समय के योग्यतम व्यक्तियों में से था।

अबीसीनियन मलिक अम्बर को कासिम ख्वाजा नामक एक व्यक्ति ने बगदाद के बाजार से खरीदा था। उसने उसे अहमदनगर के मुर्तजा निजामशाह प्रथम के योग्य मन्त्री मीरक दबीर चंगेजखाँ को बेचा। जब बरार और खानदेश मुगलों के अधिकार में चले गये तो मलिक अम्बर ने बीजापुर राज्य में जाकर नौकरी कर ली। परन्तु थोड़े समय पश्चात् वह अहमदनगर वापस आ गया और उसने आनगखाँ की सेवा में 150 घुड़सवार के मनसबदार का पद स्वीकार कर लिया। जब अकबर के समय में शाहजादा दानियाल ने अहमदनगर राज्य पर आक्रमण किया तो मलिक अम्बर और मलिक राजू को मुगलों पर आक्रमण करने और उनको तंग करने का उत्तरदायित्व सौंपा गया। उन्होंने इस कार्य की पूर्ति सफलता से की, अपने सैनिकों की संख्या में वृद्धि की और अहमदनगर राज्य के उन प्रदेशों को जो मुगल आधिपत्य में चले गये थे, मुगलों से छीनने में भाग लिया। 1601-1602 में मलिक अम्बर ने मण्डेर के युद्ध में सबसे पहली बार मुगलों का प्रत्यक्ष रूप से मुकाबला किया जिसमें वह बुरी तरह से घायल हुआ, परन्तु जीवित बच गया। अपने साथी सरदार मलिक राजू से मलिक अम्बर की नहीं पट सकी क्योंकि दोनों ही अहमदनगर राज्य में अपना-अपना प्रभाव चाहते थे। मलिक राजू की प्रतिद्वन्द्विता के कारण मलिक अम्बर ने दो बार अहमदनगर राज्य का साथ छोड़ा और मुगलों की सेवा स्वीकार की। परन्तु मुगलों की अधीनता में मलिक अम्बर का भविष्य न था। 1607 में निजामशाह ने



राजू को कैद कर लिया और मलिक अम्बर से साथ देने की माँग की। राजू के हटते ही मलिक अम्बर का मार्ग साफ हो गया और वह निजामशाह की सेवा में चला गया।

जहाँगीर के बादशाह बनने और खुसरो के विद्रोह के समय कुछ वर्ष दक्षिण-भारत को शान्ति के प्राप्त हुए। मलिक अम्बर ने इस समय का उपयोग विभिन्न सुधारों तथा अहमदनगर-राज्य की शक्ति को दृढ़ करने के लिए किया। उसने सैनिक और असैनिक दोनों प्रकार के सुधार किये। उसने टोडरमल की लगान-व्यवस्था से सबक़ लिया। लगान-सुधारों को करते हुए मलिक अम्बर ने तीन लक्ष्यों को ध्यान में रखा। उसका एक लक्ष्य किसानों के हित की रक्षा करना था; उसका दूसरा लक्ष्य कृषि-उत्पादन में वृद्धि करना था; और उसका तीसरा लक्ष्य राज्य की आय में वृद्धि करना था। उसने भूमि को ठेके पर देना बन्द कर दिया। उसने लगान-व्यवस्था में रैयतवाड़ी-व्यवस्था को आरम्भ किया जिससे राज्य का किसानों से प्रत्यक्ष सम्पर्क हो गया। उसने उत्पादन के आधार पर भूमि का कई भागों में वर्गीकरण किया। उसने भूमि की नाप कराने की व्यवस्था की और पैदावार का 2/5 अथवा 1/3 लगान के रूप में किसानों से लिया। बाद में उसने किसानों से सिक्के के रूप में लगान लेना आरम्भ कर दिया। किसानों और गाँवों की सुरक्षा का उसने अच्छा प्रबन्ध किया। इन सुधारों से अहमदनगर-राज्य की आर्थिक शक्ति में वृद्धि हुई। मलिक अम्बर ने यह जान लिया था कि मुगल-साम्राज्य की विशाल शक्ति से अहमदनगर राज्य उस युद्ध-नीति से लड़कर लाभ नहीं उठा सकता था जिसका प्रयोग अभी तक होता रहा था। सामने के युद्ध में मुगलों की विशाल सेना का मुकाबला करना असम्भव था। इस कारण उसने मुगलों से युद्ध करने के लिए गुरिल्ला-युद्ध-पद्धति को अपनाया जिसे मेवाड़ और बुन्देलखण्ड के हिन्दू राजाओं और अफगानिस्तान की कबाइली जातियों ने सफलता से मुगलों के विरुद्ध अपनाया था। इसके लिए उसने स्थानीय निवासी मराठों को सेना में भर्ती किया। मराठे अपने निवास-स्थानों के भू-प्रदेशों से पूर्णतया परिचित थे और दक्षिण के पठारी भू-प्रदेश में 'गुरिल्ला-युद्ध-नीति' उनके लिए बहुत अनुकूल थी। मलिक अम्बर ने शत्रु पर अचानक आक्रमण करना, उसकी रसद को रोकना, उस पर असावधान स्थिति में आक्रमण करना, समय पाकर भाग जाना, रात्रि को उसके खेमों पर आक्रमण करना और उसे लालच देकर अपनी सुविधा के अनुकूल स्थानों पर ले जाकर लड़ना, आदि विभिन्न गुरिल्ला-युद्ध-नीति के तरीके अपनी सेना को सिखाये। मराठा सैनिक इस युद्ध-नीति में बहुत कुशल हो गये क्योंकि वे अपने देश की भौगोलिक परिस्थितियों से परिचित थे, छिपने और आक्रमण करने के स्थान सरलता से प्राप्त कर लेते थे और आमने-सामने का युद्ध करके सम्मान प्राप्त करना उनका लक्ष्य न था। उसने सुरक्षा की दृष्टि से कई बार राजधानी बदली। वह पहले राजधानी को परेन्द्र से जुनार ले गया, उसके बाद दौलताबाद और अन्त में खिरकी जो अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण सर्वाधिक सुरक्षित स्थान था। मलिक अम्बर ने पर्शिया से व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित किये और राजगढ़ से करीब 20 मील दूर जंजीरा के द्वीप में उसने अपनी नौ-सेना को स्थापित किया। उसने अपनी नौ-सेना को एबीसीनिया के अरब सीदियों (सैयद) की सहायता से दृढ़ किया और उन्हीं को नौ-सेना में भर्ती किया। यही वह सीदी थे जिन्होंने बाद में मराठों और यूरोपियन जातियों का समुद्र पर मुकाबला किया। इस प्रकार मलिक अम्बर ने आर्थिक, सेना और नौ-सेना आदि सभी प्रकार से अहमदनगर-राज्य को

दृढ़ करके मुगलों से मुकावला करने के लिए तैयार किया। यह कहना ठीक है कि "युद्ध, सेनापतित्व, ठोस निर्णय और शासन-कुशलता में न कोई उसका प्रतिद्वन्द्वी था और न कोई उसकी समानता करने वाला।"[1]

अहमदनगर-राज्य की स्थिति को विभिन्न प्रकार से दृढ़ करके मलिक अम्बर ने मुगलों की बढ़ती हुई शक्ति को रोकने का प्रयत्न किया और इसमें वह सफल हुआ। 1608 में जहाँगीर ने अब्दुर्रहीम खानखाना को दस लाख रुपया और 12 हजार घुड़सवार अतिरिक्त रूप में दिये और दक्षिण भेजा। खानखाना को दक्षिण की राजनीति और युद्ध का पर्याप्त अनुभव था। परन्तु उसे कोई सफलता न मिल सकी। इस कारण 1610 में शाहजादा परवेज और आसफखाँ को एक बड़ी सेना के साथ भेजा गया। परन्तु इससे पहले कि यह सेना दक्षिण में पहुँच पाती, मलिक अम्बर ने खानखाना को एक सन्धि करने और बुरहानपुर वापस जाने के लिए बाध्य कर दिया था तथा अहमदनगर के किले पर अधिकार (1610) कर लिया था। खानखाना को दक्षिण से बुला लिया गया और खानेजहाँ को दक्षिण भेजा गया। 1611 में मुगलों ने अहमदनगर को जीतने का गम्भीर प्रयास किया। खानेजहान और राजा मानसिंह ने बरार और खानदेश की ओर से बढ़ना आरम्भ किया और अब्दुल्लाखाँ ने नासिक की ओर से बढ़ना आरम्भ किया। दोनों सेनाओं को दौलताबाद में मिलना था। परन्तु अब्दुल्लाखाँ युद्ध की सफलता का सम्पूर्ण श्रेय स्वयं ही लेने के उत्साह में अकेला दौलताबाद तक बढ़ गया और मुख्य सेना की प्रतीक्षा नहीं की। उसे इसका नतीजा भुगतना पड़ा। अहमदनगर की सेना ने उस पर आक्रमण करके उसे गुजरात की ओर वापस लौटने के लिए बाध्य किया। जहाँगीर ने खानेजहान को वापस बुला लिया और खानखाना को (1612 में) पुनः दक्षिण भेजा गया।

उसके पश्चात् मुगलों का मुख्य ध्यान मेवाड़ की ओर लगा रहा। दक्षिण में खानखाना की कूटनीति ने मलिक अम्बर के कुछ वफादार सरदारों को अपनी ओर मिलाने में अवश्य सफलता प्राप्त की परन्तु कोई महत्वपूर्ण युद्ध नहीं हुआ। 1615 में मुगलों ने रोशनगाँव के निकट एक युद्ध में अहमदनगर, बीजापुर और गोलकुण्डा की एक संयुक्त सेना को परास्त करने में पहली बड़ी सफलता पायी। मलिक अम्बर को भाग कर दौलताबाद के किले में जाना पड़ा। परन्तु शाहजादा परवेज और खानखाना के आपस के मतभेदों के कारण इस विजय से कोई विशेष लाभ नहीं उठाया गया। थोड़े समय के पश्चात् मलिक अम्बर ने फिर मुगल-क्षेत्रों पर आक्रमण करने आरम्भ कर दिये। जब 1615 में मेवाड़ से सन्धि हो गयी तब जहाँगीर ने 1616 में शाहजादा खुर्रम को 'शाह' की उपाधि देकर एक बड़ी सेना के साथ दक्षिण-भारत भेजा। स्वयं जहाँगीर भी दक्षिण की देखभाल करने के लिए माण्डू पहुँच गया (1617)। खुर्रम बुरहानपुर तक पहुँच गया। खुर्रम का दक्षिण में आना और स्वयं जहाँगीर का माण्डू जाना प्रभावपूर्ण सिद्ध हुआ। बाकी कार्य की पूर्ति खानखाना की कूटनीति और मुगलों के धन ने कर दी। बीजापुर के राजा ने मध्यस्थता की। मलिक अम्बर सन्धि के लिए तैयार हो गया। बालाघाट का भू-क्षेत्र, अहमदनगर का किला तथा कुछ अन्य किले मुगलों को दे दिये गये और 1617 में अहमदनगर और मुगलों में सन्धि हो

---

1 "In warfare, in command, in sound judgment and administrative skill he had no rival or equal."

गयी। बीजापुर के राजा ने खुर्रम को मूल्यवान उपहार दिये और जहाँगीर ने उसे बदले में 'फर्जन्द' (पुत्र) की उपाधि दी। खानखाना को दक्षिण का सूबेदार रखा गया और शाहजादा खुर्रम वापस आ गया। खुर्रम को 20,000 सवार और 30,000 जात का पद, गुजरात की सूबेदारी, 'शाहजहाँ' की उपाधि और दरबार में सिंहासन के निकट बैठने की आज्ञा दी गयी। परन्तु शाहजहाँ की दक्षिण की विजय केवल नाम की थी। जैसा कि डॉ. त्रिपाठी ने लिखा है कि "मुगल-शक्ति दक्षिण में वहीं पर थी जहाँ पर कि अकबर ने दक्षिण को छोड़ते समय छोड़ी थी।"[1]

मलिक अम्बर ने इस सन्धि का पालन बहुत समय तक नहीं किया। उसने गोलकुण्डा और बीजापुर राज्यों से समझौता कर लिया और 1620 में अहमदनगर के किले को घेर लिया। उसने बरार और आस-पास के प्रदेशों को भी जीत लिया। एक बार फिर शाहजहाँ को एक बड़ी सेना और धन देकर दक्षिण में भेजा गया। शाहजहाँ ने बुरहानपुर पहुँचकर आक्रमण की तैयारी की। अहमदनगर की नवीन राजधानी 'खडकी' पर अधिकार कर लिया गया। मुगलों ने अहमदनगर के किलेदार की सहायता के लिए एक सेना भेज दी और दौलताबाद पर भी दबाव डाला। मुगलों की इस सहायता से मलिक अम्बर प्रभावित हो गया और सन्धि को तैयार हो गया। 1621 में हुई सन्धि के अनुसार अहमदनगर ने मुगलों से जीते हुए सम्पूर्ण प्रदेश वापस कर दिये। इसके अतिरिक्त, उसने प्रायः 14 लाख रुपया वार्षिक आय का भू-क्षेत्र और 18 लाख रुपया भी मुगलों को दिया। बीजापुर और गोलकुण्डा ने अहमदनगर राज्य की सहायता की थी। इस कारण, बीजापुर ने 12 लाख और गोलकुण्डा ने 20 लाख रुपया हर्जाने के रूप में मुगलों को दिया।

इस प्रकार, 1621 में दक्षिण का युद्ध समाप्त हो गया। इसके पश्चात् शाहजहाँ और महाबतखाँ के विद्रोह के कारण मुगलों को दक्षिण-भारत की ओर ध्यान देने का अवसर जहाँगीर के समय से प्राप्त न हो सका। वास्तव में, सीमा-विस्तार की दृष्टि से जहाँगीर के समय में दक्षिण में मुगलों को कोई विशेष सफलता प्राप्त नहीं हुई थी। शाहजहाँ के विद्रोह के अवसर पर मलिक अम्बर ने एक बार शाहजहाँ को सहायता दी और मुगल बादशाह का विरोध किया। स्पष्ट था कि अहमदनगर-राज्य अभी मुगल-सत्ता को स्वीकार करने के लिए तत्पर न था। 1626 में मलिक अम्बर की मृत्यु हो गयी। परन्तु दक्षिण में मुगलों की स्थिति प्रायः पहले की भाँति ही रही। अहमदनगर, बीजापुर और गोलकुण्डा मुगलों के आधिपत्य में न थे। ऐसी ही स्थिति में 1627 में जहाँगीर की मृत्यु हो गयी।

3. काँगड़ा

उत्तर-पूर्व पंजाब में काँगड़ा की सुन्दर घाटी है। काँगड़ा का किला एक पहाड़ी पर बना हुआ दृढ़ किला था और तत्कालीन तथ्यों के अनुसार 52 बार इस किले का घेरा डाला गया और अनेक शक्तिशाली राजाओं ने इसे जीतने का प्रयत्न किया। परन्तु ये सभी प्रयत्न असफल हुए। अकबर के समय में पंजाब के सूबेदार हसनकुलीखाँ ने इसे जीतने का प्रयत्न किया था परन्तु वह असफल हुआ था। 1520

---

1 "Advanced the Mughal power no further than it had stood when Akbar left the Deccan." —*Dr. R. P. Tripathi.*

में शाहजादा खुर्रम के नेतृत्व में राजा विक्रमजीत ने इस किले का घेरा डाला और करीब चार माह के पश्चात् इस पर अधिकार कर लिया।

1611 में टोडरमल के पुत्र राजा कल्याणमल ने खर्दा (उड़ीसा) को, जहाँ जगन्नाथ का मन्दिर था, राजा पुरुषोत्तमदास से जीता। राजा ने अपनी पुत्री जहाँगीर को भेंट की। 1615 में नूरजहाँ के भाई इब्राहीमखाँ ने खोखर (बिहार) को राजा दुर्जनमल से जीता। वहाँ हीरे की खानें थीं जो राज्य की सम्पत्ति बना ली गयीं। 1617 में पुरुषोत्तमदास के विद्रोह करने पर उसे पराजित किया गया और उसके राज्य को मुगल राज्य में सम्मिलित कर लिया गया। 1620 में कश्मीर के दक्षिण के एक छोटे राज्य किश्तवार को मुगलों ने विजय किया। 1622 में राजा ने विद्रोह किया और उसके राज्य को मुगल राज्य में सम्मिलित कर लिया गया। इस प्रदेश में फलों और केसर की अच्छी खेती होती थी। 1613 में उत्तर-पूर्व में मुगलों ने कामरूप पर भी अपना अधिकार कर लिया।

4. अन्य विजयें

इस प्रकार, जहाँगीर के समय में राज्य-विस्तार के जो प्रयत्न किये गये, वे आंशिक रूप से सफल रहे। जहाँगीर के समय की सबसे महत्वपूर्ण घटना मेवाड़ से सन्धि थी। दक्षिण में राज्य-विस्तार मुख्यतया मलिक अम्बर के विरोध के कारण सफल न हो सका। जहाँगीर के समय की अन्य विजयें साधारण थीं।

[3]
कन्धार

जहाँगीर के समय में कन्धार मुगलों के हाथ से निकलकर पर्शिया के हाथ में चला गया। 1606 में खुसरो के विद्रोह के समय पर्शिया के बादशाह शाह अब्बास ने खुरासान और निकट के अन्य अमीरों को कन्धार पर आक्रमण करने के लिए प्रोत्साहन दिया। उन्होंने किले को घेर लिया। परन्तु मुगल किलेदार शाहबेग-खाँ ने साहस से उनका मुकाबला किया। 1607 के आरम्भ में मुगल सेना भी किले की सहायता के लिए पहुँच गयी और ईरानियों को किले का घेरा उठाना पड़ा। शाह अब्बास ने इस आक्रमण के प्रति अपना असन्तोष प्रकट किया, उसे अपने सरदारों की नादानी बताया और जहाँगीर से मित्रता का दावा किया। उसके पश्चात्, शाह अब्बास ने निरन्तर 1611, 1615, 1616 और 1620 में मुगल दरबार में मूल्यवान उपहारों सहित अपने राजदूत भेजे और जहाँगीर से मित्रता और प्रेम का दावा किया। परन्तु 1621 में पर्शिया ने फिर कन्धार का घेरा डाल दिया और 1622 में उसे जीत लिया। शाहजहाँ के विद्रोह के कारण, जहाँगीर कन्धार की रक्षा और उसे पुनः प्राप्त करने का प्रयत्न न कर सका।

[विस्तृत अध्ययन के लिए अध्याय 10 देखिए।]

[4]
नूरजहाँ तथा तत्कालीन राजनीति और इतिहास पर उसका प्रभाव

1. प्रारम्भिक जीवन

जहाँगीर के जीवन और उसके इतिहास की सबसे महत्वपूर्ण घटना नूरजहाँ से उसका विवाह था। डॉ. बेनीप्रसाद ने लिखा है : "मध्ययुगीन इतिहास में नूरजहाँ की तुलना में अन्य किसी का भी व्यक्तित्व इतनी रुचिकर प्रेम-कथा के साथ

जुड़ा हुआ नहीं है। जहाँगीर के समय की किसी अन्य घटना ने इतना आकर्षित नहीं किया है जितना कि नूरजहाँ के साथ उसके विवाह ने। पूरे पन्द्रह वर्ष तक यह विख्यात महिला मुगल-साम्राज्य में सबसे अधिक शक्तिशाली और प्रभावशाली बनी रही।"[1] नूरजहाँ का बचपन का नाम मेहरुन्निसा था। उसका पिता मिर्जा गियासबेग पर्शिया का रहने वाला था। अपने पिता ख्वाजा मुहम्मद शरीफ की मृत्यु के पश्चात् मिर्जा गियासबेग को अपना भाग्य पर्शिया में अच्छा दिखायी न दिया और अपने दो पुत्रों तथा एक पुत्री को लेकर वह भारत की ओर चल दिया। मार्ग में उसे बहुत कठिनाइयाँ उठानी पड़ीं, परन्तु काफिले के मालिक मलिक मसूद ने उसकी सहायता की। कन्धार के निकट उसकी पत्नी ने एक और लड़की को जन्म दिया और यही लड़की मेहरुन्निसा थी। मिर्जा गियासबेग को अकबर की सेवा में स्थान मिल गया और वह अपनी योग्यता से प्रगति करता गया। काबुल में उसे दीवान का पद दिया गया। परन्तु बाद में वह अकबर के व्यक्तिगत कारखाने की सेवा में ले लिया गया। जहाँगीर ने उसे अपने प्रारम्भ के समय में ही एत्मातुद्दौला की उपाधि दी। 1594 में मेहरुन्निसा का विवाह अलीकुलीबेग के साथ कर दिया गया। 1599 में मेवाड़ के आक्रमण के अवसर पर एक शेर को मारने के उपलक्ष में अलीकुलीखाँ को शाहजादा सलीम ने 'शेर अफगन' की उपाधि दी परन्तु जब सलीम ने विद्रोह किया तब शेर अफगन उसका साथ छोड़कर अकबर बादशाह के पास चला गया। जब जहाँगीर बादशाह बना तब उसने शेर अफगन को माफ कर दिया और उसे बंगाल में बर्दवान की जागीर सौंपी। शेर अफगन अपनी जागीर से सन्तुष्ट न था और, सम्भवतया, उसने वहाँ पर हो रहे अफगानों के विद्रोह को दबाने में कोई विशेष उत्साह नहीं दिखाया। 1606 में राजा मानसिंह को हटाकर कुतुबुद्दीन को बंगाल का सूबेदार बनाया गया। उसी समय शेर अफगन पर राजद्रोह का अपराध लगाया गया और कुतुबुद्दीन ने उसे मिलने के लिए बुलाया। शेर अफगन केवल दो व्यक्तियों को लेकर उससे मिलने गया। कुतुबुद्दीन ने उससे अपमानजनक व्यवहार किया जिससे क्रोधित होकर शेर अफगन ने उस पर कटार से घातक प्रहार किया। उसने उसके मुख्य शरीर-रक्षक अम्बखाँ को भी मार डाला। परन्तु कुतुबुद्दीन के सैनिकों ने उसके और उसके साथियों के टुकड़े-टुकड़े कर दिये। मेहरुन्निसा और उसकी पुत्री लाड़ली बेगम को कैद कर लिया गया।

जहाँगीर के आदेश से मेहरुन्निसा को दरबार में लाया गया और उसे अकबर की विधवा सलीमा बेगम की सेविका नियुक्त कर दिया। 1611 में नौरोज के त्यौहार पर जहाँगीर ने उसे देखा और उसके सौन्दर्य से प्रभावित हो गया। मई 1611 में जहाँगीर ने उससे विवाह कर लिया। बाद में, जहाँगीर ने उसे 'नूरमहल' और 'नूरजहाँ' की उपाधियाँ दीं।

नूरजहाँ और जहाँगीर के विवाह को लेकर इतिहासकारों में विवाद है। कुछ

---

1 "No figure in mediaeval history has been shrouded in such romance as the name of Nur Jahah calls to the mind. No incident in the reign of Jahangir has attracted such attention as his marriage with Nur Jahan. For full fifteen years that celebrated lady stood forth as the most striking and most powerful personality in the Mughal Empire." —*Dr. Beni Prasad.*

इतिहासकार यह कहते हैं कि जहाँगीर ने पहली बार मेहरुन्निसा को 1611 में देखा था; उसका उससे बचपन से प्रेम न था और शेर अफगन के कत्ल में जहाँगीर का कोई हाथ न था। कुछ अन्य इतिहासकार यह कहते हैं कि जहाँगीर जब युवराज था, तभी से उसे मेहरुन्निसा से प्यार था। अपने पिता के समय में वह अपनी इच्छा की पूर्ति न कर सका और मेहरुन्निसा के विधवा होने पर उसने उससे विवाह कर लिया। वही इतिहासकार यह भी कहते हैं कि क्योंकि जहाँगीर मेहरुन्निसा को कभी न भूल सका था, इस कारण उसने शेर अफगन को कत्ल कराकर अपनी इच्छा की पूर्ति की हो, यह सम्भव है।

2. जहाँगीर और नूरजहाँ के सम्बन्धों पर विवाद

डॉ. बेनीप्रसाद उन इतिहासकारों में से प्रमुख हैं जो जहाँगीर से नूरजहाँ के पहले सम्बन्धों को स्वीकार नहीं करते। अपने इस विचार के पक्ष में उन्होंने निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किये हैं :

(i) तत्कालीन ग्रन्थों में इस प्रकार का कोई विवरण नहीं मिलता।

(ii) शाहजहाँ के समय के ग्रन्थों में ऐसा कोई विवरण नहीं है।

(iii) तत्कालीन यूरोपीय लेखकों ने ऐसी किसी घटना का वर्णन नहीं किया है यद्यपि शाही परिवार के बारे में उन्होंने अनेक अन्य विभिन्न किंवदन्तियों का वर्णन किया है।

(iv) इस समय बहु-विवाह की प्रथा थी। ऐसी स्थिति में अकबर सलीम को मेहरुन्निसा से विवाह करने से क्यों रोकता?

(v) यदि सलीम का मेहरुन्निसा से प्रेम होता तो अकबर शेर अफगन को सलीम की सेवा में नियुक्त न करता और सलीम बादशाह बनने के पश्चात् शेर अफगन के पद की वृद्धि न करता।

(vi) राजा मानसिंह सलीम के स्थान पर खुसरो को गद्दी पर बैठाना चाहता था। इस कारण, उसे बंगाल जैसे धनवान और दूरस्थ प्रान्त की सूबेदारी से हटाकर जहाँगीर ने अपने विश्वासपात्र सरदार कुतुबुद्दीन को बंगाल का सूबेदार बनाया था। उसका इस स्थानान्तरण में अन्य कोई अर्थ न था।

(vii) नूरजहाँ जैसे श्रेष्ठ चरित्र की स्त्री अपने पति के हत्यारे को माफ नहीं कर सकती थी, जबकि यह स्पष्ट है कि नूरजहाँ जहाँगीर से प्रेम करती थी।

(viii) मेहरुन्निसा को राज्य-दरबार में इसलिए लाया गया था क्योंकि उसके भाई और पिता वहीं थे।

,इस प्रकार डॉ. बेनीप्रसाद जहाँगीर और नूरजहाँ के पहले के प्रेम की घटना का खण्डन करते हैं और जहाँगीर को शेर अफगन के कत्ल के उत्तरदायित्व से भी मुक्त करते हैं। वह कहते हैं कि "तत्कालीन प्रमाणों का गम्भीर अध्ययन और स्वीकृत तथ्य स्वयं ही इस प्रेम-कथा का निराधार सिद्ध कर देते हैं तथा जहाँगीर और नूरजहाँ का चरित्र अधिक सत्य और अच्छे स्वरूप में प्रकट हो जाता है।"[1] इसी प्रकार, डॉ.

---

1 "An attentive study of contemporary authorities and of the well-established facts themselves knocks the bottom out of the whole romance and the characters of Jahangir and Nur Jahan appear in a truer and more favourable light." —*Dr. Beni Prasad.*

आर. पी त्रिपाठी भी जहाँगीर तथा नूरजहाँ के पहले के प्रेम-सम्बन्धों को स्वीकार नहीं करते। वे लिखते हैं कि जहाँगीर ने असन्तुष्ट होकर शेर अफगन को वर्दवान की दूरस्थ जागीर दी थी। शेर अफगन इस नियुक्ति से असन्तुष्ट था और राजा मानसिंह की भाँति उसने भी वहाँ के अफगान विद्रोहियों को दबाने में कोई तत्परता नहीं दिखायी थी। कुतुबुद्दीन ने शेर अफगन को प्रान्तीय राजधानी 'राजमहल' बुलाया था जिसकी उसने परवाह नहीं की। इस कारण कुतुबुद्दीन स्वयं वर्दवान गया और उसे अपने पास बुलाया जहाँ उसका कत्ल हो गया। जिस समय शेर अफगन का कत्ल हुआ, उस अवसर पर एत्मातुद्दौला (नूरजहाँ का पिता), उसका पुत्र और जहाँगीर कावुल में थे तथा जहाँगीर ने एत्मातुद्दौला से असन्तुष्ट होकर उसके पद से हटा दिया था। इसी कारण मेहरुन्निसा को दरबार में रोका गया था और उसे सलीमा बेगम की सेविका बनाया गया था। डॉ. एस. आर. शर्मा भी इसी पक्ष का समर्थन करते हुए प्रतीत होते हैं; जैसा कि उन्होंने लिखा है : "डॉ. बेनीप्रसाद ने बड़ी योग्यता के साथ छानबीन करके जहाँगीर को इस अपराध से मुक्त कर दिया और यह छानबीन ग्राह्य प्रतीत होती है।"

परन्तु इस मत के विपक्ष में डॉ. ईश्वरीप्रसाद ने निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किये हैं :

(i) जहाँगीर के पक्ष में दिये गये डॉ. बेनीप्रसाद के तर्क नकारात्मक हैं।

(ii) तत्कालीन इतिहासकार अपने विचारों को बादशाह के बारे में प्रकट करने के लिए स्वतन्त्र न थे। आधुनिक इतिहासकार उसकी तुलना में अधिक स्पष्ट कहने की स्थिति में हैं।

(iii) केवल सन्देह-मात्र के आधार पर शेर अफगन को दण्डित करने के आदेश कुतुबुद्दीन को दिये गये थे। कुतुबुद्दीन को बादशाह के असन्तोष के कारण भी नहीं बताये गये थे।

(vi) जहाँगीर ने, जिसने अपने जीवन की न्यूनतम घटनाओं का वर्णन किया था, नूरजहाँ के बारे में तीन वर्ष बाद लिखा। उसने अपने इस विवाह की परिस्थितियों का वर्णन नहीं किया।

(v) जहाँगीर के शेर अफगन के कत्ल की घटना के विवरण में शेर अफगन का कोई जिक्र नहीं किया गया है।

(vi) मेहरुन्निसा को उसके पिता और भाई के पास न भेजकर दरबार में रखना और सलीमा बेगम की सेविका नियुक्त करना सन्देहजनक है।

(vii) जहाँगीर ने मेहरुन्निसा से चार वर्ष के बाद इस कारण विवाह किया जिससे एक तो मेहरुन्निसा को अपनी भावनाओं को शान्त करने का अवसर मिल जाय और दूसरे अन्य व्यक्तियों को सन्देह का कारण न रहे।

इस प्रकार के तर्क देते हुए डॉ. ईश्वरीप्रसाद लिखते हैं, "तत्कालीन तथ्यों का ठीक प्रकार से अध्ययन करने से मस्तिष्क पर यह प्रभाव पड़ता है कि शेर अफगन की मृत्यु की परिस्थितियाँ बहुत ही सन्देहजनक हैं यद्यपि इस बात को सिद्ध करने का ठोस प्रमाण नहीं है कि बादशाह इस अपराध के लिए दोषी था।"[1] एक तत्कालीन

---

1 "A careful persual of contemporary chronicles leaves upon our

डच लेखक डी लायट ने जहाँगीर के शाहजादा-काल में मेहरुन्निसा के प्रति उसके प्रेम का वर्णन किया है। उसने लिखा है कि "क्योंकि उसकी मँगनी शेर अफगन से हो गयी थी, इस कारण उसके पिता ने उसे उससे विवाह करने की आज्ञा नहीं दी। परन्तु वह उसके प्रति अपने प्रेम को कभी न भूल सका।"

डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव का झुकाव भी जहाँगीर और नूरजहाँ के पहले प्रेम-सम्बन्धों की ओर है। वह लिखते हैं : "इस कथानक में दो विचारणीय विषय हैं—एक जहाँगीर का अपने शाहजादा-काल में मेहरुन्निसा से विवाह की इच्छा और दूसरा उसका शेर अफगन की मृत्यु में उत्तरदायित्व। पहले के विषय में डॉ. बेनी प्रसाद की धारणा का कोई स्पष्ट आधार नहीं है। अकबर ने जैनखाँ कोका की पुत्री से सलीम के विवाह के लिए एक बार पहले इन्कार कर दिया था। शेर अफगन से मेहरुन्निसा की मँगनी हो जाना तो उसके मना करने का ही कारण हो सकता था।" वह लिखते हैं कि डी लायट के कथन में किसी पक्षपात की गुंजाइश नहीं है और उसका विवरण उत्तरकालीन मुस्लिम इतिहासकारों के विवरणों की पुष्टि करता है। जहाँगीर के चरित्र को देखते हुए यह कोई असम्भव बात भी नहीं लगती। दूसरे के विषय में वह लिखते हैं : "यद्यपि शेर अफगन की मृत्यु के लिए जहाँगीर को दोषी ठहराने के कोई स्पष्ट और अकाट्य प्रमाण नहीं मिलते और राजा मान-सिंह को बंगाल की सूबेदारी से हटाने का कारण यह नहीं माना जा सकता परन्तु यह भी स्पष्ट है कि शेर अफगन पर कोई निश्चित आरोप न था और यदि था भी तो वह उससे अनभिज्ञ था और उसे अपनी निर्दोषिता को सिद्ध करने के लिए कोई अवसर नहीं दिया गया था। उसका आकस्मिक अन्त, उसका अन्त करने के लिए प्रयोग में लाये जाने वाले साधन, जहाँगीर की मृत शेर अफगन के प्रति प्रकट की गयी घृणा और उसका नूरजहाँ के विषय में उल्लेख न करना आदि सभी सन्देहजनक हैं।" वह लिखते हैं : "मेहरुन्निसा को सलीमा बेगम की सेविका नियुक्त करने का कारण मेहरु-न्निसा को इस विवाह के लिए तैयार करना था और चार वर्ष बाद विवाह करना तथा उसका उल्लेख तीन वर्ष बाद करना सन्देह-निवारण के हेतु किये गये थे।"

जिस समय जहाँगीर से नूरजहाँ का विवाह हुआ था, उस समय जहाँगीर की आयु प्रायः 42 वर्ष और नूरजहाँ की आयु प्रायः 34 वर्ष थी। नूरजहाँ उस आयु में भी बहुत सुन्दर थी। वह शिक्षित और तीक्ष्ण बुद्धि की थी। कविता, संगीत और चित्रकला का उसे शौक था। उसने फारसी में कविताएँ लिखी थीं। उसने एक पुस्त-कालय का निर्माण कराया था जिसमें बहुत बड़ी संख्या में विख्यात पुस्तकों का संग्रह किया गया। वस्त्र, श्रृंगार और आभूषणों का उसे शौक था और उसमें उसने नये-नये ढंग और तरीके निकाले थे। जहाँगीर से अपने विवाह के अवसर पर उसने एक बहुत सुन्दर पोशाक तैयार की थी जिसे **नूरमहली** के नाम से पुकारा गया और जो आगामी कई वर्षों तक हरम की स्त्रियों में लोकप्रिय बनी रही। शासन में उसे रुचि

3. नूरजहाँ का चरित्र

---

minds the impression that the circumstances of Sher Afghan's death are of a highly suspicious nature, although there is no conclusive evidence to prove that the Emperor was guilty of the crime."

—*Dr. Ishwari Prasad.*

थी और उसमें समस्याओं का हल निकालने की कुशलता थी। वह धैर्यवान और साहसी थी। वह धार्मिक, सदाचारी और चरित्रवान थी। जहाँगीर के प्रति उसे प्रेम था। उसी के प्रभाव के कारण जहाँगीर ने अपनी शराब पीने की मात्रा कम कर दी थी। उसका एक विशेष गुण करुणा और उदारता था। वह विद्वानों और निर्धनों की सहायता करती थी और उसने सैकड़ों निर्धन लड़कियों के विवाह कराये थे। परन्तु नूरजहाँ के चरित्र की एक विशेषता उसकी महत्वाकांक्षाएँ भी थीं। उसने शासन में हस्तक्षेप किया, अपने प्रभाव को बढ़ाया और सत्ता को अपने हाथ में रखने का प्रयत्न किया। कहा गया है कि 'सम्पूर्ण मुगल इतिहास में मुगल बेगमों का शासन में प्रभाव रहा था।' यह कथन नूरजहाँ से अधिक किसी अन्य पर इतनी अधिक सत्यता से लागू नहीं होता।

4. नूरजहाँ की राजनीति और इतिहास पर प्रभाव

विवाह के समय से ही नूरजहाँ का प्रभाव बढ़ने लगा। वह जहाँगीर की प्रमुख बेगम बन गयी और उसके पिता, भाई तथा अन्य सम्बन्धियों के पदों में वृद्धि हुई। यह कहना तो अनुचित होगा कि उसके पिता एत्मातुद्दौला और भाई आसफखाँ के राज्य में श्रेष्ठ पद प्राप्त करने का कारण वही थी क्योंकि वे स्वयं भी योग्य और वफ़ादार सिद्ध हुए थे। परन्तु इसमें भी सन्देह नहीं कि नूरजहाँ भी उनकी उन्नति के लिए उत्तरदायी थी। शासन में उसका प्रभाव दिन प्रतिदिन बढ़ता गया। किसी भी स्त्री को उस समय तक भूमि दान नहीं दी जाती थी जब तक नूरजहाँ की स्वीकृति न ली गयी हो। उसने जहाँगीर के साथ 'झरोखा-दर्शन' में भाग लेना आरम्भ कर दिया, बहुत से सिक्कों पर उसका नाम आने लगा और बादशाह के आदेश पत्रों पर बादशाह के हस्ताक्षरों के अतिरिक्त बेगम नूरजहाँ का नाम भी आने लगा। एक प्रकार से शासन-सत्ता बेगम नूरजहाँ के हाथों में चली गयी। राज्य सम्बन्धी कोई भी महत्वपूर्ण निर्णय नूरजहाँ की स्वीकृति के बिना सम्भव न था। जहाँगीर अक्सर कहा करता था कि उसने बादशाहत बेगम नूरजहाँ को दे दी है। उसने कहा था कि "मुझे एक सेर शराब और आधा सेर माँस के अतिरिक्त कुछ नहीं चाहिए।"[1] निस्सन्देह ऐसी स्थिति में शासन पर नूरजहाँ का प्रभाव आना आवश्यक था।

नूरजहाँ के प्रभुत्व के काल को दो भागों में बाँटा जा सकता है। प्रथम, 1611 से 1622 तक का समय जबकि उसके माता-पिता जीवित थे और उसकी महत्वाकांक्षाओं को सीमित रखने में सफल हुए थे। यह समय ऐसा था जब नूरजहाँ और शाहजहाँ एक दूसरे के साथ थे। दूसरा समय 1622 से 1627 तक का था। 1621 में नूरजहाँ की माँ अस्मत बेगम की मृत्यु हो गयी और 1622 में उसके पिता एत्मातुद्दौला की मृत्यु हो गयी। इस कारण, उसकी महत्वाकांक्षाओं को सीमित करने वाले उसके माता-पिता इस समय में न रहे जबकि जहाँगीर ने अपना स्वास्थ्य खराब हो जाने के कारण शासन में नूरजहाँ को बहुत अधिक स्वतन्त्रता दे दी। यह समय ऐसा था जबकि नूरजहाँ और शाहजहाँ एक दूसरे के विरोध में हो गये।

अपने विवाह के पश्चात् कुछ वर्षों में ही नूरजहाँ ने अपना एक दल बना लिया

---

1 "I require nothing beyond a *sir* of wine and half a *sir* of meat."
—*Jahangir.*

था जिसे 'नूरजहाँ गुट' के नाम से पुकारा गया है। इस दल में नूरजहाँ, उसका पिता एत्मातुद्दौला, उसकी माँ अस्मत बेगम, उसका भाई आसफखाँ और शाहजादा खुर्रम था। इनमें से प्रत्येक योग्य था और प्रत्येक राज्य में प्रतिष्ठित पद प्राप्त किये हुए था। शाहजादा खुर्रम जिसे बाद में 'शाहजहाँ' की पदवी से विभूषित किया गया, राज्य का उत्तराधिकारी समझा जाता था और आसफखाँ की पुत्री अर्जुमन्दबानू बेगम से उसका विवाह हुआ था (1612)। एत्मातुद्दौला ने 1619 तक ही 7,000 जात और 7,000 सवार का पद प्राप्त कर लिया था। आसफखाँ ने 1622 तक 6,000 सवार और 6,000 जात का पद प्राप्त कर लिया था और शाहजादा खुर्रम को बादशाह के दाहिनी ओर बैठने का स्थान, 'शाहजहाँ' की उपाधि तथा 30,000 जात और 20,000 सवार का पद दिया गया था। यह समय इस गुट और नूरजहाँ की प्रभुसत्ता का था। इस दल के विरोधी पुराने सरदार और ऐसे सरदार थे, जो शासन में नूरजहाँ बेगम के बढ़ते हुए प्रभाव को पसन्द नहीं करते थे। परन्तु वे दुर्बल स्थिति में थे और जहाँगीर उनकी सलाह को सुनने के लिए तैयार न था। इस प्रकार 1622 तक नूरजहाँ ने इस दल की सहायता से अपनी प्रतिष्ठा और प्रभाव को स्थापित रखा।

1621 में नूरजहाँ ने शेर अफगन से हुई अपनी पुत्री लाड़ली बेगम का विवाह शाहजादा शहरयार से कर दिया तथा उसे 8,000 जात और 4,000 सवार का पद दिया। उस समय से उसकी इच्छा में परिवर्तन हो गया। उसने शाहजहाँ की शक्ति को समाप्त करने का निश्चय किया। जहाँगीर का स्वास्थ्य खराब होता जा रहा था और बहुत लम्बे समय तक उसके जीवन की आशा नहीं की जा सकती थी। जहाँगीर की मृत्यु के पश्चात् शाहजहाँ के बादशाह बन जाने से नूरजहाँ शासन-सत्ता का उपभोग नहीं कर सकती थी क्योंकि शाहजहाँ जैसा योग्य और अहम्‌वादी व्यक्ति सत्ता में साझीदारी करने को तैयार नहीं हो सकता था। डॉ. बेनीप्रसाद ने लिखा है : "एक ही साम्राज्य में नूरजहाँ और शाहजहाँ जैसे दो सत्ताप्रिय व्यक्तियों के लिए स्थान नहीं हो सकता था।"[1] शाहजादा शहरयार कम आयु और दुर्बल चरित्र का था। यदि शहरयार बादशाह बन सकता तो सत्ता नूरजहाँ के हाथों में रह सकती थी। डॉ. बेनीप्रसाद ने लिखा है : "कम आयु (16 वर्ष), आज्ञाकारी स्वभाव, दुर्बल मस्तिष्क और दुर्बल चरित्र का शहरयार एक सत्ताप्रिय महिला के लिए उपयुक्त साधन था।"[2] इस कारण, नूरजहाँ ने जहाँगीर की मृत्यु के पश्चात् शहरयार को सिंहासन पर बैठाने की योजना बनायी। इस समय तक उसके माता-पिता की मृत्यु हो चुकी थी जो उसे समझा पाते। ऐसी स्थिति में जब नूरजहाँ ने शाहजहाँ की शक्ति को नष्ट करने का प्रयत्न किया तब शाहजहाँ ने विद्रोह कर दिया। डॉ. आर. पी. त्रिपाठी ने लिखा है कि 'शाहजहाँ का स्वयं का व्यवहार, बादशाह की आज्ञा के पालन में टालमटोल करना और सत्ता को प्राप्त करने की लालसा, उसके विद्रोह का कारण थे।' परन्तु तब भी यह विश्वास किया जाता है कि शाहजहाँ के विद्रोह का

---

1 "In a single empire there was no room for two such masterful spirits as Nur Jahan and Shah Jahan." —*Dr. Beni Prasad.*

2 "The tender age (16), docile nature, feeble mind and imbecile character of Shahriyar marked him out as the proper instrument for a masterful lady." —*Dr. Beni Prasad.*

प्रमुख कारण नूरजहाँ की सत्ताप्रियता थी। शाहजहाँ का विद्रोह तीन वर्ष तक रहा। उसने जहाँगीर के अन्तिम दिनों को अशान्त किया और साम्राज्य की शक्ति को दुर्बल किया। डॉ. ए. आर. शर्मा ने लिखा है : "इस प्रकार तीन वर्ष के रक्तपात और धन तथा जन की हानि के पश्चात् यह निष्फल विद्रोह समाप्त हुआ, जिससे साम्राज्य की परेशानियाँ बढ़ने और उसे दुर्बल करने के अतिरिक्त लाभ किसी को न हुआ।"[1]

1626 में महाबतखाँ ने विद्रोह किया और उसने बादशाह जहाँगीर को व्यक्तिगत रूप से बन्दी बनाकर नूरजहाँ के प्रभाव को समाप्त करने का प्रयत्न किया। महाबतखाँ सिंहासन के लिए वफादार था और वह एक योग्य सेनापति था। परन्तु वह उन व्यक्तियों में से था जो जहाँगीर पर नूरजहाँ के बढ़ते हुए प्रभाव से असन्तुष्ट थे। नूरजहाँ इस बात को जानती थी। इस कारण, जिस महाबतखाँ ने नूरजहाँ से पहले निरन्तर अपने पद में वृद्धि पायी थी, वह नूरजहाँ के समय में कोई पदवृद्धि न कर पा सका था बल्कि उसे अफगानिस्तान की सीमा पर भेज दिया गया था। परन्तु महाबतखाँ अपने समय का योग्यतम सेनापति था। शाहजहाँ के विद्रोह को दबाने के लिए शाहजादा परवेज के साथ उसे लगाया गया। महाबतखाँ के कारण ही शाहजहाँ का विद्रोह दबाया जा सका। इससे उसके सम्मान में वृद्धि हुई और वह शाहजादा परवेज का समर्थक बन गया। नूरजहाँ इन दोनों बातों को सहन न कर सकी। उसने महाबतखाँ की शक्ति को तोड़ने और उसे अपमानित करने का निश्चय किया जिसके कारण महाबतखाँ को जहाँगीर को बन्दी बनाने के लिए बाध्य होना पड़ा। यह विद्रोह नूरजहाँ की योग्यता के कारण असफल हो गया। प्रायः एक माह के पश्चात् ही महाबतखाँ को भागना पड़ गया। अन्त में, उसने शाहजहाँ की सेवा स्वीकार कर ली। परन्तु इससे बादशाह जहाँगीर को दुख और असम्मान उठाना पड़ा, और उसने राज्य के एक वफादार तथा योग्य सेनापति को खो दिया। डॉ. आर. पी. त्रिपाठी का कहना है कि इस सम्पूर्ण घटना में मुख्य हाथ आसफखाँ का था जो महाबतखाँ और परवेज की शक्ति को समाप्त करना चाहता था जिससे उसके दामाद (शाहजहाँ) के गद्दी पर बैठने में कोई बाधा न आये। नूरजहाँ अपने भाई की इस कूट-नीति को न समझ सकी और महाबतखाँ को खो बैठी। यह माना जा सकता है कि महाबतखाँ के पतन में आसफखाँ का गुप्त हाथ रहा हो परन्तु यह भी स्वीकार करना पड़ता है कि स्वयं नूरजहाँ भी महाबतखाँ की शक्ति को समाप्त करना चाहती थी।

इस प्रकार, राजनीति में नूरजहाँ के हस्तक्षेप ने जहाँगीर के अन्तिम दिनों में दो विद्रोहों को जन्म दिया जिन्होंने साम्राज्य की शक्ति और सम्मान को कम किया। यदि नूरजहाँ शासन-शक्ति को अपने हाथों में रखने के उद्देश्य से शहरयार को राज-सिंहासन दिलाने के लिए लालायित न होती तो सम्भवतया शाहजहाँ विद्रोह के लिए तैयार न होता और महाबतखाँ के विद्रोह का प्रश्न ही न उठता। इस प्रकार, नूरजहाँ का राजनीति में हस्तक्षेप हानिकारक हुआ। डॉ. एस. आर. शर्मा, डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव और डॉ. सक्सेना का यही मत है, यद्यपि डॉ. आर. पी. त्रिपाठी शाहजहाँ

---

1 "Thus ended the futile rebellion after three years of bloodshed and wastage in men and money, to nobody's advantage but the considerable distraction and weakening of the empire,"

—*Dr. S. R. Sharma.*

और महाबतखाँ के विद्रोह के कारणों पर प्रकाश डालते हुए नूरजहाँ को इस दोष से पूर्णतया मुक्त करते हैं।

[5]

शाहजहाँ और महाबतखाँ के विद्रोह

जिस समय से नूरजहाँ ने अपनी पुत्री (शेर अफगन से) लाड़ली बेगम की शादी शहरयार से की तब से शाहजहाँ के प्रति उसके व्यवहार में अन्तर हो गया।

1. शाहजहाँ का विद्रोह (1623-1626)

उसने जहाँगीर की मृत्यु के पश्चात् शाहजहाँ के स्थान पर शहरयार को गद्दी पर बैठाने की लालसा की। इस कारण, उसने शाहजहाँ की प्रतिष्ठा और शक्ति को कम करने की योजना बनायी। 1621 में उसकी माँ अस्मत बेगम की मृत्यु हो गयी और 1622 के आरम्भ में उसके पिता एत्मातुद्दौला की मृत्यु हो गयी। एत्मातुद्दौला की मृत्यु के पश्चात् उसके शासन-सम्बन्धी अधिकार नूरजहाँ को दे दिये गये। इसमें नूरजहाँ की शक्ति और सम्मान में वृद्धि हुई परन्तु उसको समझाने वाला कोई न रहा। शाहजहाँ स्वयं भी नूरजहाँ की बढ़ती हुई शक्ति से शंकित हो गया। जहाँगीर का स्वास्थ्य खराब चल रहा था। ऐसी स्थिति में इन दो महत्वाकांक्षी व्यक्तियों में टकराव के कारण उपस्थित हो गये।

1621 के अन्तिम दिनों में पर्शिया ने कन्धार पर आक्रमण किया और 1622 के आरम्भ में कन्धार के किले का घेरा डाल दिया गया। जहाँगीर ने शाहजहाँ को कन्धार की रक्षा के लिए जाने के आदेश दिये। शाहजहाँ ने, जो नूरजहाँ की ओर से शंकित था, इस बात की माँग की कि सम्पूर्ण पंजाब और रोहतासगढ़ का दुर्ग उसे दे दिया जाय। तब वर्षा के पश्चात् वह कन्धार जायगा। नूरजहाँ ने शाहजहाँ के टालमटोल करने का लाभ उठाया और जहाँगीर को भड़काया। परन्तु जैसा कि डॉ. आर. पी. त्रिपाठी ने लिखा है कि यदि शाहजहाँ के प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया जाता तो वास्तव में उसे सम्पूर्ण गुजरात, राजस्थान का अधिकांश भाग, मालवा, दक्षिण-भारत और पंजाब की सत्ता प्राप्त हो जाती। हो सकता था कि वह बाद में काबुल का आधिपत्य भी माँगता। ऐसी स्थिति में मुगल बादशाह के पास दिल्ली, आगरा, इलाहाबाद, बंगाल और बिहार के अतिरिक्त कुछ न रहता। शाहजहाँ की इस माँग को स्वीकार नहीं किया गया और उसे अपनी सेना को भेजने के आदेश दिये गये। इसी समय शाहजहाँ ने अपने सैनिकों को धौलपुर की जागीर पर अधिकार करने के लिए भेजा। शाहजहाँ ने इस जागीर को जहाँगीर से माँगा था और उसे आशा थी कि वह उसे प्राप्त हो जायेगी। परन्तु नूरजहाँ ने उससे पहले ही उस जागीर को शहरयार के नाम करा दिया था। इस कारण, जब शाहजहाँ के सैनिक धौलपुर पहुँचे तो शहरयार के फौजदार से उनका झगड़ा हो गया। इससे भी जहाँगीर असन्तुष्ट हुआ और उसने शाहजहाँ को आदेश दिया कि वह अपनी सम्पूर्ण सेना को दरबार में भेज दे। शाहजहाँ ने इस आज्ञा का पालन नहीं किया। बल्कि जैसा कि डॉ. त्रिपाठी ने लिखा है: "उसने अपने राजदूत जहीदबेग को पर्शिया के शाह के लिए उपहार लेकर भेजा और दक्षिण तथा गोंडवाना के राज्यों से रसद एकत्रित करनी आरम्भ कर दी।" जहाँगीर ने शहरयार को 12,000 जात और 8,000 सवार का पद दिया और कन्धार की सुरक्षा के लिए उसे नियुक्त किया। डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव के अनुसार शाहजहाँ के माफी माँगने के पश्चात् भी पंजाब की

जागीरें, जिसमें हिसार भी था, शहरयार को सौंप दी गयीं जबकि डॉ. आर. पी. त्रिपाठी के अनुसार शाहजहाँ के पत्रों की भाषा उद्दण्डता और नूरजहाँ के प्रति घृणा से पूर्ण थी। जिस प्रकार भी हो, यह निश्चित था कि शाहजहाँ ने बादशाह की आज्ञा का पालन नहीं किया और विद्रोह के लिए तत्पर हो गया। शाहजहाँ के व्यवहार से शंकित होकर नूरजहाँ ने महावतखाँ को काबुल से बुला लिया और उसे 6,000 जात और 5,000 सवार का पद दिया। आसफखाँ को आगरा से शाही खजाने को लाने के लिए भेजा गया।

कन्धार के लिए समय से सहायता न पहुँच सकी और 1622 में पर्शिया ने कन्धार पर अधिकार कर लिया। इसी समय शाहजहाँ ने विद्रोह कर दिया। जहाँगीर ने शाहजादा परवेज को बिहार से बुलाया, सभी स्वामिभक्त सरदारों को एकत्रित होने के आदेश दिये और महावतखाँ तथा शाहजादा परवेज को विद्रोह को दबाने के लिए नियुक्त किया। स्वयं जहाँगीर और नूरजहाँ भी 1623 में अजमेर पहुँचे गये।

शाहजहाँ ने माण्डू से आगे बढ़कर अचानक आगरा पर आक्रमण किया। परन्तु बिल्लोचपुरा के निकट उसकी पराजय हुई और उसे माण्डू वापस जाना पड़ा। शाहजादा परवेज और महावतखाँ ने उसका पीछा किया। शाहजहाँ असीरगढ़ चला गया और सम्पूर्ण गुजरात उसके हाथों से निकल गया। शाहजहाँ असीरगढ़ से बुरहानपुर गया और उसने अहमदनगर के मलिक अम्बर तथा बीजापुर के सुल्तान से सहायता माँगी। परन्तु उसे सहायता न मिली। महाबतखाँ ने बुरहानपुर पर अधिकार कर लिया। शाहजहाँ की स्थिति बहुत खराब थी। उसके साथी उसका साथ छोड़ रहे थे। उसका मुख्य सलाहकार, अब्दुर्रहीम खानखाना भी शाही सेना से मिल गया। शाहजहाँ बीजापुर, तैलंगाना आदि स्थानों पर होता हुआ उड़ीसा गया। उड़ीसा पर उसका अधिकार सरलता से हो गया और बंगाल को उसने युद्ध करके जीत लिया। अब शाहजहाँ ने बिहार की ओर कदम उठाया। सम्पूर्ण बिहार, रोहतासगढ़ का दुर्ग, जौनपुर, पटना आदि उसके अधिकार में आ गये। शाहजहाँ जब इलाहाबाद का घेरा डाले हुआ था तब बुरहानपुर को सुरक्षित करके महाबतखाँ इलाहाबाद के निकट पहुँचा और शाहजहाँ को युद्ध के लिए बाध्य किया। शाहजहाँ की पराजय हुई और उसे भागना पड़ा। शाहजहाँ बिहार, बंगाल, तैलंगाना और बीजपुर होता हुआ पुनः अहमदनगर की भूमि पर पहुँचा। महाबतखाँ उसका पीछा कर रहा था। इस अवसर पर बीजापुर और अहमदनगर में युद्ध चल रहा था, और मुगल बीजापुर की सहायता कर रहे थे। इस कारण मलिक अम्बर ने शाहजहाँ को सहायता दी। शाहजहाँ ने बुरहानपुर का घेरा डाला परन्तु महाबतखाँ के पहुँच जाने के कारण उसे घेरा उठाना पड़ा और उसने बालाघाट में रोहनगढ़ के किले में जाकर शरण ली। इसी समय शाहजहाँ बीमार पड़ गया। उसका मुख्य सहायक अब्दुल्लाखाँ उसे छोड़कर संन्यासी हो गया। ऐसी परिस्थिति में शाहजहाँ ने बादशाह से माफी माँगी। उसे रोहतासगढ़ और असीरगढ़ के किले बादशाह को देने पड़े तथा अपने पुत्र दाराशिकोह और औरंगजेब को दरबार में भेजना पड़ा। इन शर्तों पर जहाँगीर ने उसे माफ कर दिया और बालाघाट की सूबेदारी उसे दे दी।

इस प्रकार, तीन वर्ष के संघर्ष के पश्चात् शाहजहाँ का विद्रोह समाप्त हुआ। शाहजहाँ की असफलता का कारण उसकी गलत आशाएँ थीं। उसने सोचा था कि

जहाँगीर अपनी बीमारी के कारण स्वयं नेतृत्व न कर सकेगा, उसका ससुर आसफ़खाँ जो राज्य का दीवान था उसकी सहायता करेगा, बेगम नूरजहाँ से असन्तुष्ट सरदार उसका साथ देंगे, उसकी सेनापतित्व की ख्याति के कारण अन्य विभिन्न सरदार भी उसके साथ हो जायेंगे, स्वयं उसकी सेना बहुत बड़ी थी जबकि बादशाह से इतनी बड़ी सेना को एकत्रित करने की आशा न थी। पर्शिया द्वारा कन्धार को जीतने से साम्राज्य की उत्तर-पश्चिम सीमाएँ आरक्षित हो गयी थीं जिससे बादशाह को वहाँ से सेनाएँ हटाने का अवसर न मिल सकेगा और ऐसी परिस्थितियों में उसे शीघ्र ही सफलता प्राप्त हो जायेगी। परन्तु ऐसा कुछ नहीं हुआ। जहाँगीर ने बीमारी के होते हुए भी उत्साह दिखाया, महाबतखाँ जैसा योग्य सेनापति और अन्य विभिन्न सरदार तुरन्त बादशाह की सेवा में आ गये, आसफखाँ ने इस समय शाहजहाँ को सहायता देना ठीक न समझा। दक्षिण-भारत से शाहजहाँ को कोई विशेष सहायता न मिली और पर्शिया ने कन्धार को जीतकर आगे कोई कदम नहीं उठाया। इस कारण, शाहजहाँ को असफलता मिली और उसे बिना किसी शर्त के आत्मसमर्पण करना पड़ा।

महाबतखाँ राज्य-भक्त था यद्यपि वह उन सरदारों में से था जो नूरजहाँ के शासन में बढ़ते हुए हस्तक्षेप को पसन्द नहीं करते थे। शाहजहाँ के विद्रोह के अवसर पर वह प्रसन्नता से जहाँगीर के साथ हो गया। शाहजहाँ के विद्रोह को समाप्त करने का मुख्य श्रेय महाबतखाँ को गया।

2. महाबतखाँ का विद्रोह (मार्च 1626)

इससे महाबतखाँ के सम्मान और शक्ति में वृद्धि हुई। इसके अतिरिक्त, इस समय में उसने शाहजादा परवेज के साथ रहकर कार्य किया। इस कारण वह परवेज के निकट हो गया। नूरजहाँ को यह पसन्द न था। वह जानती थी कि महाबतखाँ राज्यभक्त है परन्तु उसकी सत्ता को पसन्द नहीं करता। वह यह भी नहीं चाहती थी कि महाबतखाँ जैसा योग्य सरदार परवेज का सहायक बन जाय। ऐसी स्थिति में परवेज उसके दामाद शहरयार का प्रतिद्वन्द्वी बन सकता था। डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव के अनुसार, "नूरजहाँ ने महाबतखाँ की शक्ति को तोड़ने का निश्चय किया।" डॉ. आर. पी. त्रिपाठी के अनुसार, "महाबतखाँ का मुख्य शत्रु नूरजहाँ का भाई आसफखाँ था जो अपने दामाद (शाहजहाँ) के पक्ष को दृढ़ करने के लिए महाबतखाँ को नष्ट करना चाहता था। नूरजहाँ अपने भाई की कूटनीति को न समझ सकी और इस कार्य में वह आसफखाँ की सहायक बन गयी।" जैसा भी हो, परन्तु यह स्पष्ट है कि महाबतखाँ की शक्ति को तोड़ने के प्रयत्न शाही दरबार के द्वारा किये गये।

महाबतखाँ को बंगाल जाने के आदेश दिये गये। शाहजादा परवेज को बुरहानपुर भेजा गया तथा ख़ानजहाँ को परवेज के साथ भेजा गया। यह परवेज और महाबतखाँ को पृथक् करना था। महाबतखाँ और परवेज दोनों ने इसे स्वीकार कर लिया। इसके पश्चात् महाबतखाँ को आदेश दिया गया कि वह बंगाल और बिहार के युद्ध के अवसर पर पकड़े हुए हाथियों को दरबार में भेजे और उस अवसर पर प्राप्त किये हुए धन का हिसाब दे। महाबतखाँ ने हाथी तो भेज दिये, परन्तु उसने समझ लिया कि यह उसे नष्ट करने का प्रयत्न है। इस कारण, वह स्वयं बादशाह से मिलने चल दिया। इस समय जहाँगीर काबुल जा रहा था और पंजाब में बेहत नदी के तट पर था। इसी समय जहाँगीर ने महाबतखाँ के दामाद बरखुरदार को अपमानित

किया और उसकी सम्पत्ति छीन ली। उसका आधार यह लिया गया कि महाबतखाँ ने बिना शाही आज्ञा के अपनी पुत्री की शादी उससे निश्चित की थी।

जिस समय महाबतखाँ अपने राजपूत सैनिकों को लेकर शाही शिविर के निकट पहुँचा, उस समय बादशाह की अधिकांश सेना, आसफखाँ और नूरजहाँ स्वयं नदी पार कर चुके थे परन्तु जहाँगीर अभी शिविर में था। महाबतखाँ ने बादशाह के सामने पहुँचकर उससे न्याय की माँग की और अपने साथ चलने के लिए कहा। जहाँगीर को उसकी बात माननी पड़ी और एक प्रकार से वह महाबतखाँ का बन्दी हो गया यद्यपि महाबतखाँ का कहना यह था कि वह बादशाह को उसके सम्बन्धियों के कुप्रभाव से बचाने के लिए यह कार्य कर रहा था। जब नूरजहाँ को इस बात की सूचना मिली कि महाबतखाँ ने जहाँगीर को कैद कर लिया है तब उसने आसफखाँ को इसके लिए दोषी ठहराया। सर्वसम्मति से यह निश्चय किया गया कि नदी पार करके महाबतखाँ पर आक्रमण किया जाय। जहाँगीर ने नूरजहाँ को समाचार भेजा कि वह ऐसा कोई काम न करे जिससे साम्राज्य की प्रतिष्ठा को धक्का लगे। परन्तु तब भी नूरजहाँ ने नदी पार करने का आदेश अपनी सेना को दे दिया और उसने स्वयं सेना का नेतृत्व किया। नूरजहाँ की सेना का कुछ ही भाग नदी पार जा सका और उसे भी राजपूतों ने मारकर भगा दिया। बेगम की दासी को तीर लगा और उसके हाथी पर हमला किया गया जिसके कारण वह भाग खड़ा हुआ। आसफखाँ अटक के किले में भाग गया परन्तु नूरजहाँ ने आत्मसमर्पण कर दिया और जहाँगीर के साथ रहने के लिए आ गयी। महाबतखाँ ने अटक को घेरकर आसफखाँ को आत्म-समर्पण के लिए बाध्य किया। इस प्रकार, बादशाह, बेगम और आसफखाँ, आदि महाबतखाँ के हाथ में आ गये और उसका उद्देश्य पूरा हो गया।

महाबतखाँ का आशय सिर्फ इतना ही था, और वह यह भी उत्साह में परि-स्थितियोंवश कर गया था। भविष्य की उसकी कोई योजना न थी। पहले के निश्चित कार्यक्रम के अनुसार शाही परिवार काबुल की तरफ चल दिया। साम्राज्य में उसी प्रकार शान्ति रही। परन्तु महाबतखाँ सैनिक था, कूटनीतिज्ञ नहीं, जबकि नूरजहाँ ने आरम्भ से ही अपना जाल फैलाना आरम्भ कर दिया। इस कारण, महाबतखाँ बहुत थोड़े समय तक इस स्थिति का उपभोग कर सका। काबुल में घोड़ों को घास चराने के स्थल पर राजपूतों और बादशाह के अहदी सैनिकों में झगड़ा हो गया और एक बड़ी संख्या में राजपूत सैनिक मारे गये। महाबतखाँ ने विद्रोह को दबा दिया परन्तु उसकी शक्ति दुर्बल हो गयी और उसकी लोकप्रियता समाप्त हो गयी। काबुल में वापस आते हुए रोहतासगढ़ के निकट महाबतखाँ से माँग की गयी कि जहाँगीर स्वयं अपनी सेना का निरीक्षण करेगा, और उस अवसर पर महाबतखाँ अपनी सेना को दूर रखे। इस समय तक नूरजहाँ ने बादशाह के सैनिकों की संख्या में वृद्धि कर ली थी। सेना का निरीक्षण करने के बहाने जहाँगीर ने सेना का स्वामित्व अपने हाथों में ले लिया। महाबतखाँ, जिसने बादशाह की आज्ञा का पालन करते हुए अपनी सेना को दूर रखा था, नूरजहाँ की इस चालाकी को न समझ सका था। सेना का स्वामित्व लेते ही जहाँगीर ने महाबतखाँ को शाही शिविर छोड़ देने के आदेश दिये। इस समय बादशाह की सेना का मुकाबला करना खुला विद्रोह था जिसके लिए महाबतखाँ तैयार न था और न उसके पास शक्ति रह गयी थी। महाबतखाँ थट्टा की ओर भाग खड़ा हुआ परन्तु अपनी जीवन-रक्षा के हेतु आसफखाँ और दानियाल के

पुत्रों को अपने साथ लेता गया। जैसे ही उसने अपने जीवन को सुरक्षित समझा, उसने उन सभी को छोड़ दिया। इस समय शाहजहाँ बादशाह की कठिकाई से लाभ उठाने के लिए थट्टा की तरफ आया यद्यपि उसे सफलता न मिली और अपनी बीमारी के कारण वह फिर दक्षिण वापस चला गया। वापस जाते हुए गुजरात में ही उसे शाहजादा परवेज की मृत्यु (28 अक्टूबर, 1626) और महाबतखाँ के पतन की सूचना मिल गयी। जहाँगीर ने महाबतखाँ को शाहजहाँ को दबाने के लिए नियुक्त किया, परन्तु अब महाबतखाँ बादशाह का साथ देने के स्थान पर शाहजहाँ के पास चला गया जिसने उसका स्वागत किया।

इस प्रकार महाबतखाँ का अल्पकालीन प्रभुत्व समाप्त हुआ। देखा जाय तो महाबतखाँ ने यह कार्य क्षणिक उत्साह में किया था, उसकी कोई पहले से निश्चित की गयी योजना न थी, बादशाह और बेगम को कैद करने के पश्चात् भी वह उनका बहुत सम्मान करता रहा था और वह कभी भी बादशाह जहाँगीर को समाप्त करने या उसे भारत से बाहर निकालकर स्वयं अथवा किसी अन्य को गद्दी पर बैठाने के लिए तैयार न था। ऐसी स्थिति में कूटनीति के द्वारा वह बादशाह पर प्रभाव रख सकता था परन्तु वह योग्यता उसमें न थी। उसकी तुलना में नूरजहाँ अधिक चालाक थी और उसने अपनी चालाकी से जहाँगीर को मुक्त करा लिया।

[6]
जहाँगीर की मृत्यु

1620 से जहाँगीर का स्वास्थ्य निरन्तर खराब होता जा रहा था। निरन्तर कश्मीर की यात्राएँ और वहाँ की अच्छी जलवायु भी उसके स्वास्थ्य को ठीक न कर सकी थी। मार्च 1627 में जहाँगीर कश्मीर गया। उसका स्वास्थ्य बहुत खराब हो गया। कश्मीर की जलवायु से भी उसके स्वास्थ्य में सुधार न हो सका और वह लाहौर वापस चल दिया। मार्ग में 7 नवम्बर, 1627 को भीमावर नामक स्थान पर जहाँगीर की मृत्यु हो गयी। लाहौर के निकट एक बाग में उसे दफना दिया गया जहाँ बाद में नूरजहाँ ने उसकी कब्र पर एक सुन्दर स्मारक बनवाया।

[7]
जहाँगीर का चरित्र, व्यक्तित्व और इतिहास में स्थान

जहाँगीर के चरित्र के विषय में इतिहासकारों ने विवादात्मक मत प्रकट किये हैं। यूरोपियन इतिहासकारों ने प्रायः उसे एक विलासी और असफल शासक बताया है, जबकि अनेक भारतीय इतिहासकारों ने उसे एक न्यायप्रिय और प्रजापालक शासक बताया है। डॉ. स्मिथ ने जहाँगीर के चरित्र का वर्णन करते हुए लिखा है कि "वह कोमल और निष्ठुर, न्याय और बुद्धि की चंचलता, सुसभ्यता और पशुता, बुद्धिमत्ता और बचपने का अजीब मिश्रण था।"[1] सर हेनरी इलियट ने कहा है: "उसके बनाये हुए कानून न तो नवीन थे और न ही व्यवहार में लाये गये थे।" लेनपूल ने उसके आरम्भ के दोषों को स्वीकार किया परन्तु बाद में उसे उन दोषों से पर्याप्त मात्रा में मुक्त बताया और एलफिन्सटन ने भी उदारतापूर्वक उसके बादशाह की दृष्टि

---

1 "A strange compound of tenderness and cruelly, justice and caprice, refinement and brutality, good sense and childishness."
—*V. A. Smith.*

से आरम्भ में बनाये गये कानूनों की प्रशंसा की है। इससे यह स्पष्ट होता है कि यूरोपियन इतिहासकारों ने मुख्यतया उसकी चारित्रिक दुर्बलताओं की ओर ही दृष्टि-पात किया है। परन्तु प्रश्न यह है कि क्या उसके व्यक्तिगत चरित्र के दोषों का प्रभाव उसके शासन पर पड़ा था ? इस दृष्टिकोण से देखने पर ही हम जहाँगीर का मूल्यांकन ठीक प्रकार से कर सकते हैं।

जहाँगीर एक अच्छा पुत्र, अच्छा पिता, अच्छा सम्बन्धी और अच्छा मित्र था। वह सभी का आदर करता था और सभी से उसे प्रेम था। अपने पिता के विरुद्ध उसने विद्रोह किया, परन्तु वह विद्रोह उसकी महत्वाकांक्षा और सिंहासन को तुरन्त प्राप्त करने की लालसा से कम बल्कि अपने लिये व्यक्तिगत रूप से स्वतन्त्र व्यवहार की इच्छा से अधिक था। इसके अतिरिक्त, जहाँगीर के चरित्र की यह एक दुर्बलता थी कि वह अपने निकट के आत्मीय जनों से प्रभावित हो जाता था। इस विद्रोह के लिए भी उसके सहयोगियों का कुप्रभाव अधिक उत्तरदायी था। इसी प्रकार, बाद में नूरजहाँ को शासन-सत्ता सौंप देने में भी उसके चरित्र की यह दुर्बलता ही प्रमुख थी। परन्तु यह भी मानना पड़ेगा कि उसने अपने पिता के विरुद्ध सशस्त्र विद्रोह नहीं किया, बाद में उससे समझौता कर लिया और पिता की भर्त्सना को भी सहर्ष स्वीकार किया। उसी प्रकार, नूरजहाँ के प्रभाव से उसने शासन के ढाँचे में कोई परिवर्तन नहीं किया था और न अयोग्य अधिकारियों तथा अन्य स्त्रियों के प्रभाव को शासन में आने दिया था। नूरजहाँ से उसका प्रेम व्यक्तिगत था और सिर्फ नूरजहाँ ही उसके प्रेम और सत्ता की अधिकारिणी थी। बाद में अपने पिता के बारे में जहाँगीर ने सर्वदा सम्मान प्रदर्शित किया था और वह उसके मकबरे तक पैदल जाया करता था। उसी प्रकार, जहाँगीर ने अपनी सभी पत्नियों से सम्मानपूर्ण व्यवहार किया। अपनी पत्नी मानबाई की मृत्यु पर उसने कई दिनों तक अन्न-जल नहीं छुआ था। अपने पुत्र खुसरो को विद्रोह करने के पश्चात् भी उसने पहली बार माफ कर दिया और दूसरी बार षड्यन्त्र करने पर उसे मात्र अन्धा किया था। उसके पश्चात् उसने उसके नेत्रों का इलाज भी कराया। बाध्यतावश उसने शाहजहाँ को खुसरो को सौंपा था, और उसकी मृत्यु पर उसे दुःख हुआ था। अपने अन्य पुत्रों—परवेज, खुर्रम और शहरयार के प्रति भी उसका दृष्टिकोण उदार था और समय-समय पर उनके कार्यों के अनुसार उसने उन्हें पद और सम्मान प्रदान किये थे। अपने मित्रों और वफादार व्यक्तियों को को भी उसने राज्य में प्रतिष्ठित पद प्रदान किये थे। व्यक्तिगत दृष्टि से जहाँगीर का एक दोष अत्यधिक शराब पीना था। स्त्रियों से उसके सम्बन्ध तत्कालीन शासकों की भाँति ही थे बल्कि देखा जाय तो उसमें अपनी पत्नियों के प्रति प्रेम की भावना उनसे कहीं बहुत अधिक थी। ऐसी स्थिति में जहाँगीर को विलासप्रिय कह देना उसके साथ अन्याय करना होगा। यह अन्य बात है कि वह आरामपसन्द था और अन्य मुगल शासकों की भाँति युद्ध-स्थल पर जाना और सेनापतित्व करना उसकी शक्ति की बात न थी।

जहाँगीर सुशिक्षित और सुसभ्य था। फारसी और तुर्की पर उसका अधिकार था और हिन्दी, अरबी तथा अन्य भाषाओं को भी वह जानता था। उसकी जीवन-गाथा 'तुजुक-ए-जहाँगीरी' आरम्भ के 17 वर्षों में स्वयं उसके ही द्वारा लिखी गयी थी और उसके पश्चात् उसने अन्य व्यक्तियों से लिखाई थी। यद्यपि उसे 'तुजुक-ए-बाबरी' के समान तो स्थान नहीं दिया जा सकता है, परन्तु उससे जहाँगीर का फारसी भाषा

का ज्ञान, उसकी लेखन-शैली और विभिन्न विषयों के बारे में उसके विस्तृत ज्ञान का अवश्य पता लगता है। जहाँगीर ने विभिन्न पक्षियों, पशुओं और वनस्पतियों का (मुख्यतया कश्मीर की) जो वर्णन किया है, वह सुन्दर और योग्यतापूर्ण है। उसका प्राकृतिक सौन्दर्य का वर्णन अद्वितीय है। इसके अतिरिक्त, जहाँगीर विद्वानों और कलाकारों को संरक्षण प्रदान करता था। उसके समय में अनेक व्यक्तियों ने कला और साहित्य के क्षेत्र में प्रगति की। जहाँगीर प्रत्येक शुक्रवार की शाम विद्वानों की संगति में व्यतीत करता था। तत्कालीन विद्वानों में से नियामतउल्ला, नजीवखाँ और अब्दुल हक देहलवी आदि विद्वानों को उसने संरक्षण प्रदान किया था। जहाँगीर ने सबसे अधिक रुचि चित्रकला में ली जो उसके समय में श्रेष्ठता के पद पर पहुँच गयी। स्वयं जहाँगीर को उसका बहुत अच्छा ज्ञान था और उसको दावा था कि यदि उसके सामने कोई भी चित्र प्रस्तुत किया जाय तो वह बता देगा कि उसे किस कलाकार ने बनाया है और यदि एक चित्र को कई कलाकारों ने मिलकर बनाया हो तो वह यह बता देगा कि उस चित्र का कौन-सा अंग किस कलाकार ने बनाया है। स्थापत्य-कला का भी जहाँगीर को शौक था। उसके पिता का मकबरा आगरा के निकट सिकन्दरा में उसकी देख-रेख में ही बनवाया गया जो अकबर के उदार और खुले चरित्र का प्रतीक है। उसके समय में बनवायी गयी लाहौर की मस्जिद की तुलना शाहजहाँ द्वारा बनवायी गयी दिल्ली की जामा मस्जिद से की जा सकती है और नूरजहाँ द्वारा बनवाया गया उसके पिता एत्मातुद्दौला का आगरा में बना हुआ मकबरा पच्चीकारी और सफेद संगमरमर के पत्थर के प्रयोग के कारण अद्वितीय है। जहाँगीर ने अनेक स्थानों, मुख्यतया लाहौर और कश्मीर, में सुन्दर बाग लगवाये। उसने अपने समय के सिक्कों को कलात्मक रूप प्रदान किया। उसे अच्छी वेश-भूषा का शौक था और उसने उसमें भी सुधार किये।

जहाँगीर ने शस्त्र-शिक्षा प्राप्त की थी, और घुड़सवारी तथा शस्त्र चलाने में वह कुशल था। परन्तु जहाँगीर में एक कट्टर सैनिक की भाँति कष्ट उठाने की क्षमता न थी। उसी प्रकार, वह एक अच्छा सेनापति भी न था। अपने पिता के समय में उसने किसी भी युद्ध-अभियान में रुचि नहीं ली थी और उसके शासनकाल की विजयों का श्रेय उसके पुत्र शाहजहाँ और अन्य योग्य सरदारों को था। जहाँगीर ने सेना की व्यवस्था और रण-कुशलता को बढ़ाने के लिए कोई प्रयत्न किया हो, ऐसा भी कोई उदाहरण प्राप्त नहीं होता।

धार्मिक नीति की दृष्टि से जहाँगीर का स्थान अपने पिता अकबर और पुत्र शाहजहाँ के मध्य में आता है। जहाँगीर ईश्वर में विश्वास करता था, और साधारणतया अपने धर्म की मुख्य बातों का पालन करता था। परन्तु धर्म में उसे विशेष रुचि न थी। वह इस्लाम के सिद्धान्तों का बहुत कट्टरता से पालन नहीं करता था। वह सभी धर्मों के मानने वालों से मिलता था, अतः उसका दृष्टिकोण उदार बन गया था। ईश्वर की एकता में भी उसका विश्वास था। इस कारण, जहाँगीर अपने व्यक्तिगत व्यवहार और नीति की दृष्टि से धार्मिक मामलों में उदार रहा। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई आदि सभी धर्मों के मानने वालों को राज्य की ओर से समान सुविधाएँ प्राप्त थीं और शासन में राज्य की ओर से धर्म के प्रति वही दृष्टिकोण रखा गया जो अकबर के समय में था। हिन्दुओं को राज्य में सम्मानित

पद दिये गये थे, और उन पर कोई अतिरिक्त कर नहीं लगाया गया था। जहाँगीर ईसाइयों के घनिष्ठ सम्पर्क में आया था और उसने अपने पौत्रों की शिक्षा का प्रबन्ध भी उनकी देख-रेख में किया था परन्तु जहाँगीर के समय की कुछ घटनाएँ अवश्य ऐसी हैं जो यह स्पष्ट करती हैं कि कभी-कभी जहाँगीर ने इस्लाम धर्म का पक्ष लिया था। रजौरी के हिन्दुओं को उसने इसलिए दण्ड दिया कि वे मुस्लिम लड़कियों से विवाह करके उन्हें हिन्दू बना लिया करते थे, काँगड़ा के किले को जीतकर उसने वहाँ एक गाय को कटवाकर जश्न मनाया था, अजमेर में वाराह के मन्दिर की मूर्तियों को उसने तालाव में फिकवा दिया था और पुर्तगालियों से युद्ध के अवसर पर राज्य के सभी गिर्जे वन्द कर दिये गये थे। इसी प्रकार, गुरु अर्जुन को दण्ड देने में उसका एक कारण यह था कि उसे उनके विचारों से चिढ़ थी। एक बार उसने जैनियों से अप्रसन्न होकर उन्हें गुजरात से वाहर चले जाने के आदेश दिये थे। परन्तु सभी घटनाएँ एक विशेष अवसर अथवा स्थिति के कारण थीं। गुरु अर्जुन को दण्ड देने के कारण राजनीतिक भी था। जहाँगीर ने सिख-सम्प्रदाय के कार्यों में कोई हस्तक्षेप नहीं किया था। इसी प्रकार, जैनियों से असन्तुष्ट होने का कारण भी आंशिक रूप से राजनीतिक था। इसके अतिरिक्त जब हम देखते हैं कि असन्तुष्ट होने पर उसने मुस्लिम धर्म-प्रचारकों जैसे शेख रहीम, काजी नूरुल्ला, शेख अहमद सरहिन्दी, आदि को भी दण्ड दिया था तव यह स्पष्ट हो जाता है कि उसका हिन्दू, जैन, सिख अथवा ईसाइयों के साथ कठोरता करने का कारण राजनीतिक और परिस्थितियोंवश था न कि धार्मिक कट्टरतावश। साधारणतया ज़हाँगीर सभी धर्मों के प्रति उदार रहा, सभी से उसका सम्पर्क रहा, मुख्यतया हिन्दुओं से उसका सम्बन्ध घनिष्ठ था और वह उसके सभी त्यौहारों और उत्सवों में भाग लेता था। इस प्रकार, अपने पिता के समान न होते हुए भी जहाँगीर धार्मिक दृष्टि से उदार रहा और उसने अपने पिता के समय की अधिकांश परम्पराओं को जीवित रखा। परन्तु उसके समय में अकबर की नीतियों में थोड़ा परिवर्तन अवश्य हो गया था, यह स्पष्ट है।

जहाँगीर एक सफल और प्रजापालक शासक माना जाता है। उसकी सफलता इसी में थी कि उसने अकबर के समय में स्थापित की गयी शासन-व्यवस्था को जीवित रखा। अकबर द्वारा स्थापित शासन-व्यवस्था सफल सिद्ध हुई थी। जहाँगीर को उसमें परिवर्तन करने की आवश्यकता न थी। इसके अतिरिक्त, समय और परिस्थितियों को समझने की क्षमता जहाँगीर में थी। 22 वर्ष का उसका शासनकाल असफल नहीं माना जा सकता। उसके समय में वादशाह और साम्राज्य की प्रतिष्ठा बनी रही थी। एक शासक की दृष्टि से जहाँगीर अपनी प्रजा के हित का पूर्ण ध्यान रखता था और उसकी उन्नति के लिए प्रयत्नशील था। उसके समय में किसान प्रसन्न थे, उन पर कर का कोई अतिरिक्त भार न था और यदि उनकी हानि होती थी तो राज्य उसे पूरा कर देता था। जहाँगीर के समय में व्यापार और उद्योग भी उन्नतिशील थे और राज्य धन-धान्य से पूर्ण था। जहाँगीर ने जुआ, शराब पीना आदि को भी वन्द करने के प्रयत्न किये थे। परन्तु उसका सवसे बड़ा गुण न्याय-प्रियता थी। मध्य-युग में वादशाह का सवसे वड़ा उत्तरदायित्व न्याय माना जाता था। जहाँगीर ने इसकी ओर पूरा ध्यान दिया था। मृत्यु-दण्ड सिर्फ वादशाह ही देता था और उस पर भी यह आदेश थे कि शाम होने से पहले उस दण्ड को कार्य-

रूप में परिणत न किया जाय। बादशाह जहाँगीर न्याय-प्रिय था और अपने इस उत्तरदायित्व को ईश्वर के प्रति अपना कर्तव्य मानता था।

इस प्रकार, जहाँगीर को एक अच्छा शासक माना जा सकता है। डॉ. ईश्वरी प्रसाद ने उसके बारे में लिखा है : "मुगल इतिहास में जहाँगीर का व्यक्तित्व एक आकर्षक व्यक्तित्व है। साधारण दृष्टि से कहा गया यह विचार कि वह विलासप्रिय और हृदयहीन अत्याचारी था, न्यायपूर्ण नहीं है। सभी विवरण इससे सहमत हैं कि वह बुद्धिमान, तीक्ष्ण-बुद्धि और राज्य की जटिलतम कठिनाइयों को सरलता से समझने वाला था···उसके चरित्र में बहुत कुछ निन्दा करने के योग्य है, परन्तु उसमें भी बहुत अधिक ऐसा है जो उसे भारतीय इतिहास के रोचक व्यक्तित्वों में स्थान प्रदान करता है।"[1] डॉ. बेनीप्रसाद जहाँगीर के प्रति और भी अधिक उदार दृष्टिकोण रखते हैं। वे लिखते हैं : "सर्वांगिक रूप से जहाँगीर का शासनकाल साम्राज्य के लिए शान्ति और समृद्धि का रहा। उसकी संरक्षकता में उद्योग और व्यापार की उन्नति हुई, स्थापत्य-कला ने महत्त्वपूर्ण सफलता पायी, चित्रकला अपने उच्चतम शिखर तक पहुँच गयी, साहित्य की इतनी प्रगति हुई जितनी पहले कभी नहीं हुई थी, इसी समय तुलसीदास ने रामायण की रचना की जो उत्तरी भारत के लाखों व्यक्तियों के लिए होमर, बाइबल, शेक्सपियर और मिल्टन के समान है और फारसी और प्रादेशिक भाषाओं के अनेक कवियों की रचनाओं ने मिलकर इस युग को मध्ययुगीन भारतीय साहित्य का 'अगस्टन-युग' बना दिया। जहाँगीर के समय का राजनीतिक इतिहास रोचक है, परन्तु उसका मुख्य आकर्षक उसकी सांस्कृतिक प्रगति है।"[2]

जहाँगीर मुगल बादशाहों में महान् न था। उसे हम एक योग्य सेनापति, कुशल राजनीतिज्ञ और मेधावी शासन-प्रबन्धक स्वीकार नहीं कर सकते। परन्तु यह भी सत्य है कि वह एक सफल और उदार शासक था जिसने अपने पिता से प्राप्त

---

1 "Jahangir is one of the most interesting figures in Mughal history. The ordinary view that he was a sensual pleasure-seeker and a callous tyrant does less than justice. All accounts agree that he was intelligent, shrewd, and capable of understanding the most complex problems of the state without any difficulty...There is much in his character that deserves to be condemned, but there is a great deal that entitles him to be placed among the most fascinating personalities of indian history." —*Dr. Ishwari Prasad*

2 "Jahangir's reign on the whole was fruitful of peace and prosperity to the empire. Under its auspices, industry and commerce progressed : architecture achieved notable triumphs; painting reached its high water mark ; literature flourished as it had never done before. Tulsidas composed the Ramayan, which forms at once the Homer and the Bible, the Shakespeare and the Milton of the teeming millions of Northern India. A host of remarkable persian and vernacular poets all over the country combined to make the period the Augustan age of mediaeval Indian literature. The political side of Jahangir's history is interesting enough but its virtue lies in cultural development." —*Dr. Beni Prasad.*

साम्राज्य को सुरक्षित और सम्पन्न रखा तथा जिसने अपनी प्रजा की भलाई का सर्वदा ध्यान रखा। अकबर महान् की सफलताओं और शाहजहाँ की चमक-दमक के बीच में घिरकर जहाँगीर के व्यक्तित्व और उसके युग को समझने का प्रयत्न करना उचित नहीं होगा। जहाँगीर, व्यक्तिगत दृष्टि से, कुछ मामलों में दुर्बल होते हुए भी, सफल रहा। कन्धार की हानि मुख्यतया शाहजहाँ के विद्रोह के कारण हुई थी। शाहजहाँ का विद्रोह उस शाहजादे की बढ़ती हुई महत्वाकांक्षाओं के कारण भी था और महाबतखाँ का विद्रोह शाहजहाँ के विद्रोह का ही दुष्परिणाम था अन्यथा अन्य सभी प्रकार से जहाँगीर का समय शान्ति, प्रगति और समृद्धि का था।

7

शाहजहाँ

[1627—1658 ई.]

शाहजहाँ का प्रायः तीस वर्ष का शासनकाल मुगल-साम्राज्य के वैभव और शक्ति की पराकाष्ठा का था, जिसके कारण उसे मुगल-काल का स्वर्ण-काल पुकारा गया है। अकबर के समय में स्थापित मुगलों की श्रेष्ठता शाहजहाँ के समय में स्थिर रही और विकसित भी हुई। निस्सन्देह, औरंगजेब ने मुगल-साम्राज्य का विस्तार किया, परन्तु वह मुगलों की शक्ति को संचित और संगठित नहीं रख सका। उसके समय के विद्रोहों ने मुगल-साम्राज्य की एकता और शक्ति में छिद्र कर दिये। शाहजहाँ के समय तक ऐसा सम्भव नहीं हो सका। शाहजहाँ के समय के सभी विद्रोह सरलता से दबा दिये गये और मुगल-साम्राज्य की सीमाएँ शान्त और सुरक्षित रहीं। जब तक शाहजहाँ बीमार नहीं हुआ और उसके पुत्रों में राजसिंहासन के लिए युद्ध नहीं हुआ तब तक मुगल-साम्राज्य की एकता दृढ़ रही और शाहजहाँ की शक्ति का विरोध सफलता से भारत में कोई नहीं कर सका। शान्ति, सुरक्षा और सम्पन्नता की दृष्टि से भारत में उसके समय में कोई दुर्बलता न थी।

5 जनवरी, 1592 में लाहौर में शाहजादा खुर्रम का जन्म हुआ था। उसकी माता मारवाड़ के शासक उदयसिंह की पुत्री जगत गोसाईं (जोधाबाई और भानमती के नाम से भी इसे पुकारा गया है) थी। खुर्रम अपने पितामह अकबर का लाड़ला था। खुसरो के विद्रोह के अवसर पर खुर्रम को राजधानी की देखभाल के लिए नियुक्त किया गया। 1607 में उसे 8,000 जात और 5,000 सवार का पद दिया गया। 1612 में अर्जुमन्दबानू बेगम से उसका विवाह हुआ। खुसरो के विद्रोह के बाद से खुर्रम को गद्दी का उत्तराधिकारी समझा जाने लगा। उसने अपनी योग्यता से उसे सिद्ध भी किया। मेवाड़, काँगड़ा और दक्षिण के अभियानों में जो सफलता उसने प्राप्त की उससे उसकी योग्यता स्पष्ट हुई। वह नूरजहाँ के गुट का सदस्य रहा और 1622 तक निरन्तर राज्य में सम्मान और पद प्राप्त करता रहा। उसे 'शाहजहाँ' की उपाधि दी गयी और बड़ी से बड़ी जागीर उसे प्राप्त हुई। परन्तु उसके पश्चात् उसकी कठिनाइयाँ आरम्भ हो गयी। नूरजहाँ ने शाहजहाँ की शक्ति को नष्ट करके शहरयार का पक्ष लेना आरम्भ कर दिया। कन्धार की रक्षा के लिए मुगल-सेना को भेजने के प्रश्न पर शाहजहाँ जहाँगीर की दृष्टि में गिर गया। 1623 में उसने विद्रोह किया परन्तु वह असफल हुआ और 1626 में उसे बादशाह की शर्तों को मानने के लिए बाध्य होना पड़ा।

1627 में जहाँगीर की मृत्यु के अवसर पर शाहजहाँ दक्षिण-भारत में था।

उस समय उसकी सहायता उसके ससुर और राज्य के 'वकील' आसफखाँ ने की। राज्य का दीवान ख्वाजा अबुलहसन भी उसके पक्ष में था। इन व्यक्तियों ने शाहजहाँ के पुत्र दाराशिकोह, शुजा और औरंगजेब को नूरजहाँ के आधिपत्य से मुक्त करा लिया और खुसरो के पुत्र दावरबक्स को बादशाह घोषित कर दिया जिससे सिंहासन रिक्त न रहे। आसफखाँ ने शाहजहाँ को शीघ्र से शीघ्र राजधानी आने की सूचना भी भेज दी। नूरजहाँ इस अवसर पर कुछ न कर सकी। आसफखाँ के विरुद्ध वह कोई कदम न उठा सकी। निस्सन्देह, शहरयार ने अपने को लाहौर में बादशाह घोषित कर दिया और लाहौर के खजाने को सरदारों और सैनिकों में बाँटकर अपने पक्ष को दृढ़ करने का प्रयत्न किया। परन्तु वह अयोग्य था। आसफखाँ ने उस पर आक्रमण किया, उसे परास्त करके बन्दी बना लिया तथा उसकी आँखें फोड़ दी गयीं। शाहजहाँ शीघ्रता से आगरा आ रहा था और जब उसे इस सफलता की सूचना मिली तो उसने आसफखाँ को आदेश दिया कि शहरयार, दावरबक्स और शाही परिवार के सभी जीवित राजकुमारों को मार दिया जाय। आसफखाँ ने ऐसा ही किया और शाहजहाँ के आगरा पहुँचने से पहले ही राजगद्दी के सभी उत्तराधिकारी कत्ल कर दिये गये। इस प्रकार, अपने सम्बन्धी राजकुमारों का वध करके 1628 में शाहजहाँ 'अबुल मुजफ्फर शहाबुद्दीन मुहम्मदसाहिब किरान-ए-सानी' की उपाधि लेकर गद्दी पर बैठा। आगरा में उसका राज्याभिषेक हुआ। आसफखाँ को 8,000 जात और 8,000 सवार तथा राज्य के वजीर का पद दिया गया। महाबतखाँ को 7,000 जात और 7,000 सवार का पद तथा 'खानखाना' की उपाधि दी गयी। बेगम नूर-जहाँ को 2 लाख रुपया प्रति वर्ष की पेन्शन दी गयी। नूरजहाँ ने अपने जीवन के अन्तिम दिन शान्तिपूर्ण तरीके से लाहौर में व्यतीत किये और वहीं 1645 में उसकी मृत्यु हुई।

[1]
शाहजहाँ के समय के विद्रोह

शाहजहाँ के समय में पुर्तगालियों और सिखों से हुए साधारण संघर्षों के अति-रिक्त दो बड़े विद्रोह हुए। उनमें से एक बुन्देलखण्ड के शासक जूझरसिंह का था और दूसरा दक्षिण के सूबेदार खानजहाँ लोदी का।

वीरसिंह बुन्देला जहाँगीर का कृपापात्र था। उसी ने अकबर के समय में शाहजादा सलीम (जहाँगीर) के इशारे से अबुल फजल का कत्ल किया था। जहाँगीर ने अपने समय में उसे उच्च पद और सम्मान दिया। वीरसिंह की मृत्यु जहाँगीर की मृत्यु से तीन या चार माह पूर्व हो गयी और उसके लड़के जूझरसिंह को उसका उत्तराधिकारी स्वीकार कर लिया गया।

1. बुन्देलखण्ड का विद्रोह (1628-1635)

जूझरसिंह दरबार में था और उसका लड़का विक्रमजीतसिंह शासन की देखभाल करता था। उसने अपनी प्रजा पर कठोरता की और बहुत धन एकत्रित कर लिया। शाहजहाँ ने बादशाह बनने पर जूझरसिंह द्वारा एकत्र किये गये करों की जाँच करने की आज्ञा दी जिससे शंकित होकर जूझरसिंह दरबार को छोड़कर बुन्देलखण्ड भाग गया। बाद-शाह की बिना आज्ञा के इस प्रकार भाग जाना स्वयं एक अपराध था। इसके अति-रिक्त, जूझरसिंह ने स्वतन्त्र शासक के समान व्यवहार करना आरम्भ कर दिया। सम्भवतया, शाहजहाँ की निगाह जूझरसिंह द्वारा एकत्रित सम्पत्ति पर भी लगी हुई थी।

1628 में जूझरसिंह पर आक्रमण किया गया। यह शाहजहाँ के समय का पहला सैनिक अभियान था। शाहजहाँ बुन्देलखण्ड की कठिन भौगोलिक स्थिति और बुन्देला शौर्य से परिचित था। वह किसी भी स्थिति में इस युद्ध को खोना नहीं चाहता था। इस कारण, महाबतखाँ को ग्वालियर से, खानजहाँ को मालवा से, अब्दुल्लाखाँ फीरोजजंग को कालपी से और सैयद मुजफ्फरजंग को बुन्देलखण्ड पर आक्रमण करने के आदेश दिये गये। स्वयं शाहजहाँ भी शिकार के बहाने ग्वालियर पहुँच गया। जूझरसिंह ने शीघ्र अपनी दुर्बल स्थिति को समझ लिया। वह अपने राज्य को संगठित न कर सका था, उसकी सीमाओं में विद्रोह हो रहे थे, उसका एक सम्बन्धी सिंहासन का दावेदार भरतसिंह मुगलों से मिल गया था और बादशाह युद्ध को जीतने के लिए पूर्ण तत्पर और कटिबद्ध था। 1629 के आरम्भ में उसने आत्मसमर्पण कर दिया। उसने एक हजार अशर्फी, पन्द्रह लाख रुपया, चालीस हाथी और अपनी जागीर का कुछ भाग शाहजहाँ को दिया। शाहजहाँ ने उसे माफ कर दिया तथा दक्षिण-भारत के युद्ध में उसे नियुक्त कर दिया।

जूझरसिंह ने पाँच वर्ष तक वफादारी से मुगल बादशाह की सेवा की और दक्षिण के युद्धों में महत्वपूर्ण भाग लिया। 1634 में वह अपनी राजधानी ओरछा वापस आ गया। 1635 में उसने गोंड़वाना पर आक्रमण किया, उसकी राजधानी चौरागढ़ को जीत लिया और राजा प्रेमनारायण को मार दिया। एक अधीन राजा का दूसरे अधीन राजा पर बिना बादशाह की आज्ञा के आक्रमण करना मुगलों की नीति के अनुसार अपराध था। प्रेमनारायण के पुत्र ने शाहजहाँ से रक्षा की प्रार्थना भी की। इससे पहले कि शाहजहाँ का कोई आदेश जूझरसिंह तक पहुँचता, जूझरसिंह का लड़का विक्रमजीत (जगराज) जो दक्षिण में था, भागकर अपने पिता से जा मिला। शाहजहाँ ने जूझरसिंह से माँग की कि वह गोंडवाना बादशाह को सौंप दे और दस लाख रुपया दे अथवा गोंडवाना के बराबर की जागीर अपनी बुन्देलखण्ड की जागीर में से बादशाह को दे। जूझरसिंह ने इन शर्तों को मानने से इन्कार कर दिया। शाहजहाँ ने औरंगजेब को एक बड़ी सेना के साथ आक्रमण के लिए भेजा। मुगलों ने ओरछा पर अधिकार कर लिया और भरतसिंह के पुत्र देवीसिंह को गद्दी पर बैठा दिया। इसके बाद मुगलों ने धमोनी पर अधिकार किया। जूझरसिंह चौरागढ़ चला गया था। मुगलों ने चौरागढ़ पर आक्रमण किया। जूझरसिंह ने मुकाबला किया लेकिन उसे भागना पड़ा। जूझरसिंह के तीन पुत्र, एक पोता तथा बहुत-सी स्त्रियाँ मुगलों के हाथों में आ गयीं। स्वयं जूझरसिंह और उसका पुत्र विक्रमजीत गोंडों के द्वारा मार दिये गये जबकि वे जंगल में आराम कर रहे थे। उनके सिर काटकर शाहजहाँ के पास भेज दिये गये। जूझरसिंह के दो पुत्रों और एक पोते को मुसलमान बना लिया गया, एक पुत्र और वृद्ध मन्त्री का वध कर दिया गया क्योंकि उन्होंने इस्लाम को स्वीकार करने से इंकार कर दिया और बुन्देला स्त्रियों को महल या सरदारों की सेवा में दे दिया गया। इसके अतिरिक्त ओरछा के मन्दिर नष्ट कर दिये गये अथवा मस्जिदों में बदल दिये गये। शाहजहाँ की विजय पूर्ण थी और उसे बहुत-सी भूमि और धन प्राप्त हुआ था। इस प्रकार, 1635 में यह विद्रोह समाप्त हो गया।

परन्तु बुन्देलों ने देशद्रोही देवीसिंह को अपना राजा मानने से इन्कार कर

दिया। महोबा के राजा चम्पतराय और उसके पश्चात् उसके पुत्र छत्रसाल ने मुगलों का निरन्तर विरोध किया और बुन्देलों के स्वतन्त्रता-संग्राम को जीवित रखा।

पीरखाँ उर्फ खानजहाँ लोदी एक योग्य और सम्मानित अफगान सरदार था। जहाँगीर के अन्तिम दिनों में वह दक्षिण की सूबेदारी के महत्वपूर्ण पद पर था। शाहजहाँ के विद्रोह के अवसर पर वह उदासीन रहा और शाहजहाँ के सहायता माँगने पर उसने उसे कोई सहायता न दी। उसी अवसर पर उसने दक्षिण के राज्यों में समझौता करने का प्रयत्न किया और तीन लाख रुपया लेकर बालाघाट अहमदनगर को सौंप दिया। संभवतया, अपनी अफगान प्रवृत्ति के अनुकूल वह जहाँगीर की मृत्यु के अवसर की अव्यवस्थित स्थिति से लाभ उठाकर दक्षिण में अपना स्वतन्त्र अस्तित्व स्थापित करने के लिए लालायित हो गया था। शाहजहाँ ने महाबतखाँ को 'खानखाना' का पद दे दिया था। इससे भी वह असन्तुष्ट था क्योंकि जहाँगीर के समय में यह पद उसे दिया गया था। जब शाहजहाँ को आगरा में बादशाह घोषित कर दिया गया तब उसने तुरन्त माफी माँग ली और शाहजहाँ को बादशाह स्वीकार कर लिया। शाहजहाँ ने उसे बालाघाट को पुनः प्राप्त करने के आदेश दिये। उसी वर्ष जूझरसिंह के विद्रोह को दबाने के लिए भी उसकी सहायता ली गयी और वह तत्परता से उसके लिए तैयार हो गया। लेकिन खानजहाँ बालाघाट को जीतने में असफल रहा अथवा उसके लिए उसने गम्भीरता से कोई प्रयत्न नहीं किया। शाहजहाँ ने दक्षिण की सूबेदारी महाबतखाँ को दे दी और मालवा खानजहाँ को दिया। इस प्रकार, स्थिति ऐसी हो रही थी जिसमें खानजहाँ के सम्बन्ध शाहजहाँ से ठीक नहीं रहे।

2. खानजहाँ लोदी का विद्रोह (1628-31)

बुन्देला-विद्रोह के शान्त हो जाने पर (1629) खानजहाँ को दरबार में आने के आदेश दे दिये गये। यहाँ उसे वह सम्मान प्राप्त नहीं हुआ जो जहाँगीर के समय में प्राप्त होता था। शाहजहाँ के आश्वासन देने के बाद भी खानजहाँ को अपने जीवन का खतरा रहा और इस भय से आशंकित होकर अक्टूबर 1629 में वह बिना बादशाह की आज्ञा के दक्षिण की ओर भाग खड़ा हुआ। शाही सेना ने उसका पीछा किया। चम्बल नदी के तट पर एक युद्ध हुआ और खानजहाँ को अपने कुछ सम्बन्धियों और स्त्रियों को छोड़कर भागना पड़ा। खानजहाँ अहमदनगर पहुँच गया। मुर्तजा निजामशाह ने उसका स्वागत किया, उसे 'बीर' की जागीर दी और मुगलों के आधिपत्य में चली गयी अहमदनगर की भूमि को वापस लेने का उत्तरदायित्व उसे सौंपा। खानजहाँ के दक्षिण में पहुँच जाने से दक्षिण की समस्या कठिन हो गयी। अहमदनगर ने मुगलों से कुछ भू-प्रदेश जीत लिये। दक्षिण की स्थिति ऐसी हो गयी कि स्वयं शाहजहाँ को 1629 में दक्षिण में जाना पड़ा। शाहजहाँ ने सर्वप्रथम खानजहाँ को दबाने की योजना बनायी और तीन तरफ से उस पर आक्रमण किया। शिवाजी के पिता शाहजी भोंसले ने जो इस समय मुगल सेवा में आ गया था, मुगलों की बहुत सहायता की। खानजहाँ को स्थान-स्थान पर भागना पड़ा। वह भागकर दौलताबाद की ओर गया और बीजापुर से सहायता लेने का प्रयत्न किया। परन्तु वह मिल न सकी। मुगलों के दबाव के कारण निजामशाह भी तटस्थ हो गया और खानजहाँ के पास दक्षिण को छोड़कर भागने के अतिरिक्त कोई मार्ग न रहा। उत्तर-पश्चिम में उसे अफगानों से सहायता मिलने की आशा थी। खानजहाँ ने नर्बदा नदी को पार किया

और मालवा होकर उत्तर की ओर जाने का प्रयत्न किया। मार्ग में जूझारसिंह के पुत्र विक्रमजीत ने उस पर आक्रमण किया और खानजहाँ के अधिकांश साथियों को मार दिया परन्तु खानजहाँ बच निकला। अब मुजफ्फरखाँ सैयद ने उसका पीछा किया। मार्ग में एक-एक करके उसके साथी और पुत्र मारे गये, कालिंजर के किलेदार ने उसके हाथी छीन लिये और अन्त में बाँदा जिले में सिंहोंदा नामक स्थान पर खानजहाँ ने अन्तिम युद्ध किया और माधोसिंह के द्वारा मारा गया। उसका सिर काटकर शाहजहाँ के पास भेज दिया गया। इस प्रकार, 1631 में खानजहाँ का विद्रोह समाप्त हुआ।

3. पुर्तगाली

बंगाल में पुर्तगाली बहुत समय पहले से व्यापार करते थे। मुगल बादशाह की तरफ से उनको नमक के व्यापार का एकाधिपत्य भी दिया गया था। परन्तु धीरे-धीरे पुर्तगालियों का व्यवहार उद्दण्ड हो गया। उन्होंने भारतीयों को बलपूर्वक ईसाई बनाना आरम्भ किया और समय-समय पर शाही भूमि और बाजारों में लूटमार करनी आरम्भ कर दी। इसके अतिरिक्त, उन्होंने मुगलों के विरुद्ध अराकान के राजा को सहायता दी। इस कारण, धार्मिक और राजनीतिक कारणों लेकिन मुख्यतया स्थानीय उपद्रवों के कारण शाहजहाँ ने 1632 में इनको समाप्त करने के आदेश दे दिये। 3½ महीने के घेरे के पश्चात् हुगली पर अधिकार कर लिया गया। हजारों ईसाई मारे गये, सैकड़ों बन्दी बना लिये गये, उनमें से अनेक ने इस्लाम को स्वीकार कर लिया और जवान स्त्रियों को हरम में ले लिया गया।

4. सिख

शाहजहाँ के आरम्भ-काल में 1628 में एक साधारण घटना से सिखों और शाहजहाँ में शत्रु-भाव हो गया। अमृतसर के निकट शाहजहाँ शिकार खेलने गया हुआ था। उसका एक प्रिय बाज उड़कर गुरु के खेमे में चला गया। सिखों ने उसे पकड़ लिया तथा वापस करने से इन्कार कर दिया। मुगल सैनिकों ने कई बार सिखों पर आक्रमण किया परन्तु वे असफल रहे। गुरु हरगोविन्द के कुछ मित्र बादशाह के दरबार में थे। उन्होंने बीच में पड़कर इस झगड़े को समाप्त करा दिया।

गुरु हरगोविन्द ने व्यास नदी के तट पर श्री गोविन्दपुर नामक एक शहर बसाना आरम्भ किया था। गुरु के शत्रुओं ने जालन्धर के फौजदार अब्दुल्लाखाँ को गुरु पर आक्रमण करने के लिए भड़काया। सम्भवतया, इस नवीन नगर का निर्माण मुगलों के हित में भी न था। गुरु को आज्ञा दी गयी कि निर्माण के कार्य को बन्द कर दें और उनके इनकार करने पर उन पर आक्रमण किया गया। परन्तु इस बार भी गुरु ने फौजदार की सेना को परास्त कर दिया।

गुरु से मुगलों का तीसरा झगड़ा इस कारण हुआ कि बीधीचन्द नामक एक विख्यात डकैत ने, जो गुरु का शिष्य था, शाही घुड़साल से दो बहुत अच्छे घोड़े चुराकर गुरु को भेंट किये और गुरु ने उन्हें स्वीकार कर लिया। एक शक्तिशाली मुगल सेना गुरु के विरुद्ध भेजी गयी परन्तु गुरु ने उसे परास्त कर दिया (1631)। एक और बड़ी सेना को गुरु ने कर्तारपुर नामक स्थान पर परास्त किया। इसके पश्चात् मुगलों और सिखों का संघर्ष चलता रहा। गुरु ने यह अनुभव करके कि मुगल-सत्ता से निरन्तर संघर्ष करने में नवीन सिख सम्प्रदाय के समाप्त हो जाने का भय है, पंजाब छोड़ दिया और कश्मीर की पहाड़ियों में कीरतपुर नामक स्थान पर रहना आरम्भ कर दिया। वहीं 1654 में उनकी मृत्यु हुई। अपने मरने से पहले

उन्होंने हरराय को गुरु की गद्दी सौंप दी। इस प्रकार, शाहजहाँ के समय में सिखों के छठे गुरु हरगोविन्द से मुगलों का संघर्ष रहा।

[2]

साम्राज्य-विस्तार

अकबर और जहाँगीर के समय में भी दक्षिण को जीतने के प्रयत्न किये गये थे। वह मुगलों की साम्राज्यवादी नीति का एक भाग था। शाहजहाँ ने भी इस कार्य को करने का प्रयत्न किया। इसके अतिरिक्त, दक्षिण-भारत के राज्यों में मुगलों के विद्रोहियों को शरण प्राप्त होती थी। शाहजादा-काल में स्वयं शाहजहाँ ने वहाँ शरण ली थी और उसके आरम्भ के समय में जूझरसिंह तथा खानजहाँ ने भी ऐसा किया था। शाहजहाँ इस स्थिति को समाप्त करना चाहता था।

1. दक्षिण-भारत

(i) अहमदनगर—शाहजहाँ के गद्दी पर बैठने से पहले खानजहाँ ने बालाघाट का प्रदेश अहमदनगर को सौंप दिया था। बाद में खानजहाँ ने विद्रोह करके अहमदनगर में ही शरण प्राप्त की थी। उसी अवसर पर 1629 में आजमखाँ और अबुल हसन को एक शक्तिशाली सेना के साथ दक्षिण भेजा गया। राज्य के 'वकील' आसफखाँ को भी दक्षिण भेजा गया और स्वयं शाहजहाँ भी बुरहानपुर पहुँच गया। मुगलों ने कुछ आंशिक सफलता प्राप्त की क्योंकि दक्षिण में पड़ रहे अकाल के कारण युद्ध को गम्भीर रूप से चलाना कठिन हो रहा था। परन्तु इसी अवसर पर निजामशाह ने मुकर्रबखाँ को हटाकर मलिक अम्बर के अयोग्य पुत्र फतहखाँ को, जिसे उसने जेल में बन्द कर रखा था, छोड़कर राज्य का वजीर बना दिया। मुकर्रबखाँ एक योग्य अधिकारी था और मुगलों का विरोधी था। परन्तु अब वह मुगलों से मिल गया। उसे 'रुस्तमखाँ' की उपाधि दी गयी। फतहखाँ दुर्बल बुद्धि का स्वार्थी व्यक्ति था। कभी उसने मुगलों से बात की और कभी बीजापुर और गोलकुण्डा से मित्रता करने का प्रयत्न किया। उसने सुल्तान मुर्तजा निजामशाह द्वितीय को कैद करके मार दिया तथा 10 वर्ष के एक छोटे बालक हुसैन को निजाम बना दिया। शाहजहाँ फतहखाँ पर विश्वास नहीं करता था। उसने मुगल सेना को दौलताबाद पर आक्रमण करने के आदेश दिये। उससे भयभीत होकर फतहखाँ ने शाहजहाँ को बहुमूल्य उपहार भेजे और मुगलों की अधीनता स्वीकार कर ली। शाहजहाँ इससे सन्तुष्ट हो गया। उसका हृदय दक्षिण के युद्ध में नहीं लग रहा था क्योंकि 17 जनवरी, 1631 को उसकी प्रिय पत्नी मुमताजमहल की मृत्यु हो गयी थी। इस कारण अपने अधिकारियों को दक्षिण का उत्तरदायित्व सौंपकर शाहजहाँ स्वयं उत्तर-भारत में चला गया (1632)।

परन्तु अभी अहमदनगर की विजय पूर्ण नहीं हुई थी। अनेक मराठा सरदार, मुख्यतया शाहजी भौंसले जिन्होंने 1629 में मुगल-सेवा को स्वीकार कर लिया था, फतहखाँ के व्यवहार से असन्तुष्ट हो गये। शाहजी ने मुगल-सेवा को छोड़ दिया और उसने बीजापुर-दरबार में नौकरी कर ली। उसने बीजापुर की सहायता लेकर दौलताबाद के किले पर आक्रमण करने की योजना बनायी। फतहखाँ भयभीत हो गया और उसने दक्षिण के नवीन मुगल-सूबेदार महाबतखाँ से सहायता माँगी। महाबतखाँ ने एक बड़ी सेना अपने पुत्र के नेतृत्व में उसकी सहायता के लिए भेजी। परन्तु उससे पहले ही बीजापुर की सहायता के आश्वासन पर फतहखाँ फिर मुगलों के विरुद्ध हो गया।

1633 में जब महाबतखाँ दक्षिण पहुँचा तो वह फतहखाँ की दोहरी नीति से बहुत असन्तुष्ट हुआ और उसने दौलताबाद का घेरा डाल दिया। 3½ महीने के घेरे के पश्चात् दौलताबाद के किले को जीत लिया गया। फतहखाँ और अहमदनगर के आखिरी शासक हुसैनशाह को राजदरबार में भेज दिया गया और अहमदनगर को मुगल राज्य में सम्मिलित कर लिया गया (1633)। शाहजहाँ ने फतहखाँ को दो लाख रुपया प्रति वर्ष की पेन्शन दे दी और उसे राज्य की सेवा में ले लिया। हुसैन-शाह को ग्वालियर के किले में बन्दी बनाकर रखा गया। इस प्रकार, अहमदनगर का राज्य समाप्त हो गया। परन्तु तब भी निजामशाही सरदार और मुख्यतया शाहजी भोंसले ने एक अल्पवयस्क (मुर्तजा तृतीय) के नाम से मुगलों से कई वर्षों तक संघर्ष किया। 1636 में मुगलों ने शाहजी को चुनार के किले में घेर लिया। अन्त में, उसने अपने बहुत-से किले और मुर्तजा तृतीय को मुगलों को सौंप दिया। मुर्तजा तृतीय को भी ग्वालियर के किले में कैद कर दिया गया और शाहजी ने बीजापुर की सेवा स्वीकार कर ली।

(ii) **गोलकुण्डा**—जहाँगीर के शासनकाल में गोलकुण्डा ने निरन्तर अहमद-नगर की सहायता की थी परन्तु उसने यह कार्य कभी भी बीजापुर की भाँति बहुत खुले रूप में नहीं किया था। 1621 में गोलकुण्डा को 20 लाख रुपया मुगल बादशाह को देने के लिए बाध्य किया गया। शाहजहाँ के शाहजादा-काल के विद्रोह के समय भी मुहम्मद कुतुबशाह का व्यवहार उसके प्रति उदार रहा।

परन्तु गोलकुण्डा के शासक शिया थे और मुगल बादशाह के आधिपत्य को उन्होंने स्पष्ट रूप से स्वीकार नहीं किया था। इस कारण, शाहजहाँ के समय में इसको मुगल आधिपत्य में लेने का प्रयत्न किया गया। 1626 में मुहम्मद कुतुबशाह की मृत्यु हो गयी और 11 वर्ष की आयु का अब्दुल्ला कुतुबशाह शासक बना। उसके समय में गोलकुण्डा की स्थिति दुर्बल हो गयी क्योंकि राज्य के विभिन्न सरदारों में एकता न रही। शाहजहाँ ने इस दुर्बलता से लाभ उठाया। 1631 में जब बीजा-पुर पर आक्रमण किया गया तब गोलकुण्डा से भी वार्षिक कर माँगा गया। परन्तु मुगलों को उस आक्रमण में सफलता प्राप्त नहीं हुई। इस कारण, गोलकुण्डा ने धन देने से इन्कार कर दिया। परन्तु तब भी गोलकुण्डा ने बीजापुर और अहमदनगर को कोई सैनिक सहायता न दी, मुगल-विरोधी खवासखाँ को उसके पद से हटा दिया और जूझरसिंह के सम्बन्धियों को मुगलों को सौंप दिया। इससे स्पष्ट था कि गोल-कुण्डा मुगलों को कोई असन्तोष या झगड़े का कारण नहीं देना चाहता था। परन्तु यह भी स्पष्ट था कि गोलकुण्डा मुगल आधिपत्य को स्वीकार करने को तत्पर न था। शाहजहाँ इस स्थिति से सन्तुष्ट नहीं था। वह गोलकुण्डा को मुगल-सत्ता स्वीकार करने के लिए बाध्य करना चाहता था और गोलकुण्डा में शिया-प्रभाव को भी नष्ट करना चाहता था। 1636 में मराठों और बीजापुर को सन्धि करने के लिए बाध्य करने के पश्चात् गोलकुण्डा पर दबाव डाला गया। अब्दुल्ला कुतुबशाह ने भयभीत होकर 1636 में मुगलों से सन्धि कर ली, जिसके अनुसार—

(अ) पहले चार खलीफाओं के नाम के अतिरिक्त शाहजहाँ का नाम भी खुतबा और सिक्कों पर सम्मिलित किया गया।

(ब) गोलकुण्डा ने मुगल आधिपत्य को स्वीकार कर लिया और 8 लाख

रुपया प्रतिवर्ष मुगल बादशाह को देना स्वीकार किया। उसने पिछले वर्षों में न दिये गये प्रायः 32 लाख रुपयों को भी देना स्वीकार किया।

(स) बीजापुर या मराठों के आक्रमण के अवसर पर मुगल गोलकुण्डा की सहायता करेंगे और यदि सहायता नहीं कर सकेंगे, तो जो हानि गोलकुण्डा को होगी, उसकी पूर्ति करेंगे।

शाहजहाँ इस समय स्वयं दक्षिण में था। परन्तु इसके पश्चात् वह औरंगजेब को दक्षिण का सूबेदार बनाकर वापस राजधानी चला गया। 1636 से 1644 तक औरंगजेब पहली बार दक्षिण का सूबेदार रहा और औरंगाबाद को मुगलों के दक्षिण के सूबे की राजधानी बनाया गया। दक्षिण-भारत के अपने राज्यों को मुगलों ने चार प्रान्तों में विभाजित किया—(i) खानदेश, जिसकी राजधानी बुरहानपुर थी और जिसके अन्तर्गत सबसे अधिक दृढ़ किला असीरगढ़ का था; (ii) बरार, जिसकी राजधानी एलिचपुर को बनाया गया और जिसमें दृढ़तम दुर्ग ग्वालगढ़ का था; (iii) तेलंगाना, जिसकी राजधानी नन्देर को बनाया गया और जिसकी सीमाओं पर सबसे अधिक दृढ़ दुर्ग कन्धार का था; तथा (iv) अहमदनगर, जिसकी राजधानी पहले अहमदनगर और बाद में दौलताबाद बनायी गयी। इन चार प्रान्तों में 64 दुर्ग थे। इन दुर्गों में कुछ दुर्ग उस समय भी शाहजी भौंसले और कुछ अन्य विरोधी सामन्तों के अधिकार में थे। इनमें से कुछ को औरंगजेब की प्रथम सूबेदारी के कार्यकाल में विजय किया गया। शाहजी भौंसले ने 1636 में मुगलों से सन्धि करके अहमदनगर-राज्य के वंशज-बालक, जुनार का दुर्ग और अन्य छः किलों को मुगलों को सौंप दिया था। 1638 में सलीर और मलीर के किले तथा बगलाना जिले के 34 परगनों को विजय किया गया।

1652 में औरंगजेब को पुनः दक्षिण-भारत के मुगल-सूबों का सूबेदार नियुक्त किया गया जिस पद पर उसने 1657 तक कार्य किया। उसकी अनुपस्थिति में दक्षिण के प्रदेशों की स्थिति खराब हो गयी थी। वहाँ सूबेदारों में शीघ्र परिवर्तन किये गये थे और जो सूबेदार नियुक्त किये गये थे, वे सभी अयोग्य सिद्ध हुए थे। ऐसी स्थिति में मुगल बीजापुर और गोलकुण्डा के विरुद्ध कोई भी साहसिक कदम न उठा सके और जो प्रयत्न किये गये वे असफल हुए। अयोग्य सूबेदारों और निरर्थक युद्धों ने दक्षिण के मुगल-सूबों की आर्थिक स्थिति को भी नष्ट कर दिया। दस वर्ष पहले इन सूबों की आय अनुमानतया 3 करोड़ 62 लाख रुपया प्रति वर्ष थी। परन्तु 1652 में इन सूबों से केवल एक करोड़ रुपये आय हुई। मुगलों को दक्षिण-भारत में एक बड़ी सेना भी रखनी पड़ती थी क्योंकि दक्षिण के राज्यों से निरन्तर युद्ध होते रहते थे। इस बड़ी सेना का व्यय भी बहुत अधिक था। इस कारण, दक्षिण के सूबों की आय उनके शासन-प्रबन्ध के लिए भी पर्याप्त न थी जिसके कारण इनके शासन के लिए केन्द्रीय सरकार से आर्थिक सहायता प्राप्त करनी पड़ती थी। उसी प्रकार दक्षिण के मुगल-जागीरदारों के पास भी धन का अभाव था जिसके कारण वे भी उतनी मात्रा में अपने पास सैनिक नहीं रख पाते थे जितनी कि उनसे आशा की जाती थी। इस प्रकार, औरंगजेब ने जब इन सूबों के शासन का उत्तरदायित्व पुनः अपने हाथों में लिया तब इनकी आर्थिक व्यवस्था शोचनीय थी। औरंगजेब ने सर्वप्रथम इन सूबों की अर्थ-व्यवस्था को ठीक करने का प्रयत्न किया। उसने शाहजहाँ से अनुमति लेकर कुछ जागीरदारों को उनकी भूमि से पृथक् कर दिया और स्वयं उनकी भूमि पर अधिकार कर लिया। इससे उसे कुछ आर्थिक लाभ हुआ। परन्तु मुख्य समस्या

लगान में वृद्धि करने की थी। यह तभी सम्भव था जब किसानों की स्थिति में सुधार किया जाय और पैदावार में वृद्धि हो। उसने इसके लिए भी भरसक प्रयत्न किया। इस कार्य में उसे बगलाना जिले के दीवान मुर्शिदकुलीखाँ से विशेष सहायता मिली। उसने लगान-व्यवस्था के लिए दक्षिण-भारत के मुगल प्रदेशों को दो भागों में बाँटा। उनमें से एक पेनघाट था जिसमें खानदेश और बरार का आधा भू-क्षेत्र सम्मिलित था और दूसरा था बालाघाट जिसमें मुगलों की दक्षिण-भारत की बची हुई सम्पूर्ण भूमि थी। प्रत्येक भाग में एक उप-दीवान की नियुक्ति की गयी। मुर्शिदकुलीखाँ ने भूमि की नाप करायी, उत्पादन के आधार पर उसे कई वर्गों में विभाजित किया और यह पता लगाया कि किस किसान के पास किस प्रकार की और कितनी भूमि है। उसने ईमानदार अधिकारियों की नियुक्ति की और तकावी-कर्ज में दिये गये धन को किसानों से वापस लिया जिसे निर्धन किसानों की सहायता के लिए बाँट दिया गया। किसानों से पैदावार का $\frac{1}{4}$ भाग लगान के रूप में लिया गया। इस प्रकार, सामान्यतया, मलिक अम्बर ने अहमदनगर में जो लगान-व्यवस्था स्थापित की थी, उसे पुनः स्थापित किया गया तथा राजा टोडरमल की लगान-व्यवस्था के आधार पर उसमें आवश्यक सुधार भी किया गया। किसानों को सुरक्षा प्रदान की गयी और खेती-योग्य भूमि में वृद्धि की गयी। निर्धन किसानों को बीज, हल आदि खरीदने के लिए कर्ज दिये गये, जमीन की नाप और बेकार तथा कृषि के अन्तर्गत भूमि का हिसाब रखने के लिए **अमीन** नामक अधिकारियों की नियुक्ति की गयी तथा किसानों के अधिकारों की रक्षा तथा लगान वसूल करने में सरकार की सहायता के लिए **मुकद्दम** नामक अधिकारियों की नियुक्ति की गयी। लगान वसूल करने के स्थानीय तरीकों के अतिरिक्त, उत्तरी भारत की **जरीब** व्यवस्था को भी दक्षिण के इन प्रान्तों में लागू किया गया जिसके अनुसार भूमि के निरीक्षण करने तथा पैदावार की किस्म और उत्पादन का अनुमान करके किसानों से प्रति बीघा के आधार पर लगान निश्चित किया गया। मुर्शिदकुलीखाँ इन कार्यों की स्वयं देखभाल करता था। इस कारण, उसके लगान-सम्बन्धी सुधार सफल हुए और लगान में वृद्धि हुई। इस कारण, औरंगजेब का दक्षिण-भारत की सूबेदारी का द्वितीय काल आर्थिक सुधारों की दृष्टि से महत्वपूर्ण रहा।

इसी अवसर पर औरंगजेब ने बीजापुर और गोलकुण्डा के प्रभुत्व को पूर्णतया समाप्त करने का प्रयत्न किया। गोलकण्डा ने वार्षिक कर पूरी तरह से नहीं दिया था, फारस के शाह की कन्धार विजय से उसे प्रोत्साहन मिला था और, सम्भवतया, उसने शिया धर्म को पुनः स्थापित करने का प्रयत्न किया था। इस प्रकार, वह 1636 में की गयी सन्धि की शर्तों की पूर्ति नहीं कर रहा था। औरंगजेब के लिए यह एक सुअवसर था। उसकी निगाहें गोलकुण्डा की सम्पत्ति पर लगी हुई थीं, वह मध्य-एशिया और कन्धार में हुए अपने असफल आक्रमणों के असम्मान को धो देना चाहता था तथा दक्षिण के राज्यों को जीतकर अपनी शक्ति और प्रभाव में वृद्धि करना चाहता था।

ऐसी स्थिति में उसे सिर्फ अवसर की तलाश थी। गोलकुण्डा का वार्षिक कर पूरी तरह से न देने का बहाना उसके पास था ही। मीर जुमला की घटना ने उसे शाहजहाँ की आज्ञा से गोलकुण्डा पर आक्रमण करने का अवसर दे दिया। मीर जुमला का असली नाम मीर मुहम्मद सैयद था जो 25 वर्ष पहले एक जौहरी के नौकर के रूप में गोलकुण्डा आया था। अपनी व्यापारिक प्रतिभा से बहुत शीघ्र ही उसने अपना स्वतन्त्र व्यापार कर लिया और बहुत सम्पत्ति एकत्रित कर ली। उसने

अपनी योग्यता से अब्दुल्ला कुतुबशाह को प्रसन्न कर लिया और शाह का वजीर बन गया। उसने कर्नाटक को उसके हिन्दू राजा श्रीरंगराय से छीन लिया और उसे अपने व्यक्तिगत शासन में रखा। इस प्रकार, प्रायः 300 मील लम्बा और 50 मील चौड़ा भू-क्षेत्र मीर जुमला की व्यक्तिगत जागीर बन गया। इसके अतिरिक्त, व्यापार और लूट के द्वारा भी उसने बहुत सम्पत्ति एकत्रित कर ली। एक फ्रान्सीसी यात्री, थोवनोट ने लिखा है कि उसके पास बीस मन वजन के हीरे थे। इसके अतिरिक्त, मीर जुमला ने अपनी व्यक्तिगत सेना भी संगठित कर ली थी जिसमें 5,000 घुड़सवार, 20,000 पैदल और एक अच्छा तोपखाना सम्मिलित था। कुतुबशाह उसकी बढ़ती हुई शक्ति से शंकित हो गया और जब मीर जुमला ने कर्नाटक को कुतुबशाह के आधिपत्य में देने से इन्कार कर दिया तो उसका सन्देह विश्वास में परिणत हो गया। उसने मीर जुमला को कैद करने का प्रयत्न किया। मीर जुमला ने फारस, बीजापुर और मुगलों से बातचीत आरम्भ की। शाहजहाँ ने मीर जुमला को अपनी सेवा में ले लिया और कुतुबशाह को आदेश दिये कि वह मीर जुमला को दिल्ली आने दे। इसी बीच में मीर जुमला के पुत्र मोहम्मद अमीन के अशिष्ट व्यवहार के कारण कुतुबशाह ने उसे और उसके परिवार के सदस्यों को कैद कर लिया तथा उसकी सम्पत्ति जब्त कर ली। शाहजहाँ की स्वीकृति लेकर औरंगजेब ने अपने पुत्र शाहजादा मोहम्मद को जनवरी 1556 में गोलकुण्डा पर आक्रमण करने की आज्ञा दे दी। मीर जुमला पहले ही मुगलों से आकर मिल गया था और शाहजहाँ के आदेश से कुतुबशाह ने उसके पुत्र और परिवार के सदस्यों को भी छोड़ दिया। परन्तु औरंगजेब ने मीर जुमला की सम्पत्ति और मुगलों को दिये जाने वाले बचे हुए कर को गोलकुण्डा से लेने के बहाने गोलकुण्डा पर आक्रमण कर दिया। मुगलों ने हैदराबाद को जीत लिया और कुतुबशाह को गोलकुण्डा के किले में घेर लिया गया। कुतुबशाह ने बीजापुर से सहायता माँगी और शाहजहाँ से माफी माँगी। उसने अपनी माँ को सन्धि की बातचीत के लिए औरंगजेब के पास भेजा। औरंगजेब ने कुतुबशाह की एक पुत्री से अपने पुत्र शाहजादा मोहम्मद का विवाह, 1 करोड़ रुपये का दहेज और बचे हुए कर की माँग की। इसी समय औरंगजेब को शाहजहाँ के आदेश प्राप्त हुए कि वह गोलकुण्डा से अपनी सेनाएँ हटा ले। कुछ समय तक औरंगजेब ने इस आदेश को गुप्त रखा और किले का घेरा डाले रखा। परन्तु अब शीघ्र सन्धि करना आवश्यक हो गया था। इस कारण, उसी वर्ष 1656 में गोलकुण्डा से सन्धि कर ली गयी। कुतुबशाह ने अपनी एक पुत्री का विवाह शाहजादा मोहम्मद से कर दिया, 10 लाख रुपया दहेज में दिया, 15 लाख रुपया युद्ध के हर्जाने का दिया, मीर जुमला की सम्पत्ति वापस कर दी, बचे हुए कर को देने का वायदा किया और मुगल आधिपत्य को स्वीकार कर लिया।

(iii) **बीजापुर**—बीजापुर ने सर्वदा मुगल बादशाह के विरुद्ध अहमदनगर को सहायता दी तथा दक्षिण में मुगल प्रभाव को बढ़ने देने के विरोध में कार्य करता रहा था। जहाँगीर की मृत्यु से कुछ माह पहले सुल्तान इब्राहीम शाह की मृत्यु हो गयी और मुहम्मद आदिलशाह सुल्तान बना। आदिलशाह की अपनी कोई स्वतन्त्र नीति न थी जबकि उसके दो प्रमुख सरदार रनदुल्लाखाँ और मुस्तफाखाँ की मुगलों के बारे में विरोधी राय थी। रनदुल्लाखाँ मुगलों के विरोध में था जबकि मुस्तफाखाँ मुगलों से अच्छे सम्बन्ध रखने के पक्ष में था। आरम्भ में मुस्तफाखाँ की नीति का पालन किया

गया और रनदुल्लाखाँ को अहमदनगर के विरुद्ध मुगलों की सहायता करने के आदेश दिये गये। रनदुल्लाखाँ ने मुगलों के प्रति सहायता का दिखावा मात्र किया और सुल्तान के आदेशों के अनुसार कार्य न किया बल्कि एक स्थान पर उसने मुगलों पर आक्रमण भी किया। इस कारण, बीजापुर और मुगलों के सम्बन्ध अच्छे न रहें।

1631 में शाहजहाँ ने आसफखाँ को बीजापुर पर आक्रमण करने के आदेश दिये। मुगल सेना ने कन्धार को (तेलंगाना में) जीता और गुलवर्गा को लूटा। परन्तु वह गुलबर्गा के किले पर अधिकार न कर सकी। आसफखाँ गुलबर्गा को बीच में छोड़कर बीजापुर के किले तक पहुँच गया। बीजापुर ने आसफखाँ को सन्धि-चर्चा में लगाये रखा और युद्ध भी चलाये रखा। सेना के लिए रसद की कमी और वर्षा का समय आ जाने के कारण आसफखाँ को वापस लौटना पड़ा और बीजापुर की सेना ने मुगलों को अपनी समस्त भूमि से-बाहर निकाल दिया। शाहजहाँ ने इस असफलता से असन्तुष्ट होकर आसफखाँ को हटा दिया और महावतखाँ को दक्षिण का सूबेदार नियुक्त किया। इस अवसर पर भी बीजापुर ने मुगलों के विरुद्ध अहमदनगर को सहायता दी। महावतखाँ ने अहमदनगर राज्य के मुख्य किले दौलताबाद को जीतने और अहमदनगर के स्वतन्त्र अस्तित्व को समाप्त करने में सफलता पायी परन्तु वह परेन्द्र के किले को जीतने में असफल रहा जिस पर बीजापुर ने अधिकार कर रखा था। अक्टूबर 1634 में बीमारी और इस असफलता के धक्के के कारण महावतखाँ की मृत्यु हो गयी। इसके पश्चात् शाहजहाँ का ध्यान जूझरसिंह के विद्रोह की तरफ लग गया, और बीजापुर के विरुद्ध सफलता न पायी जा सकी।

1636 में शाहजहाँ स्वयं दौलताबाद गया। बीजापुर की स्थिति इस समय दुर्बल थी। मुहम्मद आदिलशाह अपने सरदारों को नियन्त्रण में रखने में असमर्थ रहा था। खवासखाँ ने वजीर मुस्तफाखाँ को कैद कर लिया परन्तु थोड़े समय के पश्चात् रनदुल्लाखाँ ने खवासखाँ और उसके सहयोगी मुरारी पण्डित को मार दिया और फिर मुस्तफाखाँ को वजीर बना दिया। ऐसी हालत में जबकि बीजापुर की स्थिति ठीक न थी और उसकी नीति निश्चित न थी, शाहजहाँ ने बीजापुर पर आक्रमण किया। शाहजहाँ के इस आक्रमण ने बीजापुर को भयभीत कर दिया और वह सन्धि को तत्पर हो गया। 1636 में हुई इस सन्धि के अनुसार—

(अ) बीजापुर ने मुगल आधिपत्य को स्वीकार कर लिया और 20 लाख रुपया प्रतिवर्ष मुगलों को देना स्वीकार किया।

(ब) बीजापुर ने यह वायदा किया कि यदि शाहजी भौंसले चुनार और त्रिम्बक के किले मुगलों को न सौंपे तो वह मुगलों की सहायता करेगा।

(स) बीजापुर ने गोलकुण्डा से मित्रता का और उससे होने वाले अपने झगड़ों का निर्णय मुगलों द्वारा कराने का वायदा किया।

(द) शाहजहाँ ने स्वेच्छा से परेन्द्र, बीदर, गुलबर्गा, शोलापुर, आदि स्थान बीजापुर को दे दिये।

इस प्रकार, 1636 में बीजापुर ने मुगल आधिपत्य को स्वीकार कर लिया। इसी वर्ष गोलकुण्डा ने भी मुगलों से सन्धि कर ली और शाहजी ने मुगलों से सन्धि करके बीजापुर की सेवाएँ स्वीकार कर लीं। 1636 का समय मुगलों की दक्षिण-नीति के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण रहा। डॉ. आर. पी. त्रिपाठी ने लिखा है कि 1636

में मुगल बादशाह और बीजापुर तथा गोलकुण्डा के बीच में हुई सन्धियाँ मुगल-साम्राज्य और दक्षिण के इतिहास में महत्वपूर्ण हैं। उन्होंने निजामशाही राज्य और बहमनी राज्य के पतन के उपरान्त दक्षिण-भारत की मुस्लिम रियासतों के इतिहास के एक अध्याय को समाप्त कर दिया। दक्षिण में शक्ति-सन्तुलन समाप्त हो गया जिसका लाभ मुगलों और मराठों को हुआ। इसी प्रकार, डॉ. जदुनाथ सरकार ने लिखा है कि "इस प्रकार चालीस वर्ष (1595-1636) के संघर्ष के पश्चात् अन्त में दक्षिण के मामले का निर्णय हुआ। बादशाह की सत्ता निर्विवाद स्थापित हो गयी, उसकी सीमाएँ निश्चित हो गयीं और दक्षिण के राज्यों पर उसकी संप्रभुता नियम-पूर्वक स्थापित हो गयी।"[1]

1636 में हुई सन्धि के पश्चात् प्रायः 20 वर्षों तक बीजापुर में शान्ति रही। मुहम्मद आदिलशाह एक योग्य शासक सिद्ध हुआ। उसने शाहजहाँ से अपने सम्बन्ध ठीक रखे। शाहजहाँ के कहने से उसने 'खानखाना' का पद अपने सरदारों को देना बन्द कर दिया और जब शाहजहाँ ने उसे इस बात के लिए कड़ा पत्र लिखा कि उसने शाही फर्मान को चार मील आगे आकर क्यों नहीं लिया तब भी वह अपने इस अपमान को बर्दाश्त कर गया। परन्तु विदेश-नीति के सम्बन्ध में बीजापुर और शाहजहाँ के सम्बन्ध स्पष्ट न थे। इस कारण, आदिलशाह ने कर्नाटक के कुछ भाग पर बादशाह की स्वीकृति के बिना अपना अधिकार कर लिया। इससे शाहजहाँ असन्तुष्ट हुआ। परन्तु आदिलशाह प्रथम के समय में बीजापुर और मुगलों में कोई झगड़ा नहीं हुआ। नवम्बर 1656 में आदिलशाह प्रथम की मृत्यु हो गयी। उसकी बेगम 'बड़ी साहिबा' की सहायता से उसके तथाकथित 18 वर्षीय पुत्र को आदिलशाह द्वितीय के नाम से गद्दी पर बैठाया गया। यह विश्वास किया जाता था कि आदिलशाह के कोई पुत्र न था और 'बड़ी साहिबा' ने इस लड़के को वैसे ही अपना पुत्र बना लिया था। औरंगजेब ने इस बात की सूचना शाहजहाँ को दी। इस समय को शाहजहाँ ने बीजापुर को पूर्णतया अपनी अधीनता में लाने के लिए उपयुक्त समझा। बीजापुर पर यह दोष लगाया गया कि उसने वार्षिक कर पूरी मात्रा में नहीं दिया था, और गोलकुण्डा की सहायता के लिए उसने सेना को भी संगठित किया था। उसने कर्नाटक की मीर जुमला की भूमि पर अधिकार भी कर लिया था। इस आधार पर शाहजहाँ ने औरंगजेब को बीजापुर पर आक्रमण करने का आदेश दिया और मीर जुमला तथा अन्य अधिकारियों को उसकी सहायता के लिए भेजा। मुगल सेना ने बीदर के किले को जीत लिया, गुलबर्गा में एकत्रित बीजापुर की सेना को नष्ट कर दिया और अगस्त 1657 में कल्याणी के किले को जीत लिया। औरंगजेब ने बीजापुर पर भी आक्रमण किया। परन्तु उसी समय शाहजहाँ के आदेश प्राप्त हुए कि बीजापुर से, जो सन्धि के लिए तैयार है, सन्धि कर ली जाय और मीर जुमला को दिल्ली भेज दिया जाय। औरंगजेब को सन्धि करने के लिए बाध्य होना पड़ा। 1657 में हुई इस सन्धि के अनुसार, बीजापुर ने 1½ करोड़ रुपया मुगलों को देना स्वीकार किया

---

1 "Thus after forty years of strife (1595-1636) the affairs of the Deccan were at last settled. The position of the Emperor was asserted beyond challenge, his boundaries clearly defined, and his suzerainty over the southern kingdoms formally established."

—*Dr. Jadunath Sarkar.*

परन्तु इसमें से 50 लाख रुपया शाहजहाँ ने उदारता से माफ कर दिया। इसके अतिरिक्त, बीदर और कल्याणी के किले मुगलों की अधीनता में रहे। परन्तु उसी अवसर पर शाहजहाँ की तबियत खराब हो जाने के कारण उसके पुत्रों में युद्ध की आशंका हो गयी। इससे लाभ उठाकर आदिलशाह ने इस सन्धि की शर्तों का पालन नहीं किया। जो कुछ औरंगजेब औरंगाबाद वापस आते हुए (जनवरी 1658) बीजापुर से ले सका वही मुगलों को प्राप्त हो सका।

उसी समय जबकि औरंगजेब बीजापुर और गोलकुण्डा के साथ युद्धों में लगा हुआ था, शाहजी भौंसले के लड़के शिवाजी ने अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने का कार्य आरम्भ किया और मुगल सीमाओं पर आक्रमण करने आरम्भ कर दिये। औरंगजेब ने एक सेना शिवाजी पर आक्रमण करने के लिए भेजी जिसने शिवाजी को परास्त कर दिया। इसके पश्चात् बीजापुर से सन्धि हो जाने के वाद शिवाजी ने भी मुगलों से समझौता कर लिया और मुगल आधिपत्य स्वीकार कर लिया।

इस प्रकार, शाहजहाँ के समय में मुगलों की दक्षिण-नीति पर्याप्त सफल रही। अहमदनगर के राज्य को पूर्णतया समाप्त कर दिया गया। बीजापुर तथा गोलकुण्डा से भूमि छीनी गयी, कुछ किले लिये गये, उनसे धन वसूल किया गया, उनकी शक्ति को दुर्बल कर दिया गया और उन्हें स्पष्ट रूप से मुगलों की अधीनता में ले लिया गया। सम्भवतया, बीजापुर और गोलकुण्डा के अस्तित्व को भी समाप्त कर दिया गया होता यदि स्वयं शाहजहाँ ने औरंगजेब के मार्ग में बाधा डालकर उनको जीवित रहने का अवसर प्रदान न किया होता। शाहजहाँ स्वयं दक्षिण की राजनीति की गम्भीरता से परिचित था और उसने यह ठीक समझा था कि इन राज्यों को समाप्त कर देने से दक्षिण की राजनीति अधिक कठिन हो जायगी। इस कारण, वह इन राज्यों को दुर्बल करके और उनको अपनी अधीनता स्वीकार कराकर ही सन्तुष्ट हो गया। यह भी विश्वास किया जाता है कि शाहजहाँ का पुत्र दाराशिकोह और पुत्री जहानआरा इन राज्यों को समाप्त करने के पक्ष में न थे। दाराशिकोह को औरंगजेब की बढ़ती हुई शक्ति और सम्मान से खतरा हो सकता था। इस कारण, उनके प्रभाव से शाहजहाँ ने इन राज्यों का अस्तित्व रहने दिया। शाहजहाँ की बीमारी और उत्तराधिकार के लिए युद्ध की सम्भावना भी इन राज्यों के जीवित रह जाने का कारण बनी।

2. कुछ छोटी विजयें

शाहजहाँ के समय में कुछ छोटे-छोटे प्रदेश भी जीते गये। मालवा और गौंड के भीलों को मुगल आधिपत्य में लिया गया, पालामऊ के राजा प्रताप को मुगल आधिपत्य स्वीकार करने के लिए वाध्य किया गया और छोटे तिब्बत को जीता गया। 1634 में छोटे तिब्बत के राजा ने शाहजहाँ का आधिपत्य स्वीकार कर लिया था, परन्तु 1637-38 में वहाँ के शासक अब्दुल को दबाने के लिए एक मुगल सेना भेजी गयी और उसने मुगल आधिपत्य स्वीकार कर लिया। 1628-1639 के समय में असम से निरन्तर युद्ध होता रहा परन्तु अन्त में सीमाएँ निश्चित कर ली गयीं और असम से व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित किये गये।

[3]

मध्य-एशिया

अपने से पहले के सभी मुगल बादशाहों की भाँति शाहजहाँ भी मध्य-एशिया

को जीतने के लिए उत्सुक था। 1628 और 1629 में मध्य-एशिया के शासक इमामकुली के भाई नजर मुहम्मद ने समरकन्द पर अधिकार कर लिया। 1645 में उसके पुत्र अब्दुल अजीज ने विद्रोह किया। शाहजहाँ ने उससे लाभ उठाने का प्रयत्न किया। पहले शाहजादा मुराद को मध्य-एशिया भेजा गया, और उसने सफलता भी प्राप्त की। मुराद के वापस आ जाने पर शाहजादा औरंगजेब को भेजा गया। प्रारम्भिक सफलता के पश्चात् औरंगजेब को भी वापस आना पड़ा (1647)। इस प्रकार, मध्य-एशिया को अपने अधिकार में करने का शाहजहाँ का प्रयत्न असफल हुआ (मध्य-एशिया-नीति के विस्तृत अध्ययन के लिए अध्याय 10 देखिए)।

[4]

कन्धार

कन्धार सर्वदा से मुगलों और फारस के शासकों के बीच संघर्ष का कारण बना हुआ था। जहाँगीर के समय में 1622 में कन्धार पर फारस ने अधिकार कर लिया था। 1638 में फारस के किलेदोर अलीमर्दनखाँ ने स्वेच्छा से यह किला मुगलों को सौंप दिया। मध्य-एशिया में मुगलों के आक्रमण की असफलता से प्रोत्साहित होकर 1648 में फारस ने कन्धार पर आक्रमण किया और इससे पहले कि किले को कोई सहायता पहुँच पाती, उस पर अधिकार कर लिया। 1649 में औरंगजेब कन्धार पहुँचा परन्तु उसे जीतने में असफल रहा। 1652 में एक बार फिर औरंगजेब को कन्धार जीतने के लिए भेजा गया परन्तु वह पुनः असफल रहा। इसी प्रकार, 1653 में दाराशिकोह द्वारा कन्धार को जीतने का प्रयत्न भी असफल रहा। इस प्रकार, शाहजहाँ के समय में कन्धार एक बार मुगलों को प्राप्त हुआ परन्तु पुनः खो गया (कन्धार-नीति के विस्तृत अध्ययन के लिए अध्याय 10 देखिए)।

[5]

उत्तराधिकार का युद्ध

6 सितम्बर, 1657 को शाहजहाँ बीमार पड़ गया और उसकी तबियत इतनी अधिक खराब हो गयी कि उसने दरबार और झरोखा-दर्शन में आना बन्द कर दिया। इससे राज्य में दुश्चिन्ताएँ उत्पन्न हो गयीं। बादशाह शक्ति, शान्ति और व्यवस्था का प्रतीक था। प्रत्येक बादशाह की मृत्यु पर संघर्ष और अव्यवस्था की आशंका रहती थी जिससे सभी को हानि की सम्भावना होती थी। इस अवसर पर भी ऐसा ही हुआ। शाहजहाँ की मृत्यु की सम्भावना मात्र से विभिन्न व्यक्ति और वर्ग अनेक प्रकार की चिन्ताएँ करने लगे। शाहजहाँ का प्रत्येक पुत्र गद्दी प्राप्त करने को उत्सुक था, विभिन्न सरदार पृथक्-पृथक् शाहजादों का पक्ष लेने के लिए तत्पर थे, हिन्दू ऐसे शाहजादे का समर्थन करना चाहते थे जो धार्मिक उदारता के पक्ष में हो, कट्टर मुसलमान ऐसे शाहजादे का पक्ष लेने के लिए तत्पर थे जो इस्लाम के सम्मान की रक्षा करे और जनसाधारण अशान्ति एवं अव्यवस्था की आशंका से भयभीत था। विभिन्न आशंकाओं और सन्देहों का निवारण करने के लिए शाहजहाँ ने कभी-कभी झरोखा-दर्शन के लिए जाना आरम्भ कर दिया और यह अनुभव करके कि उसका स्वास्थ्य शासन का उत्तरदायित्व निभाने के योग्य नहीं है उसने अपने सबसे बड़े पुत्र दाराशिकोह को अपने सभी सरदारों के सम्मुख अपना उत्तराधिकारी घोषित किया और जब तक वह स्वयं जीवित था, तब तक अपनी तरफ से शासन करने का उत्तर-

दायित्व उसे सौंप दिया। उसका आशय यह था कि ऐसा करने से, सम्भवतया, उसके पुत्रों में सिंहासन के लिए युद्ध नहीं होगा। परन्तु उत्तराधिकार के विषय में मुस्लिम क़ानून बहुत लचीला था और अधिकांशतयो तलवार की शक्ति के आधार पर ही उसका निर्णय हुआ करता था। शाहजहाँ ने स्वयं इसी आधार पर अपने सभी विरोधियों को समाप्त करके सिंहासन पर अधिकार किया था। शाहजहाँ के पुत्रों ने इसी प्रकार का निश्चय किया।

सिंहासन के लिए शाहजहाँ के पुत्रों में जो युद्ध हुआ, उसे मुगल इतिहास में 'उत्तराधिकार का युद्ध' के नाम से पुकारा गया है। ऐसा नहीं है कि उत्तराधिकार के युद्ध इससे पहले या इसके बाद नहीं हुए। हुमायूँ को अपने भाइयों से युद्ध करना पड़ा था, अकबर का विरोध उसके सौतेले भाई मिर्जा हकीम ने किया था, जहाँगीर ने अकबर के विरुद्ध विद्रोह किया था, शाहजहाँ ने भाइयों का कत्ल करके गद्दी प्राप्त की थी, तथा औरंगजेब के पुत्रों में भी उत्तराधिकार के लिए युद्ध हुआ। परन्तु शाहजहाँ के पुत्रों में हुआ 'उत्तराधिकार का युद्ध' भीषणतम था। यह बादशाह के जीवित रहते हुए लड़ा गया तथा, सम्भवतया, गम्भीरतम प्रश्नों और प्रभावशाली व्यक्तियों के लाभ और हानियों से सम्बन्धित था। इस कारण, इस युद्ध को स्पष्टतया 'उत्तराधिकार का युद्ध' की संज्ञा दी गयी है। शाहजहाँ की सभी महत्वपूर्ण सन्तानें, जिनका नाम इतिहास में उल्लेखनीय है, उसकी प्रिय बेगम मुमताजमहल से उत्पन्न हुई थीं। उसकी 14 सन्तानों में से 7 जीवित रहीं। इसमें से चार लड़के और तीन लड़कियाँ थीं। इनके नाम थे : जहानआरा (जन्म 1614), दाराशिकोह (जन्म 1615), शाहशुजा (जन्म 1616), रोशनआरा (जन्म 1617), औरंगजेब (जन्म 1618), मुरादबक्स (जन्म 1624) और गौहनआरा (जन्म 1631)। इनमें से प्रत्येक ने इस उत्तराधिकार के युद्ध में भाग लिया। चारों ही भाई सिंहासन के लिए प्रयत्नशील न थे बल्कि बहिनों ने भी किसी न किसी भाई का पक्ष लिया। जहानआरा दाराशिकोह के पक्ष में थी, रोशनआरा औरंगजेब की सहायता कर रही थी और गौहनआरा ने मुरादबक्स का पक्ष लिया था।

दाराशिकोह शिक्षित, सुसभ्य और उदार विचारों का था। वह सच्चरित्र, दयालु और पितृभक्त था। उसके धार्मिक विचार बहुत उदार थे और बहुसंख्यक हिन्दुओं के प्रति उसे सद्भावना थी। उसे पंजाब की सूबेदारी प्राप्त थी परन्तु वह बादशाह के निकट ही रहता था। उसे शासन का अनुभव था। उसमें साहस, शौर्य और उत्साह की भी कमी न थी। अपने चरित्र और विचारों के कारण वह बादशाह और जनसाधारण का प्रिय था और सम्भवतया भारत के लिए सबसे उपयुक्त बादशाह सिद्ध होता। परन्तु दारा औरंगजेब की तुलना में सेनापति और कूटनीति की दृष्टि से दुर्बल था। शाहजहाँ ने जब उसे राज्य का उत्तराधिकारी नियुक्त कर दिया तब जहाँ उसे कुछ लाभ प्राप्त हुआ वहाँ उसे कठिनाई भी हुई। उसे बादशाह की सम्पत्ति से राज्य का शासन करना था और अपने भाइयों से सिंहासन के लिए युद्ध भी करना था। बादशाह के प्रतिनिधि की दृष्टि से कार्य करते हुए वह अपनी इच्छानुसार कार्य करने के लिए पूर्णतया स्वतन्त्र न था जबकि उसके प्रत्येक कार्य को उसके भाई और उनके समर्थक शंका और प्रतिहिंसा की दृष्टि से देख सकते थे। उसके सभी भाइयों ने यह अनुभव किया कि दारा अपनी स्थिति को दृढ़ करने का प्रयत्न कर रहा है। इस कारण, वे शीघ्र से शीघ्र उससे युद्ध करके सत्ता प्राप्त करने के उत्सुक हो गये और

शाहजहाँ का प्रभाव समाप्त हो गया। शाहशुजा उस समय बंगाल का सूबेदार था। वह एक आकर्षक व्यक्ति और योग्य सैनिक था। परन्तु वह आरामपसन्द था और बंगाल की जलवायु और सम्पत्ति ने उसे विलासप्रिय बना दिया था। धार्मिक दृष्टि से वह शिया था और उसे शियाओं का समर्थन प्राप्त था। औरंगजेब दक्षिण का सूबेदार था। वह साहसी, कट्टर, परिश्रमी और दृढ़-निश्चयी था। कन्धार और मुख्यतया मध्य-एशिया के युद्धों ने उसे एक योग्य सेनापति बना दिया था। कूटनीति में वह अपने सभी भाइयों से श्रेष्ठ था और कलम तथा तलवार दोनों का प्रयोग कुशलता से कर सकता था। धार्मिक दृष्टि से वह कट्टर सुन्नी मुसलमान था और कट्टर सुन्नी-वर्ग और सरदार उसको बादशाह बनाकर इस्लाम की प्रतिष्ठा स्थापित करने का स्वप्न देख रहे थे। यथार्थ में पर्याप्त समय पहले से भारत में इस्लाम के प्रतिक्रिया-वादी तत्व शक्तिशाली होते जा रहे थे और कुछ मात्रा में वे जहाँगीर और शाहजहाँ की धार्मिक नीतियों को प्रभावित करने में सफल हुए थे। शेख अहमद सरहिन्दी और अब्दुल हक देहलवी उनको नेतृत्व प्रदान कर रहे थे। ऐसे व्यक्तियों का लक्ष्य भारत में इस्लाम के आदर्शों के अनुकूल राज्य की स्थापना करना था। ऐसे सभी व्यक्तियों और तत्वों ने उदार शाहजादा दाराशिकोह के विरुद्ध इस्लाम के कट्टर समर्थक औरंगजेब के पक्ष का समर्थन किया। मुराद भावना-प्रधान और अव्यावहारिक था। वह बहादुर और आरामपसन्द दोनों था। युद्ध-क्षेत्र में वह एक कट्टर, साहसी और प्रत्येक खतरे को निर्भयता से उठाने वाला सैनिक और सेनापति था। परन्तु हरम में वह एक विलासपूर्ण शाहजादा था। वह उदार और प्रसन्नचित था परन्तु उसमें चालाकी, कूटनीति, सन्तुलन और व्यावहारिकता की कमी थी। व्यावहारिक राजनीति का न उसे ज्ञान था और न उसने उसका ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न ही किया था। हठी और असंयमी बच्चे की भाँति वह किसी से भी लड़ सकता था तथा दूसरे के हाथों में सरलता से खिलौना भी बन सकता था। वह गुजरात का सूबेदार था। शाह-जहाँ की बीमारी का समाचार प्राप्त करके इन चारों शाहजादों में से प्रत्येक ने अपने-अपने तरीके से बादशाह बनने का प्रयत्न प्रारम्भ कर दिया।

शाहशुजा, औरंगजेब और मुराद ने बादशाह को स्वयं देखने के बहाने राज-धानी की ओर बढ़ने का आग्रह किया। शाहजहाँ ने यह सिद्ध करने के लिए कि वह जीवित है, सभी शाहजादों को अपने हस्ताक्षरों से पत्र भेजे। सभी शाहजादों का सेनाएँ लेकर राजधानी की ओर बढ़ना राज्य के लिए संकट उपस्थित कर सकता था। शाहजहाँ ने शाहजादों को यह सूचना भेजी कि वे स्वयं केवल अपने शरीर-रक्षकों को ही लेकर आगरा आयें। परन्तु शाहजादों ने इसे स्वीकार नहीं किया। उन्हें भय था कि दाराशिकोह उनके जीवन को खतरे में डाल सकता है। इस प्रकार, स्थिति ऐसी हो गयी कि शाहजादों का विश्वास बादशाह और उसके सन्देशों से उठ गया अथवा उन्होंने उसकी परवाह न की और वे बल-प्रयोग के लिए तत्पर हो गये। मुराद ने अपने को गुजरात में और शाहशुजा ने अपने को बंगाल में स्वतन्त्र बादशाह घोषित कर दिया। जनवरी 1658 में सर्वप्रथम, शाहशुजा अपनी सेनाओं को लेकर राजधानी की ओर बढ़ा। मुराद ने अपने दीवान अलीनकी को कत्ल करा दिया, सूरत को लूटा और फरवरी में आगरा की ओर बढ़ा। औरंगजेब ने बीजापुर और गोलकुण्डा की रियासतों से जो धन मिल सकता था वह लिया, मीर जुमला से जो इस समय उसका मुख्य सहायक था, धन लिया और दक्षिण में अपनी स्थिति दृढ़ करके फरवरी में आगरा

की ओर बढ़ा। परन्तु औरंगजेब ने अपने को स्वतन्त्र बादशाह घोषित नहीं किया। उसने यह सिर्फ बहाना किया कि वह अपने बीमार पिता से मिलने जा रहा है। दारा के तीनों भाई दारा से ईर्ष्या करते थे और आपस में पत्र-व्यवहार कर रहे थे। औरंगजेब इसमें सबसे सफल रहा। उसने न केवल इस बात का ही सफल प्रयत्न किया कि उसकी गतिविधि की सूचना आगरा न पहुँच सके अपितु उसने मुराद से एक समझौता करने में भी सफलता पायी। मुराद के साथ यह समझौता हुआ कि दोनों भाई मिलकर दाराशिकोह को नष्ट करेंगे। उन्होंने यह भी कहा कि उनका आशय इस्लाम की सुरक्षा के लिए विधर्मी दारा को समाप्त करना है। सफलता के पश्चात् अफ़गानिस्तान, पंजाब, कश्मीर और सिन्ध मुराद को एक स्वतन्त्र शासक के रूप में प्राप्त होंगे और लूट के माल में से 1/3 भाग भी मुराद को मिलेगा। बाकी साम्राज्य और धन औरंगजेब को प्राप्त होगा अथवा वह इनके बारे में जो भी चाहे वह समझौता शाहशुजा के साथ कर सकता था।

शाहजहाँ ने इन विद्रोही सेनाओं का मुकाबला करने के लिए एक सेना दारा के पुत्र सुलेमानशिकोह और राजा जयसिंह के नेतृत्व में पूरब की ओर भेजी और दूसरी सेना राजा जसवन्तसिंह और कासिमखाँ के नेतृत्व में दक्षिण की ओर भेजी। इनको आदेश दिये गये थे कि पहले वे शाहजादों को समझाकर अपने सूबों में वापस जाने के लिए बाध्य करें और यदि युद्ध आवश्यक हो जाये तो शाहजादों का जीवन नष्ट न किया जाय। **शाही सेना का मुकाबला शाहशुजा से बनारस से पाँच मील दूर बहादुरपुर नामक स्थान पर 14 फरवरी, 1658 को हुआ। शाहशुजा की पराजय हुई** और वह बंगाल की ओर भाग गया। इसी अवसर पर दक्षिण में भी युद्ध हुआ। अप्रैल 1658 में दीपालपुर नामक स्थान पर औरंगजेब और मुराद की सेनाएँ मिल गयीं। राजा जसवन्तसिंह को इनका पता न लग सका। उसे केवल मुराद से मुकाबला होने की आशा थी। वह मुराद और औरंगजेब की सम्मिलित सेना से युद्ध करने के लिए तत्पर न था। इसके अतिरिक्त, कासिमखाँ का व्यवहार सन्देहजनक था। परन्तु उस समय न तो सन्धि-चर्चा का समय रह गया था और न उसने वापस लौटना सम्मानपूर्ण समझा। उज्जैन से 14 मील दूर **धरमट नामक स्थान पर दोनों सेनाओं का मुकाबला हुआ।** युद्ध में कासिमखाँ ने ठीक प्रकार से सहयोग नहीं दिया और युद्ध के बीच में भाग खड़ा हुआ। राजा जसवन्तसिंह और उसके राजपूतों को ही युद्ध का सम्पूर्ण भार उठाना पड़ा। परन्तु बहादुरी से मुकाबला करने के उपरान्त भी उनकी पराजय हुई। शाही सेना तितर-बितर हो गयी और राजा जसवन्तसिंह को घायल स्थिति में युद्ध-भूमि से हटाया गया। यही वह अवसर था जबकि उसके जोधपुर वापस लौटने पर उसकी रानी ने युद्ध-क्षेत्र से भागने के अपराध में उसको किले में नहीं घुसने दिया। धरमट के युद्ध को जीतने के पश्चात् औरंगजेब और मुराद की सेनाएँ ग्वालियर होती हुई आगे बढ़ीं। दारा शाहजहाँ की आज्ञा प्राप्त करने के पश्चात् उनका मुकाबला करने के लिए आगरा से बाहर निकला। आगरा से 8 मील दूर **सामूगढ़ नामक स्थान पर 8 जून, 1658 को दारा ने औरंगजेब और मुराद की सम्मिलित सेनाओं का मुकाबला किया।** दारा ने आरम्भ में ही एक भूल की। औरंगजेब और मुराद की सेनाएँ लगातार चलते रहकर सामूगढ़ पहुँची थीं और थकी हुई थीं। दारा ने उसी समय उन पर आक्रमण नहीं किया बल्कि उनको एक दिन आराम करने का अवसर दे दिया। **8 जून को ही युद्ध का निर्णय हो गया।** दारा

की पराजय हुई और उसे युद्ध-स्थल छोड़कर भागना पड़ा। दारा ने शर्म के कारण शाहजहाँ से भी मिलना पसन्द नहीं किया। अपने परिवार के सदस्यों को और अधिक से अधिक धन लेकर वह दिल्ली की ओर चल दिया।

सामूगढ़ के युद्ध ने दारा और भारत के भाग्य का निर्णय कर दिया। औरंगजेब स्पष्ट रूप से विजयी था। उसने आगरा के किले का घेरा डाल दिया, यमुना नदी के पानी को किले में जाने से बन्द कर दिया और शाहजहाँ को कुछ ही दिनों में किले के फाटक खोल देने के लिए बाध्य किया। बाप-बेटे में पत्र-व्यवहार हुआ और समझौते का मार्ग खोजा गया। परन्तु जब औरंगजेब अपने पिता से मिलने जा रहा था तब एक पत्र उसके हाथ लग गया जिसे शाहजहाँ ने दारा को लिखा था और जिससे स्पष्ट होता था कि शाहजहाँ उस समय भी अपने बड़े पुत्र के पक्ष में था। औरंगजेब अपने पिता से मिलने नहीं गया और उसके पश्चात् बाप-बेटे का पत्र-व्यवहार तो होता रहा परन्तु मुलाकात कभी नहीं हुई। अपने जीवन के अन्तिम वर्ष शाहजहाँ ने आगरा के किले में एक बन्दी की भाँति काटे। सामूगढ़ के युद्ध में दारा की पराजय के विभिन्न कारण थे। दारा अपने सम्पूर्ण तोपखाने को युद्ध-स्थल पर नहीं ले जा सका था, आरम्भ में उनका उपयोग उस समय किया गया जबकि शत्रुओं की सेना उसकी मार में न थी, और बाद में वह अपने तोपखाने और शत्रुओं के बीच में फँस गया जिससे तोपखाने का प्रयोग ठीक प्रकार न हो सका। दारा ने शत्रुओं की थकी हुई सेना को एक दिन आराम करने का अवसर दे दिया था। उसकी सेना के बायें भाग का सेनापति रुस्तमखाँ ठीक समय पर सहायता न पहुँचने के कारण लड़ता हुआ मारा गया और उसका वाम पक्ष दुर्बल हो गया। अपने बायें पक्ष को सहायता देने के लिए जब दारा मध्य से हटा तो वह अपने तोपखाने के सामने आ गया। शत्रु के तोपखाने की मार से बचने के लिए अपने कुछ सरदारों के कहने से वह हाथी के हौदे से उतर कर घोड़े पर सवार हो गया। खाली हौदे को देखकर उसके सैनिकों का मनोबल समाप्त हो गया। उसके सैनिकों ने समझा कि दारा मारा गया और वे हतोत्साहित होकर भाग खड़े हुए। राजपूतों ने दारा का पूर्ण साथ दिया और युद्ध में अन्त तक लड़े, लेकिन अनेक मुसलमान सरदारों ने दारा का साथ नहीं दिया, यहाँ तक कि उसके दाहिने पक्ष के सेनापति खलीलुल्लाखाँ और उसके सैनिकों ने युद्ध में केवल दिखावे का ही भाग लिया। इन कारणों से दारा की पराजय हुई। यह कहना गलत होगा कि दारा की सेना दुर्बल थी। वास्तविकता में उसकी सेना शत्रु-सेना से श्रेष्ठ थी। उसके साथ शाही सेना की रीढ़ की हड्डी समझे जाने वाले सैयद और वफादार तथा शूरवीर थे। उसे रुस्तमखाँ, छत्रसाल हाडा और दिलेरखाँ अफगान जैसे योग्य और साहसी सेनापति प्राप्त थे। उसका तोपखाना भी शक्तिशाली था। परन्तु तब भी अनेक मुसलमान सरदारों का दारा के साथ दगा करना और औरंगजेब की सेनापतित्व की योग्यता दाराशिकोह की असफलता के मुख्य कारण बने।

आगरा के किले को लेने के पश्चात् औरंगजेब ने दारा का पीछा करने की शीघ्रता नहीं की। उसे दारा के लड़के सुलेमान शिकोह को अपने पिता से मिलने से रोकना था क्योंकि अभी उसके साथ एक बड़ी सेना थी। उससे भी अधिक औरंग-जेब को मुरादबक्स की ओर से चिन्ता हो गयी थी। मुराद ने शाहजहाँ से अपने कार्यों के लिए माफी माँगी थी और शाहजहाँ को राजसिंहासन से हटाने का भी

उसका इरादा न था। उसने औरंगजेब से स्वतन्त्र व्यवहार करना आरम्भ कर दिया था और अपने सरदारों को ऊँचे-ऊँचे पद और जागीरें देना आरम्भ कर दिया था। आगरा से औरंगजेब और मुराद की सेनाएँ दिल्ली की ओर बढ़ीं। उस अवसर पर मुराद भी औरंगजेब के व्यवहार से शंकित हो गया। औरंगजेब के स्वतन्त्र शासन के समान व्यवहार करने और अपने प्रति उसकी उदासीनता से मुराद असन्तुष्ट हो गया। औरंगजेब ने मुराद को अपने मार्ग से हटाने की योजना बनायी। उसने मुराद को कई बार दावत पर बुलाया परन्तु मुराद ने प्रत्येक बार आने से इन्कार कर दिया। परन्तु मथुरा के निकट शिकार से वापस आने पर औरंगजेब द्वारा धन से खरीदे गये अपने ही एक सरदार के कहने से मुराद नें एक रात औरंगजेब के खेमे में गुजारना स्वीकार कर लिया। मुराद को खूब शराब पिलाई गयी, अच्छा भोजन दिया गया और उसके तम्बू में उसके पैरों की मालिश करने के लिए एक दासी को भेज दिया गया। मुराद के घोर निद्रा में सो जाने के पश्चात् उसके हथियार उससे अलग कर दिये गये और उसे बन्दी बना लिया गया।

मुराद से मुक्ति पाकर औरंगजेब दिल्ली की ओर बढ़ा। दारा दिल्ली में एक बड़ी सेना एकत्रित नहीं कर सका था। वह दिल्ली को छोड़कर लाहौर चला गया और औरंगजेब ने सरलता से दिल्ली पर अपना अधिकार कर लिया। यहाँ औरंगजेब ने अपना राज्याभिषेक किया और अपने को बादशाह घोषित कर दिया। औरंगजेब ने एक सेना सुलेमानशिकोह का मुकाबला करने के लिए पूरब की ओर भेजी और स्वयं दारा का पीछा करने के लिए चल दिया। यद्यपि दारा के पास 14,000 की सेना और पर्याप्त धन था परन्तु न तो वह इससे अधिक सेना एकत्र कर सका और न उसने औरंगजेब का मुकाबला करने का साहस किया। वह लाहौर से मुल्तान और मुल्तान से बक्खर भाग गया। औरंगजेब ने मुल्तान तक उसका पीछा किया। फिर अपने सरदारों को उसका पीछा करने के लिए छोड़कर वह दिल्ली वापस चला गया और तब शाहशुजा का मुकाबला करने के लिए बढ़ा।

शाहशुजा ने दारा की पराजय का समाचार प्राप्त करने के पश्चात् बिहार से आगे बढ़ना आरम्भ कर दिया था। औरंगजेब दारा का पीछा करने गया हुआ था। इस कारण, उसे आशा थी कि वह सरलता से आगरा पर अधिकार कर लेगा। इलाहाबाद से आगे ख्वाजा नामक स्थान पर औरंगजेब के बड़े पुत्र मुहम्मद ने उसके रास्ते को रोका। उसी समय औरंगजेब और मीरजुमला भी पहुँच गये। यद्यपि राजा जसवन्तसिंह इस समय औरंगजेब की सेना का साथ छोड़कर मारवाड़ वापस चला गया परन्तु तब भी औरंगजेब की सेना की संख्या शाहशुजा से दुगुनी थी। औरंगजेब ने शाहशुजा पर आक्रमण किया। शाहशुजा की पराजय हुई और वह भाग खड़ा हुआ। औरंगजेब ने अपने पुत्र मुहम्मद और मीरजुमला को उसका पीछा करने के लिए नियुक्त किया जिन्होंने उसका पीछा बंगाल तक किया। शाहशुजा बाध्य होकर अराकान भाग गया। उसके बाद उसका कुछ पता नहीं लगा। कहा जाता है कि उसने वहाँ अराकान के राजा के विरुद्ध षड्यन्त्र करने का प्रयत्न किया जिसका पता लग गया और उसे कत्ल कर दिया गया।

इस बीच में दारा बक्खर के किले से भाग निकला। वह कच्छ गया जहाँ के राजा ने उसका स्वागत किया। वहाँ से वह गुजरात गया और वहाँ के सूबेदार ने भी उसका स्वागत किया। अब दारा या तो दक्षिण में जा सकता अथवा राज-

स्थान से उसे सहायता मिल सकती थी। राजा जसवन्तसिंह ने उसे सहायता का आश्वासन दिया और दारा राजस्थान की ओर बढ़ा। परन्तु जब वह अजमेर पहुँचा तब उसे यह सूचना प्राप्त करके बड़ी निराशा हुई कि औरंगजेब शाहशुजा को परास्त करके वापस आ गया था, और जयपुर के राजा जयसिंह के कहने से राजा जसवन्तसिंह ने औरंगजेब की सेवाएँ स्वीकार कर ली थीं। राजा जसवन्तसिंह को मारवाड़ का शासक स्वीकार करने के अतिरिक्त औरंगजेब ने उसे गुजरात का सूबेदार भी नियुक्त कर दिया था। दारा ने अजमेर के निकट देवराई के दर्रे में औरंगजेब का मुकाबला किया परन्तु उसकी पराजय हुई और उसे भागना पड़ा। इस बार उसे गुजरात में शरण प्राप्त नहीं हुई और वह अफगानिस्तान जाने के उद्देश्य से सिन्ध में मुड़ गया। बक्खर के किले की सुरक्षा दारा का एक वफादार सेवक कर रहा था। दारा ने उसकी रक्षा के लिए जाने का निर्णय किया। इसी समय उसकी प्रिय पत्नी नादिरा बेगम बीमार हो गयी। दारा ने मलिक जीवन नामक एक बलूची सरदार के यहाँ शरण ली। दारा ने एक बार शाहजहाँ के क्रोध से मलिक जीवन की रक्षा की थी। यहीं पर नादिरा बेगम की मृत्यु हो गयी और उसकी इच्छा के अनुसार दारा ने अपने बचे हुए शरीर-रक्षकों के साथ उसके शरीर को लाहौर में दफनाने के लिए भेज दिया। दारा अपनी प्रिय बेगम की मृत्यु और अपनी परिस्थितियों से पूर्णतया हताश हो चुका था। मलिक जीवन भी धोखेबाज़ निकला। इसी स्थिति में उसने दारा और उसके छोटे पुत्र सिपीरशिकोह को औरंगजेब के सरदारों के हाथों में सौंप दिया। दारा को दिल्ली लाकर गन्दे कपड़ों में एक गन्दे हाथी पर बैठाकर शहर में घुमाया गया। शहर में अनेक नागरिक रोये और कुछेक ने मलिक जीवन और उसके साथियों पर आक्रमण कर दिया। जनता की दारा के प्रति सहानुभूति को देखकर औरंगजेब ने दारा को शीघ्र समाप्त करने का निर्णय किया। औरंगजेब ने एक विशेष न्याय समिति नियुक्त की जिसने दारा को विधर्मी घोषित किया और मृत्युदण्ड की आज्ञा दी। 1659 के अन्तिम दिनों में दारा को कत्ल कर दिया गया, उसके शव को सड़कों पर घुमाया गया और अन्त में उसे हुमायूँ के मकबरे में दफना दिया गया।

अब औरंगजेब का एक शत्रु बाकी रह गया था। दारा का बड़ा पुत्र सुलेमानशिकोह अभी जीवित था। सामूगढ़ के युद्ध का उसकी सेना पर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ा था। राजा जयसिंह और दिलेरखाँ उसका साथ छोड़ गये थे और उसकी सेना की संख्या निरन्तर कम होती चली गयी थी। उसने भागकर इलाहाबाद के किले में शरण ली, अपने पिता से मिलने का प्रयत्न किया परन्तु असफल होने पर गढ़वाल में जाकर शरण ली। गढ़वाल के राजा पृथ्वीसिंह ने उसे औरंगजेब को देने से इन्कार कर दिया परन्तु राजा जयसिंह ने राजा के लड़के मेदिनीसिंह को फुसला लिया जिसने चुपके से सुलेमानशिकोह को राजा जयसिंह को सौंप दिया। इस प्रकार, 1660 के अन्तिम दिनों में सुलेमानशिकोह पकड़ा गया। उसे ग्वालियर के किले में बन्दी रखा गया जहाँ धीरे-धीरे जहर देकर उसे मार दिया गया (1662)। मुरादबक्स को 1661 में ही दीवान अलीनकी की हत्या के अपराध में मृत्यु-दण्ड दिया जा चुका था। परन्तु औरंगजेब ने दारा के छोटे पुत्र सिपीरशिकोह को जीवित छोड़ दिया। 12 वर्ष के कारावास के पश्चात् उसे मुक्त कर दिया गया और औरंगजेब ने अपनी तीसरी पुत्री की शादी उसके साथ कर दी। इसी प्रकार औरंगजेब ने मुराद के पुत्र इजीदबख्श को भी जीवित छोड़ दिया और अपनी पाँचवीं पुत्री की शादी उसके साथ की।

इस प्रकार, अपने सभी विरोधियों को समाप्त करके और अपने पिता को बन्दी बना कर औरंगजेब ने मुगल-साम्राज्य के बादशाह का पद ग्रहण किया। यह केवल एक अनुमान का विषय है कि यदि औरंगजेब के स्थान पर दाराशिकोह इस उत्तराधिकार के युद्ध में विजयी होता तो भारत के भविष्य के इतिहास पर उसका क्या प्रभाव होता? औरंगजेब धार्मिक दृष्टि से कट्टर सिद्ध हुआ। उसकी धार्मिक कट्टरता की नीति अकबर की उदार धार्मिक नीति के विपरीत सिद्ध हुई। इससे भारत की बहुसंख्यक हिन्दू जनता और बहादुर राजपूत जाति मुगलों के विरोध में हो गयी। औरंगजेब ने हिन्दू और मुसलमान में अन्तर करके राज्य की उस एकता को नष्ट कर दिया जिसे अकबर ने स्थापित किया था और जहाँगीर तथा शाहजहाँ ने जीवित रखा था। इससे राज्य में विभाजन हुआ, विद्रोह हुए और मुगल-साम्राज्य दुर्बल हुआ। दाराशिकोह के इस युद्ध में जीतने और मुगल सिंहासन प्राप्त करने से सम्भवतया यह न होता। दारा धार्मिक दृष्टि से बहुत उदार था। इसी कारण, हिन्दुओं और राजपूत सरदारों का उसे विश्वास प्राप्त था। यदि वह मुगल बादशाह बना होता तो, सम्भवतया, भारत में अकबर की धार्मिक सहिष्णुता की नीति की विजय हो जाती और धार्मिक कट्टरता के प्रतिक्रियावादी तत्वों को शक्ति प्राप्त करने का अवसर न मिलता। ऐसी स्थिति में मुगल-साम्राज्य विभाजन, विद्रोह और दुर्बलता से बच जाता और, सम्भवतया, अधिक समय जीवित रह पाता। परन्तु यह सभी अनुमान का विषय है। औरंगजेब के पक्ष में एक बात अवश्य कही जा सकती है कि अपनी स्थिति को दृढ़ करने के पश्चात् उसने और अधिक रक्तपात नहीं किया। इससे यह स्पष्ट होता है कि उसने दारा और मुराद के छोटे पुत्रों को जीवित ही नहीं रहने दिया था बल्कि अपनी पुत्रियों के विवाह भी उनके साथ किये।

[6]

शाहजहाँ के अन्तिम वर्ष और मृत्यु

शाहजहाँ ने अपने जीवन के अन्तिम आठ वर्ष आगरा के किले के शाह बुर्ज में एक बन्दी की भाँति व्यतीत किये। औरंगजेब ने उसके हीरे-जवाहरात ही उससे नहीं छीने बल्कि उसे साधारण आराम की वस्तुओं से भी वंचित रखा। उसका एक-मात्र सहारा उसकी बड़ी पुत्री जहानआरा थी जिसने उसकी मृत्यु तक उसकी सेवा की। 1666 में अपनी प्रिय पत्नी मुमताजमहल को याद करते हुए और ताजमहल को देखते हुए शाहजहाँ की मृत्यु हो गयी। साधारण नौकरों के द्वारा उसकी अर्थी को ताजमहल में उसकी प्रिय पत्नी की कब्र के निकट ही दफना दिया गया।

[7]

मुमताजमहल

मुमताजमहल शाहजहाँ की सबसे प्रिय पत्नी थी। इतिहास में प्रख्यात शाहजहाँ के सभी पुत्र-पुत्रियों का जन्म उसी से हुआ था। उसका बचपन का नाम अर्जुमन्दबानू बेगम था। 1594 में उसका जन्म हुआ था और 1612 में उसका विवाह हुआ। शाहजहाँ से उसके चौदह बच्चे हुए। 1631 में बुरहानपुर में उसकी मृत्यु हुई। मुमताजमहल अपने पति के प्रत्येक सुख और दुःख सभी में साथ रही। मुमताजमहल बहुत सुन्दर, सुयोग्य, शिक्षित और उदार स्त्री थी। उसका पिता आसफ़ख़ाँ राज्य का प्रमुख सरदार था जिसने उसका लालन-पालन बहुत ही

सहृदयता से किया था। मुमताजमहल का मुख्य गुण पति-परायण होना था। इसके अतिरिक्त वह धर्म-परायण थी। वह इस्लाम धर्म के अनुसार पूजा-पाठ, उपवास आदि नियमपूर्वक करती थी। उसने दान-दक्षिणा का भी प्रबन्ध किया था। गरीबों, अपाहिजों, अनाथों और विधवाओं के प्रति वह बहुत कृपालु थी और दिल खोलकर दान करती थी। राजनीति में उसने कोई हस्तक्षेप नहीं किया था परन्तु यह कहा जाता है कि उसके कट्टर धार्मिक विचारों का प्रभाव शाहजहाँ पर पड़ा था। उसकी अन्तिम इच्छा की पूर्ति के लिए उसकी याद में शाहजहाँ ने विश्व-प्रसिद्ध ताजमहल का आगरा में निर्माण कराया।

[8]

शाहजहाँ का चरित्र, व्यक्तित्व और इतिहास में स्थान

शाहजहाँ के चरित्र, व्यक्तित्व और कार्यों के बारे में इतिहासकारों में मतभेद है। इसी के कारण यह प्रश्न उपस्थित हुआ है कि 'शाहजहाँ का काल मुगल-काल का स्वर्ण-काल था अथवा नहीं।' निश्चय ही तथ्य कुछ ऐसे हैं जिससे शाहजहाँ के चरित्र को समझना और उसके कार्यों का मूल्यांकन करना कुछ असुविधाजनक है। शाहजहाँ के चरित्र और व्यक्तित्व के दो पहलू हैं। एक तरफ वह सुशिक्षित, सभ्य, शालीन, चरित्रवान, उदार, न्यायप्रिय, प्रजापालक, कला-प्रेमी और साहित्य की प्रगति में सहायता प्रदान करने वाला था, परन्तु दूसरी तरफ वह कठोर, आतंकी, ऐश्वर्यपसन्द, स्वार्थी और धर्मान्ध था। समय-समय पर प्रकट होने वाली इस विरोधी प्रकृति के कारण ही डॉ. एस. आर. शर्मा लिखते हैं : "कुछ मामलों में शाहजहाँ में विरोधाभास था।"

शाहजहाँ सुशिक्षित, सभ्य और मिलनसार था। उसने स्वयं अच्छी शिक्षा प्राप्त की थी और वह सभी विद्वानों का सम्मान करता था। उसके संरक्षण में फारसी और संस्कृत भाषा की प्रगति हुई। उसे ललित कलाओं का शौक था। उसने स्थापत्य-कला, चित्रकला और गायन कला की उन्नति में सहयोग दिया। वह स्वयं अच्छा गायक था। बहु-विवाह करते हुए भी वह पत्नीव्रती था। मुमताजमहल से उसका प्रेम इतिहास की कहानी बन गया है। अपने बच्चों से उसे प्रेम था और उसने सभी को पूर्ण और उदारता से शिक्षा प्रदान की थी। वह एक योग्य सैनिक और सेनापति था। अपने पिता के समय में उसने अनेक युद्धों में भाग लिया और सफलता प्राप्त की। अपनी बादशाहत के समय में भी वह अन्त तक युद्ध की योजनाएँ स्वयं बनाता रहा। एक साम्राज्य-निर्माता की दृष्टि से उसने अहमदनगर के राज्य को जीतकर राज्य-विस्तार किया तथा बीजापुर और गोलकुण्डा को मुगलों की अधीनता स्वीकार करने के लिए बाध्य किया। मध्य-एशिया और कन्धार की पुनःप्राप्ति के लिए उसने प्रयत्न किये। शासक की दृष्टि से वह न्यायप्रिय और प्रजापालक था। उसके समय में व्यापार, उद्योग और कृषि उन्नतिशील स्थिति में थे और राज्य धनधान्य से पूर्ण था। शासन-प्रबन्ध में उसे रुचि थी और वह इसके लिए बहुत परिश्रम करता था। उसने मनसबदारी-प्रथा में सुधार किया। उसने अकाल और कठिनाइयों के अवसर पर प्रजा की सहायता की। धार्मिक दृष्टि से उसके विचार और कार्य अकबर और जहाँगीर की तुलना में संकीर्ण और अनुदार सिद्ध हुए परन्तु तब भी हिन्दुओं और ईसाइयों के दैनिक धार्मिक जीवन में उसने कोई हस्तक्षेप नहीं किया। मि. डेलावेल ने लिखा है : "काम्बे (खम्भात) में गो-हत्या बन्द कर दी गयी थी।" मि. मेनरिक ने लिखा

है : "हिन्दू-जिलों में पशु-वध का निषेध था।" शाहजहाँ हिन्दुओं के सभी उत्सवों और त्यौहारों में भाग लेता था और 'तुलादान', 'झरोखा-दर्शन' जैसी हिन्दू प्रथाएँ उसके समय में पूर्ववर्ती शासकों की भाँति ही मनाई जाती रहीं। उसने राजपूत सरदारों के साथ सम्मान और विश्वास का व्यवहार किया जिसके कारण वे मुगल-साम्राज्य की सुरक्षा के लिए पहले की भाँति तत्पर रहे। ये सभी बातें शाहजहाँ के पक्ष में ठीक मानी जाती हैं।

परन्तु शाहजहाँ के चरित्र और व्यक्तित्व का दूसरा पहलू भी है। अनेक ऐसे अवसर आये और ऐसी घटनाएँ हुईं कि शाहजहाँ ने कठोरता और बर्बरता से कार्य किया। उसने अपने पिता के विरुद्ध विद्रोह किया और अपने सभी भाइयों और राज्य के सम्भावित उत्तराधिकारियों को क्रूरता से समाप्त करके राजसिंहासन प्राप्त किया। एक पिता की दृष्टि से उसने दाराशिकोह के प्रति अधिक प्रेम दर्शाकर पक्षपात का परिचय दिया और अपने पुत्रों पर नियन्त्रण रखने में वह असफल रहा। कन्धार और मध्य-एशिया के असफल आक्रमणों ने उसकी सैनिक दुर्बलता को प्रकट किया जिससे राज्य के सम्मान में कमी आयी। इतिहासकार स्मिथ के अनुसार, "शाहजहाँ मनुष्य और शासक, दोनों ही रूपों में असफल रहा था।" उसके समय में किसानों पर कर का भार अधिक हो गया और उद्योग तथा व्यापार की उन्नति होने के पश्चात् भी राज्य की बढ़ती हुई सम्पत्ति का सदुपयोग नहीं किया गया। शाहजहाँ ने अपने पितामह और पिता द्वारा संचित किये गये धन और राज्य की बढ़ती हुई आय का प्रयोग अपने व्यक्तिगत शौक की पूर्ति के लिए किया। उसकी विभिन्न इमारतें तख्त-ए-ताऊस, आदि इसके प्रमाण थे। धार्मिक दृष्टि से उसके समय से अकबर की उदारता का समय समाप्त हो गया। उसके समय में ओरछा के हिन्दू मन्दिरों को नष्ट किया गया और युद्ध में पकड़े गये बन्दियों को इस्लाम स्वीकार करने के लिए बाध्य किया गया। बनारस में बने हुए अनेक हिन्दू मन्दिरों को शाहजहाँ के आदेश से तोड़ दिया गया और उस अकेले शहर में ही सम्भवतया 76 हिन्दू मन्दिर नष्ट किये गये। शाहजहाँ ने मक्का और मदीना के धार्मिक व्यक्तियों और निवासियों के लिए बहुमूल्य उपहार और दानस्वरूप धन भेजा। हिन्दुओं पर कर का भार बढ़ा दिया गया था। हिन्दुओं पर तीर्थयात्रा-कर लगा दिया गया था। कश्मीर में हिन्दू और मुसलमान आपस में विवाह कर लिया करते थे। उसके शासनकाल में उन्हें ऐसा करने से रोक दिया गया। हिन्दुओं को मुस्लिम तरीकों से वस्त्र पहनने के लिए रोक दिया गया। हिन्दुओं की तुलना में राज्य की सेवाओं में मुसलमानों को विशेष सुविधा प्रदान की जाती थी। निस्सन्देह, उसके बाद के समय में शाहजादा दाराशिकोह के प्रभाव के कारण उसकी नीति कुछ उदारता की ओर झुक जाती है परन्तु तब भी यह विश्वास किया गया है कि उसके शासनकाल में धार्मिक अनुदारता का पक्ष दृढ़ होता गया था। इस प्रकार, शाहजहाँ के चरित्र का दूसरा पहलू असफलता, अपव्यय और अनुदारता का है।

उपर्युक्त दोनों पक्षों पर ठीक प्रकार विचार करने से यह निष्कर्ष निकलता है कि शाहजहाँ के चरित्र में कुछ दोष थे और कुछ क्षेत्रों में उसका समय असफलता और हानियों का था। परन्तु यदि उसके जीवन से उन घटनाओं को निकाल दिया जाये अथवा उनके महत्व को कम कर दिया जाये जो शाहजहाँ ने सिंहासन पर बैठने के अवसर पर कीं अथवा कभी-कभी क्रोधवश अथवा परिस्थितियोंवश कीं तो

शाहजहाँ का व्यक्तित्व, चरित्र और इतिहास में स्थान पर्याप्त अच्छा स्वीकार किया जा सकता है। उसके चरित्र में अवगुण कम और गुण अधिक स्वीकार किये जाते हैं। निस्सन्देह, उसकी असफलताएँ कम और सफलताएँ अधिक थीं। शाहजहाँ के आलोचकों में यूरोपियन इतिहासकार अधिक हैं परन्तु वे भी उसके दोषों को बताने के पश्चात् उसके समय को श्रेष्ठ स्थान प्रदान करते हैं। इतिहासकार स्मिथ ने शाहजहाँ की कड़ी आलोचना की है। परन्तु वह भी लिखता है : "शाहजहाँ के व्यक्तिगत चरित्र और उसके शासन की सफलता के बारे में चाहे जो भी धारणा रखी जाये परन्तु इसमें विवाद सम्भव नहीं है कि उसका समय मुगल-वंश और मुगल-साम्राज्य की पराकाष्ठा का था।"[1] भारतीय इतिहासकारों में से अधिकांश उसको इतिहास में अच्छा स्थान प्रदान करने के पक्ष में हैं। शाहजहाँ का स्थान, निस्सन्देह, अपने पितामह अकबर से निम्न और अपने पिता जहाँगीर से श्रेष्ठ माना जाता है।

[9]

शाहजहाँ का काल मुगल-काल का स्वर्ण-काल था

शाहजहाँ का काल मुगल-काल का स्वर्ण-काल था अथवा नहीं, यह इतिहासकारों के लिए विवाद का प्रश्न है। अनेक इतिहासकार इसे मुगल-काल का ही नहीं बल्कि मध्ययुगीन भारत के इतिहास का स्वर्ण-काल मानते हैं, और इसमें सन्देह नहीं कि यदि शाहजहाँ के काल को मुगल-काल का स्वर्ण-काल मान लिया जाता है तो मध्ययुगीन भारत के इतिहास के स्वर्ण-काल का स्थान उसे स्वतः प्राप्त हो जाता है। परन्तु अनेक इतिहासकार ऐसे भी हैं जिनका यह कहना है कि शाहजहाँ के काल की बाह्य चमक-दमक के कारण उसे मुगल-काल का स्वर्ण-काल भ्रम से मान लिया गया है अन्यथा यह स्थान उसे प्राप्त नहीं होना चाहिए। उन्हीं में से कुछ इतिहासकारों का यहाँ तक कहना है कि कुछ दृष्टिकोणों से तो मुगल-वंश की दुर्बलता का आरम्भ उसके (शाहजहाँ के) समय से ही हो गया था।

शाहजहाँ के शासनकाल के आलोचकों में से अधिकांश यूरोपीय इतिहासकार हैं। उनकी विचारधारा के अनुसार 1627 से 1658 तक का प्रायः तीस वर्ष का शाहजहाँ का शासनकाल साधारणतया मुगल शासन का स्वर्ण-काल कहलाता है। बाह्य दृष्टि से यह सम्पन्नता का युग था। इस समय में विदेशी युद्ध बहुत कम हुए, देश में शान्ति और समृद्धि थी तथा राज्य-कोष भरपूर था। शाहजहाँ ने अपने पितामह और पिता से अतुल सम्पत्ति प्राप्त की थी, फारस में एक दृढ़ साम्राज्य की स्थापना हो जाने के कारण पश्चिमी देशों से भारत के व्यापार में वृद्धि हुई थी और यूरोप से होने वाले व्यापार से भारत को बहुत लाभ प्राप्त होता था। इन सभी लाभों के होते हुए भी शाहजहाँ के समय से मुगलों की शक्ति और आर्थिक व्यवस्था पतन की ओर अग्रसर होने लगी। शाहजहाँ के अपव्यय और शासन-अधिकारियों और उसकी शानदार इमारतों पर किये गये व्यय के कारण किसानों और मजदूरों पर, जिन पर साम्राज्य का जीवन निर्भर करता था, अत्यधिक बोझ

---

1 "Whatever be the view taken to of the personal character of Shahjahan, or the efficiency of his administration, it can hardly be disputed that his reign marks the climax of the Mughal dynasty and Empire." —*V. A. Smith.*

डाल दिया गया। इससे राज्य पर जो आर्थिक संकट आया और जो उसके उत्तराधिकारी के समय में अधिक स्पष्ट हुआ, वह इस महान् संगठन के पतन का एक मुख्य कारण बना जिसे शाहजहाँ ने अकबर और जहाँगीर से प्राप्त किया था। इतिहासकार स्मिथ ने लिखा है : "आधुनिक इतिहासकारों, मुख्यतया एलफ़िन्सटन ने शाहजहाँ के साथ अनावश्यक पक्षपात किया है। शाहजहाँ के दरबार की शान-शौकत, उसके साम्राज्य के विस्तार और सम्पत्ति, उसकी इमारतों के सौन्दर्य और मुख्यतया ताजमहल ने आधुनिक इतिहासकारों को चकाचौंध कर दिया है और वे उसके अनेक अपराधों को भुलाकर उसकी अत्यधिक प्रशंसा करते हैं सेनापति की दृष्टि से वह अयोग्य था और उसकी सेना का संगठन और नेतृत्व अनुपयुक्त था।" उसने लिखा है : "राज्य के कार्यों में वह निर्दयी, दगाबाज और सिद्धान्तहीन था।"[1] शाहजहाँ के न्याय के बारे में उसने लिखा है : "शाहजहाँ का न्याय बर्बर, भावनाहीन और आतंकपूर्ण, एशिया के एक साधारण निरंकुशी शासक का न्याय था जिसमें व्यक्ति-विशेष का कोई स्थान न था और जिसमें दयालुता नाममात्र के लिए भी न थी।"[2] स्मिथ ने अपने तर्क के समर्थन में अन्य यात्रियों और इतिहासकारों के विचारों को भी प्रस्तुत किया है। वह लिखता है : "पीटर मुण्डी और अनेक यात्रियों के विवरण देश के कुशासन को सिद्ध करते हैं।" इसी प्रकार, वह लिखता है : "बर्नियर ने, जिसे शाहजहाँ अथवा औरंगजेब के पक्ष अथवा विपक्ष में होने का कोई कारण नहीं था और जिसने मुगल-शासन के उस समय का वर्णन लिखा है जबकि मुगल-वंश पूर्ण रूप से स्थापित, अत्यन्त धनवान् और विदेशी आक्रमण से मुक्त था, उत्तरी प्रान्तों की स्थिति के बारे में लिखा था कि प्रत्येक स्थान पर बरबादी फैली हुई थी।" उसी प्रकार स्मिथ ने दरबार के इतिहासकार अब्दुल हमीद के वर्णन को भी अपने तर्क के समर्थन में प्रस्तुत किया है, और कहा है : "अन्य इतिहासकारों की भाँति उसने विपत्तियों पर पर्दा डालने का प्रयत्न नहीं किया है।" इस प्रकार तत्कालीन यात्रियों और इतिहासकारों के वर्णनों को प्रमाण के तौर पर देते हुए स्मिथ ने शाहजहाँ के शासन की आलोचना की है, और उसने लिखा है : "जहाँ तक पीटर मुण्डी ने देखा, दक्षिण में अकाल पड़ने के समय राज्य की ओर से पीड़ित जनता के लिए कोई कार्य नहीं किया गया था जबकि बुरहानपुर में शाहजहाँ के निवास-स्थल पर प्रत्येक प्रकार की वस्तुएँ प्रचुर मात्रा में उपलब्ध थीं।"[3] डॉ. जदुनाथ सरकार का दृष्टिकोण शाहजहाँ के प्रति इतना अनुदार नहीं है, परन्तु अपनी प्रसिद्ध पुस्तक '*Studies in Mughal India*' में शाहजहाँ के दैनिक कार्यक्रम का जो वर्णन उन्होंने किया है उससे यह प्रतीत होता है कि "यद्यपि शाहजहाँ अत्यधिक परिश्रमी था तब भी उसके शासनकाल में

---

1 "In affairs of state, he was cruel, treacherous and unscrupulous."
—*V. A. Smith.*

2 "Shahjahan's justice was merely the savage, unfeeling ferocity of the ordinary Asiatic despot, exercised without respect of persons and without the slightest tincture of compassion."
—*V. A Smith.*

3 "So far as Mundy saw, nothing to help the suffering people was done by the government; (though) meantime, the camp of Shahjahan at Burhanpur was filled with provisions of all kind."
—*V. A. Smith.*

मुगल-वंश की अवनति का बीजारोपण हुआ था।" डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव ने भी अपनी पुस्तक 'मुगलकालीन भारत' में लिखा है कि "शाहजहाँ का राज्य-काल भारत के मध्यकालीन इतिहास में स्वर्णयुग के नाम से प्रसिद्ध है। यह केवल कला और कला में भी वास्तुकला की दृष्टि से ही सत्य कहा जा सकता है।" वे पुनः लिखते हैं, "उसकी धर्मान्धता तथा अनुदारता औरंगजेब के कट्टर शासन की अग्रदूत थी.... उसकी भेंट तथा उपहार स्वीकार करने की प्रथा ने एक प्रकार से रिश्वत को प्रोत्साहन दिया और भेंट तथा उपहार देना राजकीय दरबार में ही नहीं वरन् राजकीय परिवार तथा अमीरों व सामन्तों में एक प्रथा का रूप धारण कर गयी। इससे राज्य-प्रबन्ध में भ्रष्टाचार फैल गया। अपने बाह्य ठाट-बाट के कारण वह जनता से अनुचित रूप से धन एकत्र करने के लिए बाध्य हुआ तथा उसकी विलासप्रियता ने जनता का नैतिक स्तर नीचा करने के लिए एक बहुत ही बुरा उदाहरण प्रस्तुत किया।" अधिकांश इतिहासकारों ने यह विचार भी व्यक्त किया है कि शाहजहाँ के शासनकाल में मुगलों की धार्मिक नीति प्रतिक्रियावादी बन गयी थी और शासन तथा राजनीति में इस्लाम के कट्टर समर्थक तत्व शक्तिशाली होते जा रहे थे। उसी प्रकार राज्य में राजपूतों का वह सम्मानित स्थान नहीं रहा था जो जहाँगीर और अकबर के शासनकाल में था। इस प्रकार राज्य की शक्ति के जिस आधार को अकबर ने बनाया था वह अब संकीर्ण हो गया था और यह मुगल-राज्य के हित में नहीं था। इस प्रकार विभिन्न इतिहासकारों ने शाहजहाँ के समय की दुर्बलताओं की ओर अधिक या कम मात्रा में ध्यान दिलाया है और उसके आधार पर शाहजहाँ के काल को या तो स्वर्ण-काल स्वीकार करने से इन्कार कर दिया है अथवा उसे केवल सीमित मात्रा में ही मुगल-काल का स्वर्ण-काल स्वीकार किया है।

परन्तु अन्य कुछ इतिहासकार ऐसे भी हैं जिन्होंने शाहजहाँ के काल को प्रत्येक प्रकार से देखकर यह निर्णय किया है कि शाहजहाँ का काल मुगल-काल का स्वर्ण-काल कहलाने का अधिकारी है। डॉ. एस. आर. शर्मा ने शाहजहाँ के काल को स्पष्ट रूप से मुगल-काल का स्वर्ण-काल स्वीकार किया है। वे लिखते हैं : "यद्यपि आरम्भ में विद्रोह हुए जो शीघ्रता से दबा दिये गये, यद्यपि राज्य की सीमाओं से बाहर आक्रमणकारी विदेशी युद्ध लड़े गये जो पूर्णतया असफल रहे और जिनमें अपार धन व्यय हुआ, यद्यपि दक्षिण और गुजरात में अकाल पड़ा जिन्होंने देश के विस्तृत भू-प्रदेश को नष्ट किया और यद्यपि दक्षिण में निरन्तर युद्ध हुआ जिसका परिणाम अहमदनगर, बीजापुर और गोलकुण्डा पर आधिपत्य था परन्तु जिसने साम्राज्य के आर्थिक साधनों पर बहुत दबाव डाला, तब भी शाहजहाँ के युग में बहुत कुछ ऐसा था जो कीर्तिमय था तथा उसमें अद्वितीय सम्पन्नता के अनेक ऐसे संशयरहित चिह्न थे जिनके कारण उसे साम्राज्य का स्वर्ण-काल कहना न्यायपूर्ण है।"[1] अपने पक्ष का

1 "In spite of the early rebellions, which were soon crushed, inspite of the foreign wars of aggression beyond the frontiers, which cost enormously with no return whatsoever, inspite of the famine in the Deccan and Gujrat, which devastated a vast portion of the country, and inspite of constant fighting in the Deccan, which while, it resulted in the subjugation of Ahmadnagar, Golkunda, and Bijapur, also involved a great drain on the resources of the

समर्थन करते हुए डॉ. शर्मा लिखते हैं : "हमारा आशय शाहजहाँ के युग की दुर्बलताओं और बुराइयों को छिपाने का नहीं है। उनको मानते हुए भी यह आवश्यक है कि हम उसके समय की संशयरहित सम्पन्नता को स्वीकार करें, चाहे वह सम्पन्नता कितने ही थोड़े समय की क्यों न हो।" उनका कहना है : "अपव्ययपूर्ण नौकरशाही, किसानों और मजदूरों पर अत्यधिक बोझा, राष्ट्र का दिवालियापन आदि जैसे विचार विवादपूर्ण हैं और औरंगजेब के दोषों तथा मुगल-साम्राज्य के पतन के लिए उसे उत्तरदायी बनाना तर्कपूर्ण नहीं है।" उनके अनुसार, "इतिहासकार स्मिथ ने शाहजहाँ के अत्यधिक पक्ष में प्रकट किये गये विचारों को दुर्बल करने के लिए उसकी अच्छाइयों को भुला दिया और उसके समय की बुराइयों पर बल दिया।" वे कहते हैं : "स्वयं स्मिथ जहाँ शाहजहाँ को निर्दयी, दगाबाज और सिद्धान्तहीन बताता है वहाँ वह यह भी मानता है कि सम्भवतया शाहजहाँ अपने युग के अन्य अधिकांश बादशाहों से बुरा न था, यद्यपि उनसे अच्छा भी न था।" वे यह भी कहते हैं : "स्मिथ ने पीटर मुण्डी और बर्नियर के विवरणों के उन भागों को तो बता दिया है जो शाहजहाँ के समय की बुरी स्थिति के बारे में दिये गये थे, परन्तु उन्हीं व्यक्तियों के विवरणों के उन भागों को भुला दिया है जिनमें शाहजहाँ के समय की सम्पन्नता और निर्धनों के लिए सहायता का वर्णन है।" बर्नियर ने अपने विवरण में बंगाल के सूबे की सम्पन्नता का विस्तृत उल्लेख किया है।

अन्य अनेक तत्कालीन और आधुनिक इतिहासकारों ने भी शाहजहाँ के युग की विभिन्न प्रकार से प्रशंसा की है। तत्कालीन इतिहासकार राय भारमल ने अपनी पुस्तक 'लुब्ब-उत-तवारीख' में लिखा : "अकबर के समय में जिस परगने की आय तीन लाख थी अब उसकी आय 10 लाख है।...... यद्यपि इस शासन की तुलना में पिछले शासकों का व्यय 1/4 भी नहीं था तब भी बादशाह ने बहुत शीघ्र इतना बड़ा खजाना एकत्र कर लिया था जितना कि उससे पहले के शासक वर्षों में कर पाते।" तत्कालीन इतिहासकार खाफीखाँ ने लिखा : "यद्यपि विजेता और व्यवस्थापक की दृष्टि से अकबर श्रेष्ठतम था, परन्तु अपनी भूमि और अर्थ-व्यवस्था में शान्ति और व्यवस्था तथा राज्य के प्रत्येक विभाग के अच्छे शासन-प्रवन्ध की दृष्टि से ऐसे किसी बादशाह ने भारत में शासन नहीं किया जिससे शाहजहाँ की तुलना की जा सके।"[1] टेवर्नियर, जिसने निरन्तर भारत के अधिकांश भागों का भ्रमण किया था, लिखता है : "शाहजहाँ ने एक बादशाह की भाँति अपनी प्रजा पर शासन नहीं किया बल्कि इस प्रकार किया जैसे कि एक पिता अपने परिवार और अपने बच्चे पर करता है।"[2] शाहजहाँ के समय में शान्ति और व्यवस्था थी। वह स्वयं शासन की देखभाल

Empire, the age of Shahjahan showed much that was glorious, and many an unmistakable sign of unique prosperity, to justify this period being described as the Golden Age of the Empire."
—*Dr. S. R. Sharma.*

1 "Akbar was pre-eminent as a conqueror and law-giver, yet for the order and arrangement of his territory and finances and the good administration of every department of the state, no prince ever reigned in India that could be compared to Shahjahan."
—*Khafi Khan.*

2 "(Shah Jahan) reigned not so much as a king over his subjects, but rather as a father over his family and children." —*Tavernier.*

करता था और उसका शासन सफल था। बर्नियर ने एक स्थान पर लिखा है: "हिन्दुस्तान में भूमि का प्रत्येक एकड़ बादशाह की सम्पत्ति समझा जाता है, और एक किसान को नष्ट करना बादशाह के राज्य पर डाका डालने के समान समझा जाता है।"[1] मोरलैण्ड ने लिखा है: "शाहजहाँ का युग किसानों के लिए शान्ति का युग था।"[2] शाहजहाँ का न्याय कठोर था परन्तु वह निष्पक्ष था। एलफिन्सटन ने शाहजहाँ के समय के बारे में लिखा: "शाहजहाँ का काल भारतीय इतिहास में सबसे अधिक समृद्धि का काल था।"[3]

इस प्रकार, विभिन्न इतिहासकारों ने शाहजहाँ के शासनकाल की प्रशंसा की है। शाहजहाँ परिश्रमी, योग्य और न्यायप्रिय था, इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता। उसके समय में शान्ति और व्यवस्था थी, व्यवसाय, उद्योग और व्यापार उन्नति पर थे, किसानों की भलाई का ध्यान रखा जाता था, अत्याचारी सरकारी कर्मचारियों और अपराधियों को कठोर दण्ड दिया जाता था तथा राज्य प्रगति-पथ पर था। शाहजहाँ ने जिस विपुल सम्पत्ति को एकत्र किया और जिसका उसने प्रदर्शन भी किया, वह शासन की अव्यवस्थित स्थिति में अथवा जनसाधारण की निर्धनता की स्थिति में एकत्र नहीं की जा सकती थी। शाहजहाँ ऐश्वर्य-पसन्द था। उसने दो लाख पचास हजार रुपये की कीमत के हीरे-जवाहरातों से जुड़ी हुई एक मशाल 'मुहम्मद साहब' मकबरे को भेंट की, पचास हजार रुपये मक्का के धर्म-गुरु को भेंट किये और साठ हजार रुपये मक्का के निवासियों में तथा पचास हजार रुपये मदीना के निवासियों में बँटवाये। उसका तख्त-ए-ताऊस 3 गज लम्बा, 2½ गज चौड़ा, 5 गज ऊँचा और 12 खम्बों वाला रत्नजड़ित सिंहासन था। उसके प्रत्येक खम्बे के ऊपर दो मोर थे और उनके बीच में एक वृक्ष बनाया गया था। सात वर्ष में तैयार किये गये इस सिंहासन में प्रायः एक करोड़ रुपया खर्च हुआ। संसार-प्रसिद्ध कोहनूर हीरा भी शाहजहाँ के पास था। शाहजहाँ के शाही खेमे 'दलबादल' को लगाने में हजारों व्यक्तियों और कई हाथियों को दो महीने लगते थे। इस सभी से यह स्पष्ट होता है कि निरन्तर होने वाले युद्धों में धन का अपव्यय होने के पश्चात् भी राज्य धनवान था। इसी प्रकार की शान-शौकत की स्थिति में बादशाह के बड़े-बड़े सरदार और जागीरदार भी रहते थे। आसफखाँ अतुल सम्पत्ति का मालिक था। शाहजहाँ के समय में आर्थिक कारणों से कोई असन्तोष और विद्रोह नहीं हुआ, दक्षिण और गुजरात के अकाल के अवसरों पर प्रजा को समुचित सहायता दी गयी और युद्ध के अवसरों पर खेती की हानि हो जाने पर बादशाह उसकी पूर्ति कर दिया करता था—ऐसे प्रमाण और उदाहरण प्राप्त होते हैं। ऐसी स्थिति में यह स्वीकार करना पड़ता है कि शाहजहाँ के समय में मुगल राज्य की सम्पन्नता अपनी चरम-सीमा पर पहुँच गयी थी।

राज्य-विस्तार की दृष्टि से दक्षिण के राज्यों को अपनी अधीनता में लाने में

---

1 "In Hindustan every acre of land is considered the property of the king, and the spoilation of a peasant would be a robbery committed upon the king's domain." —*Bernier*.

2 "The reign of Shah Jahan was a period of agrarian tranquillity." —*Moreland*.

3 "The reign of Shah Jahan was the most prosperous period in Indian history." —*Elphinstone*.

शाहजहाँ सफल रहा। मध्य-एशिया में सफलता न मिलना, कन्धार को जीतने के तीनों प्रयत्नों का असफल हो जाना, धन का अपव्यय और सैनिक दुर्बलता अवश्य माना जा सकता है परन्तु उनसे राज्य पर कोई संकट नहीं आया।

साहित्यिक दृष्टि से शाहजहाँ के समय में फारसी, संस्कृति, हिन्दी आदि सभी भाषाओं को संरक्षण प्राप्त हुआ और उनकी प्रगति हुई। 'गंगाधर' और 'गंगा-लहरी' के लेखक जगन्नाथ पण्डित शाहजहाँ के राजकवि थे। आचार्य सरस्वती और 'सुन्दर शृंगार,' 'सिंहासन-बत्तीसी' तथा 'बारहमासी' के लेखक सुन्दरदास को राजकीय संरक्षण प्राप्त था। कवि चिन्तामणि पर भी शाहजहाँ की कृपा थी। डॉ. सक्सेना ने लिखा : "शाहजहाँ का युग प्रायः उस समय से मिल जाता है जिसे हिन्दी-साहित्य और भाषा की प्रगति का सबसे देदीप्यमान युग कहा जाता है।"[1] फारसी भाषा से भी अच्छे ग्रन्थों की रचना इस काल में हुई। अब्दुल हमीद लाहौरी ने 'पादशाहनामा' लिखा और अमीन काजवानी ने 'शाहजहाँनामा' की रचना की। शाहजहाँ का बड़ा पुत्र दाराशिकोह स्वयं अरबी, फारसी और संस्कृत का विद्वान था। उसके संरक्षण में संस्कृत की अनेक पुस्तकों का फारसी में अनुवाद कराया गया। मुन्शी बनारसीदास ने 'प्रबोध-चन्द्रोदय' का अनुवाद किया और इब्न हरकिरन ने 'रामायण' का अनुवाद किया। साहित्य के अतिरिक्त, शाहजहाँ के समय में ज्योतिष-शास्त्र, अंकगणित, बीजगणित और रेखागणित, आदि की भी प्रगति हुई। राजकीय संरक्षण के अतिरिक्त व्यक्तिगत प्रयत्नों से भी इन सभी क्षेत्रों में प्रगति हुई थी।

शाहजहाँ को सभी ललित-कलाओं का शौक था। चित्रकला में यद्यपि जहाँगीर के समय की भाँति प्रगति नहीं हुई परन्तु शाहजहाँ ने जहाँगीर की परम्परा को स्थापित रखा। शाहजहाँ गाने सुनने का शौकीन था और स्वयं भी अच्छा गाता था। उसने सुखसेन, सूरसेन और जगन्नाथ जैसे गायकों को राजकीय संरक्षण प्रदान किया।

परन्तु शाहजहाँ के समय में सबसे अधिक उन्नति वास्तुकला (स्थापत्य-कला) की हुई। इस दृष्टि से उसका काल, निःसन्देह, मुगल-काल का स्वर्ण-काल था, यह सभी इतिहासकार स्वीकार करते हैं। उसके समय में न केवल संख्या की दृष्टि से इमारतों की श्रेष्ठता थी बल्कि कलात्मक दृष्टि से भी प्रगति थी। दिल्ली का लाल किला और जामा मस्जिद, आगरा के किले में मोती मस्जिद, दीवाने-आम, दीवाने-खास और संसार-प्रसिद्ध ताजमहल, लाहौर के किले में दीवाने-आम, मुसम्मम बुर्ज, शीशमहल, नौलक्खा और ख्वाबगाह तथा काबुल, कश्मीर, अजमेर, कन्धार, आदि विभिन्न स्थानों पर बनवायी गयी इमारतें, महल, मकबरे और बगीचे आदि शाहजहाँ के युग को वास्तुकला की दृष्टि से मुगल-कला में श्रेष्ठ स्थान प्रदान करते हैं। ताज-महल को संसार की सुन्दरतम इमारतों में स्थान दिया गया है और मोती-मस्जिद का नाम उसकी सुन्दरता के कारण ही 'मोती-मस्जिद' रखा गया है। शाहजहाँ ने एक 98 मील लम्बी रानी-नहर लाहौर तक बनवायी और एक दूसरी नहर 'नहर-ए-साहिब' (फीरोज तुगलक द्वारा बनवायी गयी) को न केवल ठीक ही कराया अपितु उसे 60 मील और लम्बा कराया तथा उसका नाम 'नहर-ए-शाह' रखा।

---

1 "The period of Shah Jahan's reign partially coincided with what is described as the most brilliant epoch in the development of Hindi literature and language." —*Dr, Saxena.*

इस प्रकार, शाहजहाँ का समय साम्राज्य-विस्तार, शान्ति, सम्पन्नता और सांस्कृतिक दृष्टि से मुगल-काल का स्वर्ण-काल माना जा सकता है। अकबर ने जिस साम्राज्य और शासन की स्थापना की और जहाँगीर ने जिसे पल्लवित किया, उसके फल शाहजहाँ के समय में प्राप्त हुए। विलियम हण्टर ने लिखा है: "शाहजहाँ के समय में मुगल-साम्राज्य अपनी शक्ति और ऐश्वर्य की पराकाष्ठा पर पहुँच गया।"[1] उसी प्रकार सर रिचार्ड वर्न ने लिखा है: "शाहजहाँ ने 31 वर्ष शासन किया था। इस समय में उसके वंश का साम्राज्य प्रतिष्ठा और सम्पत्ति की चरम सीमा पर पहुँच गया।"[2]

परन्तु एक बात अवश्य स्वीकार करनी पड़ती है कि राज्य में जो सम्पन्नता थी, उसका लाभ बादशाह और जागीरदारों को प्राप्त हुआ। बहुसंख्यक किसानों को इससे लाभ नहीं हुआ, क्योंकि शाहजहाँ के समय में लगान उत्पादन का ½ भाग था और राज्य की अधिकांश खालसा-भूमि (बादशाह की भूमि) को जागीरदारों की भूमि में परिवर्तित कर दिया गया था।

---

1 "The Mughal Empire attained its highest union of strength and magnificence under Shah Jahan." —*W. Hunter.*

2 "Shah Jahan had reigned for thirty-one years, during which time the Empire of his House reached the height of its glory and wealth." —*Sir R. Burns.*

8
औरंगजेब
[1658—1707 ई.]

शाहजादे की स्थिति में ही औरंगजेब ने एक योग्य सेनापति और शासन-प्रबन्धक होने का परिचय दिया था। उत्तराधिकार के युद्ध में गतिशीलता, सैन्य-संगठन, नेतृत्व और अवसर का सदुपयोग करने की जिस क्षमता का उसने परिचय दिया, उसी के कारण वह अपने भाइयों के विरुद्ध सफलता पा सका। 30 मार्च, 1658 को औरंगजेब ने अपने सैनिक अभियान को आरम्भ किया और तीन महीने में ही उसने दो बड़ी नदियों को पार किया, दो बड़े युद्धों को विजय किया, राजधानी पर अधिकार कर लिया और बादशाह शाहजहाँ को कैद कर लिया। निस्सन्देह, उत्तराधिकार के युद्ध में औरंगजेब की सफलता साम्राज्य के लिए आकांक्षी शाहजादों में से सबसे योग्य सेनापति और व्यावहारिक कूटनीतिज्ञ शाहजादे की सफलता थी। इस सफलता से मुगल-साम्राज्य का संचालन दृढ़ और शक्तिशाली हाथों में आ गया। औरंगजेब ने एक लम्बे समय तक शासन किया जिससे उसकी शक्ति, दृढ़ता और योग्यता का लाभ साम्राज्य को प्राप्त हो सका था। यही नहीं, बल्कि औरंगजेब को एक शान्त, दृढ़, विस्तृत और समृद्धिशाली साम्राज्य प्राप्त हुआ था। उसने उसका और अधिक विस्तार किया। परन्तु तब भी औरंगजेब असफल हुआ। उसके समय के अन्तिम दिनों में मुगल-साम्राज्य पतन की ओर अग्रसर हो गया। औरंगजेब एक महान् शासक था और उसकी असफलता भी महान् थी। उसकी असफलता का मुख्य कारण उसका चरित्र और धार्मिक असहिष्णुता थी। डॉ. एस. आर. शर्मा ने लिखा है कि "उसकी असफलता का मुख्य कारण उसका चरित्र था। एक बार फिर हम पुनरावृत्ति होने वाले उस अनुभव को पाते हैं कि साम्राज्य का भाग्य बादशाह के व्यक्तित्व की कीली पर घूमता है। औरंगजेब उतना ही धर्मान्ध था जितना कि अकबर उदार था और दोनों ही समानरूप से अपने-अपने आदर्शों की पूर्ति में निष्ठा से लगे रहे। औरंगजेब का लक्ष्य अकबर के द्वारा किये गये महान् कार्य को समाप्त करने का था और इसमें उसे घातक सफलता प्राप्त हुई। इस शासन में राष्ट्रीय जीवन की बनी हुई रस्सी को उधेड़ दिया गया।"[1]

---

1 "The key to his failure is his character. Once more we find the oft-repeated experience : the fortunes of the empire turning on the pivot of the Emperor's personality. Aurangzeb was as fanatical as Akbar was liberal, but both were equally zealous in the pursuit of their respective ideals. Aurangzeb aimed at and

3 नवम्बर, 1618 को उज्जैन के निकट दोहद नामक स्थान पर मुहीउद्दीन मुहम्मद औरंगजेब का जन्म हुआ था। जिस समय शाहजहाँ का अपने पिता के विरुद्ध विद्रोह असफल हुआ, उस समय दाराशिकोह और औरंगजेब को नूरजहाँ के पास बन्धक के रूप में रखा गया। जहाँगीर की मृत्यु के पश्चात् इनको मुक्त किया गया। औरंगजेब की शिक्षा का अच्छा प्रबन्ध किया गया। सैनिक-शिक्षा के अतिरिक्त उसने धार्मिक ग्रन्थों और अरबी, फारसी, तुर्की और हिन्दी भाषा को भी सीखा। उसका पहला सैनिक-अभियान बुन्देलखण्ड के शासक जूझरसिंह के विरुद्ध हुआ जिसमें उसने सफलता प्राप्त की। उसके पश्चात्, औरंगजेब ने समय-समय पर दक्षिण के सूबेदार (दो बार), गुजरात का सूबेदार, बल्ख (मध्य-एशिया) और कन्धार के आक्रमण का सेनापति, आदि के रूप में कार्य किया और सैनिक, कूटनीतिज्ञ और शासन-प्रबन्धक की दृष्टि से अनुभव प्राप्त किया। उत्तराधिकार के अवसर पर वह दक्षिण का सूबेदार था। अपने भाइयों को मारकर और शाहजहाँ को कैद करके उसने राजसिंहासन पर अधिकार कर लिया। उसका पहला राज्याभिषेक दिल्ली में 31 जुलाई, 1658 को और दूसरा राज्याभिषेक भी दिल्ली में ही 15 जून, 1659 को हुआ तथा 'अब्दुल मुजफ्फर मुहीउद्दीन मुहम्मद औरंगजेब बहादुर आलमगीर पादशाह गाजी' की उपाधि लेकर वह मुगल बादशाह के सिंहासन पर आसीन हुआ।

[1]

औरंगजेब का राजत्व-सिद्धान्त : धार्मिक असहिष्णुता और उसके परिणाम

एक पत्र में अपने पिता को औरंगजेब ने लिखा था : "जहाँपनाह अच्छी तरह जानते हैं कि अल्लाह उसी को उत्तरदायित्व सौंपता है जो अपनी प्रजा की भलाई और उसकी रक्षा करने के कर्तव्य की पूर्ति करता है... सम्प्रभुता का अर्थ प्रजा की रक्षा है न कि भोग-विलास और अफीम।"[1] औरंगजेब के एक अफसर ने जब स्वास्थ्य के आधार पर उसे आराम करने के लिए कहा, तो उसने उत्तर दिया : "एक बादशाह का पुत्र और बादशाह बनने के कारण, खुदा ने मुझे अपने लिए नहीं अपितु दूसरों के लिए जीवित रहने और परिश्रम करने के लिए भेजा है। मेरा कर्तव्य है कि मैं उस समय तक अपनी प्रसन्नता के बारे में न सोचूँ जब तक कि वह प्रसन्नता मेरी प्रजा की प्रसन्नता के साथ गुँथी हुई न हो।"[2] उसने आगे कहा : "बादशाह के

---

fatally succeeded in undoing the great work of Akbar. In the present reign, we but witness the untwisting of the chord of national life."

—*Dr. S. R. Sharma.*

1 "It is clear to your Majesty that God Almighty bestows His trusts upon one who discharge the duty of cherishing his subjects and protecting the people...Sovereignty signifies protection of the people, not self-indulgence and libertinism."

—*Aurangzeb to Shah Jahan.*

2 "Being born the son of a king and placed on the throne I was sent into the world by Providence to live and labour, not for myself, but for others...It is my duty not to think of my own happiness, except so far as it is inseperably connected with the happiness of my people."

—*Aurangzeb.*

कर्तव्य के विषय में बुद्धिमान व्यक्तियों की केवल एक ही राय हो सकती है कि कठिनाई और खतरे के समय में वह अपने जीवन को खतरे में डाल दे और आवश्यकता होने पर अपनी प्रजा की रक्षा के लिए हाथ में तलवार लेकर लड़ता हुआ मर जाये।"[1] औरंगजेब ने एक बार कहा था : "वास्तव में महान् बादशाह वह है जो अपनी प्रजा पर समानता से शासन करना अपने जीवन का प्रमुख लक्ष्य समझता है।"[2] बादशाह के कर्तव्यों और उत्तरदायित्वों के विषय में औरंगजेब के ये विचार सर्वथा निर्मूल न थे। उसने अपनी प्रजा की भलाई को अपने जीवन का प्रमुख लक्ष्य समझा था इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता। अपनी प्रजा की आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक स्थिति को ही नहीं बल्कि धार्मिक और नैतिक स्थिति को ठीक करना भी औरंगजेब अपना कर्तव्य मानता था। भारत जैसे कृषि-प्रधान देश में राज्य की समृद्धि किसानों की समृद्धि और एक अच्छी लगान-व्यवस्था पर निर्भर करती थी। औरंगजेब ने किसानों का पूरा ध्यान रखा तथा व्यापारियों, उद्योगपतियों आदि सभी की उन्नति का प्रयत्न किया और इसके लिए उसने विभिन्न कानून बनाये। सिंहासन पर बैठते ही औरंगजेब ने करीब 80 करों को समाप्त कर दिया। इन्हीं में से 'राहदारी' (परिवहन-कर), 'पानडारी' (चुंगी-कर) और विभिन्न प्रमुख स्थानीय कर जिन्हें 'आबवाब' पुकारते थे। इन करों का भार जनसाधारण पर था। इससे यद्यपि राज्य की आय में करोड़ों रुपया प्रति वर्ष की कमी हुई परन्तु जनसाधारण को इससे लाभ हुआ। इसमें सन्देह नहीं कि स्थानीय अधिकारियों की बेईमानी के कारण इनमें से बहुत-से कर जन-साधारण से इसके बाद भी लिये जाते रहे। परन्तु तब भी ये कार्य औरंगजेब की एक अच्छे शासन-प्रबन्धक की भावना के प्रतीक थे। औरंगजेब न्यायप्रिय था। ओविंगटन ने लिखा था कि "महान् मुगल न्याय का सागर है।"[3] औरंगजेब बहुत परिश्रमी था। प्रातःकाल 5-00 बजे से रात्रि तक औरंगजेब सप्ताह के प्रायः सभी दिनों में शासन-कार्य में व्यस्त रहता था। अपने अन्तिम समय तक उसने कठिन युद्धों से भी मुख नहीं मोड़ा। उसने स्वयं लिखा : "जब तक जीवन की एक भी साँस बाकी है तब तक परिश्रम और कार्य से छुटकारा नहीं मिल सकता।"[4] एलफिन्सटन ने लिखा है : "जब बादशाह दक्षिण के युद्धों में लगा हुआ था, उसकी आयु अधिक थी। तब भी वह शासन के प्रत्येक विभाग की, प्रत्येक छोटे से छोटे अधिकारी की नियुक्ति की, प्रत्येक सन्देश की, प्रत्येक आक्रमण की और प्रत्येक किले को जीतने की योजना की ओर स्वयं ध्यान देता था।" इस प्रकार औरंगजेब का राजत्व-सम्बन्धी सिद्धान्त महान् था और मध्य-युग के एक महान् शासक होने के सभी गुण उसमें थे।

परन्तु औरंगजेब कट्टर सुन्नी मुसलमान था। बादशाहत उसे न केवल अच्छा

1 "There can surely be but one opinion among wise men as to the obligation imposed upon a sovereign, in seasons of difficulty and danger, to hazard his life, and, if necessary, to die sword in hand in defence of the people committed to his care." —*Aurangzeb.*

2 "He is truly the great king who makes it the chief business of his life to govern his subjects with equity." —*Aurangzeb.*

3 "The great Mogul is the main ocean of justice." —*Ovington.*

4 "So long as a single breath of this mortal life remains, there is no release from labour and work." —*Aurangzeb.*

शासन करने के लिए ही प्राप्त हुई थी बल्कि इस्लाम (और उसमें भी सुन्नी-मत) की सुरक्षा और विस्तार के लिए भी प्राप्त हुई थी। औरंगजेब का राजत्व-सिद्धान्त इस्लाम का राजत्व-सिद्धान्त था। औरंगजेब का मुख्य लक्ष्य इस (भारत) 'दार-उल-हर्ब' (काफिरों का देश) को 'दार-उल-इस्लाम' (इस्लाम का देश) बनाना था। औरंगजेब जीवनभर इस उद्देश्य को न भूल सका और न कभी अपनी शासन नीति को इससे पृथक् रख सका। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसने अपने पिता को बन्दी बनाया, अपने भाइयों को कत्ल किया, अपने पुत्र अकबर को दर-दर की ठोकरें खाने के लिए छोड़ दिया, राजपूतों, जाटों, सिखों और मराठों को संघर्ष करने के लिए बाध्य कर दिया, दक्षिण के शिया-राज्य बीजापुर और गोलकुण्डा को समाप्त कर दिया और अपने राज्य की बहुसंख्यक हिन्दू प्रजा पर शासन, सम्मान, धर्म, अर्थ, आदि सभी प्रकार से इतना दबाव डालने का प्रयत्न किया जिससे वह धर्म परिवर्तन के लिए बाध्य हो जायें। औरंगजेब का विश्वास था कि उससे पहले के सभी मुगल शासकों ने सबसे गम्भीर भूल यह की थी कि उन्होंने भारत में इस्लाम की श्रेष्ठता को स्थापित करने का प्रयत्न नहीं किया। औरंगजेब ने अपने जीवन में इसी कार्य की पूर्ति करने का प्रयत्न किया। उनके अनुसार यह इस्लाम के मानने वाले बादशाह का एक प्रमुख कर्तव्य था। इसी से औरंगजेब का राजत्व-सिद्धान्त संकीर्ण बन गया, उसका कर्तव्य सीमित हो गया, उसकी नीति असहिष्णु बन गयी और वह अपनी बहुसंख्यक प्रजा का बादशाह न रहा। औरंगजेब स्वयं इस्लाम का विद्वान था, नियमपूर्वक उसके नियमों का पालन करता था, इस्लाम और वह भी उसकी सुन्नी-शाखा की श्रेष्ठता में उसका विश्वास था और वह अन्य सभी व्यक्तियों को अपने इस सत्य धर्म के मार्ग पर लाने के लिए जीवनभर प्रयत्नशील रहा।

यह विचार भी व्यक्त किया गया है कि अपने व्यक्तिगत धार्मिक विचारों के अतिरिक्त परिस्थितियों ने भी औरंगजेब को कट्टर धार्मिक नीति अपनाने के लिए बाध्य किया था। अकबर की उदार नीति के कारण, हिन्दुओं और मुख्यतया राजपूतों को समाज और शासन में अपने प्रभाव को बढ़ाने का अवसर मिल गया था। परन्तु उसकी प्रतिक्रिया भी हुई थी और जहाँगीर तथा शाहजहाँ के शासनकाल में इस्लाम के कट्टर समर्थकों को अपनी शक्ति और प्रभाव को बढ़ाने का अवसर मिला था। इन विरोधी विचारधाराओं के समर्थकों ने उत्तराधिकार के युद्ध में विरोधी शाहजादों का पक्ष लिया था। औरंगजेब को इस्लाम के कट्टर समर्थकों ने सहायता दी जबकि राजपूतों ने उसके विरुद्ध दाराशिकोह को सहायता दी। ऐसी स्थिति में बादशाह बन जाने पर औरंगजेब को इस्लाम के कट्टर समर्थकों का पक्ष लेना था और उसी आधार पर राजपूतों का विरोध भी करना था। यह विचार पर्याप्त तर्कसंगत है परन्तु तब भी यह सत्य है कि औरंगजेब की कट्टर धार्मिक नीति का मुख्य कारण उसके व्यक्तिगत धार्मिक विचार थे।

औरंगजेब ने सिक्कों पर 'कलमा' का खुदवाना बन्द कर दिया, नौरोज का त्यौहार मनाना बन्द कर दिया, तुलादान और झरोखा-दर्शन बन्द कर दिया, दरबार से नाचने-गाने वालों को निकाल दिया, भांग का उत्पादन बन्द कर दिया, शराब पीना और जुआ खेलना बन्द करने का प्रयत्न किया, सती-प्रथा पर रोक लगायी, वेश्याओं को विवाह करने अथवा देश छोड़ देने के आदेश दिये और दरबार में होली, बसन्त, दीवाली, आदि त्यौहार मनाने बन्द कर दिये। इनमें से कुछ कार्य लाभदायक थे।

परन्तु इन कार्यों का मुख्य उद्देश्य दरबार से शिया और हिन्दू रीति-रिवाजों को समाप्त करना था। इस बात की देखभाल के लिए कि उसके धार्मिक नियम माने जायें, औरंगजेब ने बड़े-बड़े नगरों में 'मुहतसिबों' (धर्म-निरीक्षकों) की नियुक्ति की। मुहतसिबों का कर्तव्य था कि वे देखें कि मुसलमान ठीक प्रकार अपने धर्म का पालन करते हैं या नहीं। उनका कर्तव्य धर्म-विरोधियों तथा इस्लाम की निन्दा करने वालों को दण्ड देने का भी था। औरंगजेब के समय में उदार शियाओं और सूफियों को भी दण्डित किया गया।

अपनी बहुसंख्यक हिन्दू प्रजा के प्रति औरंगजेब बहुत कठोर रहा। एक आदेश के अनुसार हिन्दुओं को अपने मन्दिरों की मरम्मत कराने का अधिकार न रहा और सूबेदारों तथा मुहतसिबों को सभी हिन्दू मन्दिरों और पाठशालाओं को तोड़ देने की आज्ञा दी गयी जिससे हिन्दू अपने धर्म और शिक्षा का प्रसार न कर सकें। यह तो सम्भव नहीं हो सकता था कि हिन्दुओं के सभी मन्दिर और पाठशालाएँ समाप्त कर दी जातीं परन्तु बनारस का विश्वनाथ का मन्दिर, मथुरा का केशवदेव का मन्दिर, पाटन का सोमनाथ का मन्दिर और प्रायः सभी बड़े-बड़े मन्दिर, मुख्यतया उत्तरी भारत के, इसी समय में तोड़े गये। अधीनस्थ हिन्दू राजाओं के राज्यों में भी यही कार्य किया गया और अनेक स्थानों पर मन्दिरों के स्थान पर मस्जिदें बना दी गयीं। 1679 में सभी हिन्दुओं पर 'जजिया' (धार्मिक कर) लगा दिया गया। इस कर को वसूल करने के लिए राज्य के गैर-मुस्लिम नागरिकों को तीन वर्गों में बाँटा गया था। वे व्यक्ति जिनकी वार्षिक आय 200 दिरहम से कम थी उनको राज्य को 12 दिरहम प्रति वर्ष देने होते थे; जिन व्यक्तियों की वार्षिक आय 200-10,000 दिरहम के बीच थी, उन्हें वर्ष में 24 दिरहम कर के रूप में देने पड़ते थे और जिन व्यक्तियों की वार्षिक आय 10,000 दिरहम से अधिक थी, उन्हें 48 दिरहम प्रति वर्ष देने पड़ते थे। मजदूरों से यह कर उसी समय लिया जाता था जब उनकी आय उनके परिवार के व्यय से अधिक होती थी। स्त्रियाँ, गुलाम, भिखारी और 14 वर्ष से कम आयु के बच्चे इस कर से मुक्त थे। हिन्दुओं पर 'तीर्थयात्रा-कर' लगाया गया और जबकि मुसलमान व्यापारी व्यापारिक कर से मुक्त रहे, हिन्दू व्यापारियों से वस्तु के मूल्य का 5% कर के रूप में लिया गया। जहाँ तक भी सम्भव था, हिन्दुओं को लगान अधिकारियों के पदों से हटाया गया। 1688 में हिन्दुओं के त्यौहारों और उत्सवों पर प्रतिबन्ध लगाया गया और उसी वर्ष राजपूतों के अतिरिक्त सभी हिन्दुओं को पालकी या अच्छे घोड़े की सवारी करने और हथियार रखने से रोक दिया गया। हिन्दुओं पर, इस प्रकार, विभिन्न प्रकार से दबाव डालने का सिर्फ एक ही आशय हो सकता था, और वह था धर्म-परिवर्तन। औरंगजेब ने आर्थिक दबाव, सामाजिक असम्मान और राजनीतिक सुविधाओं से वंचित करना, आदि के द्वारा हिन्दुओं को इस्लाम धर्म में परिवर्तित करने का प्रयत्न किया। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए हिन्दू प्रजा को अन्य विभिन्न प्रकार के लालच भी दिये जाते थे, इसमें सन्देह नहीं है। यह कहना उपयुक्त नहीं होगा कि औरंगजेब ने राज्य की आर्थिक कठिनाइयों के कारण हिन्दुओं पर यह कर लगाये थे, क्योंकि यदि ऐसा होता तो वह बहुत से करों को समाप्त करने की नीति न अपनाता। औरंगजेब की धार्मिक कट्टरता ही मूल रूप से इसके लिए उत्तरदायी थी। इतिहासकार लेनपूल ने लिखा है : "अपने इतिहास में मुगलों ने पहली बार एक कट्टर मुसलमान को बादशाह के रूप में देखा—एक ऐसा

मुसलमान जो अपना दमन भी उतना ही करता था जितना अपनी प्रजा का और एक ऐसा बादशाह जो अपने धर्म के लिए अपने राजसिंहासन को भी छोड़ने के लिए तत्पर था।"[1] औरंगजेब 40 वर्ष की आयु में बादशाह बना था। वह व्यवहारकुशल, चालाक और कूटनीतिज्ञ था। ऐसा सम्भव नहीं था कि वह अपनी नीति के दुष्परिणामों को न समझ सका हो। परन्तु तब भी वह मृत्यु-पर्यन्त दृढ़ता से अपनी धार्मिक कट्टरता की नीति का पालन करता रहा। उसका धार्मिक जोश ही इसका मूल कारण था। लेनपूल ने फिर लिखा है : "दक्षिण की महान् सेना के क्षत-विक्षत अवशेषों के बीच पड़े हुए प्राय: 90 वर्ष के मरणासन्न औरंगजेब की आत्मा में धार्मिक उत्साह की वही अग्नि धधक रही थी जिसके कारण उसी प्रान्त में अपनी युवावस्था के समय में उसने अपनी सूबेदारी की पोशाक को फेंककर एक भिखारी फकीर के निकृष्ट वस्त्र पहन लिये थे।"[2] उसकी धार्मिक असहिष्णुता के कार्यों पर विचार करते हुए डॉ. एस. आर. शर्मा ने लिखा है : "यह सभी कार्य एक योग्य शासक अथवा एक निर्माण-कर्ता राजनीतिज्ञ के नहीं थे बल्कि एक अन्धी धर्मान्धता का फूट पड़ना था जो निस्सन्देह अन्य सभी क्षेत्रों में मेधावी औरंगजेब के लिए शोभनीय न था।"[3] इस प्रकार, औरंगजेब की योग्यता, गुण, नीति, आदि सभी उसकी उस व्यक्तिगत धर्मान्धता के आगे दब गये जिसका प्रयोग उसने एक शासक की भाँति किया। औरंगजेब ने अकबर द्वारा आरम्भ की गयी धार्मिक सहिष्णुता की नीति में आमूल परिवर्तन कर दिया और यही उसके लिए और मुगल-साम्राज्य की शक्ति एवं समृद्धि के लिए सबसे घातक सिद्ध हुआ।

औरंगजेब के इस राजत्व-सिद्धान्त और धार्मिक असहिष्णुता की नीति के कारण साम्राज्य में अनेक विद्रोह हुए। सतनामियों, जाटों और सिखों के विद्रोह इसके कारण ही हुए। राजपूतों का विरोध और मराठों के संघर्ष का कारण राजनीतिक के साथ-साथ धार्मिक भी था। इनसे राज्य में अशान्ति, अव्यवस्था और निरन्तर संघर्ष हुए, जिनके कारण स्वयं औरंगजेब असफल हुआ और मुगल-साम्राज्य के पतन के लिए भी उत्तरदायी हुआ।

औरंगजेब की धार्मिक नीति के विरुद्ध पहला संगठित विद्रोह जाटों ने किया। मथुरा का स्थानीय अधिकारी अब्दुल नबी हिन्दू मन्दिरों को तोड़ रहा था और हिन्दू

---

1 "For the first time in their history, the Mughals beheld a rigid Muslim in their Emperor—a Muslim as sternly repressive of himself as of his people around him, a king who was prepared to stake his throne for the sake of the faith." —*Lane-Poole.*

2 "The flame of religious zeal blazed as hotly in his soul when he lay dying among the ruins of his Grand Army of the Deccan, an old man on the verge of ninety, as when, in the same fatal province, but then a youth in the springtime of life, he had thrown off the purple of viceregal state and adopted the mean garb of a mendicant *fakir.*" —*Lane-Poole.*

3 "These were not the acts of a righteous ruler of a constructive statesman, but the outburst of blind fanaticism, unworthy of the great genius that Aurangzeb undoubtedly possessed in all other respects." —*Dr. S. R. Sharma.*

स्त्रियों को अपमानित कर रहा था। 1661-62 में उसने एक हिन्दू-मन्दिर को तोड़कर मस्जिद बनवायी थी और वह दाराशिकोह द्वारा केशवराय के मन्दिर को भेंट में दिये गये एक जंगले को भी उठा ले गया था। उसके अत्याचारों से दुःखी होकर 1669 में स्थानीय जाटों ने गोकुल के नेतृत्व में विद्रोह किया। उन्होंने अब्दुल नबी को मार दिया और सादाबाद की तहसील में लूटमार की। 1670 में मुसलमानों ने बीरसिंह बुन्देला द्वारा बनाये गये केशवराय के प्रसिद्ध मन्दिर को तोड़ दिया और उसके स्थान पर मस्जिद की स्थापना की। इससे गोकुल का विद्रोह बढ़ता गया, उसके समर्थकों की संख्या 20,000 तक पहुँच गयी और उसने मुगलों की छोटी-छोटी सेनाओं को परास्त करने में सफलता पायी। अन्त में, तिलपट के युद्ध में जाट परास्त हुए, गोकुल पकड़ा गया, उसके शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर दिये गये, उसके परिवारीजनों तथा बन्दी बनाये गये जाटों को या तो इस्लाम में परिवर्तित कर लिया गया अथवा मार दिया गया। परन्तु जाटों का विद्रोह समाप्त नहीं हुआ। 1686 में जाटों ने राजाराम के नेतृत्व में विद्रोह किया। राजाराम के कई मुगल अधिकारियों को परास्त किया, आगरा तक आक्रमण किये और कहा जाता है कि उसने बादशाह अकबर के मकबरे सिकन्दरा को हानि पहुँचाई तथा अकबर की कब्र को खोदकर उसकी हड्डियों को जला दिया। परन्तु 1688 में राजाराम एक युद्ध में परास्त हुआ और मारा गया। उसके पश्चात् राजाराम के भतीजे चूरामन ने विद्रोह को जारी रखा। जाटों का यह विद्रोह औरंगजेब की मृत्यु तक चलता रहा, और अन्त में जाटों ने मथुरा के निकट भरतपुर के स्वतन्त्र राज्य की स्थापना करने में सफलता पायी।

1. जाटों का विद्रोह

नारनौल और मेवात के जिलों में सतनामियों का धार्मिक सम्प्रदाय पर्याप्त विख्यात था। सत्य ईश्वर में विश्वास करने के कारण ये अपने को सतनामी पुकारते थे। ये अपने सम्पूर्ण शरीर के बालों को मूड़कर रखते थे। इस कारण इनको मुण्डिया भी पुकारते थे। एक सतनामी साधु और एक मुगल सैनिक के पारस्परिक झगड़े से यह विद्रोह आरम्भ हुआ। स्थानीय फौजदार इनके विद्रोह को न दबा सका और जो छोटी-छोटी सेनाएँ औरंगजेब ने भेजीं, उन्हें परास्त कर दिया गया। यह विश्वास फैल गया कि सतनामी जादू-टोना जानते हैं और उनके शरीर पर बन्दूक की गोलियों का असर नहीं होता। अन्त में, औरंगजेब ने कुछ कागजों पर कुछ लिखकर उन्हें अपने सैनिकों में आत्मविश्वास उत्पन्न करने के लिए अपनी सेना के झण्डों पर बंधवा दिया और तोपखाने के साथ उस सेना को भेजा। सतनामियों ने कट्टरता से युद्ध किया परन्तु वे परास्त हुए। करीब 2,000 सतनामी युद्ध में मारे गये और बाकी सतनामियों ने आत्म-समर्पण कर दिया।

2. सतनामियों का विद्रोह

1469 से 1708 तक के समय में सिखों के दस गुरु हुए। सिख-सम्प्रदाय के प्रवर्तक और सिखों के पहले गुरु नानक थे। 15 अप्रैल, 1469 को तलवण्डी (अब उसे ननकाना पुकारते हैं) नामक स्थान पर उनका जन्म हुआ था। उनके पिता मेहता कालू पटवारी थे। आरम्भ में उन्होंने राज्य-सेवा को स्वीकार किया, विवाह किया और उनके दो पुत्र और दो पुत्रियाँ हुईं। परन्तु 27 वर्ष की आयु में उन्होंने नौकरी और परिवार, दोनों ही छोड़ दिये तथा वर्षों तक वह एक स्थान से दूसरे स्थान

3. सिख सम्प्रदाय और उसका विद्रोह

पर घूमते रहे। उन्होंने असम से लेकर बगदाद तक और तिब्बत से लेकर श्रीलंका तक भ्रमण किया। वह विभिन्न साधुओं और फकीरों के सम्पर्क में आये। उन पर हिन्दू और इस्लाम दोनों ही धर्मों का प्रभाव था। वह सभी धर्मों की समानता में विश्वास करते थे। उन्होंने अपने अन्तिम दिन अपने परिवार के साथ पंजाब में करतारपुर नामक स्थान पर व्यतीत किये। नानक एक धर्म-सुधारक और समाज-सुधारक थे। अपने समय की सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों से उन्हें तीव्र असन्तोष था। उनका कहना था कि यह युग एक कटार है और राजा कसाई है, न्याय ने पंख लगा लिये हैं और भाग गया है। मैं दुख से रोता हूँ कि किस प्रकार उद्धार होगा?"[1] उन्होंने कहा था कि "आजकल आदमी केवल शक्ल और नाम से आदमी है अन्यथा कार्यों से वह कुत्ता है।"[2] इन विचारों को लेकर उन्होंने धार्मिक समानता, एक ईश्वर और सत्कर्मों पर बल दिया। वह मूर्ति-पूजा, जाति-भेदभाव और मुल्ला एवं पण्डितों की श्रेष्ठता के विरुद्ध थे। उन्होंने अवतारवाद और कर्मकाण्ड का विरोध किया। वह हिन्दू और मुसलमानों में अन्तर नहीं करते थे। उन्होंने समानता और सत्कर्मों पर सबसे अधिक बल दिया। नानक ने धर्म-प्रचार के लिए स्थान-स्थान पर 'संगतों' की स्थापना की और अपनी मृत्यु के पश्चात् अपने विचारों के प्रचार और प्रसार का उत्तरदायित्व अपने योग्य शिष्य लेहना को सौंपा। दूसरे गुरु अंगद (लेहना) ने 1538 में नानक की मृत्यु हो जाने पर इस कार्य को सफलता से किया। उन्होंने गुरु नानक के सरल उपदेशों का प्रचार किया और स्थानीय भाषा में उनके उपदेशों का संकलन किया। गुरु अंगद ने लंगर-व्यवस्था (मुफ्त भोजन बाँटने की व्यवस्था) को स्थायी स्वरूप प्रदान किया। इससे अन्तर्जातीय खान-पान को प्रोत्साहन मिला, जाति-व्यवस्था दुर्बल हुई और सिखों में सामाजिक समानता के भाव को प्रोत्साहन मिला। 1552 में गुरु अंगद की मृत्यु हुई। उन्होंने भी अपनी मृत्यु के समय गुरु की गद्दी अपने किसी पुत्र को न देकर अपने एक शिष्य अमरदास को सौंपी। तीसरे गुरु अमरदास स्वयं खेती और व्यापार करते थे और उन्होंने कभी भी अपने शिष्यों को संसार छोड़ने के लिए नहीं कहा। उन्होंने अपने शिष्यों को 'पारिवारिक सन्त' होने का उपदेश दिया। उन्होंने सिखों के सम्प्रदाय को संगठित करने में सहायता दी। उन्होंने इस कार्य के लिए 22 गद्दियाँ स्थापित कीं जिनमें से प्रत्येक गद्दी का प्रधान गुरु के द्वारा नियुक्त किया जाता था। उस प्रधान व्यक्ति का कर्तव्य सिखों की सुरक्षा और गुरु के उपदेशों का प्रचार करना था। गुरु अमरदास स्वयं बहुत साधारण भोजन करते थे जबकि उनके लंगर में प्रत्येक गरीब और अमीर तथा हिन्दू और मुसलमान को अच्छा भोजन मिलता था। गुरु अमरदास ने लंगर-व्यवस्था में एक अन्य बात सम्मिलित कर दी। वह केवल उन्हीं व्यक्तियों से मिलते थे जो उनके लंगर में भोजन करते थे। इस प्रकार उन्होंने जाति-व्यवस्था पर कठोर आक्रमण किया। गुरु अंगद के लड़के बाबा श्रीचन्द ने अपना एक पृथक सम्प्रदाय (उदासी) बना लिया था। उनके विरोध के कारण

1 "The age is knife, king are butchers; justice hath taken wings and fled...I weep in sorrow, how shall deliverance be obtained."
—*Guru Nanak.*

2 "Men nowadays are men only in shape and name, in action they are dogs."
—*Guru Nanak.*

गुरु अमरदास ने अपने स्थान को छोड़ दिया और गोइन्दवाल चले गये। गुरु अमरदास ने सती-प्रथा का विरोध किया, विवाह की क्रियाओं को साधारण बनाया, पर्दा-प्रथा का विरोध किया और नशीली वस्तुओं मुख्यतया शराब के प्रयोग का विरोध किया। उन्होंने विवाह-पद्धति को सरल बनाया। नवीन विवाह-पद्धति को लवन पुकारा गया। उन्होंने मृत्यु-संस्कारों को भी सरल बनाया। गुरु अमरदास ने अपने उत्तराधिकारी रामदास को 'देवत्व गुणों' से युक्त बनाया और उन्होंने सिखों से माँग की कि वह अपनी सम्पत्ति और आत्मा गुरु की इच्छा पर छोड़ दें। अकबर ने पंजाब में गुरु रामदास से भेंट की थी और उनसे प्रभावित हुआ था। अकबर ने गुरु और उनके शिष्यों को तीर्थयात्रा-कर से मुक्त कर दिया था और उनकी पुत्री के नाम कई गाँव कर दिये थे। 1574 में उनकी मृत्यु हो गयी। **चौथे गुरु रामदास** पर भी अकबर की कृपा रही और उसने उन्हें 1577 में 500 बीघा जमीन दी जिसमें एक प्राकृतिक तालाब भी था। यहीं पर अमृतसर का नगर बसा और अमृतसर का स्वर्ण-मन्दिर बना। 1581 में गुरु रामदास की मृत्यु हुई। उन्होंने अपने तीसरे लड़के अर्जुन को गद्दी सौंपी। उस समय से गुरु की गद्दी पैतृक आधार पर निश्चित होने लगी। यह विचार भी गुरु रामदास ने दिया कि एक गुरु की आत्मा दूसरे गुरु में स्वतः ही चली जाती है। इस कारण, प्रत्येक गुरु का सम्मान समान रूप से किया जाना चाहिए। **पाँचवें गुरु अर्जुन** की आयु गद्दी प्राप्त करने के समय केवल 18 वर्ष की थी। अपने समय (1581-1606) में उन्होंने सिख सम्प्रदाय को शक्तिशाली और सम्पन्न बनाने में सफलता प्राप्त की। उन्होंने जगह-जगह 'संगतों' की स्थापना की, स्थायी रूप से धर्म-प्रचारक (मसन्द और मेउरा) नियुक्त किये और धर्म-प्रचार के अतिरिक्त उनसे सिखों से ईश्वर के लिए धन लेने का भी कार्य लिया। उन्होंने सिखों को व्यापार और कृषि की ओर ध्यान देने को कहा। उन्होंने सिखों को शक्तिशाली बनने के लिए कहा। स्वयं गुरु का दरबार मुगल बादशाह के दरबार की तरह शान-शौकत से भरपूर रहता था यद्यपि गुरु को स्वयं उससे कोई लगाव न था। गुरु अपने शिष्यों से आध्यात्मिक और नैतिक प्रगति के साथ-साथ भौतिक और शारीरिक प्रगति की भी आशा करते थे। उनका कहना था कि "जो व्यक्ति सैनिक कसरत करता है वह युद्ध-स्थल में निर्भय हो जायेगा। जो व्यक्ति शास्त्र लेकर विजय या मृत्यु को प्राप्त करता है और जो व्यक्ति मृत्यु के अवसर पर सत्य नाम (ईश्वर) का स्मरण करता है वह कई जन्मों के पापों से मुक्त हो जायेगा और निर्वाण प्राप्त करेगा।"[1] उनके ऐसे विचारों और प्रयत्नों के परिणामस्वरूप सिख-सम्प्रदाय पंजाब में महत्वपूर्ण हो गया। गुरु अर्जुन ने अपने और अपने पिछले गुरुओं के उपदेशों का संकलन कराया और 'आदि-ग्रन्थ' की रचना की जो सिखों की धार्मिक पुस्तक है। गुरु अर्जुन ने अमृतसर के स्वर्ण-मन्दिर का निर्माण कराया और 1604 में वहाँ 'आदिग्रन्थ' की स्थापना की। खुसरो के विद्रोह के अवसर पर गुरु ने उसे आशीर्वाद के साथ-साथ कुछ आर्थिक सहायता भी दी। इससे बादशाह जहाँगीर उनसे असन्तुष्ट हो गया और उसने गुरु से 2 अथवा 2½ लाख रुपया जुर्माना माँगा। गुरु ने इसे देने से इन्कार कर दिया। उनका कहना

1 "He who practiseth martial exercises shall become fearless in battle-field. He who resolveth to conquer or die in arms, and he who when dying claspeth the true name to his heart, shall efface the sins of many births and obtain deliverance." — *Guru Arjun.*

था कि "मेरे पास अपना कोई धन नहीं है। मेरा धन तो गरीबों और असहायों के लिए है।" जहाँगीर ने गुरु की सम्पत्ति को जब्त करने और गुरु तथा उसके परिवार के सदस्यों को वन्दी बनाने के आदेश दिये। वन्दीगृह में गुरु अर्जुन को कठोर यातनाएँ देकर मार दिया गया (1606)। जहाँगीर ने सिख-सम्प्रदाय पर कोई आक्रमण नहीं किया, परन्तु गुरु अर्जुन के साथ किया गया व्यवहार अनुचित था और सिखों ने इसे मुगलों द्वारा अपने धर्म पर आक्रमण माना। उस समय से सिखों को शस्त्र रखने की आवश्यकता अनुभव हुई। गुरु अर्जुन की ऐसी मृत्यु ने सिखों को सैनिक-सम्प्रदाय और गुरु को सैनिक-सन्त बनने की भावना प्रदान की। गुरु अर्जुन ने मरते समय अपने पुत्र और उत्तराधिकारी हरगोविन्द को सन्देश दिया, "उससे कहा कि वह शोक न मनाये और न पुरुषत्वहीन व्यक्ति की भाँति रोये बल्कि ईश्वर की प्रार्थना करे—अपने सिंहासन पर वह सम्पूर्ण शस्त्र धारण करके बैठे और अपनी सामर्थ्य के अनुसार बड़ी से बड़ी सेना रखे।"[1] छठे गुरु हरगोविन्द की आयु उस समय केवल 11 वर्ष की थी। उन्होंने अपने पिता की इच्छा का अक्षरशः पालन किया। दस दिन तक उन्होंने 'ग्रन्थ-साहिब' का पाठ कराया और उसके पश्चात् अपनी कमर में दो तलवारें बाँधकर वह अपनी गद्दी पर बैठे। उन्होंने अपने समर्थकों से धन के स्थान पर घोड़े और हथियार लेने आरम्भ किये, उन्हें माँस खाने की आज्ञा दे दी, 'तख्त अकाल बंगा' की नींव डाली और अमृतसर की किलेबन्दी की। उन्होंने धार्मिक शिक्षा के साथ-साथ अपने शिष्यों को सैनिक शिक्षा भी प्रदान की। जहाँगीर ने उनसे उनके पिता पर किये गये जुर्माने को माँगा परन्तु उन्होंने इन्कार कर दिया जिसके कारण प्रायः 2 वर्ष तक वह ग्वालियर के किले में बन्दी रहे। शाहजहाँ के आरम्भ के काल में (1628) गुरु के खेमे में शाहजहाँ के एक प्रिय बाज के उड़कर आ जाने और गुरु के उसे वापस न देने के कारण गुरु का मुगलों से झगड़ा आरम्भ हो गया। उस समय तो गुरु ने शाही सेना की टुकड़ियों को परास्त करने में सफलता पायी परन्तु अन्त में अपने धर्म को अरक्षित समझकर वह कश्मीर की पहाड़ियों में स्थित कीरतपुर नामक स्थान पर चले गये और वहीं 1645 में उनकी मृत्यु हुई। उनके पश्चात् सातवें गुरु हरराय (1645-61) हुए जिनसे दाराशिकोह अक्सर मिलता रहता था।

जब औरंगजेब मुगल बादशाह बना तब हरराय सिखों के गुरु थे। क्योंकि गुरु हरराय का दाराशिकोह से मेल-जोल था, इस कारण औरंगजेब ने गुरु को दरबार में आने के आदेश दिये। गुरु हरराय ने अपने पुत्र रामराय को दरबार में भेजा जिसे औरंगजेब ने अपने साथ मिला लिया। इस कारण, गुरु हरराय ने गद्दी अपने दूसरे पुत्र हरकिशन को सौंपी। रामराय ने औरंगजेब की सहायता लेकर गद्दी पर अधिकार करने का प्रयत्न किया जिसके कारण गुरु हरकिशन को दरबार में बुलाया गया। परन्तु आठवें गुरु हरकिशन (1661-1664) की 1664 में मृत्यु हो गयी। उनके पश्चात् सिख-समुदाय ने हरगोविन्द के पुत्र तेगबहादुर को अपना गुरु माना। तेगबहादुर (1664-1675) सिखों के नवें गुरु हुए। उन्होंने औरंगजेब की धार्मिक नीति का खुले रूप से विरोध किया और स्थान-स्थान पर जाकर उसकी नीति के विरोध में

1 "Bid him not to mourn or indulge in unmanly lamentation, but sing God's praises. Let him sit fully armed on his throne, and maintain an army to the best of his ability."
—*Message of Guru Arjun to Guru Hargovind.*

प्रचार किया। औरंगजेब ने उन्हें दिल्ली बुलाया और बन्दी बना लिया। गुरु को इस्लाम धर्म स्वीकार करने के लिए कहा गया और उनके इन्कार करने पर पाँच दिन के पश्चात् विभिन्न यातनाएँ देकर और उन्हें एक विद्रोही बताकर कत्ल कर दिया गया। दिल्ली जाने से पहले गुरु तेगबहादुर ने अपने 15 वर्षीय पुत्र गोविन्दसिंह को अपनी गद्दी सौंप दी थी। गुरु गोविन्दसिंह सिखों के दसवें और अन्तिम गुरु हुए। अपनी मृत्यु से पहले उन्होंने गुरु की गद्दी को समाप्त कर दिया और कहा : "जहाँ भी गुरु के उपदेशों को मानने वाले पाँच सिख एकत्रित होंगे, मैं वहाँ उपस्थित होऊँगा।" अपने समय (1675-1708) में गुरु गोविन्दसिंह ने सिखों को कट्टर सैनिक-सम्प्रदाय बनाने में सफलता पायी। उन्होंने जीवनपर्यन्त औरंगजेब की कट्टर धर्मान्धता का विरोध किया। उन्होंने सिख-सम्प्रदाय को 'खालसा' पुकारा, सिखों को अपने नाम के आगे 'सिंह' लगाने का आदेश दिया और प्रत्येक सिख को केश, कंघा, कृपाण, कच्छ और कड़ा रखने के आदेश दिये। उन्होंने खाने-पहनने और विवाह-सम्बन्धों के बारे में सिखों को पूर्ण एकता और समानता प्रदान की। उन्होंने कहा था कि "मैं चारों वर्णों के व्यक्तियों को सिंह बना दूँगा और मुगलों को नष्ट कर दूँगा।"[1] उन्होंने सिखों को पूर्ण सैनिक-शिक्षा दी, उनमें आत्म-विश्वास और साहस उत्पन्न किया तथा बहुत शीघ्र प्रायः 80,000 सैनिकों की खालसा-सेना तैयार कर ली। गुरु गोविन्दसिंह अपने पिता की मृत्यु और औरंगजेब की कट्टर धर्मान्धता को कभी न भुला सके और उन्होंने औरंगजेब की धर्मान्धता का जवाब धर्मान्धता से दिया। गुरु गोविन्दसिंह के विरुद्ध औरंगजेब ने अनेक सेनाएँ भेजीं, स्थानीय मुगल अधिकारियों ने निरन्तर उनसे युद्ध किये और पाँच बार उनके आनन्दपुर के घर को घेरा गया। परन्तु गुरु एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाकर लड़ते रहे, उनके दो पुत्र युद्ध में मारे गये, अन्य दो पुत्रों को जीवित दीवार में चिनवा दिया गया और स्वयं वह भी विभिन्न कठिनाइयों में रहे। अन्त में, वे भाग कर दक्षिण-भारत चले गये और औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् उत्तरी भारत में आये। औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्र बहादुरशाह ने अपने भाइयों के विरुद्ध उनसे सहायता माँगी और वह उसकी तरफ से युद्ध करने के लिए दक्षिण-भारत गये। वहीं पर गोदावरी नदी के तट पर नादिर नामक स्थान पर एक पठान ने छुरा मारकर उनको बुरी तरह घायल कर दिया। कुछ दिन पश्चात् ही अपनी मृत्यु को निश्चित जानकर उन्होंने अपने को एक कमरे में बन्द करके आत्मदाह कर लिया (1708)। इस प्रकार गुरु गोविन्दसिंह ने अपनी मृत्युपर्यन्त औरंगजेब और उसकी धार्मिक धर्मान्धता की नीति के विरुद्ध संघर्ष किया। उन्होंने पंजाब में सिखों का एक शक्तिशाली सम्प्रदाय बनाने में सफलता पायी जिसके कारण आगे आने वाले समय में पंजाब की राजनीति में सिखों का महत्वपूर्ण भाग हो गया। कनिंघम ने उनके बारे में लिखा है, "सिखों के अन्तिम गुरु अपने लक्ष्य की पूर्ति अपने जीवन में न देख सके परन्तु उन्होंने एक पराजित व्यक्ति-समूह की सोई हुई शक्तियों को जाग्रत कर दिया और उन्हें सामाजिक स्वतन्त्रता और राष्ट्रीय महत्ता की उत्कृष्ट अभिलाषा के श्रेष्ठ और उपयुक्त आदर्श से प्रेरित किया।"[2]

---

1 "I shall make men of all four castes lions, and destroy the Mughals." —*Guru Govind Singh.*

2 "The last apostle of the Sikhs did not live to see his ends accomplished, but he effectively roused the dormant energies of a van-

राजपूतों से औरंगज़ेब के संघर्ष का कारण राजनीतिक और धार्मिक, दोनों था। अकबर के समय से राजपूतों और मुगलों के सम्बन्ध में बड़ा परिवर्तन आ गया था। अधिकांश राजपूत राजाओं ने मुगलों के आधिपत्य को स्वीकार कर लिया था

4. राजपूतों का विद्रोह और संघर्ष

और अकबर ने उन्हें उनके राज्यों में स्वतन्त्र ही नहीं रहने दिया था अपितु उनके साथ सम्मान और मित्रता का व्यवहार करके उन्हें मुगलों की शक्ति का दृढ़-स्तम्भ बना लिया था। राजस्थान के शक्तिशाली राज्य मारवाड़ और अम्बर (जयपुर) ने मुगलों की शक्ति-वृद्धि में सहायता दी थी। केवल मेवाड़ ने अकबर की सत्ता को मानने से इन्कार कर दिया था। परन्तु जहाँगीर के समय में मेवाड़ के साथ भी सन्धि कर ली गयी थी। इस प्रकार, मेवाड़ का सिसोदिया-वंश, मारवाड़ का राठौर-वंश और अम्बर का कछवाहा-वंश, जो राजस्थान के सबसे शक्तिशाली वंश थे, मुगल-साम्राज्य के प्रति वफादार बन चुके थे तथा राजपूत-सैनिकों, सरदारों और राजकुमारों ने अपने साहस, शौर्य और वफादारी से मुगल सिंहासन की सेवा में अपने प्राण दिये थे। परन्तु औरंगजेब इससे सन्तुष्ट न रह सका। वह उसके स्वतन्त्र अस्तित्व को समाप्त करना चाहता था, वह उनके राज्यों को मुगल राज्य की सीमाओं में सम्मिलित करना चाहता था वह उनमें से प्रत्येक को सन्देह की दृष्टि से देखता था और वह इस्लाम का कट्टर समर्थक उन्हें अपनी धार्मिक नीति के व्यावहारिक प्रयोग में सबसे बड़ी बाधा मानता था। राजपूतों की शक्ति को नष्ट किये बिना औरंगजेब की धार्मिक नीति भारत में सफल नहीं हो सकती थी और यदि सफल भी हो जाती तो स्थायी नहीं हो सकती थी। परन्तु औरंगजेब कूटनीतिज्ञ था जैसा कि राजस्थान के विख्यात इतिहासकार टॉड ने लिखा है कि "चालाक बादशाह शस्त्र-प्रयोग के संदिग्ध परिणाम की अपेक्षा कूटनीति के प्रयोग को अधिक पसन्द करता था।"[1] इसलिए उसने चालाकी और अवसर से कार्य करना पसन्द किया। परन्तु उसकी तरकीब कुछ भी हो, उसका लक्ष्य स्पष्ट था। राजपूतों से भी औरंगजेब का यह लक्ष्य न छिप सका कि औरंगजेब उनके सम्मान, शक्ति और राज्यों को समाप्त करने पर तुला हुआ है। जैसे ही राजपूतों को यह स्पष्ट हुआ, उन्होंने अपनी रक्षा के लिए हथियार उठा लिये जिसका परिणाम था राजपूतों का मुगलों के विरुद्ध सशस्त्र संघर्ष और विद्रोह।

उस समय राणा राजसिंह मेवाड़ का, राजा जसवन्तसिंह मारवाड़ का और राजा जयसिंह अम्बर का शासक था। राजा जयसिंह और राजा जसवन्तसिंह दोनों ही मुगलों की सेवा में थे और राज्य के योग्यतम सेनापतियों में उनका स्थान था। उत्तराधिकारी के युद्ध के आरम्भ होने के अवसर पर राजा जयसिंह को सुलेमानशिकोह के साथ शाहशुजा के विरुद्ध भेजा गया था और शाहशुजा को परास्त करने के पश्चात् उसने उसे बंगाल तक खदेड़ दिया था। परन्तु सामूगढ़ के युद्ध में दाराशिकोह की पराजय के पश्चात् वह औरंगजेब के साथ हो गया था। जसवन्तसिंह ने औरंगजेब का मुकाबला धरमट के युद्ध में किया था और औरंगजेब तथा शाहशुजा

---

quished people, and filled them with a lofty, although fitful longing for social freedom and national ascendancy." —*Cunningham.*

1 "The crafty emperor always preferred stratagem to the precarious issue of arms." —*Tod.*

के युद्ध के समय भी वह औरंगजेब का साथ छोड़कर चला गया था। परन्तु उसके पश्चात् राजा जयसिंह के समझाने पर और दाराशिकोह की स्थिति को नष्टप्रायः समझकर वह औरंगजेब के साथ आ गया था। इस प्रकार, ये दोनों राजपूत शासक औरंगजेब की सेवा में आ गये थे। परन्तु औरंगजेब इन दोनों पर सन्देह करता था। उसने दक्षिण के कठिन अभियान में राजा जयसिंह को नियुक्त किया। बीजापुर के विरुद्ध अभियान में असफल होने पर जुलाई 1666 में बुरहानपुर में राजा जयसिंह की मृत्यु हो गयी। राजा जसवन्तसिंह को औरंगजेब ने अफगानिस्तान की सीमा पर भेजा जहाँ अफगानों के विरुद्ध युद्ध करते हुए उसने अपने शौर्य और अपनी योग्यता को प्रकट किया।

(1) **मारवाड़ पर आक्रमण**—यह कहा जाता है कि जब तक राजा जसवन्तसिंह जीवित रहा औरंगजेब ने सन्तोष की सांस नहीं ली। दिसम्बर 1678 में अफगानिस्तान में जमरूद नामक स्थान पर राजा जसवन्तसिंह की मृत्यु हो गयी। जसवन्तसिंह के बड़े पुत्र और उत्तराधिकारी पृथ्वीसिंह को औरंगजेब ने चालाकी से जहरीली पोशाक पहना कर पहले ही मरवा दिया था और उसके अन्य दो पुत्र अफगानों से युद्ध करते हुए मारे गये थे। ऐसी स्थिति में राज्य का कोई भी उत्तराधिकारी जीवित न था। जसवन्तसिंह की मृत्यु के तीन सप्ताह पश्चात् मारवाड़ को मुगल राज्य में सम्मिलित करने के लिए औरंगजेब ने सेना भेज दी। मारवाड़ की राठौर सेना अपने राजा के साथ अफगानिस्तान में थी। इस कारण, मारवाड़ में मुगलों का कोई विशेष विरोध नहीं हुआ और मुगलों ने मारवाड़ पर अधिकार कर लिया। स्वयं औरंगजेब इस कार्य के लिए अजमेर गया। मारवाड़ के मन्दिरों को गिरा दिया गया और वापस दिल्ली आने पर औरंगजेब ने 12 अप्रैल, 1679 को हिन्दुओं पर 'जजिया' लगा दिया। मारवाड़ को और भी अधिक असम्मानित करने के लिए 'नागर' के सरदार को 36 लाख रुपये में जसवन्तसिंह का राजसिंहासन बेच दिया गया और उसने मुगल-सेना की सुरक्षा में जाकर सिंहासन को अपने अधिकार में ले लिया। ऐसा प्रतीत हुआ कि मारवाड़ का स्वतन्त्र अस्तित्व सर्वदा के लिए समाप्त हो गया।

परन्तु मारवाड़ का भाग्य-सूर्य अस्त नहीं हुआ। अफगानिस्तान से वापस आते हुए लाहौर में राजा जसवन्तसिंह की दो रानियों ने दो पुत्रों को जन्म दिया। उन बच्चों में से एक की मृत्यु कुछ सप्ताह पश्चात् हो गयी परन्तु दूसरा बच्चा अजीतसिंह जीवित रहा। जसवन्तसिंह का सेनापति दुर्गादास अपने राजा की रानियों और अजीतसिंह को लेकर दिल्ली पहुँचा और औरंगजेब से माँग की कि मारवाड़ का राज्य अजीतसिंह को दे दिया जाये। औरंगजेब ने दुर्गादास से अजीतसिंह को उसे सौंप देने की माँग की और मारवाड़ को वापस देने की शर्त लगायी कि अजीतसिंह इस्लाम धर्म को स्वीकार कर ले। इस समय से राठौरों और मुगलों का संघर्ष आरम्भ हुआ जो बीच-बीच में कुछ समय के लिए स्थगित रह कर भी औरंगजेब की मृत्यु तक चलता रहा। दुर्गादास ने रानियों को मर्दाने वस्त्र पहनाये, दासियों को रानियों के वस्त्र पहनाये, अजीतसिंह के स्थान पर एक दासी-पुत्र को छोड़ा और तथा अजीतसिंह को लेकर चुपके से दिल्ली से मारवाड़ की ओर भाग गया। औरंगजेब को इसकी सूचना तब मिली जब दुर्गादास 9 मील का सफर तय कर चुका था। औरंगजेब ने उसका पीछा करने के लिए मुगल सेना भेजी, परन्तु मार्ग में राठौरों की छोटी-छोटी टुकड़ियाँ

मुगलों के मार्ग में बाधा डालती रहीं जिससे दुर्गादास को समय मिलता गया और अन्त में वह मारवाड़ पहुँच गया। मारवाड़ के राजपूत अपनी रानी और बच्चे शासक की सुरक्षा के लिए शस्त्र लेकर खड़े हो गये और मारवाड़ का स्वतन्त्रता-संग्राम आरम्भ हो गया। औरंगजेब ने एक ग्वाले के लड़के को अजीतसिंह घोषित किया, उसे इस्लाम में परिवर्तित करके उसका नाम मुहम्मद राज रखा और असली अजीत सिंह को नकली बताया। परन्तु राठौरों पर इसका कोई प्रभाव नहीं हुआ। उन्होंने दुर्गादास के नेतृत्व में मुगलों से युद्ध जारी रखा। दुर्गादास राठौरों के इस युद्ध का जीवन और आत्मा सिद्ध हुआ। राजपूत उसकी बहादुरी को अभी तक स्मरण करते हैं और कहते हैं कि "ऐ माँ, पूत ऐसा जन जैसा दुर्गादास" (ऐ माँ, ऐसे पुत्र को जन्म दे जैसा कि दुर्गादास था)। टॉड ने उसको राठौरों का यूलीसैस (Ulysses—यूनान का महान् योद्धा) पुकारा है, और डॉ. जदुनाथ सरकार ने उसके बारे में लिखा है : "भीषण विपत्तियों से संघर्ष करते हुए, चारों तरफ से शत्रुओं से घिरे हुए और अपने देश के निवासियों के द्वारा आत्म-विश्वास को खो देने और उनके संशययुक्त होने के बाद भी उसने अपने स्वामी के पक्ष को विजयी रखा। मुगलों का स्वर्ण (gold) उसे लालच न दे सका और मुगल-शस्त्र उसके साहस को न तोड़ सके। राठौरों में वह अकेला ही था जिसने एक राजपूत सैनिक के साहस और शूरत्व तथा एक मुगल मन्त्री की चतुरता, कूटनीतिज्ञता और संगठनकर्ता की मिली-जुली योग्यता का परिचय दिया।"[1]

औरंगजेब स्वयं अजमेर पहुँच गया। उसने अपने पुत्र अकबर और अजमेर के फौजदार तहव्वरखाँ के नेतृत्व में एक बड़ी सेना को मारवाड़ पर दुबारा आक्रमण करने के लिए भेजा। औरंगजेब के आदेश से मारवाड़ का एक-एक मन्दिर तोड़ दिया गया, इनके स्थानों पर मसजिदें खड़ी कर दी गयीं, घर-घर में लड़ाई की गयी और हर तरफ बरबादी और तबाही फैला दी गयी। परन्तु अजीतसिंह और दुर्गादास अधिकार में न आ सके। राठौरों ने अपने नगरों और गाँवों को छोड़कर जंगलों और पहाड़ों में छुपकर युद्ध जारी रखा।

(2) **मेवाड़ का युद्ध में सम्मिलित होना**—मेवाड़ के कारण राणासिंह ने इस अवसर पर मारवाड़ की तरफ से मुगलों के विरुद्ध युद्ध में सम्मिलित होने का निश्चय किया। औरंगजेब ने राणा से 'जजिया' माँगा था, उसकी नीति में मेवाड़ की शक्ति को समाप्त करना आवश्यक था और अजीतसिंह की माता मेवाड़ की राजकुमारी थी। सबसे प्रमुख बात यह थी कि मारवाड़ के समाप्त हो जाने के पश्चात् मेवाड़ की सुरक्षा करना कठिन था। राणा राजसिंह ने चित्तौड़ के किले की मरम्मत आरम्भ कर दी और देवबाड़ी के दर्रे की सुरक्षा के लिए सेना भेज दी। परन्तु औरंगजेब

---

1 "Fighting against terrible odds and a host of enemies on every side, with distrust and wavering among his own countrymen, he kept the cause of his chieftain triumphant. Mughal gold could not seduce, Mughal arms could not daunt that constant heart. Almost alone among the Rathors he displayed the race combination of the dash and reckless volour of a Rajput soldier with the tact, diplomacy and organizing power of a Mughal minister of state."
—*Dr. J. N. Sarkar*.

चुपचाप नहीं बैठा हुआ था। उसने मेवाड़ पर आक्रमण कर दिया। नवम्बर 1679 को उसने अजमेर छोड़ दिया और मेवाड़ की नवीन राजधानी उदयपुर की ओर बढ़ा। देवबाड़ी के दर्रे पर मुगलों का अधिकार हो गया और राणा राजधानी को छोड़कर पहाड़ों में चला गया। मुगलों ने उदयपुर पर सरलता से अधिकार कर लिया। उदयपुर के सभी हिन्दू मन्दिर ध्वस्त कर दिये गये। यह विश्वास किया जाता है कि 173 मन्दिर उदयपुर में और 63 मन्दिर चित्तौड़ में तोड़े गये थे। 1680 में एक युद्ध में राजसिंह की पराजय हुई। बाकी कार्य की पूर्ति के लिए अपने पुत्र अकबर को चित्तौड़ में छोड़कर औरंगजेब मार्च 1680 में अजमेर वापस चला गया। परन्तु राजसिंह अभी तक समाप्त नहीं हुआ था। मई तक ही राजपूतों ने मुगलों को कठिन स्थिति में डाल दिया। औरंगजेब ने अकबर को हटाकर शाहजादा आजम को मेवाड़ के युद्ध का मुख्य सेनापति बना दिया तथा शाहजादा अकबर और शाहजादा मुअज्जम को शाहजादा आजम के साथ कार्य करने के आदेश दिये। इस बार मेवाड़ पर तीन तरफ से आक्रमण किया गया जिससे राणा राजसिंह को घेरकर पकड़ लिया जाये या मार दिया जाये। परन्तु यह आक्रमण सफल न हो सका। राठौर और सिसोदिया मिलकर कार्य कर रहे थे और मुगल शाहजादे योजना के अनुसार युद्ध को न चला सके थे। इसी अवसर पर मुगलों ने तीसरी बार मारवाड़ पर आक्रमण किया और युद्ध मेवाड़ तथा मारवाड़ में साथ-साथ चलता रहा।

(3) **शाहजादा अकबर का विद्रोह**—अकबर राजपूतों के विरुद्ध लड़े जाने वाले युद्ध से निराश हो गया था। उसे अपने पिता की धर्मान्धता की नीति की सफलता में विश्वास न था और वह विचारों से भी उदार था। इस अवसर पर राणा राजसिंह और दुर्गादास ने उसके सामने यह प्रस्ताव रखा कि यदि वह अपने को भारत का बादशाह घोषित कर दे तो मेवाड़ और मारवाड़ दोनों की सेनाएँ उसकी सहायता करेंगी। अकबर ने अपने पिता के विरुद्ध विद्रोह का निश्चय कर लिया। परन्तु 1 नवम्बर, 1680 को राणा राजसिंह की मृत्यु हो गयी। उसके पुत्र जयसिंह को मेवाड़ का राणा बनाया गया। उसका राज्याभिषेक होने के कारण कुछ समय लग गया। परन्तु जैसे ही वह कार्य पूरा हुआ, अकबर ने 11 जनवरी, 1681 को अपने को मुगल बादशाह घोषित कर दिया। यह घोषणा की गयी कि बादशाह औरंगजेब ने इस्लाम के कानूनों के विरुद्ध कार्य करके राजसिंहासन पर अपना अधिकार खो दिया है। चार मुल्लाओं ने औरंगजेब के विरुद्ध और अकबर के पक्ष में 'फतवा' पढ़ा। राजपूत-सेनाओं को साथ लेकर अकबर अजमेर की तरफ बढ़ा। औरंगजेब के पास इस समय बहुत थोड़ी सेना थी। उसने तुरन्त शाहजादा मुअज्जम को अपनी सेना के साथ आने का आदेश दिया और स्वयं भी अजमेर से 8 मील दूर 'रोराहा' नामक स्थान पर अकबर के मुकाबले के लिए पहुँच गया। औरंगजेब ने अकबर के साथ के मुगल सरदारों को अपनी ओर मिलाने का प्रयत्न किया और कुछ अंशों में सफलता पायी। अकबर के मुख्य सलाहकार तहव्वरखाँ को उसने सूचना भेजी कि यदि वह उसके सामने शीघ्र प्रस्तुत नहीं हुआ तो उसके परिवार के उन सभी सदस्यों को कत्ल कर दिया जायेगा जो उस समय शाही डेरे में थे। तहव्वरखाँ एक रात चुपके से अकबर का साथ छोड़ गया और जब औरंगजेब के पास पहुँचा तो उसे शाही डेरे के सामने ही कत्ल कर दिया गया। औरंगजेब ने एक पत्र भी तैयार कराया जो औरंगजेब की तरफ से अकबर को लिखा गया जिसमें अकबर की प्रशंसा की गयी थी कि उसने

बहुत चतुराई से राजपूतों को फँसाकर औरंगजेब तक पहुँचा दिया था। यह पत्र राजपूतों के खेमों के निकट डाल दिया गया। राजपूतों ने इस पत्र को देख लिया और उनमें से अधिकांश को अकबर पर सन्देह हो गया। अधिकांश राजपूत उसी रात अकबर का साथ छोड़कर चले गये और जब अकबर सुबह सोकर उठा तो दुर्गादास और कुछ वफादार राजपूत सरदारों तथा दो या तीन हजार सैनिकों के अतिरिक्त उसका साथ देने वाला कोई न था। औरंगजेब की चालाकी पूर्णतया सफल हुई। अकबर का सम्पूर्ण साहस और उत्साह समाप्त हो गया तथा वह मेवाड़ की तरफ भाग खड़ा हुआ। राजपूत अपनी भूल को बहुत देर से समझ सके। दुर्गादास ने अकबर को अपने संरक्षण में रखा, राजपूताना तथा खानदेश की कठोर यात्रा की, मुगल-सेना से उसकी रक्षा की और उसे शिवाजी के पुत्र शम्भाजी के दरबार में पहुँचाने में सफलता पायी। शम्भाजी ने अकबर को संरक्षण तो दिया परन्तु उसे उसके पिता के विरुद्ध युद्ध करने के लिए पर्याप्त सहायता न दे सका। 1682 में औरंगजेब स्वयं अकबर का पीछा करता हुआ दक्षिण-भारत गया। अपने जीवन को अरक्षित समझकर अकबर भारत को छोड़कर फारस के लिए चल दिया। मार्ग में समुद्री तूफान के कारण उसे मस्कत के इमाम के यहाँ शरण लेनी पड़ी जो उसे औरंगजेब को दो लाख रुपयों के बदले में सौंपने को तत्पर था। परन्तु फारस के शाह के दबाव के कारण उसे अकबर को छोड़ना पड़ा और अकबर फारस पहुँच गया। वहीं पर औरंगजेब के अन्तिम दिनों में अकबर की मृत्यु हुई।

(4) **मेवाड़ और मुगलों की सन्धि**—अकबर का विद्रोह तो सफल न हुआ परन्तु उसने मेवाड़ को बचा दिया। औरंगजेब को मेवाड़ से अपनी सेनाएँ हटानी पड़ी थीं। उसके लिए अकबर को समाप्त करना अधिक आवश्यक था। दूसरे राणा राजसिंह की मृत्यु हो चुकी थी और राणा जयसिंह युद्ध को समाप्त करने के लिए उत्सुक था। इस कारण 24 जून, 1681 को मेवाड़ और मुगलों में सन्धि हो गयी, जिसके अनुसार—

(i) राणा ने जजिया के बदले में मण्डल, पुर और बेदनार के परगने मुगलों को दे दिये;

(ii) मुगलों ने मेवाड़ से अपनी सेनाएँ हटा लेने का वायदा किया; और

(iii) राणा जयसिंह को पंचहजारी मनसबदार-का पद दिया गया। युवराज भीमसिंह को राजा का पद दिया गया और उसे मुगल सेवा में ले लिया गया।

(5) **मारवाड़ के युद्ध का जारी रहना**—यद्यपि मेवाड़ ने मुगलों से सन्धि करके मारवाड़ का साथ छोड़ दिया परन्तु मारवाड़ ने साहस नहीं छोड़ा और युद्ध को जारी रखा। मारवाड़ की स्वतन्त्रता का युद्ध सुविधा की दृष्टि से तीन भागों में बाँटा जा सकता है—(अ) 1681 से 1687 तक का समय, जिस समय में दुर्गादास दक्षिण में था और राठौर ने बिना किसी नेतृत्व के युद्ध जारी रखा; (ब) 1687 से 1701 तक का समय, जिस समय में दुर्गादास दक्षिण से वापस आ चुका था और अजीतसिंह जवान हो चुका था तथा दोनों ने मिलकर राठौरों का नेतृत्व किया परन्तु मुगलों को मारवाड़ से बाहर निकालने में असफल रहे; (स) 1701 से 1707 तक का समय जिस समय में राठौरों ने मारवाड़ को स्वतन्त्र करने में सफलता पायी।

1681 से 1687 तक के समय में राठौरों ने गुरिल्ला युद्ध-नीति का सहारा

लिया। वे छिप-छिपकर मुगलों पर आक्रमण करते रहे और मुगलों की रसद और सेना को हानि पहुँचाते रहे। 1687 से 1701 तक के समय में दुर्गादास और अजीतसिंह ने राठौरों का नेतृत्व किया और उन्हें बूंदी के दुर्जनसाल हाड़ा की भी सहायता प्राप्त हुई। उन्होंने अनेक मुगल चौकियों पर अधिकार कर लिया और मुगलों की सीमाओं में घुसकर दिल्ली के निकट तक आक्रमण किये। अजमेर के फौजदार को भी राठौरों ने परास्त किया परन्तु गुजरात के सूबेदार शुजातखां में उनको एक चालाक और कूटनीतिज्ञ शत्रु मिला। 1694 में दुर्गादास ने अकबर की पुत्री शफीयातुन्निसा को और 1698 में उसके पुत्र बुलन्दअख्तर को मुगलों को वापस कर दिया। दुर्गादास ने इन बच्चों की सुरक्षा ही नहीं की थी बल्कि उनकी शिक्षा यहाँ तक कि इस्लाम की धार्मिक शिक्षा का भी पूर्ण प्रबन्ध किया था। धर्मान्ध औरंगजेब के लिए यह एक अच्छा सबक था। इसके बदले में अजीतसिंह को झालौर, सन्चोद और सिवाना के परगने तथा शाही सेवा प्रदान की गयी और दुर्गादास को तीनहजारी मनसबदार का पद और गुजरात में पाटन की फौजदारी दी गयी। यह राठौरों के लिए एक सम्मानपूर्ण समझौता नहीं माना जा सकता था परन्तु दुर्गादास और अजीतसिंह ने इस समय का सदुपयोग अपनी शक्ति को संगठित करने के लिए किया। 1701 से 1707 तक के समय में अजीतसिंह और दुर्गादास ने पुनः विद्रोह कर दिया यद्यपि मारवाड़ की खराब स्थिति और अपनी कठिन परिस्थितियों के कारण 1604-05 में उन्हें मुगलसत्ता को स्वीकार भी करना पड़ा। राठौरों का अगला कदम उस समय उठा जबकि औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् सम्पूर्ण भारत में अव्यवस्था हो गयी और औरंगजेब के पुत्रों में सिंहासन के लिए युद्ध आरम्भ हो गया। 1707 में अजीतसिंह ने जोधपुर (मारवाड़ की राजधानी) पर अपना अधिकार कर लिया और अपने को सम्राट घोषित कर दिया। राठौरों के अधिकार में प्रायः सभी मारवाड़ आ गया और दुर्गादास द्वारा आरम्भ किया हुआ कार्य सफलता से सम्पन्न हुआ।

औरंगजेब की धार्मिक नीति के कारण मालवा, बिहार और बुन्देलखण्ड में भी विद्रोह हुए, मुख्यतया उस अवसर पर जबकि औरंगजेब दक्षिण-भारत में चला गया। इनमें से बुन्देलखण्ड का विद्रोह सफल हुआ। ओरछा के राजा चम्पतराय ने औरंगजेब के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा खड़ा किया और 1661 में उसने मुगल आधिपत्य स्वीकार करने के स्थान पर आत्महत्या कर ली। जब उसका पुत्र छत्रसाल मुगलों की तरफ से दक्षिण के युद्धों में भाग लेने के लिए गया तब वह शिवाजी से इतना अधिक प्रभावित हुआ कि उसने अपनी सेवाएँ शिवाजी को अर्पित कर दीं। परन्तु शिवाजी ने उसे बुन्देलखण्ड में ही विद्रोह करने की सलाह दी। छत्रसाल ने बुन्देलखण्ड में जाकर विद्रोह आरम्भ कर दिया और उसे सफलता मिली। उसने धमौनी और कालिंजर पर अधिकार कर लिया। 1705 में औरंगजेब ने उससे सन्धि करना उचित समझा। 1707 में औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् वह बुन्देलखण्ड में स्वतन्त्र शासक बन गया। इसी प्रकार भारत के अन्य भागों में भी औरंगजेब के समय में अनेक उपद्रव और विद्रोह चलते रहे जिन्होंने राज्य की शक्ति को दुर्बल करने में बहुत बड़ा योग दिया।

5. अन्य विद्रोह

[2]

औरंगजेब के समय के अन्य विद्रोह

औरंगजेब के समय में उसकी धार्मिक नीति के अतिरिक्त कुछ अन्य कारणों से

भी विद्रोह हुए। 1663 में गुजरात में एक झूठा दारा हुआ, 1669 में कूच-बिहार में एक झूठा शाहशुजा हुआ। 1674 में युसुफजाई जाति ने विद्रोह किया, 1699 में इलाहाबाद में शाहशुजा का एक झूठा पुत्र हुआ, 1699 में दक्षिण में एक झूठा अकबर हुआ और 1707 में कश्मीर में एक विद्रोह हुआ। बीकानेर के शासक, पालामऊ के राजा, मोरंग के शाहजादे और कुमायूँ के राजा ने भी विद्रोह किये। परन्तु ये सभी विद्रोह साधारण रहे और सभी को सरलता से दबा दिया गया।

यूरोपियन जातियों में से पुर्तगाली और अंग्रेजों से भी औरंगजेब का समय-समय पर संघर्ष हुआ। पुर्तगाली कभी मराठों से मिलते थे और कभी औरंगजेब से। बंगाल की मुगल सीमाओं में वे लूटमार करते थे। इसी प्रकार अंग्रेज समुद्र पर लूट-मार करते थे और व्यापारिक कर नहीं देना चाहते थे। समय-समय पर औरंगजेब ने पुर्तगालियों के गढ़ चटगाँव पर और अंग्रेजों के गढ़ कलकत्ता, सूरत, बम्बई, आदि पर आक्रमण करने के आदेश दिये। स्थल पर मुगल मजबूत सिद्ध हुए और अधिकांशतया यूरोपियनों को सन्धि करने और कर देने के लिए बाध्य किया गया परन्तु समुद्र पर उनकी लूटमार को रोकने में औरंगजेब असफल रहा। साधारणतया यह माना जा सकता है कि औरंगजेब के सम्बन्ध यूरोपियन जातियों से बहुत अच्छे न थे परन्तु बीच-बीच के समय में हुए कुछ युद्धों के अतिरिक्त शान्ति के रहे थे।

औरंगजेब के समय में सबसे प्रमुख विद्रोह **उत्तर-पश्चिम की सीमान्त जातियों** का था। उत्तर-पश्चिम की सीमा पर रहने वाली यह अफगान जातियाँ पंजाब के मैदानों में आकर लूटमार करती थीं अथवा उत्तर-पश्चिम की तरफ से पश्चिम की ओर जाने वाले व्यापारिक काफिलों को लूटती थीं। वही उनकी जीविका का मुख्य साधन था। मुगल बादशाह समय-समय पर उनसे युद्ध करते थे और समय-समय पर उनको शान्त रहने के बदले में धन देते थे। परन्तु यह नीति कभी सफल न रही थी। स्वयं औरंगजेब भी इनको धन देकर शान्त रखने का प्रयत्न करता रहा परन्तु तब भी उन्होंने मुगल सीमाओं पर आक्रमण करने की नीति को नहीं छोड़ा। विभिन्न अवसरों पर उनके भिन्न-भिन्न नेता हुए जिन्होंने मुगलों को बहुत परेशान किया। 1667 में युसुफज़ाई जाति के सरदार भागू ने अपने को राजा घोषित किया और उसने हजारा, पेशावर और अटक के जिलों को लूटा। बड़ी कठिनाई से उसको दबाया जा सका। उसके पश्चात् मीरजुमला के पुत्र मुहम्मद अमीनखाँ ने करीब पाँच वर्ष तक सीमान्त पर शान्ति स्थापित रखने में सफलता पायी परन्तु 1672 में अफरीदी जाति के नेता अकमलखाँ ने अपने को बादशाह घोषित किया, अपने नाम के सिक्के चलाये और सभी पठानों को मुगलों के विरुद्ध युद्ध करने के लिए उकसाया। उसने काबुल के सूबेदार मुहम्मद अमीनखाँ को एक युद्ध में परास्त किया। इस युद्ध में करीब 10 हजार मुगल सैनिक मारे गये, करीब 20 हजार स्त्री-पुरुषों को बन्दी बना कर मध्य-एशिया के बाज़ारों में बिकने के लिए भेज दिया गया, करीब दो करोड़ रुपये की सम्पत्ति मुगलों ने खोई और मुहम्मद अमीन के परिवार के सदस्य भी पकड़े गये जिनको धन देकर छुड़ाया जा सका। इस विजय से अकमलखाँ के समर्थकों की संख्या बढ़ गयी। कन्धार से लेकर अटक तक प्रायः सम्पूर्ण पठान जाति विद्रोह में सम्मिलित हो गयी। खट्टक जाति के सरदार खुशालखाँ ने भी विद्रोहियों का साथ दिया। वह सैनिक होने के साथ-साथ कवि भी था, जिसने अपनी कविताओं से पठानों को प्रेरणा प्रदान की। औरंगजेब ने अमीनखाँ के स्थान पर महाबतखाँ को इस विद्रोह

को दबाने के लिए भेजा। 1673 में शुजातखाँ और राजा जसवन्तसिंह की भी वहाँ नियुक्ति की गयी। 1674 में स्वयं औरंगजेब वहाँ पहुँच गया। अनेक युद्ध हुए जिनमें कई बार मुगलों की और कई बार पठानों की पराजय हुई। अन्त में, मुगलों की विशाल शक्ति विजयी हुई और पठानों को दबना पड़ा। युद्ध के अतिरिक्त औरंगजेब ने कूटनीति का भी सहारा लिया। अनेक पठान सरदारों को धन, पद, पेन्शन, जागीर आदि का लालच देकर मुगलों की ओर मिला लिया गया। 1675 तक सीमान्त में शान्ति स्थापित हो गयी और औरंगजेब दिल्ली वापस आ गया। अमीरखाँ को काबुल का सूबेदार बनाया गया जिसने अपनी पत्नी 'साहिबी' की सहायता से कूटनीति, मित्रता, धन आदि सभी तरीकों का प्रयोग करके सीमान्त पर शान्ति स्थापित रखने में सफलता पायी। सीमान्त जातियों के इस विद्रोह से औरंगजेब को बहुत हानि हुई। वह सीमान्त से अफगान सैनिक प्राप्त न कर सका और मराठों की ओर ठीक ध्यान न दे सका जिसके कारण इस समय में शिवाजी को दक्षिण-भारत में अपनी शक्ति स्थापित करने का अवसर मिल सका।

[3]

साम्राज्य-विस्तार

शाहशुजा के अव्यवस्थित शासन और उत्तराधिकार के युद्ध के कारण असम और कूच-बिहार के शासकों को मुगलों के विरुद्ध खड़े होने का साहस प्राप्त हुआ।

1. उत्तर-पूर्व : असम

1657 में कूच-बिहार के शासक प्रेम-नारायण ने मुगलों की सीमा में अपनी सेना भेजने का साहस किया। 1658 में असम के शासक ने कामरूप और उसकी राजधानी गोहाटी पर अधिकार कर लिया। 1661 तक मुगल इस ओर कोई ध्यान न दे सके। जब औरंगजेब अपने सिंहासन पर दृढ़ हो गया तब उसने मीरजुमला को बंगाल का सूबेदार नियुक्त किया और उसे असमियों पर आक्रमण करने के आदेश दिये। नवम्बर 1661 में मीरजुमला असम पर आक्रमण करने के लिए ढाका से चला। उसने कूच-बिहार की राजधानी को जीत लिया, असम के पूर्वी और मध्य भाग पर अधिकार कर लिया, 1662 में गढ़गाँव के राजा को परास्त करके उसकी राजधानी को जीत लिया और इस प्रकार मुगलों की सत्ता को असम में स्थापित कर दिया। परन्तु वर्षा के दिनों में मुगलों को बहुत कठिनाई उठानी पड़ी। आवागमन के मार्ग बन्द हो जाने से मुगलों को रसद मिलनी बन्द हो गयी और महामारी के फैलने से हजारों सैनिक बीमार हो गये। तब भी मीरजुमला ने असमियों को परास्त करके सन्धि करने के लिए बाध्य किया। 10 अप्रैल, 1663 को बीमारी से मीरजुमला की मृत्यु हो गयी। मीरजुमला को असम की विजय का श्रेय जाता है। वह अपने समय का महान् सेनापति माना गया है और जिस प्रकार उसने अपने सैनिकों के साथ भूख और बीमारी को बर्दाश्त किया वह उसके चरित्र की महानता का प्रतीक था। मीरजुमला के पश्चात् शाइस्ताखाँ को बंगाल का सूबेदार नियुक्त किया गया। उसने भी अराकान के राजा को परास्त किया और अगले चार वर्ष तक असम पर मुगलों का अधिकार रहा। उसके पश्चात् अपने राजा चक्रध्वज के नेतृत्व में असमियों ने असम और उसकी राजधानी गोहाटी को जीतने में सफलता पायी (1667)। परन्तु 1670 से असम में आन्तरिक संघर्षों के कारण 11 वर्षों में सात राजा बदले। इसका मुगलों ने लाभ उठाया। यद्यपि कामरूप पर मुगलों

का आधिपत्य न हो सका परन्तु कूच-बिहार के राजा ने मुगलों की अधीनता स्वीकार कर ली।

सर जदुनाथ सरकार ने लिखा है कि "औरंगजेब का शासन-काल स्वतः ही 25-25 वर्ष के दो बराबर भागों में बँट गया है। पहले भाग में वह उत्तरी भारत में रहा और दूसरे भाग में दक्षिण-भारत में।"[1]

2. दक्षिण-भारत

पहले भाग में दक्षिण की राजनीति का कोई विशेष महत्व न था। दूसरे भाग में साम्राज्य की सम्पूर्ण शक्ति, स्वयं बादशाह, उसका परिवार, उसका दरबार, उसकी अधिकांश सेना और योग्यतम अधिकारी दक्षिण-भारत में रहे तथा उत्तरी भात का महत्व गौण हो गया। 1682 में अपने पुत्र अकबर का पीछा करता हुआ औरंगजेब दक्षिण-भारत पहुँचा। उसके पश्चात् उसे उत्तरी भारत में आने का अवसर ही प्राप्त नहीं हुआ। दक्षिण-भारत औरंगजेब का कब्रिस्तान सिद्ध हुआ।

(1) बीजापुर की विजय—उत्तराधिकार के युद्ध से पहले शाहजहाँ के आदेश से औरंगजेब ने बीजापुर से एक सन्धि की थी जिसके अनुसार अली आदिलशाह द्वितीय ने मुगलों को 1½ करोड़ रुपया और बीदर, कल्याणी तथा परेन्द्र के किले देने का वायदा किया। परन्तु जैसे ही औरंगजेब बीजापुर से हटा, यह स्पष्ट हो गया कि बीजापुर इस सन्धि की शर्तों का पालन करने को तत्पर न था। जिस समय 1658 में मीरजुमला दक्षिण-भारत गया तब बीजापुर का यह रूप स्पष्ट हो गया। 1665 में राजा जयसिंह को शिवाजी और बीजापुर का दमन करने के लिए नियुक्त किया गया। उसी वर्ष जयसिंह ने शिवाजी को पुरन्दर की सन्धि करने के लिए बाध्य किया। इसके पश्चात् उसने बीजापुर पर आक्रमण किया और बीजापुर के 12 मील निकट तक पहुँच गया। आदिलशाह ने सुरक्षा की पूरी तैयारी की थी। उसने किले में एक बड़ी सेना रखी थी, अपनी सेना को मुगलों पर छापे मारने के लिए नियुक्त कर रखा था, गोलकुण्डा से सैनिक-सहायता प्राप्त की थी और आस-पास की 6 मील की परिधि में सभी खेतों और वृक्षों तक को उजाड़ दिया था जिससे मुगलों को न तो रसद मिल सके और न सुरक्षा का स्थान मिल सके। आदिलशाह की नीति सफल सिद्ध हुई। अपनी सफलता की आशा न देखकर जयसिंह को वापस लौटना पड़ा। उसे दरबार में आने के आदेश दिये गये और 1667 में शाहजादा मुअज्जम को दक्षिण भेजा गया। जुलाई 1667 में वापस आते हुए राजा जयसिंह की बुरहानपुर में मृत्यु हो गयी।

अगले दस वर्ष तक बीजापुर मुगलों के किसी भी महत्वपूर्ण आक्रमण से बचा रहा। दिसम्बर 1672 में अली आदिलशाह द्वितीय की मृत्यु हो गयी और उसका चार वर्ष का पुत्र सिकन्दर आदिलशाह गद्दी पर बैठा। अल्पायु के इस शासक के समय में बीजापुर के सरदारों में राज्य के प्रभुत्व के लिए झगड़े आरम्भ हो गये। बीजापुर के सरदार एक तरफ अफगान और दूसरी तरफ दक्षिण और एबीसीनिया के मुसलमान सरदारों में बँट गये। इससे बीजापुर में अव्यवस्था फैल गयी। इस समय दक्षिण का मुगल सूबेदार बहादुरखाँ था। 1676 में उसने बीजापुर पर आक्रमण

---

1 "The reign of Aurangzeb is naturally divided into two equal parts of about 25 years each, the first of which he passed in Northern India and the second in the Deccan." —*Sir J. N. Sarkar,*

किया परन्तु वह विफल हुआ। औरंगजेब ने दिलेरखाँ को दक्षिण का सूबेदार नियुक्त किया। दिलेरखाँ ने पहले तो बीजापुर के मन्त्री सिद्दी मसूद को अपनी तरफ मिलाकर एक सन्धि करने में सफलता पायी जिसके अनुसार बीजापुर ने मुगलों के आधिपत्य को स्वीकार कर लिया और सुल्तान की बहिन शाहजादी शहरबानू को औरंगजेब के पुत्र शाहजादे आजम से शादी करने के लिए दिल्ली भेज दिया। परन्तु बाद में बीजापुर और मराठों की मित्रता के प्रश्न को लेकर दिलेरखाँ और सिद्दी मसूद में झगड़ा हो गया तथा दिलेरखाँ ने 1679 में बीजापुर पर आक्रमण किया। दिलेरखाँ ने बीजापुर राज्य में बहुत विनाश किया परन्तु वह कोई विशेष सफलता न पा सका। 1680 में औरंगजेब ने दिलेरखाँ को दक्षिण से हटा दिया और उसके स्थान पर शाहजादा आजम को भेजा।

शाहजादा आजम ने अनेक कठिनाइयाँ उठाईं परन्तु वह दृढ़ता से बीजापुर से संघर्ष करता रहा। अप्रैल 1685 में उसने बीजापुर के किले का घेरा डाल दिया। 15 महीने तक किले का घेरा पड़ा रहा परन्तु किले को जीता न जा सका। जुलाई 1686 में स्वयं औरंगजेब बीजापुर के किले के घेरे की देखभाल के लिए पहुँच गया। 22 सितम्बर, 1686 को बीजापुर ने आत्म-समर्पण कर दिया। सिकन्दरशाह स्वयं औरंगजेब से मिला। उसका स्वागत किया गया, उसे खान का पद दिया गया और उसे एक लाख रुपया प्रतिवर्ष की पेन्शन दी गयी। परन्तु बीजापुर राज्य को मुगल राज्य में सम्मिलित कर लिया गया। बाद में आदिलशाही वंश के अन्तिम सुल्तान सिकन्दरशाह की सतारा के निकट 32 वर्ष की आयु में मृत्यु हुई और उसकी अन्तिम इच्छा के अनुसार उसे उसके धार्मिक गुरु शेख फहीमुल्ला की कब्र के चरणों में खुले कब्रिस्तान में दफना दिया गया।

(2) गोलकुण्डा की विजय—गोलकुण्डा का शासक अबुलहसन कुतुबशाह था। गोलकुण्डा समय-समय पर बीजापुर राज्य और मराठों की सहायता करता रहा था। अबुलहसन शिया धर्म को संरक्षण देता था, और उसने शासन-सत्ता दो ब्राह्मण मन्त्रियों, मदन्ना और अकन्ना, को दे रखी थी। अबुलहसन ने औरंगजेब को एक पत्र लिखकर धिक्कारा था कि "औरंगजेब ने एक कायर पुरुष की भाँति सिकन्दर आदिलशाह जैसे अनाथ बच्चे पर आक्रमण करके नीच प्रवृत्ति का परिचय दिया है।" इसके अतिरिक्त, औरंगजेब दक्षिण के इन राज्यों को इसलिए भी समाप्त करना चाहता था कि ये शिया थे, इन्हें समाप्त किये बिना मराठों की शक्ति को समाप्त करना असम्भव हो रहा था और इन राज्यों को समाप्त किये बिना उसकी साम्राज्य-विस्तार की नीति पूर्ण नहीं हो सकती थी।

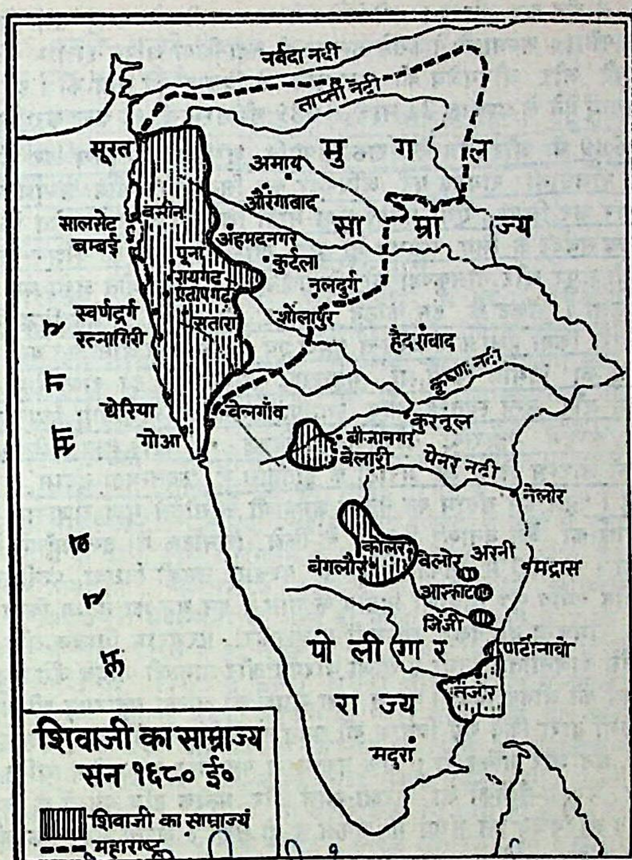
1685 में औरंगजेब ने शाहजादा शाहआलम को गोलकुण्डा पर आक्रमण करने के लिए भेजा। हैदराबाद के मार्ग में पलखेद नामक स्थान पर गोलकुण्डा की सेना ने मुगलों की सेना के मार्ग को रोका। शाहआलम ने गोलकुण्डा की सेना के सेनापति मुहम्मद इब्राहीम को धन का लालच देकर अपनी ओर मिला लिया जिससे बीजापुर की सेना को मुगलों के सामने से हटना पड़ा। कुतुबशाह सुल्तान अबुलहसन हैदराबाद को छोड़कर गोलकुण्डा के किले में भाग गया और मुगलों ने हैदराबाद पर अधिकार करके वहाँ बहुत बुरी तरह से लूट-मार की। अबुलहसन ने सन्धि की बातचीत आरम्भ की। शाहआलम ने अबुलहसन की औरंगजेब से माफी माँगने की बात को स्वीकार कर लिया। यह निश्चित किया गया कि अबुलहसन मुगलों को वार्षिक कर के अतिरिक्त एक करोड़ बीस लाख रुपया देगा; मदन्ना, अकन्ना

तथा युद्ध के अन्य सरदारों को उनके पद से हटाकर कैद कर देगा और अभी तक मुगलों द्वारा जीते गये भू-प्रदेशों पर मुगल-आधिपत्य को स्वीकार कर लेगा। जब इस प्रकार की सन्धि की बातचीत चल ही रही थी तभी कुछ सरदारों और हरम की प्रभावशाली स्त्रियों ने षड्यन्त्र करके मदन्ना और अकन्ना को सड़क पर मरवा डाला तथा उनके परिवार और घरों को लूट लिया गया। मदन्ना और अकन्ना के सिर काटकर शाहजादा आलमशाह के पास भेज दिये गये। इसके पश्चात् शाह-आलम अपनी सेना को लेकर औरंगजेब के पास पहुँच गया। परन्तु औरंगजेब इस सन्धि को मानने के लिए तैयार न हुआ और बीजापुर के किले के पतन के पश्चात् उसने 1687 में गोलकुण्डा के किले को घेर लिया। औरंगजेब ने शाहजादा शाहआलम से असन्तुष्ट होकर उसे उसके परिवार सहित बन्दी बना दिया। औरंगजेब किसी भी शर्त पर गोलकुण्डा के स्वतन्त्र अस्तित्व को सहन करने के लिए तैयार न था। आठ महीने से भी अधिक समय तक किले का घेरा पड़ा रहा और मुगलों को सफलता न मिली। अन्त में, औरंगजेब ने लालच देकर अब्दुल्ला पानी नामक एक अफगान सरदार को अपनी ओर मिला लिया और उसने अपने मालिक के साथ विश्वासघात करके 2 अक्टूबर, 1687 की प्रातःकाल किले के फाटक खोल दिये। मुगल-सेना ने किले में प्रवेश करना आरम्भ कर दिया। इस युद्ध में अबुलहसन के वफादार सरदार अब्दुर्रज्जाक ने अतीव साहस का परिचय दिया। 70 बड़े और अनेक छोटे-छोटे घावों को खाकर भी वह अन्त तक युद्ध करता रहा। औरंगजेब ने उसकी बहादुरी से प्रसन्न होकर उसका इलाज कराया। जब 16 दिन के पश्चात् उसे होश आया और उसे औरंगजेब की सेवा स्वीकार करने के लिए कहा गया तो उसने इन्कार कर दिया। औरंगजेब ने कहा था कि "यदि अबुलहसन के साथ अब्दुर्रज्जाक की भाँति एक और व्यक्ति होता तो वह सरलता से किले पर अधिकार नहीं कर सकता था।"

सुल्तान अबुलहसन ने परास्त होकर भी बड़े सम्मानित ढंग से व्यवहार किया। उसने अपने हरम की स्त्रियों को समझाया, दरबार-गृह में शान्ति से जाकर बैठा, समय पर उसने खाना खाया, मुगल सरदार रुहउल्लाखाँ का वहीं स्वागत किया और उसके पश्चात् औरंगजेब से मिलने गया। औरंगजेब ने उसका स्वागत किया परन्तु कुछ दिनों के बाद उसे बन्दी बनाकर दौलताबाद के किले में भेज दिया। उसे पचास हजार रुपया वार्षिक पेन्शन दे दी गयी और उसके राज्य को मुगल-साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया गया। इस प्रकार, अक्टूबर 1687 में गोलकुण्डा के स्वतन्त्र कुतुबशाही राज्य का अन्त हो गया।

(3) मराठों से संघर्ष—औरंगजेब के समय में ही मराठा शक्ति का उदय हुआ। मराठों ने इसी समय में अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया, मुगलों से संघर्ष किया, अपने राज्य को खोया और बरबाद कराया परन्तु अन्त में उसकी स्वतन्त्रता के लिए जो युद्ध किया उसने औरंगजेब की शक्ति को नष्ट कर दिया। भारत में अभी तक मुसलमानों की सत्ता का विरोध मुख्यतया राजपूतों ने किया था। अब यह विरोध मराठों की ओर से हुआ और अन्त में जाकर इतना सफल हुआ कि मराठों ने न केवल मुगल-शक्ति को नष्ट करने में ही अपना योगदान दिया बल्कि वे भारत की सर्वश्रेष्ठ शक्ति बन गये। औरंगजेब ने मराठों के राज्य की सीमाओं को अपने राज्य में सम्मिलित करने में सफलता पायी, परन्तु वह उन्हें अपने अधिकार में न रख सका और न मराठा-शक्ति को दबा सका। औरंगजेब का अन्त मराठों से संघर्ष करते हुए हुआ।

मराठा-राष्ट्र के निर्माता और मराठों के स्वतन्त्र राज्य के संस्थापक शिवाजी को अपने पिता शाहजी से केवल पूना की जागीर प्राप्त हुई थी। परन्तु शिवाजी महत्वाकांक्षी थे, हिन्दू धर्म की रक्षा की भावना उनकी प्रेरणा थी और दक्षिण के बीजापुर और गोलकुण्डा के राज्यों की दुर्बलताएँ उनके अवसर थे। 20 वर्ष की आयु से उन्होंने बिना किसी सहायता और संरक्षण के अपने स्वतंत्र जीवन को आरम्भ किया तथा साहस, चालाकी और कौशल से आस-पास की भूमि और क़िलों को जीतना आरम्भ किया। उन्हें बीजापुर और मुगलों के विरोध का मुकाबला करना पड़ा। मुगलों से शिवाजी का पहला संघर्ष 1656 में आरम्भ हुआ जब शिवाजी ने अहमदनगर और जुनार पर आक्रमण किया। परन्तु 1657 में उन्होंने मुगलों से सन्धि कर ली। उत्तराधिकार के युद्ध के कारण शिवाजी को कुछ समय के लिए मुगलों से मुक्ति मिल गयी और इस समय में उन्होंने बीजापुर से संघर्ष करके अपनी सीमाओं का विस्तार किया। 1659 में उन्होंने अफजलखाँ को मारने और उसकी सेनाओं को भगाने में सफलता पायी परन्तु 1660 में शिवाजी को बीजापुर के सरदार सिद्दी जौहर और दक्षिण के मुगल सूबेदार शाइस्ताखाँ, दोनों का एक साथ मुकाबला करना पड़ा। बीजापुर ने उनसे पन्हाला का किला छीन लिया और मुगलों ने उनसे पूना, शिवपुर और चाकन आदि स्थानों को छीन लिया। तब भी शिवाजी साहस से युद्ध करते रहे और उन्होंने जगह-जगह मुगलों पर आक्रमण करने, उनकी रसद को लूटने और उनके मनोबल को कम करने में सफलता पायी। अप्रैल 1663 में शिवाजी ने पूना में घुसकर चुपके से शाइस्ताखाँ के महल पर आक्रमण करने में सफलता पायी। शाइस्ताखाँ बड़ी कठिनाई से अपनी जान बचाकर भाग सका। औरंगजेब ने शाइस्ताखाँ को वापस बुला लिया और राजा जयसिंह को दक्षिण भेजा। इस बीच में शिवाजी ने सूरत शहर को लूटने में सफलता पायी। 1665 में राजा जयसिंह ने शिवाजी को पुरन्दर के किले में घेरकर सन्धि करने के लिए बाध्य किया। इस सन्धि से शिवाजी को अपने तीन-चौथाई किले और भूमि मुगलों को देनी पड़ी; मुगलों के आधिपत्य को स्वीकार करना पड़ा और बीजापुर के विरुद्ध मुगलों को सहायता देनी पड़ी। राजा जयसिंह के समझाने से 1666 में शिवाजी औरंगजेब से मिलने के लिए आगरा गये। वहाँ औरंगजेब ने उनको नजरबन्द कर दिया परन्तु अपनी चतुराई से शिवाजी वहाँ से भाग निकले और महाराष्ट्र में वापस आ गये। महाराष्ट्र पहुँचकर शिवाजी ने औरंगजेब से सन्धि कर ली और प्रायः तीन वर्ष तक उन्होंने मुगल सीमाओं का अतिक्रमण नहीं किया। 1670 में शिवाजी ने मुगलों से पुनः युद्ध आरम्भ कर दिया, पुरन्दर की सन्धि द्वारा मुगलों को दिये गये प्रदेशों पर अधिकार कर लिया, सूरत को दुबारा लूटा और मुगलों के औरंगाबाद, बगलाना, खानदेश, बरार, आदि प्रदेशों पर सफलता से आक्रमण किये। औरंगजेब ने खानेजहाँ (बहादुरखाँ) को शिवाजी के विरुद्ध भेजा परन्तु अपने पाँच वर्ष के समय में वह कोई सफलता न पा सका। शिवाजी ने अनेक बार मुगल प्रदेशों पर आक्रमण किये और विभिन्न स्थानों से चौथ वसूल की। 16 जून, 1674 में रायगढ़ में शिवाजी ने अपना राज्याभिषेक किया और 'छत्रपति शिवाजी' की उपाधि धारण कर एक स्वतन्त्र हिन्दू राज्य की स्थापना की। 14 अप्रैल, 1680 को शिवाजी की मृत्यु हो गयी। इस प्रकार, शिवाजी ने एक लम्बे समय तक बीजापुर तथा मुगलों का विरोध किया और इसके उपरान्त महाराष्ट्र में एक स्वतन्त्र राज्य को स्थापित करने में सफलता पायी। इस प्रकार, औरंगजेब शिवाजी के विरुद्ध सफलता न पा सका।



शिवाजी का साम्राज्य
सन १६८० ई०

शिवाजी की मृत्यु के पश्चात् उनका पुत्र शम्भाजी सिंहासन पर बैठा। उसने भी मुगल प्रदेशों पर आक्रमण करने की नीति को जारी रखा। 1681 में राठौर दुर्गादास औरंगजेब के पुत्र अकबर को लेकर शम्भाजी के दरबार में पहुँचा। परन्तु शम्भाजी में अपने पिता की भाँति दृढ़ता, परिश्रमशीलता, एकाग्रता और नीति-कुशलता नहीं थी। वह अकबर को सहायता देने में असफल रहा। 1682 में औरंगजेब स्वयं दक्षिण पहुँचा और उसने सभी तरफ़ से शम्भाजी पर आक्रमण किया। दो वर्ष के प्रयत्नों का कोई लाभदायक परिणाम न निकला और 1683 में औरंगजेब ने महाराष्ट्र से अपनी सेनाएँ वापस बुला लीं। शम्भाजी ने भी मुगलों से समझौता कर लिया। परन्तु यह समझौता स्थायी नहीं था। उसी वर्ष पुनः मराठा-मुगल संघर्ष आरम्भ हो गया। उसके पश्चात् 6 वर्ष तक शम्भाजी निरन्तर मुगलों से युद्ध करता रहा। अन्त में, असावधानी के कारण 1689 में शम्भाजी अपने मन्त्री कवि कलश और कुछ अन्य प्रमुख अधिकारियों के साथ पकड़ा गया। उसके पुत्र शाहू को

भी मुगलों ने कैद कर लिया। औरंगजेब ने शम्भाजी से उसके सभी किले और खजाने को माँगा। शम्भाजी ने इससे इन्कार ही नहीं किया अपितु इस्लाम के पैगम्बर की बुराई की और औरंगजेब की एक पुत्री से विवाह की माँग की। इस कारण, कठोर यातनाएँ देने के पश्चात् 21 मार्च, 1689 को शम्भाजी को कत्ल कर दिया गया।

1689 में औरंगजेब ने मराठा-छत्रपति शम्भाजी को कत्ल कर दिया और मराठों की राजधानी रायगढ़ पर अधिकार कर लिया और प्रायः सम्पूर्ण महाराष्ट्र पर अधिकार कर लिया। ऐसा प्रतीत हुआ मानो शिवाजी द्वारा स्थापित किया गया मराठा-राज्य सर्वदा के लिए समाप्त हो गया और औरंगजेब की दक्षिण-विजय पूर्ण हो गयी (बीजापुर और गोलकुण्डा को औरंगजेब इससे पहले जीत चुका था)। परन्तु ऐसा नहीं हुआ। संकट के इस कठिन अवसर पर मराठों ने यह सिद्ध किया कि शिवाजी द्वारा किया हुआ कार्य अत्यन्त गहरी एवं दृढ़ नींव पर आधारित था। शिवाजी ने एक राष्ट्र का निर्माण किया था, महाराष्ट्र निवासियों को राष्ट्र-प्रेम का सबक सिखाया था और उन्हें स्वतन्त्र-राज्य स्थापित रखने की अभिलाषा प्रदान की थी। इस कारण, सम्पूर्ण महाराष्ट्र औरंगजेब के विरुद्ध उठ खड़ा हुआ और मराठों ने उस युद्ध को आरम्भ किया जो मराठों के इतिहास में 'स्वतन्त्रता-संग्राम' के नाम से विख्यात है। पहले इस संग्राम का नेतृत्व शम्भाजी के सौतेले भाई राजाराम ने किया जो एक साधु का वेश बनाकर जिन्जी के किले (कर्नाटक में) तक पहुँचने में सफल हो गया था। 1700 में उसकी मृत्यु के पश्चात् उसकी विधवा पत्नी ताराबाई ने अपने तीन वर्षीय पुत्र शिवाजी द्वितीय के नाम से इस युद्ध का नेतृत्व किया। इसके अतिरिक्त, रामचन्द्र बावदेकर, शंकरजी मल्हारकर, परशुराम त्रिम्बक और प्रहलाद नाराजी जैसे राजनीतिज्ञों तथा सन्ताजी घोरपड़े और धानाजी जादव जैसे सेनापतियों ने इस संघर्ष को जीवन दिया। परन्तु इस संघर्ष की आत्मा महाराष्ट्र की जनता थी जिसने मुगलों द्वारा किये गये विनाश को सहन करते हुए अपने सरदारों और नेताओं को जीवन, धन और शक्ति दी। एक प्रकार से महाराष्ट्र का प्रत्येक व्यक्ति सैनिक, प्रत्येक घर मराठा-सैनिकों का सुरक्षा-स्थल और प्रत्येक गाँव मुगलों के विरुद्ध एक किला था। औरंगजेब इस संघर्ष में सफल न हो सका। अपनी मृत्यु तक औरंगजेब मराठों की शक्ति दबाने में लगा रहा परन्तु असफल रहा। जदुनाथ सरकार के अनुसार, "औरंगजेब की कठिनाइयाँ राज्य के एक प्रधान और केन्द्रीय सरकार की अनुपस्थिति में बहुत बढ़ गयी थीं क्योंकि प्रत्येक मराठा-सरदार स्वेच्छा से अपने सैनिकों के साथ विभिन्न स्थानों पर आक्रमण करता और युद्ध करता था। यह युद्ध अब जनता का युद्ध बन गया था और औरंगजेब इसे समाप्त न कर सका क्योंकि अब न तो मराठों की सरकार थी और न मराठों की एक राजकीय सेना जिस पर औरंगजेब आक्रमण करता और उसे नष्ट करता।"[1] 1706 में औरंगजेब उस स्थिति में अहमद-

1 "The difficulties of Aurangzeb were only multiplied by the disappearance of a common head and a central government among the Marathas, as every Maratha Captain with his own retainers fought and raided in a different quarter and on his own account. It now became a people's war and Aurangzeb could not end it because there was no Maratha government or state army for him to attack and destroy." —*Sir J. N. Sarkar.*

नगर पहुँचा, जबकि मराठे निरन्तर उसकी सेना का पीछा कर रहे थे और उसकी छावनी पर छापे मार रहे थे।

इस प्रकार, मराठों के विरुद्ध औरंगजेब असफल रहा। यह उसकी दक्षिण-नीति की असफलता थी, यह उसकी स्वयं की असफलता थी और यह मुगल-साम्राज्य की भी असफलता थी।

[4]
औरंगजेब की मृत्यु

औरंगजेब की मृत्यु बहुत दुखद परिस्थितियों में हुई। राजनीतिक दृष्टि से उत्तरी भारत में विभिन्न स्थानों पर विद्रोह हो रहे थे; दक्षिण-भारत में मराठे गुजरात, मालवा और खानदेश जैसे दूरस्थ मुगल-सूबों पर ही आक्रमण नहीं कर रहे थे बल्कि बादशाह की छावनी तक पर हमले कर रहे थे, शासन-प्रबन्ध प्रायः नष्ट हो चुका था, आर्थिक दृष्टि से भी राज्य की स्थिति दुर्बल हो गयी थी और अपने पिता की राज्य को बाँटने की इच्छा को जानने के पश्चात् भी शाहजादा मुअज्जम, शाहजादा आजम और शाहजादा कामबख्स युद्ध को तत्पर हो रहे थे। औरंगजेब की धार्मिक नीति के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुए विद्रोहों और दक्षिण के युद्धों ने मुगल-साम्राज्य की कमर तोड़ दी थी। स्वयं औरंगजेब ने मृत्यु के अवसर पर अपनी असफलता को अनुभव कर लिया था। पारिवारिक दृष्टि से भी औरंगजेब दुर्भाग्यशाली रहा। 1702 में उसकी पुत्री जेबुन्निसा की मृत्यु हो चुकी थी, 1704 में उसके निष्कासित पुत्र अकबर की मृत्यु फारस में हो चुकी थी, 1705 में उसकी प्रिय पुत्रवधू जहाँजेब की मृत्यु हो गयी थी, 1706 में उसकी अकेली जीवित बहिन गौहनआरा की मृत्यु हो गयी, उसी वर्ष उसकी लड़की मेहरुन्निसा और उसके पति इजिदबक्स की मृत्यु हुई, उनकी मृत्यु के एक माह पश्चात् अकबर के लड़के बुलन्दअख्तर की मृत्यु हुई और उसके दो नातियों की मृत्यु उससे थोड़े समय पहले 1707 में ही हुई। ऐसी परिस्थितियों में 3 मार्च, 1707 को औरंगजेब की मृत्यु हो गयी। दौलताबाद से चार मील दूर शेख जैन-उल-हक के मजार के निकट औरंगजेब को दफना दिया गया। इस प्रकार औरंगजेब का अन्त हुआ जिसे सर जदुनाथ सरकार ने "एक के अतिरिक्त महान् मुगल बादशाहों में महान्"[1] पुकारा है।

[5]
औरंगजेब का चरित्र, व्यक्तित्व और मूल्यांकन
(असफलता के कारण और मुगल-साम्राज्य के पतन में उसका उत्तरदायित्व)

औरंगजेब शिक्षित, परिश्रमी, संयमी, दृढ़-निश्चयी, धार्मिक, योग्य सैनिक और सफल सेनापति था। उसे फ़ारसी, तुर्की और हिन्दी का अच्छा ज्ञान था। उसका अध्ययन अच्छा था और उसे विद्वान माना जा सकता था। वह अत्यधिक परिश्रमी था। सर जदुनाथ सरकार ने उसकी दैनिक कार्य-व्यवस्था के बारे में जो कुछ लिखा है उससे स्पष्ट होता है कि बादशाह की दृष्टि से कार्य करते हुए उसे कठिनाई से 3 या 4 घण्टे सोने का अवसर मिलता था। शासन का कोई ऐसा विभाग न था, किसी भी अधिकारी की ऐसी कोई नियुक्ति न थी और किसी भी युद्ध की कोई ऐसी

---

1 **"The greatest of the Great Mughals save one."—*Sir J. N. Sarkar*.**

योजना न थी जिसे औरंगजेब स्वयं न देखता हो। वह साहसी था। उसने जीवन की कठिनतम परिस्थितियों में धैर्य नहीं छोड़ा था। बचपन में हाथियों की एक लड़ाई को देखने के अवसर पर जब एक हाथी ने शाहजादे औरंगजेब पर आक्रमण किया तो भागने की बजाय शाहजादे ने हाथी पर तलवार से आक्रमण किया और उसे भगा दिया। बल्ख (मध्य-एशिया) में उजबेगों से युद्ध के समय में लड़ाई के मैदान में घोड़े से उतरकर नमाज पढ़ने का साहस शाहजादे औरंगजेब में ही था। इसी प्रकार, अपने पुत्र अकबर के विद्रोह के अवसर पर बादशाह औरंगजेब के पास अजमेर में बहुत थोड़ी सेना थी परन्तु पीछे हटने के स्थान पर औरंगजेब युद्ध करने के लिए अजमेर से बाहर निकल आया था। उसका व्यक्तिगत जीवन आदर्श था। उसे अपने आचार-विचार पर कठोर नियन्त्रण था। वह बहुत सादा भोजन करता था और सादे वस्त्र पहनता था। वह शराब बिल्कुल नहीं पीता था। उसने इस्लाम के कानून के अनुसार कभी भी चार से अधिक पत्नियाँ नहीं रखीं और एक प्रणय-प्रसंग (हीराबाई उर्फ़ जैना-बादी महल के साथ बुरहानपुर में, जबकि वह शाहजहाँ के द्वारा दूसरी बार दक्षिण-भारत का सूबेदार नियुक्त किया गया था) के अतिरिक्त उसका जीवन स्त्रियों के सम्पर्क से निष्कलंक था। वह दृढ़-निश्चयी था और एक बार अपने लक्ष्य को निश्चित करने के पश्चात् उसके साथ समझौता करने को तत्पर नहीं होता था। एक सैनिक की दृष्टि से औरंगजेब ने साहस और कौशल से अनेक युद्धों में भाग लिया था और वह प्रत्येक अस्त्र-शस्त्र के चलाने में कुशल सिद्ध हुआ था। एक सेनापति की दृष्टि से वह चालाक और रण-कुशल सेनापति सिद्ध हुआ था। मध्य-एशिया और कन्धार के आक्रमणों के अवसर पर उसे अवश्य असफलता मिली थी परन्तु उनके लिए वह अकेला ही उत्तरदायी न था। परिस्थितियाँ और एक अच्छे तोपखाने की कमी भी उसके कारण थे। उत्तराधिकार के युद्ध में जिस गतिशीलता और कौशल का उसने परिचय दिया था वह उसकी सफलता का कारण बने थे। उसने उसके पश्चात् भी अनेक युद्धों में भाग लिया और सफलता प्राप्त की। औरंगजेब युद्ध को जीतने के लिए कौशल और कूटनीति से भी काम लेता था। अपने भाइयों को पराजित करने में, अकबर के विद्रोह को समाप्त करने में तथा गोलकुण्डा के किले को जीतने में उसने कूटनीति का सहारा लिया था।

परन्तु औरंगजेब न एक अच्छा पुत्र, न अच्छा पिता, न अच्छा मित्र, न अच्छा भाई, न अच्छा बादशाह और न अच्छा शासन-प्रबन्धक सिद्ध हुआ। उसने अपने पिता को कैद में रखा, अपने भाइयों का वध कराया, उसका एक पुत्र बाहर भागने को बाध्य हुआ, उसके एक पुत्र और एक पुत्री की मृत्यु कैद में हुई, उसके एक अन्य पुत्र को आठ साल कैद में रहना पड़ा और उसका कोई अच्छा मित्र न था। इसके लिए औरंगजेब स्वयं ही उत्तरदायी था। प्रथम, राजनीति में उदारता बरतना उसकी नीति के विरुद्ध था और दूसरे, वह सन्देही प्रकृति का था। उसने कभी किसी पर विश्वास नहीं किया। इस कारण शासन का सभी कार्य उसे देखना पड़ा, कोई उसके प्रति वफादार नहीं हो सका और कोई भी उसके समय में योग्यता प्राप्त नहीं कर सका। औरंगजेब के समय में मुगल-साम्राज्य में योग्य सेनापतियों और योग्य शासन-प्रबन्धकों का अभाव हो गया था। जो योग्य व्यक्ति उसे प्राप्त हुए उनका निर्माण उसके समय में नहीं हुआ बल्कि उसके पिता के समय में हो चुका था। औरंगजेब का सन्देही स्वभाव किसी भी व्यक्ति की योग्यता को बढ़ने देने के अनुकूल न था।

औरंगजेब एक अच्छा बादशाह सिद्ध नहीं हुआ और न एक अच्छा शासन-प्रबन्धक। उसके व्यक्तिगत चरित्र की मुख्य विशेषता धर्मान्धिता थी। यह कहा जा सकता है कि औरंगजेब पाँचों वक्त की नमाज पढ़ता था, नियमपूर्वक रोजे रखता था, इस्लाम के सभी धार्मिक नियमों का श्रद्धापूर्वक पालन करता था तथा जिस धर्म की सत्यता में उसे विश्वास था उस धर्म को उसने अपनी प्रजा में फैलाने का प्रयत्न किया। इस कारण, वह एक अच्छा मुसलमान शासक था। परन्तु यह कहना ठीक नहीं है। इस मापदण्ड से अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ अच्छे मुसलमान शासक नहीं माने जा सकते। धर्म-पालन की इतनी संकुचित व्याख्या ने ही औरंगजेब को न अच्छा बादशाह बनने दिया और न अच्छा शासन-प्रबन्धक। औरंगजेब ने इस्लाम धर्म को राज्य-धर्म बनाया और अपनी बहुसंख्यक हिन्दू प्रजा को इस्लाम धर्म में परिवर्तित करने का प्रयत्न किया। हिन्दू, सिखों और बौहराओं के साथ ही नहीं बल्कि शिया-मत मानने वाले मुसलमानों के प्रति भी उसकी नीति अनुदार थी। जिस प्रकार उसने उन सभी के प्रति आर्थिक, सामाजिक व राजनीतिक दुर्व्यवहार और असमानता की नीति अपनायी उससे उसने राज्य की एकता को नष्ट कर दिया, हिन्दू और मुसलमानों के सम्बन्ध खराब कर दिये और अनेक विद्रोहों को जन्म दिया जिनके कारण राज्य की आर्थिक और सैनिक शक्ति नष्ट हुई, शासन अव्यवस्थित हुआ और प्रजा का धन, सम्मान और सुरक्षा खतरे में आ गयी। औरंगजेब की भावनाएँ कितनी भी नेक रही हों परन्तु धर्म की संकुचित व्याख्या ने उसके आदर्श और कर्तव्यों की परिभाषा को बदल दिया था। वह न तो अपनी सम्पूर्ण प्रजा का प्रजापालक बादशाह बन सका और न अपनी प्रजा का आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक प्रगति के अनुकूल परिस्थितियों को निर्माण करने वाला योग्य शासन-प्रबन्धक। एक साम्राज्य-निर्माता की दृष्टि से भी औरंगजेब असफल रहा। निस्सन्देह, उसके समय में मुगल-साम्राज्य की सीमाएँ सबसे अधिक विस्तृत हो गयीं परन्तु उसकी दक्षिण की विजय अस्थायी और खोखली थी। साम्राज्य की श्रेष्ठता के समय से ही साम्राज्य के पतन का मार्ग खुल गया था। औरंगजेब दक्षिण-विजय को संगठित न कर सका अपितु ऐसा करने के प्रयत्न में उसने उत्तरी भारत की विजय और एकता भी नष्ट कर दी। उसकी मृत्यु के समय उत्तर और दक्षिण, दोनों ही भागों में, स्वतन्त्र राज्यों का निर्माण आरम्भ हो चुका था।

तब भी मध्य-युग के इतिहास में औरंगजेब का स्थान महान् है—उसकी सफलताओं के कारण भी और उसकी असफलताओं के कारण भी। इसी कारण, सर जदुनाथ सरकार ने उसे 'एक के अतिरिक्त महान् मुगल बादशाहों में महान्' पुकारा है और सर जदुनाथ सरकार का औरंगजेब पर जो शोध-कार्य है उसे देखते हुए उनके मत को प्रायः सभी इतिहासकारों को स्वीकार करना पड़ता है। औरंगजेब के समय की महानतम सफलता साम्राज्य का विस्तार था। सर जदुनाथ सरकार ने लिखा है : "औरंगजेब का इतिहास प्रायः 60 वर्ष का भारत का इतिहास है....उसके समय में मुगल-साम्राज्य अपने विस्तार की चरम सीमा पर पहुँच गया और एक इतना बड़ा राज्य हो गया जितना कि भारत में इतिहास के आरम्भ होने से ब्रिटिश-साम्राज्य के निर्माण तक नहीं हुआ था"[1] परन्तु जदुनाथ सरकार ने यह भी लिखा है कि "साम्राज्य

1 "The history of Aurangzeb is practically the history of India for sixty years......Under him the Mughal Empire reached its greatest

का विस्तार उसके अन्त का आरम्भ होना था....।"[1] इस प्रकार, सर जदुनाथ सरकार के शब्दों से औरंगजेब की महान् सफलता और महान् असफलता स्पष्ट हो जाती हैं। इसी कारण, इतिहासकार लेनपूल ने लिखा है, "औरंगजेब का जीवन वास्तव में एक महान् विफलता थी, लेकिन वह महानता से ही विफल हुआ था।"[2] इस प्रकार औरंगजेब महान् था। परन्तु औरंगजेब असफल हुआ। इतिहासकार स्मिथ ने लिखा है : "जब हम औरंगजेब को एक बादशाह की दृष्टि से देखते हैं तो कहना पड़ता है कि वह असफल था।"[3] इतिहासकार लेनपूल जो एक स्थान पर औरंगजेब को अपने पिता से अधिक बुद्धिमान, अधिक न्यायप्रिय और अधिक दयापूर्ण बताता है, एक अन्य स्थान पर उसके बारे में लिखता है : "उसके शासन के समाप्त होने से पहले ही हिन्दुस्तान अव्यवस्थित हो गया था और भविष्य के पतन के चिह्न प्रकट हो गये थे।"[4] लेनपूल ने पुनः लिखा है : "यदि औरंगजेब ने अपनी जैसी ही मानसिक और नैतिक शक्तियों से पूर्ण उत्तराधिकारी छोड़ा होता, तब भी यह सन्देहास्पद ही है कि क्या साम्राज्य का छिन्न-भिन्न होना रोका जा सकता था। बीमारी इतनी अधिक बढ़ चुकी थी कि बड़े से बड़ा आपरेशन भी असफल होता।"[5] सर जदुनाथ सरकार ने लिखा है : "हिन्दुस्तान में शासन बहुत शीघ्रता से गिरने लगा; शान्ति, समृद्धि और ललितकलाओं की अवनति हो गयी और सम्पूर्ण भारतीय सभ्यता पिछड़ गयी। उत्तर-पश्चिम की सीमाओं की सुरक्षा की ओर ध्यान नहीं दिया गया और साम्राज्य के आर्थिक साधन इतने संकुचित हो गयें कि वह साम्राज्य की आवश्यकताओं की पूर्ति करने में असमर्थ हो गये। दक्षिण-भारत में बीजापुर, गोलकुण्डा, पूर्वी कर्नाटक और महाराष्ट्र की औरंगजेब की विस्तृत विजयें भी भ्रमपूर्ण थीं। साम्राज्य की शक्ति और सम्पत्ति में वृद्धि करने के स्थान पर उन्होंने आर्थिक दृष्टि से साम्राज्य का विनाश कर दिया और उसकी सैनिक-शक्ति को नष्ट कर दिया। वास्तव में मुगल-साम्राज्य इतना विस्तृत हो गया था कि एक केन्द्र-स्थान से और एक व्यक्ति द्वारा उसका शासन करना असम्भव हो गया तथा उनका पतन आरम्भ हुआ जिसने 18वीं सदी में भारत के इतिहास को एक 'महान अराजकता' बना दिया।"[6]

---

extent, and the largest single state ever known in India from the dawn of history to the rise of British power." —*Sir J. N. Sarkar.*

1 "The extension of the Empire was the beginning of his end." —*Sir J. N. Sarkar.*

2 "Aurangzeb's life had been a vast failure, indeed, but he had failed grandly." —*Lane-Poole.*

3 "When he is judged as a sovereign he must be pronounced a failure." —*V. A. Smith.*

4 "Even before the end of his reign Hindustan was in confusion, and the signs of coming dissolution had appeared." —*Lane-Poole.*

5 "Even had Aurangzeb left a successor of his own mental or moral stature, it may be doubted whether the process of disintegration could have been stayed. The disease was too far advanced for even the heroic surgery." —*Lane-Poole.*

6 "In Hindustan the administration rapidly deteriorated; peace, prosperity and arts decreased and the entire Indian civiliza-

इस कारण, औरंगजेब का स्थान महान् शासकों में होते हुए भी ऐसे शासकों में आता है जो अपने जीवन के अन्तिम समय में अपनी असफलताओं को स्वयं देख सके और जिन्होंने अपनी दुर्बलताओं के कारण अपने शासन का अन्त अपने साम्राज्य को दुर्बल बनाकर किया। अन्त में, औरंगजेब असफल हुआ और अपनी असफलता के कारण वह मुगल-साम्राज्य के पतन के लिए भी उत्तरदायी हुआ। औरंगजेब की असफलता का मुख्य कारण शासन का अपने ही हाथों में केन्द्रीकरण, उसकी सन्देही प्रकृति, उसकी धर्मान्धता की नीति और उसकी दक्षिण-नीति थी और इन्हीं कारणों से वह मुगल-साम्राज्य के पतन के लिए उत्तरदायी हुआ। औरंगजेब ने शासन का अत्यधिक केन्द्रीकरण किया था। मध्य-युग के सभी निरंकुश शासक ऐसा ही करते थे। परन्तु औरंगजेब के शासन का केन्द्रीकरण अन्य शासकों से इस कारण भिन्न हो गया कि औरंगजेब ने अपनी सन्देही प्रकृति के कारण किसी अन्य पर विश्वास नहीं किया और उसने अपने उत्तरदायित्व को योग्य और वफादार शाहजादों अथवा सरदारों में नहीं बाँटा। ऐसा उससे पहले के किसी मुगल शासक ने नहीं किया था। इससे एक तो औरंगजेब पर कार्य-भार इतना अधिक हो गया कि वह सभी कार्यों को ठीक प्रकार से देखभाल करने में असफल हुआ; दूसरे, वह अपने शाहजादों और सरदारों को योग्य न बना सका और न उनकी वफादारी प्राप्त कर सका; तथा तीसरे, वह अपनी प्रजा की भक्ति न प्राप्त कर सका। लेनपूल ने लिखा है : "निस्सन्देह, औरंगजेब के चरित्र में एक दोष था---जबकि उसके सभी पूर्वज उदार और खुले हृदय के थे, वह बहुत छोटे हृदय का था। यही कारण था जिसकी वजह से उसकी प्रजा ने उसकी ठण्डी सौम्यता और सन्देही प्रकृति के कारण उसके सम्पूर्ण संयम, कर्तव्य-परायणता, न्यायशीलता और प्रजा के लिए निरन्तर किये जाने वाले परिश्रम की ओर कोई ध्यान नहीं दिया।"[1] औरंगजेब की असफलता का एक बड़ा कारण यह था कि उसे किसी भी योग्य व्यक्ति की सेवाएँ प्राप्त न हो सकीं। इसके लिए वह स्वयं दोषी था। औरंगजेब धर्मान्ध था। उसकी धार्मिक असहिष्णुता की नीति हिन्दुओं तक ही सीमित न थी बल्कि उसे शिया मुसलमानों से भी चिढ़ थी। बीजापुर और

---

tion fell backwards. The defence of the north-western frontier was neglected, and the material resources of the empire dwindled till they ceased to suffice for its needs. The vast annexations effected by Aurangzeb in the Deccan—Bijapur, Golconda, eastern Carnatic and Maharastra—were all illusive. Instead of adding to the strength and wealth of the empire, they brought down economic ruin upon it and destroyed its army as an instrument of power. In fact, the Mughal empire now became too large to be administered by one man or from one centre, and its disruption began which was to make the history of India in the eighteenth century one 'great anarchy'." —*Sir J. N. Sarkar.*

"There was undeniably a certain lack in his character—'a certain smallness of mind', indeed—the generosity and openness of mind common to all his predecessors. It was on account of this that all his self-restraint, his sense of duty, his equity, and his laborious care of his people, counted for nothing in their hearts against his cold reserve and distrust."[1] —*Lane-Poole.*

गोलकुण्डा के शिया राज्यों के अस्तित्व को समाप्त करने में औरंगजेब का एक उद्देश्य धार्मिक भी था। इसके अतिरिक्त उसने राज्य की सेवाओं से शियाओं को वंचित रखने का प्रयत्न किया। मुगल-साम्राज्य को अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ के समय तक अनेक योग्य शिया विद्वानों, शासन-प्रबन्धकों और सेनापतियों की सेवाएँ प्राप्त होती रही थीं। औरंगजेब के समय में यह सम्भव न हो सका। अपनी बहु-संख्यक हिन्दू प्रजा के प्रति औरंगजेब बहुत ही अनुदार सिद्ध हुआ। जजिया, तीर्थ-यात्रा-कर, व्यापारिक कर, उनके साथ न्याय में कठोरता, उनको सम्मान से न रहने देना, उनको राज्य की सेवाओं से हटाने का प्रयत्न और खुले तौर से उनके मन्दिरों का विनाश तथा उनके देवी-देवताओं का अपमान, आदि ऐसे कारण बने जिससे औरंगजेब की हिन्दू-प्रजा उससे घृणा करने लगी और विभिन्न स्थानों पर अनेक विद्रोह हुए। जाट, सतनामी और सिखों के विद्रोह का यही कारण था। बुन्देलखण्ड के विद्रोह, राजपूतों के विद्रोह और मराठों के निरन्तर संघर्ष के लिए भी औरंगजेब की धार्मिक असहिष्णुता की नीति बहुत बड़ी मात्रा में उत्तरदायी थी। औरंगजेब ने अकबर के द्वारा आरम्भ की गयी तथा जहाँगीर और शाहजहाँ द्वारा स्वीकार की गयी धार्मिक सहनशीलता की नीति को समाप्त कर दिया। इससे राज्य की एकता समाप्त हो गयी, वफादार राजपूत जाति मुगलों की शत्रु बन गयी तथा जाट, सिख और मराठे जैसी युद्धप्रिय जातियों ने मुगल-साम्राज्य के विरुद्ध शस्त्र उठा लिये। इन विद्रोहों ने औरंगजेब और मुगल-साम्राज्य की नींव को हिला दिया। मि. प्रिंगले कैनेडी ने लिखा है : "जिसे अकबर ने प्राप्त किया था तथा अनेक दुर्गुणों के होते हुए भी जिसे जहाँगीर और शाहजहाँ ने स्थापित रखा था उसे औरंगजेब ने खो दिया, और वह था अपनी हिन्दू प्रजा का प्यार; और जिस शक्ति ने हिन्दू जाति का विश्वास प्राप्त न किया हो वह भारत में स्थायी रहने की आशा नहीं कर सकती।"[1] इतिहासकार लेनपूल ने भी औरंगजेब की धार्मिक कट्टरता के सन्दर्भ में लिखा है : "औरंगजेब में कई महान् गुण थे और वह सभी सद्गुणों का व्यावहारिक प्रयोग करता था परन्तु मनुष्य-समूह के नेता के लिए आवश्यक एक गुण का उसमें अभाव था, और वह यह कि वह प्यार नहीं पा सकता था। ऐसा व्यक्ति एक साम्राज्य का शासन तो कर सकता है परन्तु वह मनुष्यों के हृदय पर शासन नहीं कर सकता।"[2] औरंगजेब की दक्षिण-नीति भी उसकी असफलता का एक मुख्य कारण बनी। दक्षिण की विजय से उसका साम्राज्य इतना अधिक विस्तृत हो गया कि एक स्थान से उसका शासन करना असम्भव हो गया। भारतीय इतिहास ने कई बार यह प्रमाणित किया था कि जिस शासक ने उत्तर और दक्षिण-भारत के दोनों भागों को अपनी प्रत्यक्ष अधीनता में लाने का प्रयत्न किया वह असफल हुआ परन्तु उत्तर-भारत

---

1 "What Akbar had gained, what Jahangir and Shah Jahan with all their vices had retained, he (Aurangzeb) lost, *viz.*, the affection of his Hindu subjects. And no power that has not acquired the confidence of the Hindu community can be expected to last in India." —*Mr. Pringle Kennedy.*

2 "Aurangzeb possessed many great qualities, he practised all the virtues, but he was lacking in the one thing needful in a leader of men ; he could not win love. Such a one may administer an empire, but he cannot rule the hearts of men." —*Lane-Poole,*

के जिस बादशाह ने दक्षिण-भारत के राज्यों को केवल अपना स्वामित्व स्वीकार करा-कर स्वतन्त्र छोड़ दिया वह सफल रहा। औरंगजेब के समय में भारतीय इतिहास के इस सबक की पुनरावृत्ति होती है। दक्षिण-भारत को अपनी प्रत्यक्ष अधीनता में रखने के प्रयत्न के कारण औरंगजेब उत्तर-भारत के शासन की ओर ध्यान न दे सका जो उसके साम्राज्य की शक्ति का आधार था। दक्षिण-भारत में उसके साम्राज्य की सम्पूर्ण आर्थिक शक्ति, उसके योग्यतम अधिकारी और उसकी सबसे अच्छी सेना लगी रही और उत्तरी भारत का शासन, अधिकार और सुरक्षा मध्यम श्रेणी के अधिकारियों के हाथों में रही जिससे कोई भी कार्य ठीक प्रकार न हो सका। औरंगजेब ने दक्षिण-भारत को तो खोया ही परन्तु साथ-साथ उसने अपने और मुगल-साम्राज्य की शक्ति के स्रोत उत्तरी भारत को भी खो दिया। शासन-व्यवस्था, शान्ति, समृद्धि और उन्नति की दृष्टि से औरंगजेब ने सम्पूर्ण भारत को खो दिया। इसके अतिरिक्त बीजापुर और गोलकुण्डा की विजय ने मराठों की उठती हुई शक्ति का प्रत्यक्ष संघर्ष मुगलों से करा दिया। यदि औरंगजेब ने इन शिया राज्यों को समाप्त न किया होता तो सम्भवतया मराठे दक्षिण की राजनीति में ही व्यस्त रहते और उन्हें मुगलों से संघर्ष करने की और उनकी दुर्बलताओं को समझ पाने की सुविधा प्राप्त न हो पाती। इस कारण, औरंगजेब की दक्षिण-नीति अव्यावहारिक और अविवेकपूर्ण सिद्ध हुई तथा उसने औरंगजेब की असफलता और मुगल-साम्राज्य के पतन में प्रमुख भाग लिया।

आधुनिक समय में औरंगजेब के चरित्र, व्यक्तित्व और सफलताओं तथा अस-फलताओं को लेकर इतिहासकारों में बहुत विवाद उत्पन्न हो गया है। औरंगजेब के पक्ष में दो बातें मुख्य तौर से बतायी जाती हैं। एक, औरंगजेब की विजयों का उद्देश्य भारत की राजनीतिक एकता थी; और दूसरी, औरंगजेब की धार्मिक नीति असहिष्णु न थी। औरंगजेब का जो भी व्यवहार शिया-राज्यों, राजपूतों और हिन्दुओं के प्रति रहा उसका मुख्य कारण राजनीतिक और आर्थिक था। भारत की एकता, एक सूत्र और एक शासन में बँधा हुआ राज्य और बढ़ती हुई राज्य की आर्थिक आवश्यक-ताएँ उसकी नीति का मुख्य कारण थीं। अपने पक्ष के समर्थन में उन्होंने विभिन्न तर्क और उदाहरण दिये हैं जैसे औरंगजेब ने हिन्दू मन्दिरों को जागीरें दी थीं और उन्हीं हिन्दू मन्दिरों को गिराया था जहाँ पहले मुसलमानों की मस्जिदें थीं। परन्तु ऐसे विद्वानों के तर्कों में विस्तृत रूप से जाये बिना यह अवश्य कहा जा सकता है कि अधिकांश तत्कालीन लेखकों के विवरणों में उनके पक्ष का समर्थन प्राप्त नहीं होता। अधिकांश तत्कालीन विवरणों के आधार पर औरंगजेब की नीति असहिष्णुता की ही सिद्ध होती है। इसके अतिरक्त महान् मुगल सम्राट अकबर की नीति भी भारत की राजनीतिक और शासन की एकता के उद्देश्य की पूर्ति के लिए थी। परन्तु उसे जजिया, तीर्थयात्रा-कर लगाने और मन्दिरों को तोड़ने की आवश्यकता नहीं हुई। इसके विपरीत अकबर ने भारत की धार्मिक और सांस्कृतिक एकता के लिए प्रयत्न किये थे। ऐसी स्थिति में दो निर्णय हो सकते हैं—या तो अकबर की नीति को अव्या-वहारिक, अनुचित और अपर्याप्त कहा जाय अथवा औरंगजेब की नीति को अव्याव-हारिक और अनुचित कहा जाय। विद्वान इतिहासकार ही इस बात का निर्णय करने में समर्थ हो सकते हैं। हाँ, यह बात अवश्य ध्यान में रखने की है कि जब अकबर की नीति से अकबर के समय में ही नहीं बल्कि उसके उत्तराधिका-रियों के समय में भी मुगल-साम्राज्य शक्ति, समृद्धि और सांस्कृतिक दृष्टि से

प्रगतिशील रहा, औरंगजेब की नीति से औरंगजेब के समय में न तो शक्ति का स्थायी विस्तार हुआ, न राज्य में समृद्धि हुई और न कला, शिक्षा, साहित्य आदि की दृष्टि से कोई प्रगति हुई। औरंगजेब के उत्तराधिकारियों के समय में मुगल-साम्राज्य प्रत्येक दृष्टि से पतन के मार्ग पर अग्रसर हो चुका था। स्वयं औरंगजेब ने अपनी मृत्यु के अवसर पर अपनी असफलता को समझ लिया था।

इस कारण यह स्वीकार करना अधिक तर्कसंगत प्रतीत होता है कि यद्यपि औरंगजेब योग्य, प्रतिभाशाली, परिश्रमी, कर्तव्यपरायण, सदाचारी, साहसी और कुशल सेनापति था तथा महानता के गुण उसमें थे परन्तु अपनी व्यक्तिगत धारणाओं की श्रेष्ठता में विश्वास करते हुए, अपने ही धर्म को श्रेष्ठ मानते हुए और उसकी प्रगति में ही अपने जीवन की सार्थकता मानकर कर्तव्य, नैतिकता और बादशाह के आदर्शों की जो व्याख्या उसने बना ली थी वह न उसके लिए लाभदायक रही और न उसके वंश अथवा साम्राज्य के लिए। औरंगजेब उन व्यक्तियों में से एक था जो अपनी सद्भावनाओं में अटूट विश्वास रखते हुए अन्य व्यक्तियों के दृष्टिकोण को समझने का प्रयत्न ही नहीं करते, उनके विश्वासों, आदर्शों और सद्भावनाओं को बड़ी भूल मान बैठते हैं, और उनको ठीक मार्ग पर लाना अपना धर्म बना लेते हैं, चाहे अपने स्वयं के आदर्श और भावनाओं में कितनी ही त्रुटि क्यों न हो। ऐसी एकांगी और संकुचित भावना की कट्टरता की तुलना किसी से नहीं की जा सकती और न ऐसे व्यक्ति के विचारों में परिवर्तन सम्भव है। ऐसा व्यक्ति एक अच्छा फकीर या धर्म-प्रचारक तो हो सकता है परन्तु अच्छा, कुशल और नीतिज्ञ बादशाह नहीं हो सकता। सम्भवतया, औरंगजेब इसीलिए न अपनी परिस्थितियों को समझ सका और न अच्छा नीतिज्ञ सिद्ध हो सका और यदि वह समझ भी सका तो उसने उनकी परवाह न की। उसका मुख्य कारण उसकी धर्मान्धता थी। लेनपूल का यह कथन पर्याप्त ठीक प्रतीत होता है कि "यदि औरंगजेब ने अपनी क्रियाशील शक्ति और अद्भुत योग्यता को अपने विनाश और उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त किये हुए महान् साम्राज्य का विनाश करने वाले कार्यों में न व्यय किया होता तो वह सरलता से सिंहासन का आभूषण बन गया होता। इसके स्थान पर उसने आलमगीर अथवा विश्व विजयी बनने के खोखले कार्य को करने का प्रयत्न किया और वह इसी बात से सन्तुष्ट था कि तत्कालीन रूढ़िवादी मुसलमान उसे जिन्दा-पीर समझते थे ... उसका गौरव सिर्फ उसके लिए था; उसके विशाल साम्राज्य के लिए उसका निष्ठावान उत्साह एक अभिशाप सिद्ध हुआ था।"

9
उत्तरकालीन मुगल बादशाह
[1707—1858 ई.]

विभिन्न बादशाह

औरंगजेब की मृत्यु के समय से मुगल-साम्राज्य की शक्ति और वैभव का सूर्य अस्त हो गया। औरंगजेब के पश्चात् कोई भी मुगल बादशाह बाबर, अकबर, शाहजहाँ अथवा औरंगजेब के बराबर योग्य सिद्ध न हुआ। निस्सन्देह, औरंगजेब ने मुगल-साम्राज्य की राजनीतिक, आर्थिक और नैतिक स्थिति को दुर्बल बना दिया था परन्तु केवल वही मुगल-साम्राज्य के पतन के लिए उत्तरदायी नहीं माना जा सकता। औरंगजेब की मृत्यु के अवसर पर भी मुगल-साम्राज्य भारत का सबसे शक्तिशाली और विस्तृत साम्राज्य था। अफगानिस्तान से लेकर बंगाल तक और कश्मीर से लेकर दक्षिण-भारत तक फैले हुए मुगल-साम्राज्य को अनेक स्थानों पर चुनौती अवश्य दी जा चुकी थी परन्तु तब भी कोई अन्य शक्ति, विस्तार और वैभव में, उसकी समता नहीं कर सकती थी। उत्तराधिकार का युद्ध मुगल शासकों और मुगल-साम्राज्य के लिए कोई नवीन घटना न थी और औरंगजेब के उत्तराधिकारी बहादुरशाह को सिंहासन पर अधिकार करने के लिए अपने पिता से कम संघर्ष करना पड़ा था। तब भी मुगल-साम्राज्य पतन की ओर अग्रसर होने लगा और समय के साथ उसका अन्त हो गया। मुगल-साम्राज्य के पतन के लिए उत्तरकालीन मुगल बादशाह बहुत बड़ी मात्रा में उत्तरदायी हुए। मध्य-युग में साम्राज्य का भाग्य बादशाह की योग्यता और अयोग्यता से बँधा हुआ था। मुगल-साम्राज्य को इस समय में एक योग्य, नीतिज्ञ, सफल शासन-प्रबन्धक और श्रेष्ठ सेनापति-बादशाह की आवश्यकता थी। अगर औरंगजेब के उत्तराधिकारियों में से एक मुगल बादशाह, समय के रहते हुए, इस क्षमता को प्रदर्शित करता तो मुगल-साम्राज्य का पतन न होता। परन्तु उत्तरकालीन मुगल बादशाहों में से किसी ने भी इस क्षमता का परिचय न दिया। एक के बाद एक हुए दुर्बल, अयोग्य और विलासप्रिय मुगल बादशाहों ने मुगल वैभव और शक्ति को नष्ट करने में सहयोग दिया जिससे अन्त में मुगल-साम्राज्य नष्ट हो गया।

[1]
विघटन और उसके कारण (1707-1740 ई.)

औरंगजेब की मृत्यु के अवसर पर साम्राज्य विभिन्न समस्याओं से ग्रस्त था जिसका हल उत्तरकालीन मुगल-सम्राट न निकाल सके। इस कारण मुगल-साम्राज्य का विघटनआरम्भ हुआ। वे समस्याएँ राजनीतिक, प्रशासकीय, आर्थिक और सामाजिक सभी प्रकार की थीं। मध्य-युग में बादशाह के अतिरिक्त शक्ति के साझीदार दो वर्ग

थे। इनमें एक वर्ग जमींदारों का था जिनका भूमि पर पैतृक अधिकार था और उससे सम्बन्धित कुछ अन्य भी अधिकार थे। उन्हें राजा, राय, ठाकुर, खुत, देशमुख आदि नाम से पुकारा जाता था। वे लगान वसूल करने और शासन में सहायता प्रदान करते थे और उस कार्य के लिए वे अपने साथ सैनिक रखते थे। उनका राज्य में बहुत महत्व था। मुगल-बादशाहों ने किसानों से सीधा सम्पर्क स्थापित करके उनकी शक्ति को तोड़ने का प्रयत्न किया था परन्तु असफल रहे थे। इसके विपरीत, औरंगजेब और उत्तरकालीन मुगल-सम्राटों के समय में उनके प्रभाव और शक्ति में वृद्धि हुई थी। उनसे सबसे बड़ी हानि यह थी कि उन्होंने क्षेत्रीय स्वतन्त्रता की प्रवृत्तियों को बढ़ावा दिया जिसका लाभ राज्य के अन्तर्गत दूसरे शक्तिशाली वर्ग ने उठाया। वह दूसरा वर्ग सामन्त-वर्ग था। जिन क्षेत्रीय प्रवृत्तियों को जमींदार-वर्ग ने प्रोत्साहन दिया, उसका लाभ सामन्त-वर्ग ने अपने स्वतन्त्र-राज्यों की स्थापना के लिए किया। सामन्त-वर्ग में वे जागीरदार, सूबेदार, राजा, आदि आते थे जिन्हें बादशाह की ओर से बड़ी-बड़ी जागीरें दी गयी थीं, महत्वपूर्ण मनसब और पद दिये गये थे और जो विभिन्न प्रशासकीय कार्य करते थे। राजपूत-शासक, प्रान्तीय सूबेदार, बड़े और छोटे मनसबदार, आदि इस वर्ग में आते थे। राज्य में उनका बहुत प्रभाव था यहाँ तक कि मुगल-शासन को 'सामन्तों का शासन' भी पुकारा गया। सामन्त वर्ग धर्म, जाति, जन्म-स्थान, आदि के आधार पर विभिन्न गुटों में बँटा हुआ था और उनमें से प्रत्येक गुट अधिकतम राजनीतिक सत्ता को अपने अधिकार में रखने के लिए एक दूसरे से प्रतिस्पर्धा करता था। सामन्तों के गुटों की पारस्परिक ईर्ष्या और प्रतिस्पर्धा ने दुर्बल उत्तरकालीन मुगल-बादशाहों के समय में बादशाह की शक्ति और सम्मान को कम किया और साम्राज्य के विघटन में भाग लिया। इस प्रकार जमींदारों की क्षेत्रीय स्वतन्त्रता की भावना और सामन्तों के गुटों की राजनीतिक शक्ति को प्राप्त करने की पारस्परिक प्रतिस्पर्धा ने साम्राज्य के विघटन में भाग लिया।

औरंगजेब के समय में जाटों, सिखों और मराठों ने सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक और राजनीतिक, आदि विभिन्न कारणों से मुगल-साम्राज्य का विरोध किया। उनमें में किसी का भी विरोध बहुत सफल न हुआ परन्तु उनमें से प्रत्येक ने अपने क्षेत्र की भविष्य की राजनीति को गम्भीरता से प्रभावित किया। इनमें से प्रत्येक शक्ति अपने-अपने क्षेत्र में मुगल-साम्राज्य को चुनौती देती रही और, इस प्रकार, उसमें से प्रत्येक ने मुगल-साम्राज्य को दुर्बल करके उसके विघटन में भाग लिया। औरंगजेब ने राजपूतों को गम्भीरता से असन्तुष्ट कर दिया था और उनके शासक मुगल-साम्राज्य से संघर्ष कर रहे थे। औरंगजेब उन्हें दबा नहीं सका। उसके उत्तराधिकारी बहादुरशाह ने राजपूतों के विरोध को समाप्त करने का प्रयत्न किया परन्तु सफल न हुआ। उसके उत्तराधिकारियों ने राजपूतों को सन्तुष्ट करने की नीति अपनायी परन्तु उससे भी लाभ न हुआ। बाद के समय में मुगलों और राजपूतों की सम्मिलित शक्ति का उपयोग साम्राज्य के हित में न किया जा सका। दोनों एक दूसरे से पृथक हो जाने के कारण दुर्बल हुए और अधिक हानि मुगलों की हुई। औरंगजेब के समय में मराठों ने भी मुगल-साम्राज्य का विरोध किया। आरम्भ में उनका उद्देश्य केवल महाराष्ट्र की स्वतन्त्रता मात्र था। परन्तु अपनी शक्ति में वृद्धि हो जाने और मुगल-साम्राज्य के दुर्बल हो जाने पर उन्होंने सम्पूर्ण साम्राज्य से 'चौथ' और 'सरदेशमुखी' एकत्रित करने की माँग की। मराठों ने उत्तरी भारत पर

आक्रमण करना आरम्भ किया और 1740 ई. तक गुजरात, मालवा और बुन्देलखण्ड के एक बड़े क्षेत्र पर उनका अधिकार हो गया। इस प्रकार, राजपूतों के संघर्ष और मराठों की बढ़ती हुई महत्वाकांक्षाओं ने मुगल-साम्राज्य के विघटन में अपना योगदान दिया।

इसके अतिरिक्त औरंगजेब के समय में ही साम्राज्य में गम्भीर प्रशासकीय और आर्थिक संकट उपस्थित हो गये थे। अमीरों की संख्या और उनके मनसबों में वृद्धि होती चली गयी थी। उसके अनुकूल उन्हें जागीरें भी दी गयी थीं। परन्तु धीरे-धीरे स्थिति यह बन गयी कि जागीर के रूप में देने के लिए भूमि बाकी नहीं रह गयी। इस समस्या को 'बेजागीरी की समस्या' पुकारा गया। औरंगजेब ने इस समस्या का यह हल निकाला कि जागीरों की आय बढ़ा-चढ़ा कर दिखायी गयी। परन्तु इससे समस्या घटने के स्थान पर बढ़ी। अमीरों ने अपनी जागीरों से अधिकतम आय के लिए किसानों पर दबाव डाला परन्तु तब भी वे आशा के अनुकूल धन न पा सके। इस कारण, एक तो वे स्वयं असन्तुष्ट रहे और दूसरे किसानों पर भार बढ़ गया। इसके अतिरिक्त युद्ध, बादशाहों और अमीरों के विलासप्रिय जीवन, बादशाह की भूमि में कमी, आदि ने साम्राज्य के आर्थिक और प्रशासकीय ढाँचे को हिला दिया। साम्राज्य की आय साम्राज्य के व्यय की पूर्ति करने में असमर्थ हो गयी। इससे बादशाह, अमीर, व्यापारी; मजदूर, किसान, आदि सभी वर्गों की हानि हुई। इन आर्थिक कठिनाइयों का प्रभाव राजनीति पर भी पड़ा। इससे दरबार के अमीरों के गुटों की पारस्परिक प्रतिस्पर्धा तीव्र हुई, अमीरों में स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने की भावना प्रबल हुई, केन्द्रीय शासन दुर्बल हुआ और साम्राज्य की सैनिक शक्ति नष्ट हुई। औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् ये सभी समस्याएँ गम्भीर होती चली गयीं और इन सभी ने साम्राज्य के विघटन और पतन में भाग लिया।

औरंगजेब के उत्तराधिकारी बहादुरशाह के समय में अमीरों की पारस्परिक प्रतिस्पर्धा तीव्र हुई और इसका एक प्रमुख कारण वजीर के पद को अपने गुट के व्यक्ति के लिए प्राप्त करना बन गया। बहादुरशाह के उत्तराधिकारियों के समय में वजीर का पद प्राप्त करना और अधिक लालच का कारण बन गया। दुर्बल बादशाहों की उपस्थिति में वजीर की शक्ति में वृद्धि हुई। जागीरें बाँटने का अधिकार भी उसके हाथ में चला गया। इससे अमीरों में पारस्परिक शत्रुता हुई। इससे साम्राज्य की हानि हुई यहाँ तक कि उसके कारण विदेशी शक्तियों का हस्तक्षेप हुआ। इससे बादशाह और वजीर भी एक दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी बन गये जिससे बादशाह की प्रतिष्ठा की भी हानि हुई। इसने भी साम्राज्य के विघटन में भाग लिया।

औरंगजेब के पुत्रों में से शाहजादा मुअज्जम ('शाहआलम' की उपाधि उसे दी गयी थी), शाहजादा आजम और कामबक्स ही इस समय जीवित थे। औरंगजेब की मृत्यु के अवसर पर शाहआलम जमरूद में, आजम अहमदनगर के निकट और कामबक्स बीजापुर में था। औरंगजेब की मृत्यु होते ही तीनों ने मुगल-सिंहासन को प्राप्त करने का प्रयत्न किया। शाहआलम ने बहुत शीघ्रता से बढ़कर दिल्ली पर अधिकार कर लिया और अपने को बहादुरशाह के नाम से मुगल बादशाह घोषित कर दिया। उसके पुत्र अजीम-उस-शान ने अपने पिता की आज्ञा से आगरा पर अधिकार कर लिया। बहादुरशाह भी जून 1707 में आगरा पहुँच गया। इन विजयों से बहादुरशाह

1. बहादुरशाह (1707-1712)

को मुगलों की राजधानी, महत्वपूर्ण प्रदेशों पर अधिकार और पर्याप्त बड़ा खजाना प्राप्त हो गया। आजम ने अपने को दक्षिण-भारत में मुगल बादशाह घोषित किया था और वह आगरा की ओर बढ़ रहा था। परन्तु न तो वह स्वयं समय से आगरा पहुँच सका और न उसने अपने पुत्र बीदरबख्त को, जो उस समय अहमदाबाद में था, आगरा जाने के आदेश दिये। आगरा के निकट जाजऊ में उसने बहादुरशाह का मुकाबला किया। युद्ध में पहले बहादुरशाह ने अपने भाई आजम से अपने पिता की इच्छानुसार साम्राज्य को बाँटने की इच्छा प्रकट की परन्तु आजम ने उसे ठुकरा दिया। युद्ध में आजमशाह मारा गया। सबसे छोटे शाहजादे कामवक्स ने भी बीजापुर में अपने को बादशाह घोषित कर दिया था। 1708 में बहादुरशाह दक्षिण-भारत पहुँचा और कामबक्स से समझौता करने के लिए कहा। कामबक्स ने उसे अस्वीकार कर दिया। जनवरी 1709 में दोनों भाइयों में हैदराबाद के निकट युद्ध हुआ। कामबक्स की पराजय हुई और वह बुरी तरह से घायल हो गया। उसी दिन उसकी मृत्यु हो गयी। इस प्रकार, बहादुरशाह ने अपने दोनों विरोधी भाइयों को समाप्त करने में सफलता पायी।

63 वर्ष की आयु में बहादुरशाह बादशाह बना था। उससे किसी नवीन नीति की आशा नहीं की जा सकती थी। उसके शासन के आरम्भ में मारवाड़ में दुर्गादास और अजीतसिंह ने विद्रोह किया परन्तु 1708 में उन्होंने मुगल आधिपत्य स्वीकार कर लिया। बहादुरशाह के दक्षिण-भारत चले जाने पर अजीतसिंह ने पुनः विद्रोह किया। 1710 में जब बहादुरशाह दक्षिण से वापस आया तो उसने मारवाड़, मेवाड़ और अम्बर के राजपूत राजाओं से सन्धि करना ठीक समझा। यद्यपि उन्होंने नाममात्र के लिए मुगल आधिपत्य को स्वीकार कर लिया परन्तु वास्तविकता में वे प्रायः स्वतन्त्र हो गये। सिखों के गुरु गोविन्दसिंह ने दक्षिण के युद्ध में बहादुरशाह की सहायता की, परन्तु उनकी मृत्यु के पश्चात् 'बन्दा वैरागी' के नेतृत्व में सिखों ने मुगलों से युद्ध आरम्भ कर दिया। बन्दा एक योग्य सेनापति सिद्ध हुआ। उसके बारे में यह कहा गया कि वह गुरु गोविन्दसिंह की आत्मा है। उसने अपने को 'सच्चा बादशाह' घोषित किया और सरहिन्द से लेकर पंजाब तथा दिल्ली तक लूटमार की। यद्यपि बहादुरशाह ने बन्दा को परास्त करने में सफलता पायी और उसे एक स्थान से दूसरे स्थान पर भागने के लिए बाध्य किया परन्तु वह बन्दा को पकड़ने अथवा सिखों के विद्रोह को दबाने में सर्वथा असफल रहा। मराठों में उस समय आन्तरिक संघर्ष चल रहा था। शम्भाजी के पुत्र शाहू को जुल्फिकारखाँ के कहने से आजमशाह ने भागने का अवसर दे दिया था और उसने मराठों का राजा होने का दावा किया था। आजमशाह ने मराठों में विभाजन करने के लिए उसके दावे को स्वीकार कर लिया था और दक्षिण के छह सूबों से 'चौथ' और 'सरदेशमुखी' वसूल करने का अधिकार भी उसे दिया था। परन्तु राजाराम की पत्नी ताराबाई ने अपने पुत्र शिवाजी द्वितीय के अधिकार का समर्थन किया। उसका कहना था कि शाहू को मराठों का राजा बनने का कोई अधिकार न था। बहादुरशाह के समय में जब इन दोनों विरोधी दलों ने अपने-अपने अधिकारों की माँग को बादशाह के सामने रखा तब बहादुरशाह ने कोई निर्णय नहीं किया बल्कि दोनों को समान रूप से माना और सरदेशमुखी का अधिकार दोनों को समान रूप से दे दिया। फरवरी 1712 में बहादुरशाह की मृत्यु हो गयी।

बहादुरशाह को 'शाहे-बेखबर' पुकारा गया था। वह बहुत ही अनिश्चित और उदार प्रकृति का था। राज्य के महत्वपूर्ण प्रश्नों को वह टालता रहता था अथवा समझौते द्वारा उनका हल निकालने का प्रयत्न करता था। यह एक प्रकार से कठिनाइयों का टालना हो सकता था परन्तु किसी भी महत्वपूर्ण समस्या का हल न था। इस प्रकार दृढ़ इच्छाशक्ति और कठिनाइयों को साहस से दूर करने की क्षमता उसमें न थी। शासक की दृष्टि से उसने निर्बलता का परिचय दिया। उसकी उदारता भी राज्य के लिए लाभदायक न थी। उसने प्राप्त किए हुए शाही खजाने को सरदारों में बाँटकर समाप्त कर दिया। उसी के समय में राज्य की आवश्यकताओं की पूर्ति राज्य की आय से होनी सम्भव न रही। परन्तु इन दोषों के होते हुए भी बहादुरशाह सफल रहा। उसने अपने भाइयों को परास्त करके राज्यों की एकता को नष्ट होने से बचा लिया। राजपूतों और मराठों को सन्तुष्ट रखा, राज्य के वफादार और योग्य सरदारों की योग्यता का सदुपयोग किया तथा मुगल-साम्राज्य की प्रतिष्ठा को बचाकर रखा। उसके समय में मुगल-साम्राज्य एक इकाई रहा, अधीन सूबेदार उसकी आज्ञा का पालन करते थे और मुगल बादशाह शाहजहाँ 'तख्त-ए-ताऊस' पर बैठकर मुगल-साम्राज्य की एकता और शान-शौकत का प्रतीक था।

बहादुरशाह की मृत्यु के पश्चात् उसके चार पुत्रों—जहाँदारशाह, अजीम-उस-शान, रफी-उस-शान और जहानशाह में सिंहासन के लिए युद्ध हुए। वजीर असदखाँ के पुत्र जुल्फकारखाँ की सहायता से जहाँदारशाह ने अपने भाइयों को परास्त करने और मारने में सफलता पायी और बादशाह बन गया। वजीर का पद जुल्फिकारखाँ को दिया गया।

2. जहाँदारशाह (1712-13)

जहाँदारशाह मूर्ख और विलासप्रिय शासक था। वह 15 वर्ष की आयु में लालकुंवर नामक एक वेश्या पर बुरी तरह आसक्त था। उसके लालकुंवर के अयोग्य रिश्तेदारों को ऊँचे-ऊँचे पद दिये और राज्य-दरबार नाच-गाने का स्थान बन गया। वफादार और योग्य सरदारों के लिए दरबार में कोई स्थान न रहा, शासन और सेना की ओर ध्यान दिया गया और कुटिल तथा महत्वाकांक्षी सरदारों की शक्ति और प्रभाव को बढ़ने का अवसर मिला।

जहाँदारशाह प्रायः दस महीने बादशाह रह सका। उसने मृत भाई अजीम-उस-शान के पुत्र और बंगाल के सहायक सूबेदार फर्रुखसियर ने सिंहासन पर अपना दावा किया। फर्रुखसियर स्वयं योग्य न था परन्तु अपनी माता की चालाकी और कूटनीति के कारण उसे पटना के सहायक सूबेदार सैयद हुसैनअली और उसके बड़े भाई तथा इलाहाबाद के सहायक सूबेदार सैयद हसनअली (जो बाद में सैयद अब्दुला खाँ कहलाया) की सहायता प्राप्त हो गयी। फर्रुखसियर ने आगरा की ओर बढ़ना आरम्भ किया। जहाँदारशाह ने अपने पुत्र अजउद्दीन को उसके मुकाबले के लिए भेजा परन्तु वह खजुहा के निकट बिना युद्ध किये हुए ही भाग खड़ा हुआ। आगरा के निकट जहाँदारशाह ने स्वयं फर्रुखसियर का मुकाबला किया परन्तु वह पराजित होकर भाग खड़ा हुआ। वह दिल्ली पहुँचा और उसने वकील-ए-मुतलक असदखाँ के घर में शरण ली। परन्तु असदखाँ ने फर्रुखसियर का साथ देना अधिक ठीक समझा। फर्रुखसियर के आदेश से जहाँदारशाह को उसकी प्रेयसी लालकुंवर के हाथों से छीनकर मार दिया गया।

3. फर्रुखसियर (1713-1719)

फर्रुखसियर सैयद-भाइयों (सैयद अब्दुल्लाखाँ और सैयद हुसैनअली) की सहायता से बादशाह बना था। उसके समय से मुगल बादशाहों को अपने प्रभावशाली सरदारों के हाथों में कठपुतली बन जाने का समय आरम्भ हुआ। फर्रुखसियर ने अब्दुल्लाखाँ को वजीर नियुक्त किया और हुसैनअली को राजस्थान के युद्धों में और बाद में दक्षिण की सूबेदारी पर नियुक्त किया। परन्तु जब राज्य में इन सैयद-भाइयों का प्रभाव बहुत बढ़ गया तब फर्रुखसियर उनसे ईर्ष्या करने लगा। परन्तु फर्रुखसियर अयोग्य था और उसमें स्वयं निर्णय लेने की योग्यता अथवा शक्ति न थी। उसने समय-समय पर मीर जुमला, निजाम-उल-मुल्क आदि अन्य प्रभावशाली सरदारों से सहायता माँगी, सैयद-भाइयों के विरुद्ध षड्यन्त्र किये और अब्दुल्लाखाँ की हत्या करने का प्रयत्न किया। परन्तु उसके सभी प्रयत्न असफल रहे और बीच-बीच में उसे सैयद-भाइयों से माफी माँगनी पड़ी। अन्त में, अब्दुल्लाखाँ ने स्वयं फर्रुखसियर को सिंहासन से हटाने का निर्णय किया और अपने भाई हुसैनअली को दक्षिण से बुलाया। हुसैनअली ने मराठा राजा शाहू से एक सन्धि की और मराठा सैनिकों तथा राजपूत सरदारों की सहायता लेकर दिल्ली पहुँचा। फर्रुखसियर अपनी जान बचाने के लिए हरम में घुस गया। वहीं से उसे नंगे पैर और नंगे सिर घसीटकर निकाला गया। उसे अन्धा करके कैद में डाल दिया गया और बाद में उसे विभिन्न यातनाएँ देकर कत्ल कर दिया गया।

फर्रुखसियर के समय की एक प्रमुख घटना सिख सरदार बन्दा बैरागी का पकड़ा जाना और उसका वध किया जाना था (1716)। इसके अतिरिक्त मराठों की मुगलों से सन्धि, पेशवा बालाजी विश्वनाथ का दिल्ली आना और मराठों का मुगलों की दुर्बलता को स्वयं देखना भी इतिहास को प्रभावित करने वाली घटनाएँ थीं। औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् मुगल-साम्राज्य और मुगल बादशाह कितनी शीघ्र कितने दुर्बल हो गये थे, यह सैयद-भाइयों के उत्थान से स्पष्ट हो गया।

4. रफी-उद-दरजात (1719)

रफी-उद-दरजात बहादुरशाह के पुत्र रफी-उस-शान का पुत्र था। प्रायः तीन माह सैयद-भाइयों की कृपा से वह बादशाह रहा। बीमार होने के कारण उसे गद्दी से उतार दिया गया और शीघ्र ही उसकी मृत्यु हो गयी।

5. रफीउद्दौला उर्फ शाहजहाँ द्वितीय (1719)

रफीउद्दौला उर्फ शाहजहाँ द्वितीय रफी-उद-दरजात का बड़ा भाई था। उसने भी सैयद-भाइयों की कृपा से प्रायः साढ़े तीन माह शासन किया और इसके पश्चात् उसकी मृत्यु हो गयी।

6. मुहम्मदशाह (रंगीला) (1719-1748)

मुहम्मदशाह बहादुरशाह के पुत्र जहानशाह का पुत्र था। उसके समय में सैयद-भाइयों का पतन हुआ, हैदराबाद, बंगाल, बिहार, उड़ीसा और अवध वस्तुतः स्वतन्त्र राज्य बन गये, गुजरात, मालवा, बुन्देलखण्ड पर प्रायः मराठों का अधिकार हो गया, राजस्थान प्रायः स्वतन्त्र हो गया, नादिरशाह ने भारत पर सफल आक्रमण किया, अहमदशाह अब्दाली के आक्रमण आरम्भ हो गये और मुगल-साम्राज्य भिन्न-भिन्न हो गया।

(i) सैयद-भाइयों का पतन—मुहम्मदशाह के सिंहासन पर बैठने के प्रायः एक

वर्ष पश्चात् सैयद-भाइयों का पतन हो गया। सैयद-भाइयों के विभिन्न शत्रु थे। उस अवसर पर निजाम-उल-मुल्क ने उनसे शत्रुता की। उसे मालवा का सूबेदार बनाया गया था। 1720 में उसने खानदेश पर आक्रमण किया जो सैयद हुसैनअलीखाँ की सूबेदारी में था। जो सेनाएँ उसे दबाने के लिए भेजी गयीं उनको उसने परास्त कर दिया। हुसैनअली बादशाह मुहम्मदशाह को लेकर स्वयं दक्षिण की तरफ चला। मार्ग में उसके विरुद्ध षड्यन्त्र किया गया। मुहम्मद अमीनखाँ और हैदरकुली खाँ इसका नेतृत्व कर रहे थे, और बादशाह मुहम्मदशाह भी सैयद-भाइयों के प्रभाव से मुक्त होने के लिए उत्सुक था। हुसैनअली को छुरा भोंककर मार दिया गया। इस समाचार की सूचना मिलने पर सैयद अब्दुल्ला ने शाही परिवार के एक अन्य शाहजादे इब्राहीम को बादशाह घोषित कर दिया परन्तु मुहम्मदशाह ने आगरा के निकट बिल्लोचपुरा नामक स्थान पर एक युद्ध में उसे परास्त कर दिया। इब्राहीम और अब्दुल्लाखाँ को कैद कर दिया गया और दो वर्ष के पश्चात् अब्दुल्लाखाँ को जहर देकर मार दिया गया। इस प्रकार 1720 में सैयद-भाइयों का पतन हो गया।

1713 से 1720 तक का समय सैयद-भाइयों का सत्ता का समय बताया गया है और उन पर बादशाह के सम्मान और सत्ता को कम करने का आरोप लगाया गया है। परन्तु ऐसा कहना सर्वथा तर्कसंगत नहीं है। सैयद-भाइयों ने वजीर और मीरबख्शी के पद को फर्रुखसियर से प्राप्त किया था जो राज्य के श्रेष्ठ पद माने जाते थे। परन्तु यह उनकी फर्रुखसियर के प्रति की गयी सेवा का पुरस्कार था। बिना उनकी सहायता के फर्रुखसियर मुगल सिंहासन को प्राप्त नहीं कर सकता था। परन्तु फर्रुखसियर ने इसके अतिरिक्त उनके साथ और कोई सद्व्यवहार नहीं किया था। राज्य के अन्य सभी पद सैयद-भाइयों के विरोधियों के अधिकार में थे और फर्रुखसियर सैयद-भाइयों से ईर्ष्या करने के कारण अधिकांश उन्हीं की सलाह से कार्य करता था। स्वयं सैयद-भाई सफल कूटनीतिज्ञ सिद्ध नहीं हुए और उन्होंने अपने शत्रुओं को समाप्त करने का प्रयत्न नहीं किया। अन्त में, फर्रुखसियर के षड्यन्त्रों से अपनी सत्ता और जीवन को खतरे में समझकर उन्होंने फर्रुखसियर को सिंहासन से हटाने का प्रयत्न किया और सफल हुए। उसके पश्चात् केवल प्रायः डेढ़ वर्ष का समय उनकी सत्ता का अवश्य माना जा सकता है जबकि वे निरन्तर अपनी इच्छा के अनुसार बादशाहत में परिवर्तन कर सके। परन्तु इसका एक मुख्य कारण मुगल बादशाहों की अपनी स्वयं की दुर्बलता थी। 1720 में मुहम्मदशाह ने सैयद-भाइयों को समाप्त करने में सफलता पायी परन्तु इससे शासन-सत्ता बादशाह के हाथों में नहीं गयी बल्कि कुछ अन्य सरदारों के हाथों में गयी। बादशाह मुहम्मदशाह स्वयं प्रभावहीन रहा। इसका कारण उसकी अयोग्यता थी। इसी कारण केवल सैयद-भाइयों को मुगल बादशाह के सम्मान में कमी करने के लिए पूर्णतया दोषी ठहराना उपयुक्त नहीं है।

इसके अतिरिक्त, जो नीति सैयद-भाइयों की फर्रुखसियर के समय में थी, वह मूलतया अच्छी थी। उन्हीं के प्रभाव के कारण हिन्दुओं से जजिया समाप्त किया गया, जाटों को सन्तुष्ट किया गया, राजपूतों की सद्भावना प्राप्त की गयी, अजीतसिंह की पुत्री की शादी फर्रुखसियर के साथ की गयी और मराठों को दक्षिण के सूबों से चौथ और सरदेशमुखी वसूल करने का अधिकार देकर मित्र बनाया गया। यह नीति दुर्बलता की नहीं मानी जा सकती और यदि ऐसी थी भी तो मुगल-साम्राज्य

की दुर्बल स्थिति को देखते हुए साम्राज्य के लिए लाभदायक थी। फर्रुखसियर और उसके साथ अन्य मुसलमान सरदार इस नीति से सहमत न थे और सैयद-भाइयों से असन्तुष्ट थे। इस कारण, यह कहा जा सकता है कि सैयद-भाइयों की नीति उचित और समय के अनुकूल थी। स्वयं दुर्बल मुगल बादशाहों और उनके प्रभावशाली सरदारों ने उससे लाभ उठाने का प्रयत्न नहीं किया था।

(ii) हैदराबाद का स्वतन्त्र राज्य—मुहम्मदशाह के समय में 'चिनकुलीचखाँ निजाम-उल-मुल्क आसफजा' ने हैदराबाद में स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया। सैयद-भाइयों के पतन में मुख्यतया उन ईरानी और तूरानी विदेशी मुसलमानों का हाथ रहा जो सैयद-भाइयों की हिन्दुओं के प्रति अपनायी गयी नीति से असन्तुष्ट थे। औरंगजेब के समय से दरबार में दो दल बन गये थे—एक विदेशी मुसलमानों का और दूसरा भारतीय मुसलमानों का। पठान और अफगान भारत में सदियों से रह रहे थे और उनमें भारतीयता का अंश अधिक था। इस कारण, वे हिन्दुओं के साथ अधिक घुल-मिल गये थे। सैयद-भाई उसी वर्ग में से थे। उनका विरोध मुगल, ईरानी, तूरानी, आदि मुसलमान करते थे। औरंगजेब के पश्चात् ये दोनों दल अधिक स्पष्ट रूप से एक-दूसरे के विरोध में हो गये। इसके अतिरिक्त, विभिन्न सरदार बादशाह तथा वजीर के पक्ष में विभाजित हो गये। मुगल-दरबार की राजनीति में यह अंश फर्रुखसियर के समय में सम्मिलित हुआ था।

निजाम-उल-मुल्क विदेशी मुसलमानों में से एक था। वह अपने समय का एक योग्य सेनापति और कूटनीतिज्ञ माना गया है। सैयद-भाइयों के पतन के पश्चात् अमीनखाँ को वजीर बनाया गया। उसकी मृत्यु हो जाने के पश्चात् 1722 में निजाम-उल-मुल्क को वजीर का पद दिया गया। इससे स्पष्ट था कि उस समय तक निजाम की स्थिति मुगल-साम्राज्य में दृढ़ हो चुकी थी। परन्तु दरबार की स्थिति से वह सन्तुष्ट न रहा। बादशाह मुहम्मदशाह उसकी सलाह को मानने को तत्पर न था और जवान सरदार उसका मजाक बनाते थे। 1723 में वह चुपके से दक्षिण-भारत की ओर चला गया और दक्षिण के सूबेदार मुबारिजखाँ को 1724 में एक युद्ध में परास्त करके दक्षिण के मुगल-सूबों को उसने अपने अधिकार में कर लिया। उस समय (1725) से हैदराबाद का राज्य प्रायः स्वतन्त्र हो गया, हैदराबाद का नगर निजाम-उल-मुल्क की राजधानी बना और असहाय मुगल बादशाह ने न केवल उसकी वास्तविक स्वतन्त्रता को एक प्रकार से स्वीकार ही कर लिया अपितु उसे 'आसफजा' की उपाधि से विभूषित भी किया। हैदराबाद नाममात्र के लिए ही मुगल बादशाह के अधीन रहा।

(iii) बंगाल, बिहार और उड़ीसा का स्वतन्त्र राज्य—1707 में औरंगजेब की मृत्यु के समय बहादुरशाह का पुत्र अजीम-उस-शान बंगाल और उड़ीसा का सूबेदार था। परन्तु क्योंकि वह दरबार में रहता था, इस कारण, बंगाल का शासन दीवान और नायब-निजाम मुर्शिदकुलीखाँ के हाथों में था। फर्रुखसियर ने मुर्शिदकुलीखाँ को बंगाल का सूबेदार नियुक्त किया और 1719 में उड़ीसा को भी उसी की सूबेदारी में सम्मिलित कर दिया। मुर्शिदकुलीखाँ एक योग्य शासन-प्रबन्धक था और उसके समय में इन सूबों की शक्ति और समृद्धि में वृद्धि हुई। 1727 में उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके दामाद शुजाउद्दौला असदखाँ को इन सूबों की सूबेदारी प्राप्त हुई। 1733 में बिहार भी इन दो सूबों के साथ सम्मिलित कर दिया गया। उसकी मृत्यु

के पश्चात् 1739 में ये तीनों सूबे उसके पुत्र सरफराजखाँ को प्राप्त हुए। परन्तु सरफराजखाँ अयोग्य सिद्ध हुआ और बिहार के नायब-सूबेदार अलीवर्दीखाँ ने 1740 में उसे परास्त करके इन सूबों पर अपना अधिकार कर लिया। बादशाह मुहम्मदशाह इस झगड़े में हस्तक्षेप करने की स्थिति में न था। उसने अलीवर्दीखाँ को इन सूबों का सूबेदार स्वीकार कर लिया यद्यपि वास्तविकता में ये सूबे अब पूर्णतया स्वतन्त्र थे। अलीवर्दीखाँ नाममात्र के लिए मुगल बादशाह के अधीन रहा।

(iv) अवध का स्वतन्त्र राज्य—अवध के स्वतंन्त्र राज्य की स्थापना ईरानी दल के नेता मीर मुहम्मद अमीन सादतखाँ बुरहान-उल-मुल्क ने की। उसने सैयद-भाइयों के पतन में भाग लिया था और इसके उपलक्ष में उसे अच्छा मनसब और आगरा की सूबेदारी दी गयी थी। परन्तु मुहम्मदशाह उससे बहुत समय तक सन्तुष्ट न रह सका और 1722 में उसे अवध का सूबेदार नियुक्त किया गया। उस समय से अवध का सूबा प्रायः स्वतन्त्र हो गया। सादतखाँ ने अपनी मृत्युपर्यन्त (1739 में) मुगल बादशाह के स्वामित्व को केवल नाममात्र के लिए स्वीकार किया। अपने भतीजे और दामाद सफदरजंग को अवध का नायब-सूबेदार बनाकर वह मुगल साम्राज्य की राजनीति में स्वतन्त्रता से भाग लेता रहा। वह विदेशी मुसलमानों के दल का नेता था और उसने मराठों के प्रभाव को उत्तरी भारत में बढ़ने से रोकने का प्रयत्न किया। नादिरशाह के भारत पर आक्रमण करने के अवसर पर मुगल बादशाह को असम्मानित कराने में भी उसने भाग लिया।

(v) मराठे—गुजरात, मालवा और बुन्देलखण्ड—1720 में अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् बाजीराव छत्रपति शाहू का पेशवा बना। बाजीराव महत्वाकांक्षी और महान् सेनापति सिद्ध हुआ। उसने न केवल हैदराबाद के वास्तविक शासक निजाम-उल-मुल्क को ही दो युद्धों में परास्त करने में सफलता पायी अपितु उसने उत्तरी भारत की मुगल सीमाओं पर भी आक्रमण किये। उसका उद्देश्य खोखले मुगल-साम्राज्य की जड़ों पर आक्रमण करने का था। उसके नेतृत्व में मराठों ने निरन्तर गुजरात पर आक्रमण किये और 1735 से गुजरात का सूबा मराठों के अधीन हो गया। उसी प्रकार, मराठों ने निरन्तर मालवा पर भी आक्रमण किये और 1728 तक मालवा में मराठों की श्रेष्ठता स्थापित हो गयी। बाद में इन्दौर में होल्कर ने और ग्वालियर में सिन्धिया ने स्वतन्त्र मराठा राज्यों की स्थापना की। मराठों ने बुन्देलखण्ड के राजा छत्रसाल को मुगलों के विरुद्ध सहायता दी। छत्रसाल मुगलों से स्वतन्त्र हो गया और उसने पेशवा बाजीराव को बुन्देलखण्ड का पर्याप्त बड़ा भाग जागीर के रूप में दे दिया। इस प्रकार, मुहम्मदशाह के समय में बुन्देलखण्ड, गुजरात और मालवा मुगल बादशाह की अधीनता से निकल गये, वहाँ मराठों का स्वामित्व हो गया और पेशवा बाजीराव ने दिल्ली के निकट तक आक्रमण करने में सफलता पायी।

(vi) पंजाब—पंजाब में सूबेदार जकारियाखाँ के नेतृत्व में पर्याप्त लम्बे समय तक शान्ति रही। परन्तु मुगल-साम्राज्य की दुर्बलता के कारण सीमान्त जातियों के विद्रोहों और उसके पश्चात् नादिरशाह और अहमदशाह अब्दाली के आक्रमणों ने उसकी राजनीतिक स्थिति को खराब कर दिया।

(vii) राजस्थान के राज्य और सवाई मिर्जा राजा जयसिंह—मेवाड़, मारवाड़ और अम्बर (जयपुर) के राज्य उस समय के महत्वपूर्ण राजपूत-राज्य थे।

औरंगजेब के उत्तराधिकारियों ने इन राजपूत-राज्यों के प्रति कोई स्थिर नीति नहीं अपनायी। सबसे अधिक उचित मार्ग यह होता कि मुगल बादशाह इन राज्यों की सहानुभूति प्राप्त करते और उन्हें मित्र बनाकर उनकी शक्ति का प्रयोग मुगल-साम्राज्य के हित में करते। परन्तु ऐसा नहीं हुआ। इस कारण, राजपूत-शासकों ने भी साम्राज्य की दुर्बलता का लाभ अपने को स्वतन्त्र करने के लिए उठाया और वे सफल भी हुए। उनका स्तर भी हैदराबाद, अवध और बंगाल के राज्यों के समान हो गया। परन्तु राजपूत-राज्यों ने उसका पूर्ण लाभ न उठाया। उनका पारस्परिक वैमनस्य बढ़ गया जिससे मराठों को उनकी राजनीति में हस्तक्षेप करने का अवसर मिला और उनकी शक्ति दुर्बल हो गयी।

मेवाड़---बादशाह बहादुरशाह ने मेवाड़ और अन्य राजपूत-शासकों को दबाने का प्रयत्न किया था परन्तु अपने दक्षिण के अभियानों और पंजाब में हुए सिखों के विद्रोह के कारण सफल न हो सका। 1708 ई. में मेवाड़ के शासक अमरसिंह, मारवाड़ के शासक अजीतसिंह और जयपुर के शासक जयसिंह ने आपस में मित्रता कर ली और उन्होंने मिलकर मुगलों को राजस्थान से बाहर निकालने का निर्णय लिया। वे इस कार्य में पर्याप्त मात्रा में सफल भी हुए। राजा अमरसिंह ने अपने प्रभाव-क्षेत्र को बढ़ा लिया और मुगल-बादशाह से ऊँचा मनसब भी प्राप्त किया। उसने जयपुर के राजा जयसिंह से भी अच्छे सम्बन्ध रखे। बादशाह फर्रुखसियर के समय में अमरसिंह के सम्बन्ध सैयद-बन्धुओं से खराब रहे परन्तु सैयद-बन्धुओं के पतन के पश्चात् अमरसिंह ने ईडर और सिरोही पर अधिकार करके अपने प्रभाव-क्षेत्र को बढ़ा लिया। इस प्रकार, इस काल में मेवाड़-राज्य ने अपनी शक्ति और प्रभाव को बढ़ाने में सफलता प्राप्त की।

मारवाड़--- मारवाड़ के शासक अजीतसिंह ने अपनी पुत्री का विवाह बादशाह फर्रुखसियर से किया और सैयद-बन्धुओं ने उसे गुजरात और अजमेर की सूबेदारी प्रदान की। परन्तु जब मुहम्मदशाह बादशाह बना तब उसने इन स्थानों की सूबेदारी अजीतसिंह से छीन ली। इस कारण, अजीतसिंह ने मुगल-साम्राज्य का विरोध किया। 1723 ई. में मुगल-सेना ने मारवाड़ पर आक्रमण किया। अजीतसिंह की स्थिति उससे खराब हुई क्योंकि किसी अन्य राजपूत-शासक ने उसकी सहायता भी नहीं की। बाद में जयपुर के शासक जयसिंह ने उसकी सहायता की। उसने मध्यस्थ बनकर अजीतसिंह का मुगलों से समझौता करा दिया यद्यपि अजीतसिंह के नागौर की जागीर इन्द्रसिंह को सौंपनी पड़ी। 1724 ई. में अजीतसिंह की हत्या हो गयी। बादशाह मुहम्मदशाह ने उसके पुत्र अभयसिंह को उसका उत्तराधिकारी स्वीकार कर लिया। परन्तु अभयसिंह का विरोध उसके भाइयों, आनन्दसिंह और रायसिंह ने किया। उन्होंने मराठों से सहायता प्राप्त की। इस कारण, मारवाड़ में गृह-युद्ध आरम्भ हो गया जो 1728 ई. तक चला। इससे मारवाड़ दुर्बल हो गया और वहाँ मराठों का हस्तक्षेप आरम्भ हो गया। उस समय तक मराठे गुजरात में भी प्रवेश कर गये थे। 1730 ई. में मुगल-बादशाह ने गुजरात की सूबेदारी अभयसिंह को दी परन्तु वह मराठों के बढ़ते हुए प्रभाव को रोकने में असमर्थ रहा। 1733 ई. में मराठों ने गुजरात पर आक्रमण किया और अभयसिंह ने उन्हें 'चौथ' और 'सरदेशमुखी' देना स्वीकार कर लिया। उसके पश्चात् वह जोधपुर चला गया। बाद में उसने दिल्ली

जाकर अजमेर की सूबेदारी प्राप्त करने का प्रयत्न किया और दरबार की राजनीति में भाग लिया जिससे उसके सम्बन्ध जयपुर के शासक जयसिंह से खराब हो गये।

जयपुर और सवाई मिर्जा राजा जयसिंह—1700 ई. में अपने पिता बिशनसिंह की मृत्यु के पश्चात् बारह वर्ष की आयु में जयसिंह जयपुर का शासक बना। औरंगजेब ने उसे अपने दक्षिण-भारत के अभियानों मे सम्मिलित होने का आदेश दिया। उसने वहाँ अपनी योग्यता प्रदर्शित की और मालवा के उप-सूबेदार का पद प्राप्त किया। जब औरंगजेब की मृत्यु हुई तब वह दक्षिण-भारत में ही था। जब औरंगजेब के पुत्रों में उत्तराधिकार का युद्ध आरम्भ हुआ उस समय में वह शाहजादा आजमशाह के साथ उत्तरी भारत की ओर चला परन्तु जब बहादुरशाह और आजमशाह में युद्ध हुआ तब युद्ध के समय ही वह आजमशाह का पक्ष छोड़कर बहादुरशाह के साथ हो गया। अपनी विजय के पश्चात् बहादुरशाह ने जयसिंह को माफ कर दिया परन्तु जयपुर को बादशाह की भूमि में सम्मिलित कर लिया। जयसिंह ने कोई विरोध न किया अपितु वह बादशाह के दक्षिण-भारत के अभियान में सम्मिलित होने के लिए भी चल दिया। मारवाड़ का शासक अजीतसिंह भी उसके साथ था जबकि जोधपुर को भी बादशाह की भूमि में सम्मिलित किया जा चुका था। परन्तु जयसिंह और अजीतसिंह ने मार्ग में ही बादशाह का साथ छोड़ दिया और अपने राज्यों में वापस आ गये। उन दोनों ने 1708 ई. में मेवाड़ के शासक अमरसिंह से सहायता माँगी। अमरसिंह की एक पुत्री का विवाह अजीतसिंह के साथ हुआ था। इस अवसर पर उसने अपनी एक अन्य पुत्री चन्द्रकुंवर का विवाह जयसिंह से कर दिया। इस प्रकार, राजस्थान के तीनों महत्वपूर्ण राज्य विवाह-सम्बन्धों में बँध गये और तीनों ने मिलकर मुगलों को राजस्थान से निकालने का निर्णय लिया। 1708-10 ई. के मध्य इन राज्यों ने मुगलों से संघर्ष किया। सिखों के विद्रोह के कारण, बादशाह बहादुरशाह ने राजपूतों से सन्धि करना ठीक समझा। उसने उनसे समझौता कर लिया और उनके राज्य उन्हें वापस कर दिये। 1712 ई. में बादशाह जहाँदारशाह ने जयसिंह को मिर्जा राजा की उपाधि दी। तब भी जहाँदारशाह और फर्रुखसियर में युद्ध होने के अवसर पर जयसिंह तटस्थ रहा। जब फर्रुखसियर बादशाह बन गया तब उसने जयसिंह को सवाई का पद और मालवा की सूबेदारी दी। उस समय से वह सवाई मिर्जा राजा जयसिंह के नाम से विख्यात हुआ। 1715 ई. में जयसिंह ने मालवा को मराठों के आक्रमण से बचाया और फर्रुखसियर से सम्मान प्राप्त किया। परन्तु जयसिंह के सम्बन्ध सैयद-बन्धुओं से अच्छे न थे। इस कारण, उसके सम्बन्ध जोधपुर के शासक अजीतसिंह से भी अच्छे न रह सके क्योंकि वह सैयद-बन्धुओं के पक्ष में था। 1716-18 ई. के मध्य मुगल बादशाह ने उसे जाट शासक चूणामन के विरुद्ध नियुक्त किया। उसने उस कार्य में सफलता पायी और चूणामन ने मुगल-आधिपत्य को स्वीकार कर लिया। 1717 ई. में बादशाह ने जयसिंह से मालवा लेकर अमीनखाँ को सौंप दिया। तब भी जयसिंह ने सैयद-बन्धुओं के विरुद्ध बादशाह फर्रुखसियर को सहायता देने का आश्वासन दिया। परन्तु फर्रुखसियर ने उसे दिल्ली से बाहर जाने की आज्ञा दी। उस आदेश का भी उसने पालन किया। जब मुहम्मदशाह बादशाह बना तब जयसिंह की स्थिति सुधरी। 1722 ई. में उसे आगरा का सूबेदार नियुक्त किया गया और उसे पुनः जाट-सरदार चूणामन को दबाने का उत्तरदायित्व सौंपा गया जिसने सैयद-बन्धुओं की सहायता की

थी। जयसिंह ने अपने उत्तरदायित्व की पूर्ति की जिससे मुगल-दरबार में उसके सम्मान में वृद्धि हुई। मुगल बादशाह ने उसे राजपूत-शासकों से मधुर सम्बन्ध बनाये रखने का भी उत्तरदायित्व सौंपा। इसमें भी वह पर्याप्त मात्रा में सफल हुआ और राजपूत-शासकों के सम्बन्ध मुगलों से ठीक रहे। जयसिंह ने बुन्देला सरदार छत्रसाल के सम्बन्ध भी मुगल-बादशाह से ठीक बनाये रखने का प्रयत्न किया और पर्याप्त सफल रहा। वह मराठों से भी समझौता करने के पक्ष में था जिससे मराठों की शक्ति का प्रयोग मुगल-साम्राज्य के हित में किया जा सके। वह अन्य शक्तियों को भी मुगल-साम्राज्य के हित में लगाने के लिए प्रयत्नशील था। परन्तु वह मुगल सरदारों की पारस्परिक प्रतिस्पर्धा, राजपूत शासकों के वैमनस्य और मराठों की महत्वाकांक्षाओं के कारण अपने उद्देश्य में सफल न हुआ। नादिरशाह के आक्रमण के अवसर वह दरबार की गुटबन्दी की राजनीति के कारण तटस्थ रहा। 1743 ई. में जयसिंह की मृत्यु हुई। तत्कालीन राजपूत शासकों में जयसिंह सबसे अधिक सफल शासक था। उसने राज्य की शक्ति और वैभव को बढ़ाने में सफलता पायी।

राजनीतिक क्षेत्र में सफलता पाने के अतिरिक्त, राजा जयसिंह ने सांस्कृतिक प्रगति में भी सहायता प्रदान की। उसने जयपुर के नवीन नगर को बसाया और वहाँ सुन्दर महल तथा अन्य इमारतें बनवायीं। जयसिंह भूगोल, गणित, ज्योतिष-विज्ञान और नक्षत्र-विज्ञान के अध्ययन में रुचि रखता था। उसने इन विद्याओं की प्रगति के लिए जयपुर, मथुरा, बनारस और उज्जैन में शोधशालाएँ स्थापित कीं और अपने दरबार में विभिन्न हिन्दू, मुसलमान तथा यूरोपीय विद्वान एकत्रित किये। जयसिंह ने साहित्य की उन्नति का भी प्रयत्न किया। कई धार्मिक ग्रन्थ उसके संरक्षण में लिखे गये। उसके आरम्भ के समय में रत्नाकर भट्ट पुण्डरीक उसके समय का एक महान् विद्वान था। उसका भतीजा व्रजनाथ भट्ट भी एक योग्य विद्वान सिद्ध हुआ। उसके शासनकाल के विद्वानों में श्रीकृष्ण भट्ट, हरिकृष्ण, मायाराम, जगन्नाथ, केवलराम, आदि भी प्रमुख माने गये हैं। इन विद्वानों ने तत्कालीन समय में ज्ञान-वृद्धि में सहायता दी। जयसिंह ने सामाजिक कुरीतियों जैसे बाल-हत्या, आदि को भी रोकने का प्रयत्न किया। उसने अन्तर्जातीय खान-पान को भी प्रोत्साहन दिया। इस प्रकार, तत्कालीन राजनीति में सक्रिय भाग लेते हुए भी राजा जयसिंह ने भारत की सांस्कृतिक प्रगति में भी भाग लिया। इस कारण, जयसिंह को राजस्थान के ही नहीं अपितु भारत के योग्य शासकों में स्थान प्रदान किया गया है।

(viii) नादिरशाह का आक्रमण (1739)—नादिरशाह तुर्क था जिसने अपनी योग्यता से 1736 में फारस के राज्य पर अधिकार कर लिया था। उस समय फारस की स्थिति खराब थी और अफगानों ने फारस के बहुत-से भागों पर अधिकार कर लिया था। नादिरशाह ने अफगान को फारस से निकालने में सफलता पायी और सर्वदा के लिए उनकी शक्ति को तोड़ने के लिए कन्धार और अफगानिस्तान पर आक्रमण करने का निश्चय किया। नादिरशाह ने कन्धार पर आक्रमण करने की सूचना मुहम्मदशाह को भेजी और उससे माँग की कि वह अफगानों को शरण न दे। मुहम्मदशाह ने उसका कोई उत्तर नहीं दिया। 1738 में नादिरशाह ने कन्धार पर अधिकार कर लिया। नादिरशाह ने एक दूसरा राजदूत मुगल दरबार में भेजा परन्तु उसका भी कोई उत्तर उसे नहीं मिला। पत्पश्चात् नादिरशाह ने भारत पर आक्रमण करने का निश्चय किया।

अफगानों का दमन करना नादिरशाह का एक बहाना था। भारत पर आक्रमण करने का मुख्य कारण नादिरशाह का महत्वाकांक्षी होना था। भारत की दुर्बल सामरिक स्थिति और सीमाओं की सुरक्षा के प्रति उदासीनता ने उसे प्रोत्साहन प्रदान किया। कन्धार को जीतकर नादिरशाह ने अफगानिस्तान पर आक्रमण किया। मुगल सूबेदार नासिरखाँ को दरबार से कोई सहायता न मिली और वह आक्रमण के अवसर पर भाग खड़ा हुआ। गजनी और काबुल नादिरशाह के अधिकार में चले गये। पेशावर होते हुए नादिरशाह ने पंजाब में प्रवेश किया। पंजाब के सूबेदार जकारियाखाँ को दरबार से कोई सहायता न मिली। उसने भी नादिरशाह के समक्ष आत्मसमर्पण कर दिया। तब मुहम्मदशाह को होश आया और वह अपनी सेना लेकर करनाल पहुँचा। नादिरशाह भी अपनी सेना सहित करनाल पहुँच गया। 24 फरवरी, 1739 को करनाल का युद्ध हुआ। युद्ध में मुहम्मदशाह और निजाम-उल-मुल्क के नेतृत्व की सेना ने युद्ध में भाग नहीं लिया। सादतखाँ, खानेदौरान और नासिर मुहम्मद के नेतृत्व में मुगल सेना के थोड़े भाग ने युद्ध में भाग लिया परन्तु उनकी पराजय हुई। इसके पश्चात् सन्धि की बातचीत हुई और एक वार नादिरशाह दो करोड़ रुपया लेकर वापस जाने को तैयार हो गया। युद्ध में खानेदौरान के मारे जाने पर मीरबख्शी का पद निजाम-उल-मुल्क को दे दिया गया था। इससे सादतखाँ असन्तुष्ट हो गया क्योंकि वह स्वयं इस पद को प्राप्त करने की आशा करता था। ईर्ष्यावश उसने नादिरशाह को दिल्ली जाने की सलाह दी। नादिरशाह ने मुहम्मदशाह और निजाम-उल-मुल्क को कैद कर लिया और दिल्ली जाने का निर्णय लिया। बादशाह मुहम्मदशाह को उसकी बात माननी पड़ी। 20 मार्च को नादिरशाह ने दिल्ली में प्रवेश किया और मुहम्मदशाह ने उसका स्वागत किया। 22 मार्च को दिल्ली में दंगा हो गया और कुछ ईरानी सैनिक मारे गये। यह अफवाह फैल गयी कि नादिरशाह मारा गया। इससे नाराज होकर नादिरशाह ने कत्लेआम का आदेश दे दिया। करीब आठ घण्टे तक दिल्ली में कत्लेआम हुआ, प्रायः तीस हजार निरपराध नागरिक कत्ल कर दिये गये, अनेक स्थानों को आग लगाकर बरबाद कर दिया गया और प्रत्येक स्थान पर लूटमार की गयी। 15 मई तक नादिरशाह दिल्ली में रहा। उसके पश्चात् करीब 70 करोड़ रुपया, तख्त-ए-ताऊस, विभिन्न हीरे-जवाहरात और अन्य वस्तुएँ, 7,000 घोड़े, 100 हाथी, 1,000 ऊँट, 100 गुलाम, 130 लेखक, 200 लुहार, 500 राज, 100 बढ़ई, आदि लेकर नादिरशाह भारत से वापस गया। इसके अतिरिक्त अफगानिस्तान, कश्मीर, पश्चिमी पंजाब, सिन्ध आदि मुगल-सूबों पर नादिरशाह ने अधिकार कर लिया। पंजाब के सूबेदार जकारियाखाँ ने भी 20 लाख रुपया प्रतिवर्ष नादिरशाह को देने का वायदा किया। इस प्रकार, मुगल शक्ति को अन्तिम धक्का देकर तथा मुगल प्रतिष्ठा को धूल में मिलाकर और एकत्रित धनराशि एवं शान-शौकत की अनगिनत वस्तुओं को लेकर नादिरशाह भारत से वापस गया।

नादिरशाह के आक्रमण ने मुगल-साम्राज्य की बची हुई शक्ति और सम्मान को नष्ट कर दिया। 1748 में अहमदशाह अब्दाली ने जो 1747 में नादिरशाह के कत्ल के पश्चात् अफगानिस्तान का बादशाह बन गया था, और जो नादिरशाह के साथ भारत के आक्रमण में आया था, पंजाब पर आक्रमण करने का साहस किया यद्यपि वह विफल हुआ। 1748 में मुहम्मदशाह की मृत्यु हो गयी। मुहम्मदशाह आखिरी मुगल बादशाह था जो शाहजहाँ के तख्त-ए-ताऊस पर बैठा। उसी के समय में मुगल-साम्राज्य प्रायः छिन्न-भिन्न हो गया। भारत में विभिन्न स्थानों पर स्वतन्त्र राज्य

बन गये जो केवल नाममात्र के लिए मुगल आधिपत्य को स्वीकार करते थे और मराठे सम्पूर्ण भारत के लिए आतंक का कारण बन गये।

[2]

मुगल-साम्राज्य का पतन

मुहम्मदशाह की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र अहमदशाह सिंहासन पर बैठा। उस समय उसकी आयु 21 वर्ष की थी। वह अयोग्य और व्यभिचारी सिद्ध हुआ।

7. अहमदशाह (1748-1754)

उसके पिता के समय में जिस प्रकार मुगल-साम्राज्य पतन की ओर अग्रसर हो गया था वह उसको न रोक सका बल्कि उसने उसको और बढ़ावा दिया।

अहमदशाह आरम्भ से ही हिजड़ों के सरदार जावेदखाँ के हाथों में कठपुतली बन गया। जावेदखाँ को 'नवाब बहादुर' की उपाधि दी गयी। उसका मुख्य कार्य अहमदशाह को भोग-विलास में लगाये रखना और राज्य के प्रमुख अधिकारियों के विरुद्ध षड्यन्त्र करना हो गया। अहमदशाह ने अवध के सूबेदार सफदरजंग को अपना वजीर नियुक्त किया था परन्तु उसकी दरबार के हिजड़ा-दल से न बन सकी। 1752 में वजीर ने जावेदखाँ को धोखे से मरवा दिया जिससे मुहम्मदशाह और उसके सम्बन्ध बिल्कुल खराब हो गये। अन्त में, बादशाह और वजीर में एक निर्णायक युद्ध हुआ। इस युद्ध में सफदरजंग की हार हुई, उसे वजीर के पद से हटा दिया गया और उसे अवध की सूबेदारी पर जाने के लिए बाध्य किया गया।

उसी समय में अहमदशाह अब्दाली ने अपना दूसरा आक्रमण 1748 में और तीसरा आक्रमण 1749 में किया। अपने दूसरे आक्रमण में ही उसने पंजाब के सूबेदार मुइन-उल-मुल्क को 14 हजार रुपया वार्षिक कर देने के लिए बाध्य किया था। जब मुइन-उल-मुल्क उस धनराशि को न दे सका तो उसने तीसरा आक्रमण किया और पंजाब तथा मुल्तान को जीत लिया। अहमदशाह ने पंजाब और मुल्तान के सूबे अब्दाली को देकर उससे समझौता कर लिया। इससे अब्दाली को पंजाब की राजनीति में हस्तक्षेप करने का अवसर मिल गया जिससे बाद में वह दिल्ली की राजनीति में भी हस्तक्षेप कर सका।

उसी समय जाटों और मराठों का प्रभाव दिल्ली की राजनीति में बढ़ गया। वजीर सफदरजंग ने समय-समय पर मराठों और जाटों के राजा सूरजमल से सहायता ली। इससे इनके प्रभाव में वृद्धि हुई। मराठे प्रत्यक्ष रूप से दिल्ली की राजनीति में हस्तक्षेप कर सके और मराठा सरदार मल्हारराव होल्कर ने अहमदशाह को इमाद-उल-मुल्क को वजीर बनाने के लिए बाध्य किया। नये वजीर ने 1754 में अहमदशाह को गद्दी से उतारकर अन्धा कर दिया और जहाँदारशाह के दूसरे पुत्र अजीजुद्दीन को आलमगीर द्वितीय के नाम से मुगल सिंहासन पर बैठा दिया।

अहमदशाह के समय में मराठों ने दिल्ली की राजनीति पर अधिकार करने में पर्याप्त सफलता पायी, पंजाब और मुल्तान पर अहमदशाह अब्दाली का अधिकार हो गया जिससे उसे दिल्ली पर आक्रमण करने का प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। भरतपुर के जाट राजा सूरजमल ने दिल्ली की राजनीति में हस्तक्षेप करना आरम्भ कर दिया, और मुगल बादशाह इन विभिन्न उठती हुई शक्तियों अथवा इनसे सम्बन्धित दरबार के अमीरों या वजीर के हाथ में कठपुतली बनकर रह गया।

आलमगीर द्वितीय के समय की महत्वपूर्ण घटना अहमदशाह अब्दाली का भारत पर चौथा आक्रमण था (1757)। आलमगीर का सम्पूर्ण जीवन कैद में व्यतीत हुआ था। वह 55 वर्ष की आयु में बादशाह बना था। वह अयोग्य और दुर्बल चरित्र का था।

8. आलमगीर द्वितीय (1754-58)

उसका वजीर इमाद-उल-मुल्क स्वार्थी और सिद्धान्तहीन सिद्ध हुआ। वह पूर्णतया मराठों की शक्ति पर निर्भर करता था। मराठों की सहायता पर निर्भर करके उसने पंजाब पर आक्रमण किया और अब्दाली के द्वारा नियुक्त की गयी सूबेदार 'मुगलानी बेगम' को कैद कर लिया तथा उसके स्थान पर अदीनाबेग को सूबेदार नियुक्त किया। अहमदशाह अब्दाली ने इससे असन्तुष्ट होकर आक्रमण किया। इस बार पंजाब को जीतकर वह दिल्ली पहुँच गया (1757)। अब्दाली प्रायः एक महीने दिल्ली में रहा। उसने आलमगीर की एक पुत्री से स्वयं शादी की, एक अन्य पुत्री का विवाह अपने पुत्र से किया, बादशाह, सरदारों और दिल्ली के नागरिकों से जबर्दस्ती धन वसूल किया, मथुरा शहर को लूटा, अवध के नवाब शुजाउद्दौला से पाँच लाख रुपया वसूल किया और नागरिकों पर कठोर अत्याचार किये। करोड़ों रुपया, हजारों गुलाम तथा स्त्रियों को लेकर, विभिन्न स्थानों को उजाड़कर और दिल्ली के दुर्बल बादशाह का असम्मान करके अब्दाली भारत से वापस गया। जाने से पहले उसने नजीबुद्दौला को मीरबख्शी का पद देने के लिए आलमगीर को बाध्य किया और पंजाब में अपने पुत्र तिमूर को सूबेदार बना दिया।

अब्दाली के वापस चले जाने पर रघुनाथराव के नेतृत्व में मराठे दिल्ली पहुँचे। नजीबुद्दौला को मीरबख्शी का पद छोड़कर भागने के लिए बाध्य किया गया, उसको समाप्त करने के लिए एक सेना भेजी गयी, पंजाब से तिमूर को भगा दिया

9. शाहजहाँ तृतीय (1758-59)

गया और पहले अदीनाबेग को और उसकी मृत्यु के पश्चात् शाबाजी सिन्धिया को पंजाब का सूबेदार बनाया गया। मराठा-शक्ति इस समय (1758) में अपनी चरम सीमा पर थी। परन्तु उनके इस कार्य ने पानीपत की तीसरी लड़ाई की पृष्ठभूमि तैयार कर दी। नजीबुद्दौला और स्वयं बादशाह आलमगीर ने मराठों के विरुद्ध अहमदशाह अब्दाली से सहायता की याचना की। परन्तु अब्दली के भारत आने से पहले ही वजीर इमाद-उल-मुल्क ने नवम्बर 1738 में बादशाह आलमगीर की हत्या कर दी और कामबक्स के एक पोते को शाहजहाँ तृतीय के नाम से गद्दी पर बैठा दिया जो प्रायः एक वर्ष नाममात्र के लिए शासक रहा।

आलमगीर का सबसे बड़ा पुत्र अलीगौहर अपने पिता की मृत्यु के अवसर पर बिहार में था। वजीर इमाद-उल-मुल्क के षड्यन्त्रों के कारण वह एक स्थान से दूसरे स्थान पर भटकने के लिए बाध्य हुआ था। अपने पिता की मृत्यु के पश्चात्

10. शाहआलम द्वितीय (1759-1806)

उसने बिहार में अपने को शाहआलम द्वितीय के नाम से मुगल बादशाह घोषित कर दिया यद्यपि वह अगले 12 वर्षों तक दिल्ली जाने का साहस न कर सका। उसके समय की मुख्य घटनाएँ पानीपत का तृतीय युद्ध और भारत में अंग्रेजी सत्ता का विकास था। 1757 में प्लासी के युद्ध में सिराजुद्दौला को गद्दी से हटाकर अंग्रेजों ने मीरजाफर को बंगाल, बिहार और उड़ीसा का नवाब बना दिया था। उसके पश्चात्

उनकी शक्ति भारत में निरन्तर बढ़ती गयी और अन्त में शाहआलम ने उनका पेन्शनर बनकर अपना जीवन समाप्त किया।

पानीपत की तीसरी लड़ाई (1761), जिसने मराठों की शक्ति को एक कठोर धक्का लगाया, इसी समय में हुई। मराठों ने आलमगीर के समय में दिल्ली में अपनी शक्ति को स्थापित कर लिया था और पंजाब से अहमदशाह अब्दाली के पुत्र को भगा दिया था। रुहेला सरदार नजीबुद्दौला और स्वयं बादशाह आलमगीर ने अहमदशाह अब्दाली से मराठों पर आक्रमण करने की प्रार्थना की थी। **1759 में अब्दाली ने पाँचवीं बार भारत पर आक्रमण किया।** पंजाब को जीतकर अब्दाली उत्तरी दोआब में पहुँच गया। वहाँ नजीबुद्दौला, अहमदखाँ बंगस, सादुल्लाखाँ, आदि सरदार उससे मिल गये। दिल्ली से कुछ दूर उसने दत्ताजी सिन्धिया को परास्त करके मार दिया। अब्दाली ने सूरजमल जाट और राजपूत-सरदारों को अपनी ओर मिलाने का प्रयत्न किया परन्तु असफल रहा। पेशवा बालाजी बाजीराव ने अपने चचेरे भाई सदाशिवराव भाऊ और पुत्र विश्वासराव के नेतृत्व में मराठा सेना को अब्दाली के विरुद्ध भेजा। सूरजमल और इमाद-उल-मुल्क ने मराठों का साथ देने का निश्चय किया। परन्तु सदाशिवराव भाऊ कूटनीतिज्ञ न था। उसके व्यवहार के कारण सूरजमल और इमाद-उल-मुल्क दोनों तटस्थ हो गये और अवध के नवाब शुजा-उद्दौला को भी वह अपने पक्ष में न कर पका। दिल्ली पर अधिकार करके और शाहजहाँ तृतीय को गद्दी से हटाकर मराठों ने शाहआलम को मुगल बादशाह घोषित किया तथा उसकी अनुपस्थिति में उसके पुत्र जवानवख्त को शासन की देखभाल का उत्तरदायित्व सौंपा। 1760 में सदाशिवराव भाऊ पानीपत के मैदान में पहुँचा। अहमदशाह अब्दाली भी वहाँ पहुँच गया। 14 जनवरी, 1761 को निर्णयात्मक युद्ध हुआ इसमें मराठों की पराजय हुई। मल्हारराव होल्कर युद्ध के बीच में भाग गया और महादजी सिन्धिया बड़ी मुश्किल से जान बचाकर भाग सका। अन्य सभी मराठा सरदार और बहुत बड़ी संख्या में मराठा सैनिक मारे गये। **इस युद्ध ने मराठों के सम्पूर्ण भारत में राज्य स्थापित करने के स्वप्न को नष्ट कर दिया, पेशवा की शक्ति को दुर्बल करके मराठों की एकता को नष्ट कर दिया और अंग्रेजों को शक्ति को बढ़ने का अवसर दिया।**

इस युद्ध के पश्चात् अहमदशाह अब्दाली भारत से वापस चला गया। जाने से पहले वह नजीबुद्दौला रुहेला को दिल्ली के शासन की देखभाल के लिए नियुक्त कर गया। 1767 में सिखों को दबाने के लिए अब्दाली पुनः पंजाब आया परन्तु वह इस कार्य में असफल रहा और वापस चला गया। नजीबुद्दौला के समय तक मुगल बादशाह शाहआलम दिल्ली नहीं आया। उसने अंग्रेजों के विरुद्ध मीरकासिम और अवध के नवाब शुजाउद्दौला की तरफ से बक्सर के युद्ध में भाग लिया परन्तु परास्त हुआ। अंग्रेजों ने उससे बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी प्राप्त की, उसे इलाहाबाद और कड़ा के जिले दिये और 26 लाख रुपया प्रति वर्ष देने का वायदा किया। 1770 में नजीबुद्दौला की मृत्यु हो गयी और उसके पुत्र जाबिताखाँ ने शाही परिवार के सदस्यों का अपमान करना आरम्भ कर दिया तथा शाही परिवार की कई स्त्रियों को अपमानित किया। 1770 में मराठे फिर दिल्ली तक पहुँच गये थे और शाहआलम ने मराठों से बातचीत आरम्भ की। 1772 में मराठों के संरक्षण में शाहआलभ इलाहाबाद और अंग्रेजों के संरक्षण को छोड़कर दिल्ली पहुँचा। परन्तु

शाहआलम मराठों की धन की माँग की पूर्ति न कर सका, उनकी इच्छा से उसे शासन चलाना पड़ा और उनकी इच्छा से उसें वजीर और मीरबख्शी नियुक्त करने पड़े। उस समय जाबिताखाँ के पुत्र गुलाम-कादिर को मीरबख्शी बनाया गया था (1787)। वह बहुत ही नृशंस और अत्याचारी सिद्ध हुआ। महादजी सिन्धिया के राजस्थान की राजनीति में व्यस्त हो जाने के कारण उसे अपनी इच्छानुसार कार्य करने का अवसर मिला। उसने 1788 में शाहआलम को अन्धा कर दिया, शाही परिवार की स्त्रियों को अपमानित किया और धन की तलाश में शाही खजाने की जमीन तक को खुदवा डाला। शाहआलम ने सिन्धिया से सहायता माँगी। सिन्धिया ने दिल्ली आकर गुलाम-कादिर को कैद कर लिया और शाहआलम के आदेश से उसे और उसके साथियों को कत्ल कर दिया गया। 1792 में सिन्धिया दक्षिण-भारत चला गया और 1794 में उसकी मृत्यु हो गयी। अन्धे शाहआलम को 1803 में दौलतराव सिन्धिया को परास्त करके, अँग्रेजों ने अपने संरक्षण में ले लिया। 1806 में अंग्रेजों से पेन्शन प्राप्त करते हुए शाहआलम की मृत्यु हो गयी।

11. अकबर द्वितीय (1806-1837)

शाहआलम की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र अकबर द्वितीय मुगल बादशाह बना। 1837 में अँग्रेजों से पेन्शन लेते हुए उसकी मृत्यु हुई।

12. बहादुरशाह द्वितीय (1838-58)

अकबर द्वितीय का पुत्र बहादुरशाह द्वितीय अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् बादशाह बना। वह भी अँग्रेजों का पेन्शनर रहा। 1857 के विद्रोह में भाग लेने के कारण अँग्रेजों ने 1858 में उसे गद्दी से हटा दिया और कैद करके रंगून भेज दिया। वहीं कुछ वर्षों के पश्चात् उसकी मृत्यु हुई। बहादुरशाह द्वितीय मुगल-वंश का अन्तिम बादशाह था। उसके बाद अँग्रेजों ने नाम और वास्तविकता, दोनों प्रकार से भारत की राज्य-सत्ता पर अपना अधिकार कर लिया।

[3]

मुगल-साम्राज्य के पतन के कारण

बाबर से लेकर औरंगजेब तक (1526-1807) का मुगल-साम्राज्य के उत्थान और विकास का समय भारत के इतिहास में एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। यह समय साहस, शौर्य, दृढ़ता, आत्मविश्वास, संघर्ष, युद्धकुशलता, प्रेम, उदारता, असहिष्णुता, आदि की कहानियों से परिपूर्ण है। मुगल-साम्राज्य का इतिहास न केवल गौरवपूर्ण है बल्कि रुचिकर भी है। मुगल बादशाहों का स्वयं का व्यक्तित्व और चरित्र ही गौरवपूर्ण और आकर्षक नहीं है बल्कि उनके विभिन्न शत्रुओं, स्त्रियों और पुरुषों, महान् सरदारों और अमीरों, साहित्यकारों और कलाकारों, आदि का व्यक्तित्व और चरित्र भी प्रभावशाली एवं रोचक है। इस समय में भारत के इतिहास के एक श्रेष्ठतम साम्राज्य का निर्माण हुआ जो सीमाओं और विस्तार की दृष्टि से ही महान् न था बल्कि शान्ति, समृद्धि और सांस्कृतिक दृष्टि से भी महान् था। कृषि की उन्नति, उद्योगों और व्यापार की प्रगति तथा राज्य की शान्ति और व्यवस्था ने भारत को धन-धान्य से परिपूर्ण कर दिया था, नवीन और भारत को एक सूत्र में बाँधने वाली शासन-व्यवस्था स्थापित की गयी थी, फारसी, अरबी, तुर्की, हिन्दी आदि भाषाओं के साहित्य का निर्माण हुआ था और चित्र-कला, स्थापत्य-कला, गायन और नृत्य-कला

जैसी ललित-कलाएँ अपनी श्रेष्ठतम स्थिति को प्राप्त कर चुकी थीं। भारत में विदेशी और विधर्मी होते हुए भी मुगलों ने अपने लिए ही नहीं बल्कि भारत के लिए भी संसार के इतिहास में एक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त करने में सफलता पायी थी।

परन्तु प्रायः 175 वर्ष के गौरवपूर्ण समय के पश्चात् मुगल-साम्राज्य अन्धकार के गर्त में चला गया। 1707 के पश्चात् का भारत का इतिहास ऐसे संघर्षों, दुर्घटनाओं और विरोधी शक्तियों की राजनीतिक प्रतिस्पर्द्धा का समय है जिसमें मुगल बादशाहों का भाग बहुत कम है। मुगल बादशाह और मुगल-साम्राज्य इस समय में भारतीय इतिहास में नगण्य बन गये; बाबर, अकबर, जहाँगीर, शाहजहाँ और औरंगजेब का गौरव नष्ट हो गया तथा उनके उत्तराधिकारी अन्य व्यक्तियों के हाथों में कठपुतली बनकर नाममात्र के शासक रह गये और अन्त में उनका नाम भी समाप्त हो गया। मुगल-साम्राज्य एक बीमार और दुर्बल व्यक्ति की भाँति घुट-घुटकर समाप्त हुआ।

मुगल-साम्राज्य के पतन के लिए निम्नलिखित कारण और परिस्थितियाँ उत्तरदायीं थीं :

1. उत्तरकालीन मुगल बादशाहों का नैतिक पतन और अयोग्यता

मुगल शासन स्वेच्छाचारी राजतन्त्र था जिसमें सभी कुछ बादशाह के व्यक्तित्व पर निर्भर करता था। ऐसी परिस्थिति में यह स्वाभाविक था कि राज्य का भाग्य बादशाह की योग्यता और अयोग्यता पर निर्भर करता। मुगल-साम्राज्य की स्थापना और विस्तार बाबर व अकबर जैसे दृढ़-निश्चयी और साहसी बादशाहों के कारण हुआ था। जब तक उन बादशाहों की परम्पराओं को मुगल बादशाह निभा सके तब तक मुगल-साम्राज्य उन्नति करता गया, परन्तु औरंगजेब के पश्चात् मुगल बादशाहों में से कोई भी बादशाह ऐसा नहीं हुआ जो साहसी और सम्राट बनने के योग्य हो। वे बादशाह बने और रहे इसलिए कि वे मुगल-वंश के थे और राजदरबार के एक शक्तिशाली गुट का समर्थन प्राप्त किये हुए थे। वे बादशाह इस कारण न थे कि उनमें बादशाह बनने की योग्यता थी अथवा वे बादशाह बनने के पश्चात् उस पद का उत्तरदायित्व सँभालने के योग्य थे। उस समय में बादशाह वह था जिसकी तलवार में शक्ति थी परन्तु मुगल बादशाह तलवार से अधिक स्त्री और शराब से प्यार करने लगे थे। इस कारण, वे बादशाह तो नाममात्र के थे। वस्तुतः वे अधिकांशतः स्वार्थी और शक्तिशाली सरदारों के हाथों में कठपुतली बने रहे और इसी कारण शक्तिशाली सरदारों ने अपने-अपने स्वतन्त्र राज्य स्थापित किये तथा मुगल-साम्राज्य टुकड़े-टुकड़े हो गया। औरंगजेब का उत्तराधिकारी बहादुरशाह प्रथम 'शाहेबेखबर' कहलाता था, जहाँदारशाह ने एक वेश्या लालकुंवर के साथ भोग-विलास करते हुए दस माह में ही अपने शासन को गँवा दिया और फर्रुखसियर अपने सरदार 'सैयद-भाइयों' के हाथ की कठपुतली था और उन्हीं से अपनी जान की रक्षा के लिए उसने जनानखाने में शरण ली थी। अन्त में, उसे गला घोंटकर मारा गया। मुहम्मदशाह को 'रंगीले' की उपाधि दी गयी थी और यह वही शासक था जिसे नादिरशाह के सम्मुख प्राणों की भीख माँगनी पड़ी थी। अहमदशाह, आलमगीर द्वितीय, शाहआलम द्वितीय, अकबर द्वितीय, तथा बहादुरशाह द्वितीय अपने सरदारों या मराठों के हाथों में कठपुतली और अँग्रेजों के पेन्शनर बनने के लिए बाध्य हुए थे। ऐसे बादशाह मुगल-साम्राज्य की सुरक्षा करने में सर्वथा असमर्थ थे। बाबर और अकबर का

शौर्य, जहाँगीर का न्याय और शाहजहाँ का गौरव तो क्या, मुगल बादशाह औरंगजेब की कट्टरता और सेनापति की योग्यता को भी खो चुके थे। उत्तरकालीन मुगल बादशाह, बादशाह कहलाने के योग्य न थे। ऐसी स्थिति में मुगल-साम्राज्य का पतन आवश्यक था। आश्चर्य तो इस बात का है कि मुगल-वंश का नाम भी 1857 ई. तक जीवित रह सका। सम्भवतया, पहले मुगल बादशाहों की शान एवं शक्ति और उससे अधिक किसी ऐसी अन्य शक्ति का अभाव जो मुगल बादशाहों का स्थान ले सकती, मुगलों के नाम को इतने समय तक जीवित रख सका।

2. सरदारों का नैतिक पतन और अयोग्यता

अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ के साम्राज्य के निर्माता जहाँ वे स्वयं थे वहाँ उनके अनेक योग्य सरदार भी थे। बैरमखाँ, मुनीमखाँ, राजा मानसिंह, राजा जयसिंह, राजा जसवन्तसिंह, मुजफ्फरखाँ, एत्मातुद्दौला, महाबतखाँ, आसफखाँ, आदि अनेक सरदार विभिन्न अवसरों पर ऐसे हुए जिन्होंने साम्राज्य की स्थापना और विस्तार में महत्वपूर्ण भाग लिया। परन्तु बाद के समय में हमें एक भी ऐसा योग्य सरदार प्राप्त नहीं होता और यदि कोई योग्य सरदार प्राप्त होता भी है तो वह वफादार सिद्ध न हुआ। सैयद-भाई हुसैनअली और मुहम्मदअली, अवध का सूबेदार नजीबुद्दौला और हैदराबाद राज्य का निर्माता वजीर-उल-मुल्क 'आसफजा' आदि यदि योग्य थे, तो स्वार्थी भी थे। उन्होंने मुगल बादशाहों की सेवा नहीं की बल्कि मुगल बादशाहों को अपने हित की पूर्ति का साधन बनाया। इसके अतिरिक्त, अधिकांश सरदार भोग-विलासी हो गये थे। शासन, सैन्य-संचालन और आर्थिक व्यवस्था, आदि की योग्यता हमें कहीं पर भी दिखायी नहीं देती। निस्सन्देह, मुगल सरदार अपने बादशाहों का अनुकरण कर रहे थे, जिनके जीवन में शराब, स्त्री, स्वार्थ, षड्यन्त्र, पदलोलुपता आदि ही प्रधान रह गये थे। 'मसीर-उल-उमरा' में लिखा है: "यदि मुगल-वंश के किसी सरदार की सफलताओं का वर्णन तीन पृष्ठ में आता था तो उसके पुत्र का वर्णन एक ही पृष्ठ में आता था और उसके पोते का वर्णन तो कुछ पंक्तियों में ही समाप्त हो जाता था या ऐसा होता ही न था कि उसका लेखा रखा जाय।" इस प्रकार सरदारों की योग्यता, उनका स्वार्थ और नैतिक पतन भी मुगल-साम्राज्य के पतन का एक मुख्य कारण था। डॉ. आर. सी. मजूमदार ने लिखा है: "अठारहवीं सदी में कुलीनों के नैतिक पतन ने मुगल-साम्राज्य के शीघ्र पतन में बहुत बड़ा योग दिया।"[1]

3. मुगल सेना का शक्तिहीन होना

अकबर ने मनसबदारी-प्रथा के द्वारा सेना को सुसंगठित किया था। उससे मुगल सेना की शक्ति और व्यवस्था पर्याप्त समय तक रही। औरंगजेब के समय तक भी मुगल सेना दुर्बल नहीं हुई थी यद्यपि उसमें अनेक दोष अवश्य आ गये थे। परन्तु उसके पश्चात् मुगल सेना निरन्तर दुर्बल होती गयी। मूल आधार पर ही मुगल सेना के संगठन में दोष था। विभिन्न जातियों और प्रदेशों के मनसबदारों व सरदारों द्वारा अधिकांशतया जातीय आधार पर संगठित की गयी सेना शक्तिशाली

---

1 "The deterioration in the character of the nobility during the 18th century had a large share in hastening the decline of the Mughal Empire." —*Dr. R. C. Mazumdar*.

सम्राट की शक्ति का आधार तो हो सकती थी परन्तु दुर्बल सम्राट के समय में वह एक बहुत बड़ा खतरा थी। विभिन्न सरदार ही अपने सैनिकों की भर्ती करते थे, उनकी सैनिक-शिक्षा की व्यवस्था करते थे और उन्हें वेतन तथा अस्त्र-शस्त्र, आदि देते थे। इस कारण, सैनिक अपना मालिक बादशाह को नहीं बल्कि सरदार को मानते थे और उसी के प्रति वफादार होते थे। ऐसी स्थिति में बादशाह सरदारों की सैनिक शक्ति पर ही निर्भर कर सकता था। ऐसी सेना में एकता, समान योग्यता और युद्ध करने की समान पद्धति नहीं हो सकती थी। इसके अतिरिक्त, मुगल सैनिकों का नैतिक चरित्र भी गिर गया। जैसे-जैसे साम्राज्य दृढ़ होता गया, युद्ध में पराजय के अवसर कम या समाप्त होते गये थे। इससे मुगल बादशाह, जहाँगीर के समय से, सेना के साथ अपनी पत्नियों और दासियों को युद्ध में ले जाने लगे। उसके पश्चात् सरदारों की पत्नियों और वेश्याओं का जाना भी आरम्भ हुआ। सेना के पड़ाव के साथ बाजार लगने लगा और वहाँ आमोद-प्रमोद के सभी साधन उपलब्ध होने लगे। सैनिक भी इस आमोद-प्रमोद से मुक्त न रहे और अन्त में ऐसी स्थिति हो गयी कि एक युद्ध के अवसर पर जितनी सेना होती थी उसके साथ उससे अधिक स्त्रियाँ, नौकर, व्यापारी और दुकानदार होते थे जो न केवल युद्ध के लिए ही अयोग्य थे बल्कि युद्ध के अवसर पर सेना को उनकी सुरक्षा करनी पड़ती थी। इस प्रकार समय के साथ-साथ मुगल सेना का शक्ति-बल, नैतिक बल, युद्ध करने का उत्साह और उसकी गतिशीलता समाप्त होती गयी। ऐसी सेना से साम्राज्य की सुरक्षा सम्भव नहीं हो सकती थी।

4. आर्थिक पतन

अकबर ने मुगल-साम्राज्य की आर्थिक व्यवस्था को ठीक किया था। कृषि, उद्योग और व्यापार की उन्नति से राज्य समृद्धशाली हो गया था। जहाँगीर और शाहजहाँ के समय में भी आर्थिक सम्पन्नता का मुख्य कारण अकबर द्वारा स्थापित की गयी अर्थ-व्यवस्था थी। परन्तु उसके पश्चात् मुगल-सम्राट की आर्थिक स्थिति निरन्तर दुर्बल होती गयी। शाहजहाँ के समय के मध्य-एशिया और कन्धार के युद्धों तथा उसकी इमारतों और वैभव-प्रदर्शन करने के शौकों से आर्थिक व्यवस्था दुर्बल होनी आरम्भ हुई। औरंगजेब के समय के विभिन्न विद्रोहों, युद्धों और दक्षिण नीति ने इस स्थिति को और अधिक खराब कर दिया। अव्यवस्था के कारण व्यापार, उद्योग और कृषि नष्ट होने लगे तथा राज्य की आय निरन्तर कम होती गयी। शाहजहाँ के समय से ही किसानों से उत्पादन का 1/2 भाग लगान के रूप में लिया जाने लगा था और अन्य करों द्वारा भी जनता पर कर का भार अधिक हो गया था। औरंगजेब के समय से लगान किसानों के स्थान पर ठेकेदारों से लिया जाना आरम्भ किया गया जिससे किसानों की स्थिति और अधिक दुर्बल हुई। उत्तराधिकार के विभिन्न युद्धों, शासन-कार्यों में अधिक व्यय, स्वार्थी सरदारों की धनलोलुपता, व्यभिचारी मुगल बादशाहों और नादिरशाह तथा अहमदशाह अब्दाली के आक्रमणों ने मुगल-साम्राज्य की कमर तोड़ दी। बादशाह और प्रजा दोनों ही निर्धन हो गये। मुगल बादशाह न तो शासन चला सकते थे और न सेना रख सकते थे। यही नहीं बल्कि उत्तरकालीन मुगल बादशाह तो साधारण व्यक्तिगत सुविधाओं के उपभोग से भी वंचित रहने लगे। राज्याभिषेक के डेढ़ माह पश्चात् ही अच्छी सवारी न होने के कारण बादशाह आलमगीर द्वितीय को पैदल ईदगाह तक जाना पड़ा था। शाहआलम द्वितीय के समय की आर्थिक कठिनाइयों का वर्णन करते हुए सर जदुनाथ सरकार ने लिखा है : "हरम की रसोई

में तीन दिनों तक आग न जली, और एक दिन जब शाहजादियाँ भूख बर्दाश्त न कर सकीं तो पर्दे की कट्टर प्रथा तोड़कर वे महल से निकलकर असहाय अवस्था में शहर की ओर भागीं। लेकिन किले के दरवाजे बन्द होने के कारण वे एक दिन और एक रात मर्दाने से बैठी रहीं जिसके पश्चात् बड़ी कठिनाई से उन्हें उनके कमरों में जाने के लिए बाध्य किया गया।"[1] जब मुगल-वंश की स्थिति ऐसी हो गयी हो तब साम्राज्य कैसे सुरक्षित रह सकता था? आर्थिक सम्पन्नता के नष्ट हो जाने से मुगल-साम्राज्य खोखला हो गया और उसका पतन स्वाभाविक था।

5. उत्तराधिकार के नियम का न होना

मुगल बादशाहों में यह नियम प्रचलित न था कि बादशाह की मृत्यु के पश्चात् अमुक लड़का या व्यक्ति ही उसका उत्तराधिकारी होगा। इस कारण मुगल-वंशजों में सिंहासन के लिए निरन्तर युद्ध होते रहे। हुमायूँ का विरोध उसके भाइयों ने किया, अकबर का विरोध उसके भाई मिर्जा हकीम ने किया, जहाँगीर का विरोध उसके पुत्र ने किया, शाहजहाँ ने संघर्ष द्वारा गद्दी प्राप्त की थी और औरंगजेब ने गद्दी के लिए अपने तीन भाइयों, उनके पुत्रों और अपने पिता को अपने मार्ग से हटा दिया था। उसके पश्चात् बहादुरशाह, जहाँदारशाह, फर्रुखसियर, आदि ने भी युद्ध करने के पश्चात् ही गद्दी प्राप्त की थी। प्रारम्भ में तो इसके कुप्रभाव इतने गम्भीर न हो सके क्योंकि उस समय तक मुगल बादशाह का सम्मान और शक्ति स्थापित थी, परन्तु औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् से जो उत्तराधिकार-युद्ध प्रारम्भ हुए, उनसे न केवल मुगल-साम्राज्य दुर्बल हुआ बल्कि मुगल बादशाह विभिन्न शक्तिशाली सरदारों के हाथों की कठपुतली बनने के लिए बाध्य हो गये। उत्तराधिकार के ये युद्ध बादशाह के सम्मान और साम्राज्य की सुरक्षा के लिए विनाशकारी सिद्ध हुए। इतिहासकार स्मिथ ने लिखा है: "निरन्तर उत्तराधिकार-युद्ध से जो अराजकता उत्पन्न हुई वह, निस्सन्देह, शाही ढाँचे को नष्ट करने में सहायक थी।"[2]

6. औरंगजेब की नीति

मुगल बादशाह औरंगजेब की दक्षिण-नीति और धार्मिक नीति मुगल-साम्राज्य के पतन का कारण बनी। 1681 से 1707 तक औरंगजेब दक्षिण-भारत में ही रहा। सम्पूर्ण बीजापुर और गोलकुण्डा के शिया-राज्यों को जीतने में उसे सफलता मिली परन्तु उसका मराठों से जो लम्बा संघर्ष आरम्भ हुआ, उसमें उसे सफलता न मिल सकी। निस्सन्देह, उसने शम्भाजी को पकड़ने और कत्ल करने में सफलता पायी और एक बार सम्पूर्ण महाराष्ट्र पर उसका अधिकार हो गया। परन्तु उसके पश्चात् जो मराठा स्वतन्त्रता-संग्राम आरम्भ हुआ, उसे औरंगजेब समाप्त न कर सका।

---

1 "No fire was hindled in Harem kitchen for three days, and one day the Princesses could bear starvation no longer and in frantic disregard of 'Parda' rushed out of the palace to city, but fort-gates being closed they sat down in the men's quarters for a day and a night, after which they were persuaded to go back to their rooms." —*J. N. Sarkar.*

2 "The prolonged anarchy involved in the repeated war of succession was a potent influence in bringing about the ruin of imperial fabric." —*V. A. Smith.*

मराठों की राष्ट्रीय भावना और दक्षिण की भौगोलिक परिस्थितियों ने मराठों की सहायता की और औरंगजेब अपनी मृत्यु के समय तक भी मराठों के विरुद्ध सफलता न पा सका। दक्षिण-भारत के इस लम्बे और असफल संघर्ष के भयंकर परिणाम हुए। औरंगजेब को उत्तरी भारत के शासन की ओर ध्यान देने का अवसर न मिला। उत्तर में सिख, जाट, राजपूत और बुन्देले आदि सफलतापूर्वक मुगल सूबेदारों से संघर्ष कर सके। राज्य की आर्थिक स्थिति भी इससे खराब हुई। औरंगजेब के सबसे अच्छे सैनिक और सेनापति धीरे-धीरे दक्षिण के युद्धों में मारे गये। स्वयं औरंगजेब भी वृद्धावस्था में एक स्थान से दूसरे स्थान पर अपनी सेना को लेकर संघर्ष करता रहा। इससे मुगल सेना की शक्ति दुर्बल हो गयी और उसकी प्रतिष्ठा समाप्त हो गयी। इतिहासकार वूल्जले हेग ने लिखा है : "दक्षिण में उसकी सेना का सबसे अच्छा भाग व्यस्त हो गया और अयोग्य अफसर अपर्याप्त धन और सेना से उत्तर के बड़े नगरों और उपजाऊ तथा घनी आबादी वाले प्रान्तों में व्यवस्था स्थापित न रख सके।"[1]

औरंगजेब की धार्मिक नीति मुगल-साम्राज्य के पतन के लिए बहुत बड़ी मात्रा में उत्तरदायी थी। अकबर ने जिस धार्मिक उदारता की नीति का पालन किया था, उसके कारण उसे भारत के बहुसंख्यक हिन्दुओं की सहानुभूति और बहादुर राजपूतों की सहायता प्राप्त हुई थी। जहाँगीर ने अकबर की नीति का अनुकरण किया और यद्यपि शाहजहाँ के समय में इस धार्मिक सहनशीलता की नीति में परिवर्तन आरम्भ हो गया था परन्तु तब भी यह परिवर्तन पूर्णतया स्पष्ट और सार्वजनिक न था। औरंगजेब के गद्दी पर बैठने पर यह नीति समाप्त हो गयी। औरंगजेब कट्टर सुन्नी-वर्ग की सहायता से गद्दी पर बैठा था, इस्लाम के कट्टर सिद्धान्तों का पालन करता था और मुसलमान जनता उसे 'जिन्दा पीर' पुकारती थी। वह हिन्दू धर्म तो क्या, शिया मतावलम्बियों को भी, सहन करने के लिए तत्पर न था। उसके जीवन का एकमात्र लक्ष्य इस 'दारुल हर्ब' (काफिरों का देश) को 'दारुल इस्लाम' (इस्लाम का देश) बनाना था। उसने हिन्दू राज्यों को समाप्त करने का प्रयत्न किया, हिन्दुओं पर ज़जिया और तीर्थयात्रा-कर लगाये, भारत के सभी हिन्दू मन्दिरों को नष्ट करने के लिए एक पृथक विभाग खोला, हिन्दुओं को सरकारी नौकरियों से पृथक कर दिया तथा उन पर अनेक सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक अत्याचार करके उन्हें धर्म-परिवर्तन के लिए बाध्य करने का प्रयत्न किया। इतनी बड़ी जनसंख्या को इस नीति से धर्म-परिवर्तन के लिए बाध्य करना सर्वथा अव्यावहारिक और असम्भव कार्य था। हिन्दुओं ने जो अकबर की नीति के कारण मुगल-साम्राज्य के समर्थक और सेवक बन गये थे, धर्म की रक्षा के लिए एक बार फिर मुगलों के विरुद्ध तलवार उठा ली। राजपूत, सिख, जाट, बुन्देले, मराठे तथा हिन्दुओं के सम्पूर्ण युद्धप्रिय-वर्ग मुगलों के अत्याचार के विरुद्ध खड़े हो गये। सम्पूर्ण उत्तरी भारत विद्रोह में सम्मिलित हो गया, सरकारी कर्मचारियों को शान्ति स्थापित रखना और कर वसूल करना असम्भव हो गया और जबकि औरंगजेब उत्तरी भारत में भी इसका मुकाबला करने में असमर्थ रहा था, वह दक्षिण-भारत चला गया तथा दक्षिण-भारत में

---

1 "The Deccan absorbed all his best troops and incompetent officers, with insufficient forces and funds, were unable to maintain order in the great cities and fertile and populous provinces of North." —*Sir T. Woolseley Haig.*

भी निरन्तर युद्ध और संघर्ष आरम्भ हो गया। औरंगजेब की धार्मिक नीति पूर्णतया असफल हुई। औरंगजेब ने हिन्दुओं की उस भावना को जागृत कर दिया था जिसके कारण सदियों से इस्लाम का शासन होते हुए भी हिन्दू धर्म और समाज अपने को जीवित रख सका था। ऐसी स्थिति में औरंगजेब की असफलता स्वाभाविक थी और उसकी इस असफलता ने मुगल-साम्राज्य की जड़ों को हिला दिया।

औरंगजेब की असहिष्णुता ने शिया, सूफी, आदि अन्य मुसलमान-वर्गों को भी असन्तुष्ट कर दिया। अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ के समय तक मुगल-साम्राज्य को शियाओं और अनेक विदेशी मुसलमानों की सहायता तथा सेवाएँ प्राप्त होती रही थीं और इनमें से अनेक योग्य सेनापति, शासन-प्रबन्धक और विद्वान सिद्ध हुए थे। औरंगजेब ने उनकी सहानुभूति भी खो दी और मुगल-साम्राज्य को विदेशी मुसलमानों अथवा योग्य भारतीय शिया मुसलमानों से जो सहायता मिला करती थी, वह न मिल सकी।

इसके अतिरिक्त, औरंगजेब की सन्देही प्रकृति, अपने बच्चों की उचित शिक्षा के प्रति उसकी उदासीनता, सरदारों को खोज न पाना तथा लम्बे समय तक शासन करना आदि भी मुगल-साम्राज्य के पतन के लिए उत्तरदायी हुए।

यद्यपि यह कहना बहुत ही उपयुक्त है कि मुगल-साम्राज्य अपनी आन्तरिक दुर्बलताओं के कारण ही जर्जर हुआ था परन्तु यह भी स्वीकार करना पड़ता है कि इस दुर्बल स्थिति में जब उस पर विदेशों से आक्रमण हुए तो उसकी कमर टूट गयी। नादिरशाह और अहमदशाह अब्दाली के निरन्तर आक्रमणों से, निस्सन्देह, दुर्बल मुगल-साम्राज्य पर आघात हुए और इन आक्रमणों ने उसकी उखड़ती हुई साँस को समाप्त कर दिया।

7. विदेशी आक्रमण

उस समय जबकि मुगल बादशाह अशक्त और मुगल-साम्राज्य असम्मानित हो रहा था, मुगल-बादशाह के सरदार और दरबारी अपने स्वार्थों की पूर्ति हेतु गुटबन्दी और शक्ति के लिए परस्पर संघर्ष कर रहे थे। दरबार में मुख्यतया दो दल बन गये थे—एक भारतीय मुसलमानों का और दूसरा विदेशी मुसलमानों का। उन्होंने परस्पर संघर्षरत रहते हुए न केवल बादशाह को अपने स्वार्थों की पूर्ति का माध्यम बनाया बल्कि एक-दूसरे के विरुद्ध शक्तिशाली पड़ौसियों जैसे मराठा या अहमदशाह अब्दाली से भी सहायता प्राप्त करने का प्रयत्न किया। इससे मुगल-दरबार संघर्षों, ईर्ष्या और षड्यन्त्रों का केन्द्र-स्थान ही नहीं बना अपितु बादशाह और साम्राज्य की प्रतिष्ठा भी समाप्त हो गयी और अन्ततोगत्वा दिल्ली में विदेशी शक्तियों का प्रभाव स्थापित हो गया।

8. राजदरबार की दलबन्दियाँ

अठारहवीं सदी के आरम्भ से ही मुस्लिम जाति, मुगल सरदार और मध्यम वर्ग की बुद्धि का दिवाला निकल गया था। मुगलों ने अपने समय में शिक्षा की उचित व्यवस्था नहीं की थी जिसके गम्भीर परिणाम हुए। शिक्षा के अभाव में राज्य को योग्य शासन-प्रबन्धक, राजनीतिज्ञ तथा शिक्षक, आदि प्राप्त न हुए। जब तक मुगल-साम्राज्य को विदेशों से इस क्षेत्र में सहायता मिलती रही तब तक उसका कार्य चलता

9. बौद्धिक पतन

रहा, परन्तु यह कार्य सर्वदा सम्भव नहीं हो सकता था। साम्राज्य के अन्तर्गत ही योग्य व्यक्ति प्राप्त होने से साम्राज्य की बौद्धिक आवश्यकताओं की पूर्ति सम्भव है। मुगल-साम्राज्य में उसका अभाव हो गया और साम्राज्य को योग्य एवं वफादार सेवक मिलने समाप्त हो गये जिनके बूते पर प्रत्येक साम्राज्य पनपता और स्थायित्व प्राप्त करता है।

मुगल-साम्राज्य अपनी भाषा को भी स्थिर न कर सका। 1750 के पश्चात् फारसी भाषा भी राज्य की भाषा न रह सकी और न कोई अन्य भाषा उसका स्थान ले सकी। इस कारण, बाद के मुगल-साम्राज्य के समय में साहित्य और विचारों की दृष्टि से भी प्रगति सम्भव न हो सकी।

10. मुगल शासन पुलिस-शासन तक ही सीमित रहा

अकबर के शासन-काल को छोड़कर अधिकांश मुगल शासक अपने राज्य में आन्तरिक शान्ति स्थापित रखना और बाह्य आक्रमणों से अपने राज्य की रक्षा करना ही अपना कर्तव्य समझते थे। इस कारण और इसी आधार पर उसकी प्रतिष्ठा एवं शक्ति स्थापित थी। उत्तरकालीन मुगल बादशाह इतना उत्तरदायित्व भी पूरा न कर सके जिसके कारण उसकी प्रतिष्ठा पूर्णतया समाप्त हो गयी और साधारण जनता में भी उनके प्रति कोई सहानुभूति न रही। महत्वाकांक्षी सरदारों ने इस दुर्बलता का पूरा लाभ उठाया और अपने स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिये। निजाम-उल-मुल्क आसफजा ने दक्षिण में, सादतखाँ ने अवध में और अलीवर्दीखाँ ने बंगाल, बिहार तथा उड़ीसा में अपने स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिये। मराठा सरदार इनसे भी अधिक प्रबल सिद्ध हुए। उन्होंने महाराष्ट्र, मालवा, बुन्देलखण्ड, गुजरात आदि प्रान्तों पर अधिकार कर लिया तथा सम्पूर्ण भारत पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने का प्रयत्न किया।

11. नौ-सेना का अभाव

इसमें सन्देह नहीं कि मुगलों का पतन भारत में यूरोपीय जातियों का प्रभाव स्थापित होने से पहले ही हो चुका था और उनका मुकाबला इन यूरोपीय जातियों के जल-बेड़े से हुआ ही नहीं जिससे कि नौ-सेना की दुर्बलता उनके पतन का प्रत्यक्ष कारण स्वीकार की जा सके। परन्तु मुगलों ने नौ-सेना का निर्माण कभी नहीं किया जिससे भारत में शक्तिशाली जल-बेड़ा तैयार हो पाता और अवसर आने पर भारतीय इन यूरोपीय शक्तियों का मुकाबला कर पाते—इसमें भी कोई सन्देह नहीं है। शक्तिशाली जल-बेड़े के अभाव के कारण भारतीय शासक इन यूरोपीय जातियों को, खतरा अनुभव करते हुए भी, समुद्र-तट से न हटा सके और अन्त में इन्हीं में से एक ने अर्थात् अंग्रेजों ने भारत में अपने साम्राज्य की स्थापना की और अन्तिम मुगल बादशाह को दिल्ली से हटाकर रंगून भेज दिया। इस कारण स्पष्ट है कि जल-बेड़े का अभाव प्रत्यक्ष रूप से अवश्य ही मुगल-साम्राज्य के पतन का कारण था।

12. मुगल-साम्राज्य का विदेशी होने की भावना को समाप्त न कर पाना

मुगल बादशाह विदेशी थे और विदेशी ही रहे। उनमें से अधिकांश भारतीयों का प्रेम और उनकी पूर्ण वफादारी प्राप्त न कर सके। बहुसंख्यक हिन्दू-वर्ग मुगल-साम्राज्य से पूर्णतया सन्तुष्ट न था। इस प्रकार मुगल बादशाहों की शक्ति, सम्भवतया, अकबर और जहाँगीर के समय को छोड़कर जनता के सहयोग पर कम और तलवार की शक्ति पर अधिक निर्भर करती

थी। जब उनकी तलवार की शक्ति समाप्त हो गयी अथवा उनसे अधिक शक्तिशाली शक्ति का प्रादुर्भाव भारत में हो गया तब उनका पतन निश्चित था।

पेशवा बाजीराव के समय में मराठों ने उत्तरी भारत पर आक्रमण आरम्भ किये और उसी के समय में मराठों का प्रभाव भारत की राजनीति में महत्वपूर्ण हो गया। धीरे-धीरे मराठों ने उत्तरी भारत के अधिकांश भाग पर अपना अधिकार कर लिया, दिल्ली की राजनीति पर अपना प्रभाव स्थापित कर लिया और भारत के शेष भागों से 'चौथ' और 'सरदेशमुखी' एकत्रित करना आरम्भ कर दिया। वस्तुतः 18वीं सदी के मध्य तक मराठे भारत की सर्वाधिक शक्तिशाली शक्ति बन गये। परन्तु मराठों ने मुगल-सम्राट को अपदस्थ करके भारत की राजसत्ता और उससे सम्बन्धित उत्तरदयित्व को अपने हाथों में नहीं लिया, जो उन्हें करना चाहिए था। उनका लक्ष्य भारत में एकछत्र और शक्तिशाली साम्राज्य स्थापित करके उसके नागरिकों के हित की देखभाल करना नहीं रहा। वे केवल भारत के विभिन्न क्षेत्रों में लूटमार करते रहे और अपने प्रभाव-क्षेत्र को बढ़ाते रहे। इससे न तो वह स्वयं कभी भारत की राजनीति को स्थायित्व प्रदान कर सके और न उन्होंने किसी अन्य भारतीय शक्ति को ऐसा करने का अवसर दिया। उनकी नीति का एक परिणाम यह अवश्य रहा कि जर्जर मुगल-साम्राज्य उनके हस्तक्षेप के कारण और अधिक शीघ्र नष्ट हो गया। डॉ. सतीशचन्द्र ने लिखा है: "उत्तरी भारत में मराठों के प्रवेश ने मुगल-साम्राज्य की आन्तरिक समस्याओं को अधिक जटिल बना दिया और उसके आन्तरिक पतन की गति को तीव्र कर दिया।"[1]

13. मराठों का उत्तरी भारत पर आक्रमण

18वीं सदी के आरम्भ से ही मुगल-साम्राज्य की स्थिति शोचनीय होनी आरम्भ हो गयी। राजनीतिक अस्थिरता, प्रशासकीय अव्यवस्था और आर्थिक पतन के कारण 18वीं सदी में मुगल-साम्राज्य अपने नागरिकों को जीवन की न्यूनतम आवश्यकताएँ प्रदान करने में भी असफल हो गया। उस समय भी अधिकांश भारतीय नागरिक किसान थे। मुगलों की जागीरदारी भूमि-व्यवस्था कभी भी उनके हित में न रही थी। औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् तो उनकी स्थिति और अधिक खराब हो गयी। खालसा-भूमि (बादशाह की भूमि) भी 'इजरा' पद्धति के कारण लगान वसूल करने के लिए ठेकेदारों को दी जाने लगी जिन्हें न कृषि की उन्नति में रुचि थी और न किसानों के हित की परवाह। इन ठेकेदारों (तालुकेदारों) ने किसानों से अधिकतम धन वसूल किया। ऐसी स्थिति में जबकि लगान निश्चित न रहा, किसानों ने खेती में रुचि लेना बन्द कर दिया। इससे भारत के कृषकों की स्थिति खराब हो गयी। इसका कुप्रभाव उद्योग और व्यापार पर भी आया तथा शासन में भी अव्यवस्था हो गयी। ऐसी स्थिति में भारतीय जनसाधारण अपने जीवन की न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति करने में असमर्थ हो गया और वह साम्राज्य के प्रति वफादार भी न रहा। इसने भी साम्राज्य के पतन में भाग लिया।

14. मुगल-साम्राज्य अपने नागरिकों के जीवन की न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति करने में भी असमर्थ रहा

---

1 "The Maratha advance towards north India accentuated inner problems of empire and hastened its internal decay."
—*Dr. Satish Chandra.*

डॉ. विपिनचन्द्र के अनुसार भारतीयों में राजनीतिक राष्ट्रीयता का अभाव मुगल-साम्राज्य के पतन का एक महत्वपूर्ण सामाजिक एवं राजनीतिक कारण था। उस समय में भारतीयों में राष्ट्र के लिए जीने और मरने की भावना का अभाव था और भारतीय समाज में एक भी ऐसा वर्ग न था जो राष्ट्रीय एकता के लिए प्रयत्नशील होता। इससे साम्राज्य की एकता को बनाये रखने का भाव लुप्त हो गया था। उनका कहना है : "वास्तविकता यह थी कि तत्कालीन भारतीय अर्थ-व्यवस्था, सामाजिक-सम्बन्ध, जाति-व्यवस्था तथा राजनीतिक व्यवस्था की प्रकृति इस प्रकार थी जिसके कारण उस काल में भारतीय समाज में एकता सम्भव न थी और वह एक राष्ट्र के निर्माण के अनुकूल न था।"[1] डॉ. विपिनचन्द्र का कथन सत्य के बहुत निकट है। निस्सन्देह, उस काल में यूरोप में भी राष्ट्रीय-भावना का अभाव था परन्तु तब भी फ्रान्स और इंगलैण्ड जैसे राज्य एक सूत्र में संगठित राज्यों का स्वरूप ग्रहण कर चुके थे और उनके नागरिकों ने अपने आदर्शों एवं लक्ष्यों को अपने राज्य के आदर्शों एवं लक्ष्यों के साथ सम्मिलित कर लिया था। वह उनकी एकता और प्रगति का साधन बना। भारत में ऐसी स्थिति नहीं बन सकी थी। भारतीयों में उस समय में धार्मिक, जातीय, स्थलीय और व्यक्तिगत वफादारियाँ प्रमुख थीं। ये भावनाएँ, निस्सन्देह, एक संगठित समाज और राज्य के निर्माण में बाधाएँ थीं। निस्सन्देह, इस कारण इन्होंने एक तरफ मुगल-साम्राज्य के पतन और दूसरी तरफ भारत में अँग्रेजों की सफलता में सहयोग प्रदान किया।

15. भारतीयों में राष्ट्रीयता की भावना का अभाव

इस प्रकार विभिन्न कारणों से मुगल-साम्राज्य का पतन हुआ। मुख्यतया उसकी आन्तरिक दुर्बलताएँ और उत्तरकालीन मुगल बादशाहों की अयोग्यता ही उसके इस पतन के लिए उत्तरदायी थीं परन्तु विभिन्न शक्तिशाली सरदारों के स्वार्थ, उनकी महत्वाकांक्षाएँ और मराठों की बढ़ती हुई शक्ति भी उनके पतन के कारण बनीं। मुगल-साम्राज्य का अवशेष तो 1858 तक रहा और, अन्त में, अंग्रेजों द्वारा उसे समाप्त किया गया परन्तु वास्तव में मुगल-साम्राज्य का पतन उससे बहुत पहले ही हो चुका था।

---

1 "The reality was that the existing character of the Indian economy, social relations, caste structure and political institutions were such that the time was not yet ripe for unification of Indian society or for its emergence as a nation." —*Dr Bipan Chandra.*

10
मुगल बादशाहों की विभिन्न नीतियाँ

[1]
धार्मिक नीति

मुगल बादशाहों का समय धार्मिक नीति की दृष्टि से महान् अन्वेषण का युग सिद्ध हुआ। व्यक्तिगत विचारों, युग की परिस्थितियों और राजनीतिक व्यावहारिकता के कारण बाबर से औरंगजेब तक हुए महान् मुगल बादशाहों ने जिस धार्मिक नीति का पालन किया उससे यह स्पष्ट हो गया कि भारत की धार्मिक सहिष्णुता की परम्परा में धार्मिक उदारता और समानता की नीति को अपनाया जाना ही भारत के शासक-वर्ग के लिए उपयुक्त है। बाबर और हुमायूँ का समय मुगल-साम्राज्य के लिए संघर्ष और राज्य-स्थापना की कठिनाइयों का युग था। यह आशा करना व्यर्थ था कि उनमें से कोई भी एक व्यवस्थित और योजनापूर्ण धार्मिक नीति को भारत में आरम्भ करता। अकबर का शासन-काल लम्बा सिद्ध हुआ। उसके समय में मुगल-साम्राज्य भारत में स्थायी और विस्तृत हो गया। उसने एक योजनापूर्ण धार्मिक नीति को आरम्भ किया। उसकी धार्मिक सहिष्णुता और सभी धर्मों का सम्मान किये जाने की नीति ने मुगलों की राजनीतिक स्थिति को भारत में दृढ़ किया। बहुसंख्यक हिन्दू प्रजा की सद्भावना और उसकी युद्ध-प्रिय जाति राजपूतों की मित्रता प्राप्त करके अकबर ने मुगल-साम्राज्य को शक्तिशाली और वैभवपूर्ण बनाया। अकबर का प्रयत्न भारत की राजनीतिक एकता के साथ-साथ भारत की सांस्कृतिक एकता का भी था। उसकी धार्मिक नीति उसके इस प्रयत्न का एक मुख्य आधार थी। इसी कारण, अकबर को राष्ट्रीय सम्राट कहलाने का गौरव प्राप्त हुआ। जहाँगीर और शाहजहाँ ने अकबर की परम्परा को निभाया। यद्यपि उनके समय में मुगलों की धार्मिक नीति में धार्मिक कट्टरता की ओर झुकाव प्रतीत होता है परन्तु सिद्धान्त के आधार पर मुगलों की नीति वही रही जिसका आरम्भ अकबर ने किया था। इससे मुगल-साम्राज्य को शक्तिशाली और वैभवपूर्ण बनने में सहायता मिली। अन्तिम महान् मुगल बादशाह औरंगजेब ने अपने व्यक्तिगत विचारों और, सम्भवतया, विस्तृत और सर्वोपरि मुगल-साम्राज्य की शक्ति में विश्वास करते हुए एक बार फिर इस्लाम की श्रेष्ठता को भारत में स्थापित करने का प्रयत्न किया। औरंगजेब ने धार्मिक सहिष्णुता और समानता की नीति को त्याग दिया। ऐसा करते हुए उसने न केवल अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ के अनुभवों को भुला दिया बल्कि उसने मुगलों से पहले के भारत के प्रायः 350 वर्ष के मुस्लिम शासन के इतिहास को भुला दिया जिसने यह सिद्ध किया था कि शक्ति के आधार पर भारत में इस्लाम की श्रेष्ठता को स्थापित करने का प्रयत्न निरर्थक था तथा हिन्दू और मुसलमानों को साथ-साथ

रहने और एक-दूसरे के धर्म का सम्मान करने का स्वभाव डालना चाहिए। औरंगजेब की असफलता ने जो बहुत कुछ उसकी धार्मिक नीति की असफलता के कारण थी, यह प्रमाणित कर दिया कि भारत में धार्मिक असहिष्णुता की नीति प्रत्येक शासक-वर्ग के लिए घातक है। भारत की बहुसंख्यक हिन्दू जनता ने यह सिद्ध कर दिया कि अपने धर्म की सहिष्णुता की मूल भावना, सभी धर्मों को ईश्वर-प्राप्ति के विभिन्न मार्ग स्वीकार करने की उदार भावना और सभी धार्मिक विचारों को स्वतन्त्रता और बिना किसी बल-प्रयोग के फलने-फूलने की स्वच्छन्दता उनके लिए सर्वोपरि थी और कोई भी शक्ति उनको एक ही धर्म की श्रेष्ठता में विश्वास करने के लिए बाध्य नहीं कर सकती थी। धार्मिक असहिष्णुता भारत की बहुसंख्यक हिन्दू जनता की संस्कृति, धार्मिक प्रवृत्ति और जन-जीवन के विरुद्ध थी। औरंगजेब ने इसी का प्रयोग किया और इस प्रकार भारतीय संस्कृति, धार्मिक प्रवृत्ति और जन-जीवन को चुनौती दी। इस चुनौती के कारण उसे असफलता प्राप्त हुई और भारतीय इतिहास ने भारत के शासक-वर्ग को एक स्थायी सबक सिखाया।

मुगल बादशाहों से पहले के तुर्क और अफगान शासकों ने प्रायः 350 वर्ष तक भारत में धार्मिक असहिष्णुता की नीति का पालन किया था। उनमें से कोई भी ठीक प्रकार से यह न समझ सका कि उनकी शक्ति और इस्लाम की सत्ता भारत में शक्ति के आधार पर स्थापित नहीं की जा सकती थी। इस कारण, उनमें से प्रत्येक एक स्थायी और शक्तिशाली राज्य की स्थापना करने में असमर्थ रहा था। बहुसंख्यक हिन्दू मुसलमानी राज्य को समाप्त करने में असफल रहे थे परन्तु उन्होंने अपने संघर्ष को छोड़ा भी नहीं था। ऐसा नहीं था कि तुर्क और अफगान-काल का भारतीय इतिहास हिन्दू और इस्लाम की शक्ति के संघर्ष का ही समय रहा हो। इस समय में भी राजनीतिक आकांक्षाएँ विभिन्न संघर्षों और युद्धों का मुख्य कारण थीं परन्तु इस्लाम के मानने वाले इस युग के शासकों में से किसी ने भी हिन्दू प्रजा की सहानुभूति प्राप्त करने का प्रयत्न नहीं किया था और अपने राजनीतिक उद्देश्य के साथ-साथ वे इस्लाम की श्रेष्ठता स्थापित करने के लिए ही प्रयत्नशील रहे थे। परन्तु इस प्रयत्न में वे असफल रहे। भारत में इस्लाम और हिन्दू धर्म साथ-साथ रह रहे थे और भारतीय मुसलमानों में से अधिकांश धर्म-परिवर्तित हिन्दू थे अथवा उनके माता और पिता में से कोई न कोई हिन्दू रहा था। इस कारण, हिन्दू और मुस्लिम प्रजा ने साथ-साथ रहना सीखा था तथा अनेक धर्म-प्रचारकों ने दोनों धर्मों के व्यक्तियों को सहिष्णुता का मार्ग बताया था। भक्ति-आन्दोलन इसी का परिणाम था। विभिन्न सूफी सन्तों और गुरु नानक तथा कबीर जैसे धर्म-प्रचारकों ने धार्मिक सहिष्णुता का पाठ सिखाया था। इस कारण, लम्बे समय तक साथ-साथ रहने और व्यक्तिगत प्रयत्नों के कारण, 16वीं सदी के आरम्भ तक हिन्दू और मुसलमान धार्मिक सहिष्णुता और एक-दूसरे के धर्म का सम्मान करना सीख रहे थे। ऐसे वातावरण में भारत में मुगल-वंश की स्थापना हुई।

प्रथम मुगल बादशाह बाबर में मंगोल नेता चंगेजखाँ और तुर्क नेता तैमूर का रक्त मिश्रित था। चंगेजखाँ और तैमूर, दोनों ही धार्मिक दृष्टि से अपनी प्रजा के प्रति असहिष्णु न थे। बाबर ने उनकी परम्परा को अपनी प्रवृत्ति में प्राप्त किया। धार्मिक दृष्टि से बाबर सुन्नी मुसलमान था तथा ईश्वर में उसका पूर्ण विश्वास था।

बाबर

वह कहा करता था कि "ईश्वर की इच्छा के विरुद्ध कुछ नहीं होता। उसकी दया पर निर्भर करते हुए हमें आगे बढ़ना चाहिए।"[1] परन्तु बाबर में धार्मिक असहिष्णुता न थी। उसने ईरान के शिया बादशाह शाह इस्माइल से सन्धि करके शिया मत को अपने राज्य में फैलाने का वायदा किया था। उसके दरबार में धार्मिक कट्टरता के लिए कोई स्थान न था यद्यपि भारत में बाबर ने समय-समय पर धार्मिक असहिष्णुता का भी परिचय दिया था। उसने राणा साँगा और मेदिनीराय के विरुद्ध 'जिहाद' (धर्म-युद्ध) की घोषणा की, युद्धों के पश्चात् 'गाजी' (काफिरों को कत्ल करने वाला) की उपाधि ग्रहण की, राजपूतों के सिरों की मीनारें खड़ी कीं, मुसलमानों को 'तमगा' (व्यापारिक कर) से मुक्त कर दिया और अयोध्या में उसने एक ऐसे स्थान पर मस्जिद बनवायी जिसे हिन्दू रामचन्द्र का जन्म-स्थान मानकर पूजते थे। परन्तु बाबर की इस नीति का मूल उद्देश्य और आधार धार्मिक न होकर राजनीतिक था। बाबर ने ये कार्य कुछ विशेष अवसरों और मुख्यतया युद्धों के अवसर पर किये थे। शासन की ओर से भारतीय जनता के प्रति कोई धार्मिक कट्टरता की नीति नहीं अपनायी गयी थी। डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव ने लिखा है: "यहाँ की जनता के प्रति बाबर का व्यवहार सल्तनत-युग के शासकों के व्यवहार की भाँति बुरा न था।" डॉ. एस. आर. शर्मा ने लिखा है: "ऐसा कोई प्रमाण नहीं है कि उसने धर्म के आधार पर कभी भी हिन्दू मन्दिरों को नष्ट किया हो अथवा हिन्दुओं पर अत्याचार किये हों।"[2] एक उदाहरण ऐसा भी प्राप्त होता है जबकि बाबर ने हिन्दू और तुर्की अमीरों को समान अधिकार दिया था। 1529 में घाघरा के युद्ध के अवसर पर उसने सभी हिन्दू और तुर्की अमीरों को सलाह के लिए बुलाया था। उसने लिखा था कि "बृहस्पतिवार 19 शबन के दिन मैंने सभी हिन्दू और तुर्की अमीरों को बुलाया और नदी को पार करने के बारे में उनसे सलाह ली।"[3] डॉ. आर. पी. त्रिपाठी ने लिखा है, "ऐसा कोई उदाहरण नहीं है जो यह प्रमाणित करे कि धार्मिक अत्याचार राज्य की नीति का भाग था अथवा उसे बाबर का नैतिक समर्थन प्राप्त था। निकट और मध्य-पूर्व में जो कुछ शियाओं और सुन्नियों के बीच में हुआ, और जो पश्चिमी देशों में हुआ, उसकी तुलना में ये कार्य बहुत साधारण थे।"[4] इस कारण, यह स्वीकार किया जाता है कि बाबर व्यक्तिगत दृष्टि से धार्मिक था परन्तु बहुत कट्टर न था और न ही शासक की दृष्टि से वह धर्मान्ध

---

1 "Nothing happens but by the will of God. Reposing ourselves on His protection, we must go forward." —*Babur.*

2 "There is no evidence of his ever having destroyed a Hindu temple or otherwise persecuted the Hindus on account of their religion." —*Dr. S. R. Sharma.*

3 "On Thursday, the 19th Shaban, I called the Amirs, both Turki and Hindu, to a council and took their opinion about passing the river." —*Babur's Memoirs.*

4 "There is nothing to show that religious persecution was a part of state policy, or had any moral support of Babur. As compared to what happened in the Near and Middle East between Shias and Sunnis, and in the Western countries these cases are simply insignificant." —*Dr. R. P. Tripathi.*

था। भारत में जो कार्य उसने किये उनका मूल उद्देश्य धार्मिक न होकर राजनीतिक ही था।

हुमायूँ

हुमायूँ सुन्नी मत का मानने वाला था और अपने धर्म के नियमों का पालन करता था। परन्तु उसमें धार्मिक कट्टरता अथवा असहिष्णुता नहीं थी। शिया मत के प्रति वह बहुत उदार रहा। उसकी पत्नी हमीदाबानू बेगम और उसका मुख्य सरदार बैरमखाँ शिया थे। हिन्दुओं के प्रति उसका व्यवहार अपने पिता के समान ही रहा। युद्ध के अवसर पर उसने हिन्दुओं के साथ कठोर व्यवहार किया। कालिंजर के किले के हिन्दू मन्दिरों को उसने नष्ट किया। परन्तु राज्य की तरफ से हिन्दुओं को व्यवस्थित रूप से दबाने की नीति नहीं अपनायी गयी। हुमायूँ साधारणतया धार्मिक कट्टरता से तटस्थ रहा। उसका झुकाव सूफी मत की तरफ भी था और विभिन्न विद्वानों के धार्मिक विचारों को सुनने में उसे आनन्द आता था। उसकी धार्मिक नीति में असहिष्णुता के अंश प्राप्त नहीं होते।

शेरशाह

शेरशाह मुगल नहीं बल्कि अफगान शासक था। उसकी धार्मिक नीति के बारे में विद्वानों में मतभेद है। डॉ. के. आर. कानूनगो ने शेरशाह की धार्मिक नीति को सहिष्णुता की नीति बताया है। उनके अनुसार, "शेरशाह का हिन्दुओं के प्रति व्यवहार आदरपूर्ण था।" डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव ने लिखा है कि "शेरशाह के व्यक्तिगत विचारों को पृथक रखकर देखा जाय तो वह एक सहिष्णु शासक प्रतीत होता है हिन्दुओं को उसने तंग नहीं किया। उन्हें अपने धर्म का पालन करने की पूरी छूट थी। जहाँ तक सम्भव होता था, वह राजनीति को धर्म से पृथक रखता था।" परन्तु डॉ. एस. आर. शर्मा ने शेरशाह की धार्मिक नीति को असहिष्णुता की बताया है। उनके अनुसार "धार्मिक नीति की दृष्टि से शेरशाह अपने समय की उपज था। अपने से पहले के शासक फीरोजशाह की भाँति उसमें प्रशासकीय उत्साह के साथ धार्मिक असहिष्णुता सम्मिलित थी। इतिहास में उसका स्थान धार्मिक सहिष्णुता अथवा तटस्थता की नीति को आरम्भ करने पर निर्भर नहीं करता है।"[1] व्यक्तिगत दृष्टि से शेरशाह नियमपूर्वक अपने धर्म का पालन करता था और समय-समय पर उसने इस्लाम के सम्मान में वृद्धि करने का प्रयत्न किया था। रायसीन के शासक पूरनमल के विरुद्ध उसने जिहाद घोषित किया था और उसने राजपूतों के साथ विश्वासघात करके निर्दयता से उनको कत्ल किया था। जोधपुर में उसने हिन्दू मन्दिर को नष्ट करके मस्जिद का निर्माण किया और कालिंजर के किले में भी उसने धार्मिक असहिष्णुता का परिचय दिया। परन्तु ये उदाहरण युद्ध के अवसर के हैं। शेरशाह ने हिन्दू मन्दिरों को तोड़ने अथवा हिन्दू धर्म को असम्मानित करने के लिए कोई व्यवस्थित नीति नहीं अपनायी थी। इस कारण, यह कहा जा सकता है कि साधारणतया

---

1 "Sher Shah was only a product of his own Age as far as his religious policy was concerned. Like Feroz Shah before him, he combined administrative zeal with religious intolerance. His place in history does not depend upon his initiating a policy of religious toleration or neutrality." —*Dr. S. R. Sharma.*

शेरशाह की धार्मिक नीति हिन्दुओं के प्रति यदि बहुत सहिष्णुता की न थी तो अत्याचार की भी न थी।

मुगल बादशाहों की धार्मिक नीति में अकबर की धार्मिक नीति को श्रेष्ठतम स्थान दिया गया है। अकबर की नीति पूर्णतया धार्मिक सहिष्णुता की थी। उसकी धार्मिक नीति 'सुलहकुल' (सभी के साथ शान्ति) के सिद्धान्त पर आधारित थी। दिल्ली के सुल्तानों और बादशाहों में इस नीति को आरम्भ करने वाला अकबर था। डॉ. आर. पी. त्रिपाठी ने लिखा है कि "सभी धर्मों और आध्यात्मिक आन्दोलनों के प्रति उदारता और सक्रिय सहानुभूति तथा सहायता का प्रयत्न प्रान्तीय राज्यों के द्वारा तो कभी-कभी किया गया था, परन्तु दिल्ली और आगरा के बादशाहों ने यह प्रयत्न कभी नहीं किया था। अकबर प्रथम शासक था जिसने अपने शासन के आरम्भ से धीरे-धीरे सभी धर्मों और आध्यात्मिक आन्दोलनों के प्रति प्रगतिशील उदारता और सक्रिय सहानुभूति की नीति को अपनाया।"[1]

अकबर महान्

अकबर के उदार धार्मिक विचारों और धार्मिक सहिष्णुता की नीति के निर्माण में विभिन्न परिस्थितियों ने सहायता दी। अकबर का पिता हुमायूँ उदार सुन्नी था, अकबर की माता शिया थी और अकबर का संरक्षक बैरमखाँ भी शिया था। अकबर का शिक्षक अब्दुल लतीफ धार्मिक विचारों में इतना अधिक उदार था कि फारस में उसे सुन्नी समझा जाता था और भारत में उसे शिया माना जाता था। अकबर का भारतीय जीवन से सम्पर्क पंजाब से आरम्भ हुआ जहाँ गुरु नानक जैसे धर्म-प्रचारक हिन्दू और इस्लाम धर्म की एकता में विश्वास करना सिखा रहे थे। इस प्रकार, अकबर का लालन-पालन और शिक्षा उदार वातावरण में हुई और जो व्यक्ति आरम्भ में उसके सम्पर्क में आये वे सब उसके विचारों को उदार बनाने वाले थे। अकबर पर अपने युग का प्रभाव भी आया। 16वीं सदी सम्पूर्ण संसार में धार्मिक पुनरुत्थान की सदी स्वीकार की गयी है। भारत में भी हमें यह विशेषता प्राप्त होती है। भक्ति-आन्दोलन के विभिन्न धर्म-प्रचारक सभी जातियों और धर्मों की समानता, धार्मिक सहिष्णुता और ईश्वर-प्रेम का प्रचार कर रहे थे। प्रो. एच. एन. सिन्हा ने लिखा है कि "संसार के इतिहास में 16वीं सदी धार्मिक पुनरुत्थान की सदी है। धर्म-सुधार की महत्वपूर्ण लहर की समता समुचित प्रकार से भारत में उत्पन्न हुए जीवन के नवीन उद्वेग से की जा सकती है। भारत ने एक ऐसी जागृति का अनुभव किया जिसने उसकी प्रगति को तीव्र किया और राष्ट्रीय जीवन को शक्तिशाली बनाया। इस नव-जागृति की मूल भावनाएँ थीं—प्रेम और उदारता—प्रेम जिसने मनुष्य को ईश्वर से मिलाया और इस कारण मनुष्य को मनुष्य से मिलाया, तथा उदारता जिसने इस प्रेम से जन्म लेकर जाति, सम्प्रदाय और व्यवसायों के

---

1 "A policy of enlightened and active sympathy and help to all truly religious and spiritual movements had sometimes been attempted in provincial kingdoms, but never by the rulers of Delhi and Agra. It was Akbar, who from the very beginning of his reign, gradually accepted a policy of dynamic toleration and active sympathy for all religious and spiritual movements."

—*Dr. R. P. Tripathi.*

अन्तरों को समाप्त कर दिया तथा जिसने मानव अस्तित्व और सभी धर्मों के तत्वों को अपना आधार बनाया और वह आधार था मानव-भ्रातृभाव। इसने अपने महान् आदर्शों से हिन्दू और मुसलमान दोनों को समान रूप से प्रेरणा दी और वे कुछ समय के लिए अपने धर्मों की व्यर्थ की बातों को भूल गये। मुसलमानों और हिन्दुओं के लिए यह एक नवीन युग का आरम्भ था। मुसलमानों के लिए यह एक ऐसी महदी के जन्म की आशा को दिलाने वाला था जिसकी वह प्रतीक्षा कर रहे थे और हिन्दुओं के लिए यह ईश्वर के प्रति सम्पूर्ण प्रेम का ज्ञान था।"[1] ऐसे युग का प्रभाव अकबर पर आना स्वाभाविक था। **अकबर आरम्भ से ही बहुत उदार और मानवीय गुणों से युक्त था, और उसने अपनी युवावस्था में आध्यात्मिक ज्ञान की आवश्यकता को समझा था।** उसने कहा था : "20 वर्ष की आयु पूरी करते ही मैंने एक आन्तरिक क्लेश को अनुभव किया और क्योंकि मैंने अपनी अन्तिम यात्रा के लिए कोई आध्यात्मिक आधार नहीं बनाया था इस कारण आत्मा अत्यधिक दुख से पीड़ित हो गयी।"[2] इसी आत्म-ज्ञान का परिणाम था कि अकबर ने अपने शासन के आरम्भ में 1562 में दास-प्रथा को समाप्त कर दिया, 1563 में तीर्थयात्रा-कर को समाप्त कर दिया और 1564 में 'जजिया' को समाप्त कर दिया।

अकबर धार्मिक प्रवृत्ति का था और धर्म की सत्यता को जानने के लिए जिज्ञासु भी। बदायूँनी ने लिखा था : "बादशाह कभी-कभी सम्पूर्ण रात्रि खुदा को याद करते हुए बिता दिया करता था।" उसने अजमेर के ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती के दरगाह की निरन्तर यात्राएँ की थीं और वह फतेहपुरसीकरी के सन्त शेख सलीम चिश्ती के प्रति बहुत श्रद्धा रखता था। धर्म की सत्यता को जानने की उत्सुकता के कारण उसने 'इबादतखाना' बनवाया, सभी धर्मों के विद्वानों को वहाँ आने की आज्ञा दी और व्यक्तिगत दृष्टि से ईसाई, जैन, पारसी और हिन्दू विद्वानों के सम्पर्क में आया। अकबर के समय में तीन बार गोआ के ईसाई पादरियों को दरबार में निम-

---

1 "The sixteenth century is a century of religious revival in the history of the world. The grand currents of the reformation compare favourably with the surging up of a new life in India. India experienced an awakening that quickened her progress and vitalized her national life. The dominant note of this awakening was Love and Liberalism—Love that united man to God and therefore to his brother man and Liberalism, born of this love that levelled down the barrier of caste, creed and calling, and took its stand on the bed-rock of human existence and essence of all religious, Universal Brotherhood. With glorious ideals it inspired the Hindu and Muslim alike, and they forgot for a time the trivialities of their creed. To the Muslim as to the Hindu, it heralded the dawn of a new era, to the Muslim with the birth of the promised Mahdi, to the Hindu with the realization of the all-absorbing love of God." —*Dr. H. N. Sinha.*

2 "On the completion of my twentieth year, I experienced an internal bitterness, and from the lack of spiritual provision for my last journey my soul was siezed with exceeding sorrow." —Akbar, *Ain-i-Akbari.*

न्त्रित किया गया और अकबर ने उनसे ईसाई धर्म के सिद्धान्तों को जाना। ईसाई पादरी अकबर को अपने विचारों से प्रभावित करने में असफल रहे, तब भी अकबर ने काम्बे, लाहौर, हुगली और आगरा में उन्हें अपने गिरजाघर बनाने की सुविधा प्रदान कर दी थी। अपने समय के महान् जैन विद्वान हीराविजय सूरी, जिनचन्द्र सूरी, शान्तिचन्द्र, विजयसेन सूरी आदि को अकबर ने दरबार में आमन्त्रित किया। अकबर जैन धर्म के अहिंसा के सिद्धान्त से गम्भीरता से प्रभावित हुआ। इसी कारण, 1581 में उसने भेड़ों और घोड़ों का वध बन्द करा दिया, वर्ष में नौ माह स्वयं माँस खाना बन्द कर दिया, शिकार खेलना बन्द कर दिया जो उसका एक मुख्य शौक था और 1587 में वर्ष में प्रायः छः माह पशुओं का वध निषेध कर दिया। महान् पारसी विद्वान दस्तूरती मेहरजी को अकबर ने 'इबादतखाने' में वाद-विवाद के लिए आमन्त्रित किया। उसके सम्पर्क में आने से अकबर की रुचि पारसी धर्म में हुई जिसके प्रभाव के कारण अकबर ने अग्नि और सूर्य के प्रति सम्मान प्रदर्शित करना आरम्भ कर दिया। उसने अपने महल में 24 घण्टे अग्नि प्रज्वलित रहने की व्यवस्था की। वह पारसियों के धार्मिक उत्सवों में भी सम्मिलित होने लगा। हिन्दू विद्वान पुरुषोत्तम और देवी निरन्तर अकबर को हिन्दू धर्म के सिद्धान्तों के बारे में बताया करते थे। उनके सम्पर्क में आने से अकबर ने हिन्दू धर्म के कर्म-सिद्धान्त और जीव के आवागमन के सिद्धान्त में विश्वास कर लिया। इस प्रकार, सभी धर्मों के सम्पर्क में आकर अकबर को यह विश्वास हो गया कि सभी धर्मों में सत्य है। अकबर के निकट सम्पर्क में विभिन्न उदार व्यक्ति थे। अब्दुल फजल और फैजी से उसके सम्बन्ध मित्रता के थे और ये व्यक्ति बहुत उदार थे। अकबर की राजपूत पत्नियों और सम्बन्धियों ने भी अकबर के विचारों को सहिष्णु बनाने में सहायता दी होगी, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता है। राजनीतिक कारण भी अकबर की उदार धार्मिक नीति के लिए उत्तरदायी थे। अपने समय के आरम्भ में विभिन्न मुसलमानों के द्वारा किये गये विद्रोहों ने उसे यह सोचने के लिए बाध्य किया कि वह वफादारी के लिए किन पर निर्भर रह सकता है? राजपूतों से उसके विवाह-सम्बन्ध हुए। उनके शौर्य, दृढ़ता और वफादारी की भावना से वह प्रभावित हुआ और उसने उन्हें अपना मित्र एवं राज्य की शक्ति का आधार बनाने का प्रयत्न किया। ऐसी स्थिति में उनके धर्म का सम्मान करना अकबर के लिए स्वाभाविक था। उसकी उदार प्रकृति उनके लिए अनुकूल थी। इस प्रकार, अपनी बहुसंख्यक हिन्दू-प्रजा और उसके युद्धप्रिय राजपूत वर्ग की सहानुभूति और वफादारी प्राप्त करके एक दृढ़ राज्य की स्थापना करने की इच्छा ने भी अकबर की उदार धार्मिक नीति के निर्माण में सहायता दी।

इन परिस्थितियों से प्रभावित होकर अकबर ने जिस धार्मिक नीति का पालन किया वह सभी धर्मों की समानता, सम्मान और सत्यता के विश्वास पर आधारित थी। अकबर की इस धार्मिक नीति का विकास क्रमशः हुआ। उदारता से आरम्भ होकर—इबादतखाने (पूजागृह) का निर्माण, दस्तावेज अथवा महजर (तथाकथित अचूक आज्ञापत्र—so-called Infallibility Decree) की घोषणा तथा विभिन्न उदार नियमों का निर्माण जिनके द्वारा सभी धर्मों को समान सुविधा देने तथा समाज और नैतिक आचरणों में सुधार करने का प्रयत्न किया गया। इस नीति की पूर्ति 'तौहीद-ए-इलाही' (दीन-इलाही) की स्थापना करके हुई। अपनी धार्मिक नीति का उद्देश्य उसने स्वयं इस प्रकार अपने शब्दों में प्रकट किया था : "एक व्यक्ति द्वारा शासित साम्राज्य के

लिए यह बुरा है कि उसके सदस्य आपस में विभक्त हों और एक-दूसरे का विरोध करते हों। इस कारण हमें उन्हें एक करना चाहिए और इस प्रकार से कि वे सभी एक होकर भी किसी भी धर्म की अच्छाइयों को न खो दें बल्कि सभी धर्मों की अच्छाइयों को ग्रहण कर सकें। इसी प्रकार ईश्वर का सम्मान होगा, प्रजा को शान्ति प्राप्त होगी और साम्राज्य की सुरक्षा होगी।"[1] इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसने आरम्भ से ही कार्य किये। दास-प्रथा की समाप्ति और हिन्दुओं से तीर्थयात्रा-कर तथा जजिया का हटाया जाना उसके प्रारम्भिक प्रमाण थे। इस्लाम धर्म के बारे में अधिक ज्ञान प्राप्त करने की लालसा से अकबर ने 1575 में फतेहपुर सीकरी में इबादतखाने का निर्माण कराया और इस्लाम धर्म के सिद्धान्तों पर वादविवाद करने के लिए उसने इस्लाम धर्म के सभी विद्वानों को आमन्त्रित किया। अकबर उनके वाद-विवादों को सुनता था। मुल्ला अब्दुल्ला और शेख अब्दुल नबी ने इन विवादों में प्रमुख भाग लिया। इससे यह स्पष्ट हुआ कि इस्लाम धर्म के सिद्धान्तों के बारे में इस्लाम धर्म के विद्वान एकमत नहीं हैं। विवादों के अवसर पर उन विद्वानों के विचारों का अन्तर ही स्पष्ट नहीं हुआ बल्कि उनकी संकीर्ण मनोवृत्ति और असहिष्णुता का भी परिचय मिला। अकबर की उपस्थिति में भी विभिन्न विद्वान एक-दूसरे को बुरा-भला कहने लगे और झगड़े तक के लिए तत्पर हो गये। अकबर को इन बातों से दुःख हुआ और इस्लाम की श्रेष्ठता से उसका विश्वास डिग गया। इस कारण, उसने हिन्दू, जैन, पारसी, ईसाई, आदि सभी धर्मों के विद्वानों को इबादतखाने में आने की आज्ञा दे दी।

जून 1579 में अकबर ने अपने खुतबा को पढ़ा जो 'अल्लाहो-अकबर' शब्दों से समाप्त हुआ जिसका अर्थ था कि 'ईश्वर महान् है।' इसका अर्थ यह कभी नहीं था कि अकबर ने स्वयं को किसी भी प्रकार ईश्वर या ईश्वरत्व से परिपूर्ण मान लिया था। कुछ समय पश्चात् सितम्बर 1579 में अकबर ने महजर को पढ़ा। अबुल फजल के पिता शेख मुबारक ने इसे तैयार किया था और प्रमुख मुसलमान धार्मिक व्यक्तियों ने इस पर हस्ताक्षर किये थे। इसके द्वारा भारत में इस्लाम धर्म से सम्बन्धित विवादों के बारे में निर्णय करने का अधिकार अकबर को दिया गया। इसी महजर को स्मिथ और वूल्जले हेग जैसे इतिहासकारों ने 'अचूक-आज्ञापत्र' (Infallibility Decree) पुकारा और कहा : "यह स्पष्ट करता है कि अकबर पोप और बादशाह, दोनों ही बनना चाहता था।" परन्तु उनका यह कहना मान्य नहीं है। इससे अकबर को यह अधिकार प्राप्त हुआ था कि मतभेद होने पर इस्लाम के सिद्धान्तों के बारे में वह अन्तिम निर्णय कर सकता था यद्यपि वह निर्णय कुरान के विरुद्ध नहीं होना चाहिए। यह अधिकार अभी तक सद्र-ए-सदर (मुख्य सदर) का था जो बादशाह का ही एक अधिकारी था। इस प्रकार, अपने ही एक अधिकारी के अधिकार को अपने

---

1 "For an empire ruled by one head, it was a bad thing to have the members divided among themselves, and at variance one with the other···We ought, therefore, to bring them all into one, but in such fashion that they should be one and all with the great advantage of not losing what is good in any one religion while gaining whatever is better in another. In that way honour would be rendered to God, peace would be given to the people, and security to the Empire." —*Cited by Smith.*

हाथों में लेने से अकबर पोप बन गया था अथवा बनना चाहता था, यह कहना उचित नहीं है।

सभी धर्मों में सत्य है, इस विश्वास को लेकर अपनी धार्मिक सहिष्णुता की नीति के व्यावहारिक प्रयोग के लिए अकबर ने निम्नलिखित विभिन्न कार्य राज्य की नीति और व्यक्तिगत उदाहरण के रूप में किये :

1. मुसलमान, हिन्दू, पारसी, ईसाई, जैन आदि सभी धार्मिक सम्प्रदायों के व्यक्तियों को अपने पूजा-स्थलों (मस्जिद, मन्दिर, गिर्जाघर आदि) को बनवाने, उनमें पूजा करने, अपने धर्म को स्वतन्त्रता से मानने और उसका प्रचार करने तथा अपने धार्मिक उत्सवों, त्यौहारों आदि को मनाने की स्वतन्त्रता दी गयी।

2. जो स्त्री, पुरुष और बच्चे जबर्दस्ती मुसलमान बनाये गये थे, उनको अपने धर्म को पुनः स्वीकार करने की आज्ञा दे दी गयी।

3. राज्य की सेवाओं में बिना किसी धार्मिक भेदभाव के सभी व्यक्तियों को योग्यता के अनुसार स्थान प्रदान किया गया।

4. हिन्दू धार्मिक ग्रन्थों जैसे अथर्ववेद, रामायण, महाभारत आदि का फारसी भाषा में अनुवाद कराया गया।

5. झरोखा-दर्शन, तुलादान जैसी प्रथाओं का आरम्भ, हिन्दू त्यौहारों जैसे होली, दिवाली, बसन्त आदि का दरबार में मनाया जाना, अकबर का स्वयं गाय का माँस न खाना, हफ्ते में कई दिन माँस न खाना, महल में अग्नि का सर्वदा जलते रखना, सूर्य की ओर मुख करके बैठना, शिकार खेलना बन्द करना, पशु-पक्षियों के वध पर बाधा लगाना, आदि ऐसे कार्य थे जो अकबर ने सहनशीलता की भावना के व्यक्तिगत उदाहरण-स्वरूप करने प्रारम्भ कर दिये।

6. राज्य की कर-व्यवस्था सम्पूर्ण प्रजा के लिए एक-समान थी।

7. धर्म के आधार पर व्यक्ति और व्यक्ति की सामाजिक स्थिति में कोई अन्तर नहीं किया जाता था। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी वेश-भूषा, आचार-विचार और सामाजिक परम्परा को मानने की सुविधा थी।

इस प्रकार राज्य की तरफ से धर्म के आधार पर प्रजा में कोई भेदभाव नहीं किया गया था और सभी धर्मों को समान सुविधाएँ प्रदान की गयी थीं। अकबर ने कुछ सामाजिक परम्पराओं और व्यक्तिगत मान्यताओं के मार्ग में बाधा अवश्य डाली, परन्तु वह कार्य सुधार की दृष्टि से किया गया। उदाहरण के तौर पर उसने हिन्दू विधवाओं को पुनर्विवाह करने का अधिकार दे दिया, बलपूर्वक स्त्रियों के सती होने पर पाबन्दी लगा दी, निकट के सम्बन्धियों में विवाह करने पर रोक लगायी, 16 वर्ष से कम आयु के लड़के और 14 वर्ष से कम आयु की लड़की का विवाह करने और शराब पीने पर रोक लगायी तथा वेश्याओं के रहने के लिए नगर में पृथक स्थान दिया गया। परन्तु ये बाधाएँ किसी सम्प्रदाय के धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप करने हेतु न थीं बल्कि कुप्रथाओं को समाप्त करने के प्रयत्न-स्वरूप थीं।

अकबर की धार्मिक नीति के विपक्ष में स्मिथ और वूल्जले हेग जैसे इतिहासकारों ने यह कहा है, "एक ओर तो अकबर ने प्रत्येक धर्म के प्रति सहिष्णुता की नीति का पालन किया परन्तु दूसरी ओर उसने इस्लाम धर्म के प्रति असहिष्णुता का

व्यवहार किया।" उनकी यह धारणा तत्कालीन ईसाई धर्म-प्रचारकों और इतिहास-कार बदायूँनी के कथन पर आधारित है। बदायूँनी ने अकबर के इस्लाम-विरोधी कार्यों की लम्बी सूची तैयार की थी जिसमें उसने बताया कि—

1. 1575 में 'मुता-शादियों' को कानूनी मान लिया गया और राज्य की मुद्रा पर 'अल्लाहो-अकबर' मुद्रित किया गया।

2. 1578-79 में दरबार में 'सिजदा' की रीति को स्वीकार कर लिया गया।

3. 1580 में व्यक्तियों को दाढ़ी बनाने की आज्ञा दे दी गयी।

4. 1581-82 में विरोधी मुल्लाओं और शेखों को कन्धार भेज दिया गया और घोड़ों से उनकी बदली की गयी।

5. अकबर ने कुत्ते और सूअर पालने आरम्भ कर दिये तथा व्यक्तियों को रेशमी और कढ़े हुए वस्त्र पहनने की आज्ञा दे दी।

6. अकबर ने क़ुरान की पुस्तकों को नष्ट कराया और अरबी भाषा की शिक्षा में बाधा डाली।

7. 1583-84 में मस्जिदों को अस्तबल बना दिया गया और अकबर ने जुआ खेलने तथा ब्याज पर रुपया उधार देने की बात को स्वीकार कर लिया।

8. अकबर ने 'हज' की यात्रा बन्द करा दी और मुसलमानों को अपने नाम के साथ अहमद या मुहम्मद लगाने से रोक दिया।

9. अकबर ने मुस्लिम नमाज, मुस्लिम त्यौहारों और रोजों (उपवासों) पर रोक लगा दी।

10. अकबर ने गाय का माँस खाने पर रोक लगा दी।

अकबर के विरुद्ध उपर्युक्त आरोप प्रमाणित नहीं किये जा सकते। अकबर ने कभी भी क़ुरान और मुहम्मद का अपमान नहीं किया और न किसी प्रकार मुस्लिम रोजों, त्यौहारों अथवा नमाज पर बाधा लगायी। हज (मक्का) की यात्रा अकबर के समय में यथावत् होती रही। युद्ध के अवसर पर कभी रिक्त मस्जिदों का उपयोग सेना के लिए कर लिया गया हो, यह सम्भव है। अरबी की तुलना में फारसी की शिक्षा पर बल और संस्कृत को भी प्रोत्साहन देना किसी भी स्थिति में अरबी की शिक्षा को समाप्त करना नहीं माना जा सकता। अकबर के समय में मुसलमान दाढ़ी रखते थे और उनके नाम के साथ अहमद या मुहम्मद होता था, यह प्रमाणित है। हिन्दुओं की भावना के कारण गाय के माँस का प्रयोग कुछ दिनों के लिए निषेध कर दिया था परन्तु इसे इस्लाम पर आक्रमण स्वीकार नहीं किया जा सकता। इस कारण बदायूँनी की आलोचना सत्य पर आधारित नहीं मानी जा सकती। बदायूँनी कट्टर मुल्ला था और वह उन कट्टर मुसलमानों में से एक था जो अकबर की धार्मिक सहिष्णुता और समानता की नीति से असन्तुष्ट थे। उनकी दृष्टि में अकबर का सबसे बड़ा अपराध यह था कि वह इस्लाम के कट्टर सिद्धान्तों को नहीं मानता था और उसने राज्य में इस्लाम की श्रेष्ठता को स्थापित करने का प्रयत्न नहीं किया था। उसी प्रकार, ईसाई धर्म-प्रचारक जो अकबर के ईसाई बन जाने की आशा करते थे, अपने उद्देश्य में असफल होकर अकबर से असन्तुष्ट हो गये और उन्होंने अकबर को घमण्डी, पाखण्डी और इस्लाम को न मानने वाला सिद्ध करने

का निष्फल प्रयत्न किया। अकबर धार्मिक दृष्टि से जिज्ञासु प्रकृति का था। विभिन्न धर्मों को समझकर उसने सभी धर्मों की सत्यता में विश्वास करना सीख लिया था। इसी कारण, उसने धर्म-परिवर्तन की आवश्यकता नहीं समझी और न किसी एक धर्म की श्रेष्ठता में विश्वास किया।

अकबर के बारे में इतिहासकारों में एक अन्य प्रश्न पर भी विवाद है। क्या अकबर जीवन भर इस्लाम धर्म को मानने वाला रहा था? डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव के अनुसार, "अकबर ने इस्लाम धर्म को छोड़ दिया था यद्यपि मुसलमानी सभ्यता की सभी बातों को छोड़ना उसके लिए असम्भव था।" उनके अनुसार अकबर का इस्लाम के पाँच मूलभूत सिद्धान्तों (कलमा, पाँच नमाज, रोजा, जकात और हज) में विश्वास न करना, एकमात्र इस्लाम धर्म को ही सत्य धर्म स्वीकार न करना, मुहम्मद को ही एकमात्र पैगम्बर स्वीकार न करना, हिन्दू रीति-रिवाजों को मानना, हिन्दू धर्म के कर्म सिद्धान्त और पुनर्जन्म के सिद्धान्त में विश्वास करना, आदि ऐसी बातें थीं जिनके कारण यह कहा जा सकता है कि अकबर ने इस्लाम धर्म को छोड़ दिया था।" डॉ. श्रीवास्तव का यह भी कहना है कि "अकबर सबसे अधिक हिन्दू धर्म से प्रभावित हुआ था....। यदि हिन्दू पण्डितों और राजाओं में इतनी उदारता होती कि वे मुसलमान राजा को हिन्दू धर्म में दीक्षित करने को तैयार होते और उस समय मूर्ति पूजा और जाति-पाँति को दूर करने की चेष्टा करते, तो सम्भव था कि अकबर हिन्दू धर्म को ग्रहण कर लेता।" डॉ. श्रीवास्तव के विपक्ष में डॉ. एस. आर. शर्मा का मत है। डॉ. शर्मा के अनुसार, "अकबर अन्त समय तक इस्लाम धर्म का मानने वाला रहा।" वे लिखते हैं: "जब सलीम ने अपने पिता के विरुद्ध विद्रोह किया, तक अकबर के विरुद्ध वह इस्लाम को न मानने का आरोप नहीं लगा सका था।" बदायूँनी (जो अकबर से असन्तुष्ट था) के कथन के अनुसार, "1598 तक पैगम्बर मुहम्मद का अपमान करने वाले को मृत्यु-दण्ड दिया जाता था।" उपर्युक्त दोनों विद्वानों के विचारों के आधार पर, सम्भवतया, यह स्वीकार करना अधिक उचित होगा कि अकबर इस्लाम के सिद्धान्तों का कट्टरता से पालन नहीं करता था और उसके व्यावहारिक प्रयोग में वह बहुत उदार रहा था यद्यपि उसने धर्म-परिवर्तन की भी कोई आवश्यकता नहीं समझी थी। वह **मृत्युपर्यन्त मुसलमान रहा और एक अच्छा मुसलमान रहा।**

1582 में अकबर ने 'तौहीते-इलाही' उर्फ 'दीन-इलाही' (Divine Monotheism) **की स्थापना की।** 1597 में 'महजर' अथवा 'खुतबा' की घोषणा करके अकबर ने धर्म विषयक जिस अधिकार को प्राप्त किया था, उसके परिणाम की बाबत डॉ. के. एस. लाल ने लिखा है: "क्योंकि बादशाह अब धार्मिक मामलों का भी प्रधान था, उसके लिए अपनी प्रजा को आध्यात्मिक नेतृत्व प्रदान करना आवश्यक हो गया था।"[1] डॉ. लाल पुनः लिखते हैं, "उन सभी व्यक्तियों को जो उसकी सुलह-कुल (सभी के साथ शान्ति) की नीति में विश्वास करते थे, वह किस प्रकार एक सूत्र में बाँधे, यह उसकी समस्या थी; और उसका उत्तर दीन-इलाही था।"[2]

---

1 "Since now the Emperor was supreme in religious matters also, he must give spiritual guidance to his people." —*Dr. K. S. Lal.*

2 "His problem was how he could bring together into one fold people who believed in his philosophy of Suleh Kul (Peace with all), and his answer was Din-I-Ilahi." —*Dr. K. S, Lal.*

अबुल फजल इस सम्प्रदाय का प्रधान पुरोहित बना। जो भी व्यक्ति इस सम्प्रदाय का सदस्य होना चाहता था वह किसी भी रविवार के दिन बादशाह के पास जाकर उसके कदमों में अपनी पगड़ी रखता था। बादशाह उसे एक 'शिस्त' प्रदान करता था जिस पर खुदा का नाम 'अल्लाहो-अकबर' खुदा होता था। इस प्रकार उस व्यक्ति को इस सम्प्रदाय का सदस्य बनाया जाता था। इस सम्प्रदाय के सदस्यों को निम्नलिखित नियमों और व्यवहार का पालन करना पड़ता था :

1. ये आपस में अभिवादन के लिए 'अल्लाहो-अकबर' और 'जल्ले-जलालेहु' शब्दों का प्रयोग करते थे।

2. ये मरने वाले के सम्मान में दी जाने वाली दावत अपने जीवन में देते थे। ये अपनी वर्षगाँठ की दावत भी देते थे और कुछ दान-धर्म भी करते थे।

3. जहाँ तक सम्भव हो, माँस का प्रयोग न किया जाय।

4. कम आयु की लड़कियों अथवा वृद्धा स्त्रियों के साथ विवाह न किया जाय।

5. सद्व्यवहार, सांसारिक मोह और इच्छाओं की समाप्ति, स्वच्छता का पालन, क्रोध का त्याग और ईश्वर-प्राप्ति का प्रयत्न किया जाय।

6. धन, सम्मान, जीवन और धर्म बादशाह को अर्पित कर दिये जायें।

इसी आधार पर इस सम्प्रदाय के सदस्यों की श्रेणी निश्चित की जाती थी। बादशाह को चारों चीजों को समर्पित करने वाला श्रेष्ठतम श्रेणी का, तीन चीजों को देने वाला द्वितीय श्रेणी का, दो चीजों को देनें वाला तीसरी श्रेणी का और एक चीज को देने वाला चौथी श्रेणी का सदस्य माना जाता था। बादशाह को इन चीजों को समर्पित करने का अर्थ सिर्फ इतना था कि उसकी उस वस्तु पर बादशाह का अधिकार हो जाता था और बादशाह जिस प्रकार तथा जिस समय चाहे उसका उपयोग कर सकता था।

दीन-इलाही के सदस्यों की संख्या केवल कुछ हजार तक ही सीमित रही और प्रतिष्ठित व्यक्तियों की संख्या इसमें अधिक से अधिक बीस थी। हिन्दू प्रतिष्ठित व्यक्तियों में से केवल बीरबल ने उसे स्वीकार किया था। राजा भगवानदास और राजा मानसिंह ने इसका सदस्य बनने से इन्कार कर दिया था। दीन-इलाही की स्थापना के कारण कुछ इतिहासकारों ने अकबर की बहुत अधिक आलोचना की है। बारतोली ने उसे 'अकबर की दूरदर्शितापूर्ण धूर्तता'[1] समझा था। इतिहासकार स्मिथ ने उसके बारे में लिखा है, "दीन-इलाही अकबर की बुद्धिमत्ता का नहीं बल्कि मूर्खता का नमूना था।"[2] परन्तु इस विचार को स्वीकार नहीं किया जाता है। वास्तव में देखा जाय तो दीन-इलाही एक धार्मिक सम्प्रदाय ही न था। उसका न कोई पैगम्बर था, न उसका कोई पूजागृह था, न उसकी कोई धार्मिक पुस्तक थी और न उसका कोई पुरोहित-वर्ग था, जो बातें एक धर्म की प्रमुख आवश्यकताएँ मानी जाती हैं। स्वयं अबुल फजल ने भी इस सम्प्रदाय को एक धार्मिक सम्प्रदाय के रूप

1 "Akbar's astute and knavish policy." —*Bartoli.*

2 "The Divine Faith was a monument of Akbar's folly, not of his wisdom." —*V. A. Smith,*

में नहीं माना था। अकबर ने इस सम्प्रदाय की सदस्यता को बढ़ाने का प्रयत्न नहीं किया था बल्कि अबुल फजल के अनुसार वह नवीन सदस्य बनाने में बहुत संकोच करता था। राजा भगवानदास और राजा मानसिंह जैसे व्यक्तियों के साथ जिन्होंने इसका सदस्य बनने से इन्कार कर दिया था, कोई दुर्व्यवहार नहीं किया गया था। दीन-इलाही एक ऐसा समुदाय अथवा समाज माना जा सकता था जिसके सदस्य समान विचारधारा के कारण आपस में बातचीत करना, मिलना-जुलना और पारस्परिक सहयोग करना आवश्यक मानते हैं। इसके अतिरिक्त, अकबर का दृष्टिकोण तर्कपूर्ण और राष्ट्रीय था। विभिन्न धर्मों को मानने वाली अपनी प्रजा को वह एकता और धार्मिक सहिष्णुता का पाठ सिखाना चाहता था। दीन-इलाही की स्थापना में अकबर का यही उद्देश्य था। डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव ने लिखा है: "दीन-इलाही की स्थापना में अकबर का महान् राजनीतिक उद्देश्य यह था कि इसके द्वारा वह हिन्दू और मुसलमान धर्मों को मिलाकर मुगल-साम्राज्य में राजनीतिक एकता स्थापित कर सके। दीन-इलाही के प्रवर्तक के रूप में उसने जो किया वह उसकी सार्वजनिक सहिष्णुता की नीति का परिणाम था और यही उसके राष्ट्रीय आदर्शवाद का प्रमाण भी है।" इस प्रकार, दीन-इलाही की स्थापना में अकबर का उद्देश्य उदार था और उसके प्रचार में भी यह उदार रहा। यदि दीन-इलाही असफल हुआ तो उसमें अकबर का दोष न था बल्कि उस युग की रूढ़िवादी परिस्थितियाँ और विचारधारा थीं। अपने लेख 'अकबर का दीन-इलाही' को डॉ. के. एस. लाल ने बहुत सुन्दरता से इस प्रकार समाप्त किया है, "वह एक अच्छे मुसलमान की तरह जीवित रहा और मरा। लेकिन कुछ पुस्तकें और बहुत-से लेख यह बताते हैं कि एक अच्छा मुसलमान औरंगजेब था न कि अकबर और जो कुछ भी अच्छा अथवा बुरा औरंगजेब ने किया वह अपनी धार्मिकता के कारण किया। अब प्रश्न यह है कि इनमें से कौन अच्छा मुसलमान था? वह जिसने मन्दिरों को तोड़ने, जजिया लगाने और अन्य धर्मों के पालन करने वालों से युद्ध करने का विचार किया अथवा वह जिसने विभिन्न धर्मों के व्यक्तियों को एक संस्था के द्वारा एक करने का विचार किया। यदि पहला व्यक्ति अच्छा मुसलमान कहलाने का अधिकारी है तो यह बात याद रखने की है कि जिस प्रकार प्रेम से प्रेम उत्पन्न होता है, उसी प्रकार घृणा से घृणा उत्पन्न होती है, तथा औरंगजेब जैसे 'अच्छे' मुसलमान सर्वदा 'अच्छे' हिन्दू, 'अच्छे' सिख और 'अच्छे' ईसाइयों को जन्म देंगे जो घृणा का उत्तर घृणा से देंगे। यह मध्ययुगीन भारत के इतिहास का सबक है। वास्तव में अकबर जो सभी के साथ शान्ति में विश्वास करता था, अच्छा मुसलमान था।"[1]

---

1 "He live and died a good Muslim, but some books and many articles say that it was Aurangzeb who was a good Muslim and Akbar was not; and whatever good or bad Aurangzeb did, was due to his religious piety. Now who was a good Muslim—one who thought of breaking temples, imposing the Jeziya and carrying on war on people of other faiths, or one who thought of uniting people of different faiths in one fraternity? If the former, then it has to be remembered lhat as love begets love, hate begets hate and good Muslims like Aurangzeb will always produce good Hindus and good Sikhs and good Christians who will answer

अकबर की धार्मिक नीति का परिणाम बहुत लाभदायक रहा। अधिकांश भारतीय जनता ने उसकी धार्मिक सहिष्णुता की नीति का हृदय से स्वागत किया। परन्तु एक छोटा वर्ग ऐसा भी था जिसने अकबर की इस नीति का विरोध किया। वह वर्ग इस्लाम के कट्टर समर्थकों का था जो अकबर से इस्लाम की श्रेष्ठता को स्थापित करने की आशा करते थे। उन्होंने मुसलमान-प्रजा को अकबर के विरुद्ध भड़काया और यह कहा कि अकबर ने इस्लाम धर्म को छोड़ दिया है। 1580 में जौनपुर के काजी मुहम्मद याजदी ने एक फतवा निकाला कि "अकबर मुसलमान नहीं रहा, इस कारण उसके विरुद्ध विद्रोह करना धर्म के अनुकूल है।" अतः बंगाल और बिहार में 1581-82 में विद्रोह हुआ और अकबर के सौतेले भाई मिर्जा हकीम ने भारत पर आक्रमण करके उसे जीतने की आशा की। परन्तु ये विद्रोह असफल हुए और अन्त में अकबर की नीति को अधिकांश व्यक्तियों ने स्वीकार कर लिया। कट्टर मुसलमानों के अतिरिक्त उन ईसाई पादरियों और धर्म-प्रचारकों ने भी अकबर की नीति की कटु आलोचना की जो अकबर को ईसाई धर्म में परिवर्तित करने में असफल रहे थे।

परन्तु भारत की बहुसंख्यक हिन्दू जनता और फारसी, जैन आदि धर्मावलम्बियों ने अकबर की इस नीति का समर्थन किया और वे सभी अकबर और मुगल-साम्राज्य के प्रति वफादार हो गये। अतः मुगल-साम्राज्य के विस्तार और स्थायित्व में अकबर की इस धार्मिक नीति ने बहुत सहयोग दिया और अकबर को राष्ट्रीय सम्राट होने का गौरव प्राप्त हुआ। अकबर ने राज्य को एक अल्पमतवादी धर्म के समर्थकों तथा मुल्ला और उल्माओं के प्रभाव और अत्याचार से मुक्त कर दिया। डॉ. एस. आर. शर्मा ने लिखा है : "अकबर के पक्ष में न्यायपूर्ण आधार पर यह कहा जा सकता है कि उसने भारत को अल्पमतवादियों के धर्म की सत्ता से मुक्त कर दिया। भारत के अन्य मुसलमान शासकों ने भी उससे पहले इस स्वतन्त्रता का उपयोग किया था, परन्तु उन्होंने उसका प्रयोग हिन्दुओं पर अधिक अत्याचार करने के लिए किया।"[1] (उदाहरणार्थ, अलाउद्दीन खलजी और मुहम्मद तुगलक)। केवल अकबर ने ही मुल्लाओं के प्रभाव से मुक्त होकर भारत में एक नागरिकता को स्थापित करने का प्रयत्न किया। डॉ. एस. आर. शर्मा ने लिखा है, "उसकी उदारता अपनी समकालीन इंगलैण्ड की रानी एलिजाबेथ से अधिक विस्तृत थी। वास्तव में इंगलैण्ड उस धार्मिक सहनशीलता की स्थापना और नागरिक असुविधाओं से मुक्ति 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध से पहले प्राप्त नहीं कर सका जिसकी स्थापना अकबर ने

---

hate with hate. This is the lesson of medieval Indian history. It was Akbar, a believer in peace with all, that was a good Muslim in the true sense of the world."

—Dr. K. S. Lal, *Studies in Medieval Indian History*.

1 "What can fairly be claimed for him is that he emancipated India from its domination by the religion of minority. Other Muslim rulers in India had claimed such independence earlier but only to be able to persecute the Hindus better." (*i.e.*, Alla-uddin Khilji and Muhammad Tughluq.) —*Dr. S. R. Sharma.*

16वीं सदी में भारत में की थी।"[1] डॉ. एस. आर. शर्मा ने पुनः लिखा है कि "भारत के शासकों में उसका स्थान बहुत ऊँचा है, और अन्य बातों के अतिरिक्त इसका मुख्य कारण यह था कि उसने हिन्दू और मुसलमानों को निकट लाने का प्रयत्न किया और उसमें कुछ सफलता भी पायी। यदि उसे एक राष्ट्र के निर्माण में सफलता नहीं मिली तो उसका कारण यह था कि वह अपने समय की परिस्थितियों को तत्काल परिवर्तित नहीं कर सकता था। यह बात याद रखने की है कि जबकि यूरोप विरोधी सम्प्रदायों के संघर्षों से परिपूर्ण था, जबकि रोमन कैथोलिक प्रोटेस्टेन्टों को जीवित जला रहे थे और प्रोटेस्टेन्ट रोमन कैथोलिकों को कत्ल कर रहे थे, अकबर ने विरोधी सम्प्रदायों को ही नहीं बल्कि विभिन्न धर्मों को भी शान्ति प्रदान की। यदि उसकी उदारता के विस्तार, जिन नस्लों पर वह उदारता लागू की गयी उनको, और तत्कालीन परिस्थितियों को ध्यान में रखा जाय तो यह कहा जा सकता है कि आधुनिक युग में धार्मिक उदारता के क्षेत्र में वह प्रथम और महान् अन्वेषणकर्ता था।"[2]

जहाँगीर

धार्मिक नीति की दृष्टि से जहाँगीर का स्थान अपने पिता अकबर और पुत्र शाहजहाँ के मध्य में आता है। जहाँगीर ईश्वर में विश्वास करता था और साधारणतया अपने धर्म के मुख्य नियमों का पालन करता था। परन्तु धर्म से उसे विशेष रुचि न थी। इस्लाम के सिद्धान्तों का पालन भी वह बहुत कट्टरता से नहीं करता था। वह सभी धर्मों के मानने वालों से मिलता था। अतः उसका दृष्टिकोण उदार बन गया था। ईश्वर की एकता में भी उसका विश्वास था। इस कारण, जहाँगीर अपने व्यक्तिगत व्यवहार और नीति की दृष्टि से धार्मिक मामलों में उदार रहा। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, आदि सभी धर्मावलम्बियों को राज्य की ओर से समान सुविधाएँ प्राप्त थीं और शासन में राज्य की ओर से धर्म के प्रति वही दृष्टिकोण

---

1 "His toleration was more comprehensive than that of his contemporary the English queen, Elizabeth. Indeed, it was not till the later half of the 19th century that England was able to adopt religious toleration and freedom from civic disabilities to the extent to which Akbar had in India in the 16th century."

—*Dr. S. R. Sharma.*

2 "Among the rulers of India he occupies a very high place—among other things—his having attempted to bring Hindus and Muslims together with some success. If he did not get success in creating a nation, it was because he could not hurry the march of events. It is worth remembering that at a time when Europe as plunged into strife of warring sects, when Roman Catholics were burning Protestents at the stake, and Protestents were executing Roman Catholics, Akbar guaranteed peace not only to 'warring sects' but to differing religions. In the modern age, he was the first and almost the greatest experimenter in the field of religious toleration if the scope of his toleration, the races to which it was applied, and the contemporary conditions be taken into account."

—*Dr. S. R. Sharma.*

रखा गया जो अकबर के समय में था। हिन्दुओं को राज्य में सम्मानित पद दिये जाते थे और उन पर कोई अतिरिक्त कर नहीं लगाया गया था। परन्तु जहाँगीर के समय की कुछ घटनाएँ अवश्य ऐसी हैं जो यह स्पष्ट करती हैं कि कभी-कभी जहाँगीर ने इस्लाम धर्म का पक्ष लिया था। रजौरी के हिन्दुओं को उसने इसलिए दण्ड दिया था कि वे मुसलमान लड़कियों से विवाह करके उन्हें हिन्दू बना लिया करते थे, काँगड़ा के किले को जीतकर उसने वहाँ एक गाय को कटवाकर उत्सव मनाया था, अजमेर के वाराह मन्दिर की मूर्तियों को उसने तालाब में फिकवा दिया था और पुर्तगालियों से युद्ध के अवसर पर राज्य के सभी गिर्जे बन्द करवा दिये गये थे। इसी प्रकार, गुरु अर्जुन को दण्ड देने में उसका एक कारण यह था कि उसे उनके विचारों से चिढ़ थी। एक बार उसने जैनियों से अप्रसन्न होकर उन्हें गुजरात से बाहर चले जाने के आदेश दिये थे। परन्तु ये सभी घटनाएँ एक विशेष अवसर अथवा परिस्थिति के कारण थीं। गुरु अर्जुन को दण्ड देने का कारण राजनीतिक भी था। जहाँगीर ने सिख-सम्प्रदाय के कार्यों में कोई हस्तक्षेप नहीं किया था। इसके अतिरिक्त, जब हम यह देखते हैं कि असन्तुष्ट होने पर उसने मुस्लिम धर्म-प्रचारकों जैसे शेख रहीम, काजी नूरुल्ला, शेख अहमद सरहिन्दी, आदि को भी दण्ड दिया था तो यह स्पष्ट हो जाता है कि उसका हिन्दू, जैन, सिख अथवा ईसाइयों के साथ कठोरता करने का कारण राजनीतिक और परिस्थितियोंवश ही था, न कि धार्मिक कट्टरता। साधारणतया जहाँगीर सभी धर्मों के प्रति उदार रहा और सभी से उसका सम्पर्क रहा। मुख्यतया हिन्दुओं से उसका सम्बन्ध घनिष्ट था और वह उनके सभी त्यौहारों तथा उत्सवों में भाग लेता था। इस प्रकार अपने पिता के समान न होते हुए भी जहाँगीर धार्मिक दृष्टि से उदार रहा और उसने अपने पिता के समय की अधिकांश परम्पराओ को जीवित रखा। परन्तु उसके समय में अकबर की नीति में थोड़ा परिवर्तन अवश्य हो गया था।

शाहजहाँ

शाहजहाँ अपने धार्मिक विचारों में अकबर और जहाँगीर की तुलना में अधिक अनुदार सिद्ध हुआ। व्यक्तिगत दृष्टि से वह सुन्नी मुसलमान था। वह नमाज पढ़ने और रोजा रखने का नियमपूर्वक पालन करता था। उसने दाढ़ी रखी थी, वह मुसलमानों के ढंग से वस्त्र पहनता था, उसने हिन्दुओं को मुसलमानी ढंग से वस्त्र पहनने के लिए मना किया था और वह शराब का प्रयोग बहुत कम मात्रा में करता था। उसने अपने शासन के प्रारम्भिक वर्षों में धार्मिक कट्टरता का भी प्रमाण दिया। उसने 'सिजदा की प्रथा' (बादशाह के आगे जमीन पर लेटकर दण्डवत् करना) को दरबार से समाप्त कर दिया, इलाही सम्वत् के स्थान पर हिजरी सम्वत् को आरम्भ किया, हिन्दुओं को मुसलमान गुलाम रखने से रोक दिया और हिन्दुओं पर तीर्थयात्रा-कर लगाया यद्यपि थोड़े समय के पश्चात् उसे हटा दिया। उसने दरबार में हिन्दू त्यौहारों और उत्सवों को मनाना बन्द कर दिया जबकि मुसलमानी त्यौहारों को मनाना यथावत् रखा। उसने हिन्दुओं को नवीन मन्दिर बनाने और पुराने मन्दिरों की मरम्मत कराने से रोक दिया। उसके समय में बहुत-से हिन्दू मन्दिर तोड़े गये, जैसे बनारस, इलाहाबाद, गुजरात और कश्मीर के अनेक मन्दिर। अकेले बनारस और उसके निकट के स्थानों में ही प्रायः 72 मन्दिर तोड़े गये थे। ओरछा के हिन्दू-मन्दिरों को तोड़कर औरंगजेब ने मस्जिदें बनवायीं और जूझरसिंह के परिवार के कुछ सदस्यों

को इस्लाम स्वीकार करने के लिए बाध्य किया गया। उसके समय में हिन्दू-मन्दिरों की चीजों को मस्जिदें बनाने के लिए भी प्रयोग में लाया गया था। पुर्तगालियों से युद्ध होने पर उसने आगरा के गिर्जाघरों को तुड़वा दिया था। उसने हिन्दू और ईसाइयों को अन्य धर्मों में विश्वास करने वाले व्यक्तियों को अपने धर्म में परिवर्तन करने से रोक दिया। रजौरी और भीमवार में हिन्दू मुसलमान लड़कियों से विवाह करके उन्हें हिन्दू बना लिया करते थे। शाहजहाँ ने आदेश दिये कि ऐसी सभी लड़कियों को उनके पतियों से छीनकर उनके माँ-बाप को वापस कर दिया जाय और भविष्य में हिन्दू मुसलमान लड़कियों से विवाह न करें। अपने शासन के सातवें वर्ष में शाहजहाँ ने यह आदेश दिया कि जो हिन्दू मुसलमान बन जायेगा उसे तुरन्त उसके पिता की सम्पत्ति का हिस्सा प्राप्त हो जायेगा। उसके सम्पूर्ण शासनकाल में मुसलमान बनाये जाने के कार्य को प्रोत्साहन दिया गया। युद्धबन्दियों को मुसलमान बनाये जाने की प्रथा पुनः आरम्भ की गयी, अपराधियों को इस्लाम स्वीकार करने पर मुक्त कर देने की व्यवस्था की गयी, हिन्दू स्त्रियों से विवाह करने से पहले उनको मुसलमान बनाया जाना आवश्यक कर दिया गया और कुरान अथवा मुहम्मद का अपमान करने वाले के लिए मृत्यु-दण्ड की व्यवस्था की गयी। शाहजहाँ ने व्यक्तियों को मुसलमान बनाने के लिए पृथक विभाग स्थापित किया। वह नियमित रूप से मक्का के मुल्लाओं और फकीरों के लिए दान-दक्षिणा भेजता रहता था। इन सभी बातों से यह स्पष्ट होता है कि शाहजहाँ ने अकबर की धार्मिक समानता की नीति को समाप्त कर दिया था और वह इस्लाम की श्रेष्ठता में विश्वास करता था।

परन्तु शाहजहाँ का समय धार्मिक कठोरता का भी स्वीकार नहीं किया जा सकता। उसने प्रारम्भ में इस्लाम के समर्थन के लिए जो उत्साह दिखाया वह बाद के समय में धीरे-धीरे कम हो गया। उसके आरम्भ में बनाये गये बहुत-से नियमों का पालन बाद में नहीं किया गया। सम्भवतया, इसका मुख्य कारण उसके पुत्र दाराशिकोह और पुत्री जहाँआरा का प्रभाव था जो धार्मिक दृष्टि से बहुत उदार थे। हिन्दू सरदारों के महत्व और शासन में उनके प्रभाव ने भी शाहजहाँ को अपनी आरम्भ की नीति को परिवर्तित करने में सहायता दी होगी। शाहजहाँ के काल में धार्मिक अत्याचार की नीति नहीं अपनायी गयी और इस्लाम के समर्थन का प्रारम्भिक उत्साह उसके बाद के समय में बहुत कम हो गया। शाहजहाँ ने झरोखा-दर्शन, तुलादान और हिन्दू राजाओं के माथे पर तिलक लगाने की प्रथा को यथावत् रखा, हिन्दुओं या अन्य धर्म को मानने वालों पर कोई अतिरिक्त कर नहीं लगाया, बाद के समय में हिन्दू मन्दिरों को तोड़ना बन्द कर दिया और जब हिन्दू वैरागियों और गुरु हरगोविन्द ने बहुत-से मुसलमानों को हिन्दू अथवा सिख बनाने में सफलता पायी तब उस ओर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया। शाहजहाँ के दरबार में हिन्दू विद्वानों को सम्मान प्राप्त होता रहा। सुन्दरदास, चिन्तामणि, कवीन्द्राचार्य आदि विद्वानों को राजकीय संरक्षण प्राप्त था। दाराशिकोह के संरक्षण में संस्कृत के धार्मिक ग्रन्थों का फारसी में अनुवाद किया गया। शाहजहाँ ने अहमदाबाद के चिन्तामणि के मन्दिर की मरम्मत की आज्ञा दी और काम्बे के नागरिकों की प्रार्थना पर वहाँ गौ-हत्या बन्द करा दी। शाहजहाँ के समय में हिन्दुओं को शासन और सेना में सम्मानित पद प्राप्त थे। राजा जसवन्तसिंह और राजा जयसिंह उसके बड़े सरदार थे। औरंगजेब जब दूसरी बार दक्षिण का सूबेदार बना था, तब उस अवसर पर राजपूतों के प्रति उसके दुर्व्यवहार के लिए

शाहजहाँ ने उसे डाँटा था। उसके समय में गायकों, नर्तकों और चित्रकारों, आदि सभी को दरबार से संरक्षण प्राप्त होता था। इस प्रकार, शाहजहाँ के समय में शासन की ओर से अन्य धर्मों के प्रति अत्याचार, घृणा और भेदभाव की नीति नियमित रूप से नहीं अपनायी गयी। हिन्दुओं को ही नहीं बल्कि ईसाई और अन्य धर्म के मानने वालों को भी अपने धर्म को मानने की स्वतन्त्रता थी और उनका दैनिक धार्मिक जीवन राज्य के हस्तक्षेप से स्वतन्त्र था। अपने बाद के समय में शाहजहाँ ने कई बार औरंगजेब को उसकी धार्मिक अनुदारता और व्यवहार के लिए टोका था और उसकी बात को मानने से इन्कार कर दिया था। इस कारण, शाहजहाँ का समय धार्मिक असहिष्णुता का नहीं माना जा सकता और इसमें सन्देह नहीं है कि शाहजहाँ अपनी प्रजा का प्रेम और वफादारी प्राप्त कर सका था। परन्तु तब भी उसके समय में धार्मिक संकीर्णता की ओर झुकाव हो गया था तथा अकबर के महान् उद्देश्य को भुला दिया गया था, यह स्वीकार करना पड़ता है।

औरंगजेब

औरंगजेब की धार्मिक नीति असहिष्णुता की थी। वह व्यक्तिगत दृष्टि से कट्टर सुन्नी मुसलमान, इस्लाम के कानून को अक्षरशः मानने वाला और अपनी कट्टर सुन्नी प्रजा के लिए 'जिन्दा पीर' था। वह नमाज और रोजे में नियमित था, वह बहुत सादे वस्त्र पहनता था और शराब उसने जीवनभर नहीं पी। मुगल बादशाहों में धार्मिक दृष्टि से इतना चरित्रवान बादशाह कोई नहीं हुआ। परन्तु औरंगजेब धर्मान्ध था। अपने धर्म की सत्यता और श्रेष्ठता में विश्वास करते हुए वह यह नहीं सोच सका था कि अन्य धर्मों में भी सत्यता हो सकती है। अन्य धर्मों के बारे में ही नहीं बल्कि इस्लाम के शिया तथा अन्य मतावलम्बियों को भी वह पथभ्रष्ट मानता था। यदि औरंगजेब ने अपने इन विचारों को अपने व्यक्तिगत जीवन तक ही सीमित रखा होता तो वह एक पवित्र और चरित्रवान शासक माना जाता। परन्तु औरंगजेब को बादशाहत सुन्नी मत और इस्लाम की श्रेष्ठता को स्थापित करने के लिए प्राप्त हुई थी। औरंगजेब का राजत्व-सिद्धान्त इस्लाम का राजत्व-सिद्धान्त था। इस कारण औरंगजेब का लक्ष्य इस (भारत) 'दार-उल-हर्ब' (काफिरों का देश) को 'दार-उल-इस्लाम' (इस्लाम का देश) बनाना बन गया। औरंगजेब अपने जीवनपर्यन्त इस लक्ष्य को न भूल सका और न अपने शासन की नीति को इससे पृथक रख सका। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसने अपने पिता को बन्दी बनाया, अपने भाइयों को कत्ल किया, अपने पुत्र अकबर को दर-दर की ठोकर खाने के लिए छोड़ दिया, राजपूतों, जाटों, सिखों और मराठों को संघर्ष करने के लिए बाध्य कर दिया, दक्षिण के शिया-राज्यों बीजापुर और गोलकुण्डा को समाप्त कर दिया तथा अपने राज्य की बहुसंख्यक हिन्दू-प्रजा पर शासन, सम्मान, धर्म, अर्थ, आदि सभी प्रकार से इतना दबाव डालने का प्रयत्न किया जिससे वे धर्म-परिवर्तन के लिए बाध्य हो जायँ। औरंगजेब का विश्वास था कि उससे पहले के सभी मुगल शासकों ने सबसे गम्भीर भूल यह की थी कि उन्होंने भारत में इस्लाम की श्रेष्ठता को स्थापित करने का प्रयत्न नहीं किया था। औरंगजेब ने अपने जीवन में इस कार्य की पूर्ति करने का प्रयत्न किया। उसके अनुसार यह इस्लाम के मानने वाले शासक का प्रमुख कर्तव्य था। इस कारण, औरंगजेब का राजत्व-सिद्धान्त संकीर्ण बन गया, उसका कर्तव्य सीमित हो गया, उसकी धार्मिक नीति असहिष्णु बन गयी और वह अपनी बहुसंख्यक प्रजा का राजा न रहा।

औरंगजेब की नीति आरम्भ से कट्टरता की रही। उसने सिक्कों पर कलमा खुदवाना बन्द कर दिया, नौरोज का त्यौहार मनाना बन्द कर दिया, तुलादान और झरोखा-दर्शन की प्रथाओं को समाप्त कर दिया, दरबार से नाचने-गाने वालों को निकाल दिया और जब उन्होंने उसके विरोध में वाद्य-यन्त्रों का जनाजा निकाला तब उसने कहा कि इनको इतना गहरा दबाना कि दुबारा न उठ सकें। उसने दरबार से ज्योतिषियों को निकाल दिया, भंग का उत्पादन बन्द कर दिया, शराब पीने और जुआ खेलने को बन्द करने का प्रयत्न किया, सती-प्रथा पर प्रतिबन्ध लगाया, वेश्याओं को विवाह करने अथवा देश छोड़ने के आदेश दिये और दरबार में होली, बसन्त आदि हिन्दू त्यौहारों का मनाना बन्द कर दिया। इस बात की देखभाल के लिए कि उसके धार्मिक नियम माने जायें, औरंगजेब ने मुहतसिबों (धर्म-निरीक्षकों) की नियुक्ति की। मुहतसिबों का कर्तव्य था कि वे देखें कि मुसलमान ठीक प्रकार से अपने धर्म का पालन करते हैं अथवा नहीं। उनका कर्तव्य धर्म-विरोधियों तथा इस्लाम की निन्दा करने वालों को दण्ड देने का भी था। औरंगजेब के समय में उदार शियाओं और सूफियों को भी दण्डित किया गया।

यह मत प्रकट किया गया है कि अपने व्यक्तिगत धार्मिक विचारों के अतिरिक्त औरंगजेब की धार्मिक कट्टरता की नीति का कारण उसकी परिस्थितियाँ भी थीं। एक तरफ, अकबर की उदार धार्मिक नीति के कारण हिन्दुओं और मुख्यतया राजपूतों को समाज और शासन में अपने प्रभाव को बढ़ाने का अवसर मिल गया था और दूसरी तरफ, जहाँगीर और शाहजहाँ के समय में इस्लाम के कट्टर समर्थकों का प्रभाव बढ़ गया था। इन दो विरोधी विचारों के समर्थकों ने उत्तराधिकार के युद्ध में विरोधी शाहजादों का पक्ष लिया। औरंगजेब को इस्लाम के कट्टर समर्थकों का सहयोग प्राप्त हुआ जबकि राजपूतों ने उसका विरोध करते हुए दाराशिकोह का पक्ष लिया। इस कारण, यह स्वाभाविक था कि सिंहासन पर बैठने के पश्चात् औरंगजेब इस्लाम के कट्टर समर्थकों का समर्थन करता और राजपूतों का विरोध करता। उपर्युक्त विचार तर्कपूर्ण हैं परन्तु इस तथ्य से भी इन्कार नहीं किया गया है कि औरंगजेब की धार्मिक नीति का एक प्रमुख कारण उसकी स्वयं की धार्मिक कट्टरता थी।

अपनी बहुसंख्यक हिन्दू प्रजा के प्रति औरंगजेब बहुत कठोर रहा। उसने आरम्भ से ही उसके धर्म पर आक्रमण करना आरम्भ कर दिया था परन्तु राजा जयसिंह (अम्बर), राय रघुनाथ (राज्य का दीवान) और अन्त में राजा जसवन्तसिंह (मारवाड़) की मृत्यु हो जाने के पश्चात् तो औरंगजेब हिन्दुओं पर प्रत्येक प्रकार के अत्याचार के लिए तत्पर हो गया। एक आदेश के अनुसार हिन्दुओं को अपने मन्दिरों की मरम्मत करने का अधिकार न रहा और 1669 में सभी सूबेदारों और मुहतसिबों को हिन्दू-मन्दिरों और पाठशालाओं को तोड़ देने की आज्ञा दी गयी जिससे हिन्दू अपने धर्म और शिक्षा का प्रसार न कर सकें। इसके लिए एक पृथक विभाग भी खोला गया। यह तो सम्भव नहीं हो सकता था कि हिन्दुओं की सभी पाठशालाएँ और हिन्दू-मन्दिर नष्ट कर दिये जाते परन्तु बनारस का विश्वनाथ का मन्दिर, मथुरा का केशवदेव का मन्दिर, पाटन का सोमनाथ का मन्दिर और प्रायः सभी बड़े-बड़े मन्दिर, मुख्यतया उत्तर-भारत के, इसी समय में तोड़े गये। अधीन हिन्दू राजाओं के राज्यों में भी यह कार्य किया गया। अनेक स्थानों पर मन्दिरों के स्थान पर मस्जिदें

खड़ी की गयीं और मूर्तियों तथा मन्दिरों के भग्नावशेषों को मस्जिदों की नींवों और सीढ़ियों में लगाया गया। 1679 में हिन्दुओं पर 'जजिया' लगाया गया। इस कर को वसूल करने के लिए सभी गैर-मुस्लिमों को तीन वर्गों में बाँटा गया था। जिन व्यक्तियों की वार्षिक आय 200 दिरहम से कम थी, उन्हें केवल 12 दिरहम प्रति वर्ष कर देना पड़ता था; जिन व्यक्तियों की वार्षिक आय 200—10,000 दिरहम के मध्य थी, उन्हें 24 दिरहम प्रति वर्ष कर देना होता था; और जिन व्यक्तियों की आय 10,000 दिरहम प्रति वर्ष से अधिक थी, उन्हें 48 दिरहम प्रति वर्ष कर देना पड़ता था। मजदूरों से यह कर उसी समय लिया जाता था जब उनकी आयु उनके परिवार के व्यय से अधिक होती थी। स्त्रियाँ, गुलाम, भिखारी और 14 वर्ष से कम आयु के बच्चे, आदि इस कर से मुक्त थे। अधीन हिन्दू राजाओं, ब्राह्मणों और निर्धन हिन्दुओं को भी इसे देने के लिए बाध्य किया गया जैसा कि पहले कभी नहीं हुआ था। यह कहना भूल है कि हिन्दुओं के लिए राज्य की सैनिक सेवा अनिवार्य न थी, इस कारण उन्हें ज़जिया देने के लिए बाध्य किया गया था क्योंकि औरंगजेब ने अपने हिन्दू-सैनिकों और सरदारों को भी जजिया देने के लिए बाध्य किया था। हिन्दुओं पर तीर्थयात्रा-कर लगाया गया। मुसलमान व्यापारी कर से मुक्त रखे गये जबकि हिन्दू व्यापारियों से वस्तु के मूल्य का 5% व्यापारिक कर के रूप में लिया गया। जहाँ तक भी सम्भव था, हिन्दुओं को लगान-अधिकारियों के पदों से हटाया गया और सेना में उन्हें ऊँचा पद देना बन्द कर दिया गया। राय रघुनाथ, राजा जयसिंह और राजा जसवन्तसिंह की मृत्यु के पश्चात् किसी भी राजपूत सरदार या राजा को राज्य की तरफ से बड़ा मनसब नहीं दिया गया। 1688 में हिन्दुओं के त्यौहारों और उत्सवों पर प्रतिबन्ध लगाया गया और उस वर्ष राजपूतों के अतिरिक्त सभी हिन्दुओं को पालकी या अच्छे घोड़े की सवारी करने तथा हथियार रखने से रोक दिया गया। हिन्दुओं पर इस प्रकार दबाव डालने का सिर्फ एक ही आशय हो सकता था और वह था धर्म-परिवर्तन। औरंगजेब ने आर्थिक दबाव, सामाजिक असम्मान और राजनीतिक सुविधाओं से वंचित करना, आदि के द्वारा हिन्दुओं को इस्लाम धर्म में परिवर्तित करने का प्रयत्न किया। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए हिन्दू-प्रजा को विभिन्न प्रकार के लालच भी दिये जाते थे, इसमें भी सन्देह नहीं है। पद का लालच, धन और सम्मान का लालच और दण्ड से मुक्ति, साधारणतया प्रयोग में लाये जाते थे। सिखों के गुरु तेगबहादुर को इस्लाम को स्वीकार करने के लिए कहा गया और उनके इन्कार करने पर उन्हें कत्ल कर दिया गया। मराठा-राजा शम्भाजी और उसके मन्त्री कवि कलश को भी इस्लाम स्वीकार करने के पश्चात् माफ कर देने का आश्वासन दिया गया था। यह कहना ठीक नहीं होगा कि औरंगजेब ने आर्थिक अथवा किसी राजनीतिक कारण से हिन्दुओं के प्रति यह नीति अपनायी थी। इस नीति के लिए मूल रूप से औरंगजेब की धार्मिक कट्टरता ही उत्तरदायी थी। लेनपूल ने लिखा है : "अपने इतिहास में मुगलों ने पहली बार एक कट्टर मुसलमान को बादशाह के रूप में देखा—एक ऐसा मुसलमान जो अपना दमन भी उतना ही करता था जितना कि अपनी प्रजा का, और एक ऐसा बादशाह जो अपने धर्म के लिए अपने राजसिंहासन को भी छोड़ने के लिए तत्पर था।"[1] औरंगजेब 40 वर्ष की परिपक्व आयु में

1 "For the first time in their history, the Mughals beheld a rigid Muslim in their Emperor—a Muslim as sternly repressive of

बादशाह बना था। वह व्यवहार-कुशल, चालाक और कूटनीतिज्ञ था। ऐसा सम्भव नहीं था कि वह अपनी नीति के दुष्परिणामों को न समझ सका हो। परन्तु तब भी वह मृत्युपर्यन्त दृढ़ता से अपनी धार्मिक कट्टरता की नीति का पालन करता रहा। उसका धार्मिक उत्साह ही इसका मूल कारण था। लेनपूल ने पुनः लिखा है : "दक्षिण की महान् सेना के क्षत-विक्षत अवशेषों के बीच में पड़े हुए प्रायः 90 वर्ष के मरणासन्न औरंगजेब की आत्मा में धार्मिक उत्साह की वही अग्नि धधक रही थी जिसके कारण, उसी प्रान्त में, अपनी युवावस्था के समय में उसने अपनी सूबेदारी की पोशाक फेंककर एक भिखारी फकीर के निकृष्ट वस्त्र पहन लिये थे।"[1] उसकी धार्मिक असहिष्णुता के कार्यों पर विचार करते हुए डॉ. एस. आर. शर्मा ने लिखा है : "ये सभी कार्य एक योग्य शासक अथवा एक निर्माणकर्ता राजनीतिज्ञ के नहीं थे बल्कि एक अन्धी धर्मान्धता का फूट पड़ना था जो निस्सन्देह, अन्य सभी क्षेत्रों में मेधावी औरंगजेब के लिए शोभनीय न था।"[2] डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव ने भी औरंगजेब की धार्मिक नीति को पूर्ण धर्मान्धता की बताया है। इस कारण, औरंगजेब की व्यक्तिगत पवित्रता, गुण, योग्यता और नीति आदि सभी उसकी उस व्यक्तिगत धर्मान्धता के आगे दब गये जिसका प्रयोग उसने एक शासक की भाँति किया। **औरंगजेब ने अकबर द्वारा आरम्भ की गयी धार्मिक सहिष्णुता की नीति में आमूल परिवर्तन कर** दिया और यही उसके लिए और मुगल-साम्राज्य की शक्ति व समृद्धि के लिए सबसे अधिक घातक सिद्ध हुआ।

औरंगजेब की इस धार्मिक नीति के भयंकर दुष्परिणाम हुए। उसने मुगल-साम्राज्य की एकता, शक्ति, शान्ति और समृद्धि को नष्ट कर दिया। वह औरंगजेब की विफलता का ही कारण नहीं बल्कि मुगल-साम्राज्य के पतन के लिए भी उत्तरदायी हुई। उसका प्रत्यक्ष परिणाम जाटों, सतनामियों, सिखों आदि के विद्रोह तथा बुन्देलखण्ड, दोआब आदि स्थानों पर समय-समय पर हुए उपद्रव थे। राजपूतों का विरोध और मराठों के संघर्ष का एक प्रमुख कारण भी यह नीति थी। सबसे पहले मथुरा के निकट गोकुल के नेतृत्व में जाटों ने विद्रोह किया। राजाराम की मृत्यु के पश्चात् भी जाटों का यह विद्रोह समाप्त नहीं हुआ और अन्त में औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् जाटों ने भरतपुर के स्वतन्त्र राज्य की स्थापना करने में सफलता पायी। दूसरा विद्रोह नारनौल और मेवात के जिलों में 'सतनामी' नामक धार्मिक सम्प्रदाय का था। कई युद्धों के पश्चात् ही इस विद्रोह को दबाया जा सका। औरंगजेब ने सिखों के

---

himself as of his people around him, a King who was prepared to stake his throne for the sake of his faith." —*Lane-Poole.*

1 "The flame of religious zeal blazed as hotly in his soul when he lay dying among the ruins of his Grand Army of the Deccan, an old man on the verge of ninety, as when, in the same fatal province, but then a youth in the springtime of life, he had thrown off the purple of viceregal state and adopted the mean garb of a mendicant fakir." —*Lane-Poole.*

2 "These were not the acts of a righteous ruler or a constructive statesman, but the outbursts of blind fanaticism, unworthy of the great genius that Aurangzeb undoubtedly possessed in all other respects." —*Dr. S. R. Sharma.*

नवें गुरु तेगबहादुर को कैद करके इस्लाम स्वीकार करने के लिए कहा और गुरु के इन्कार करने पर उनको कत्ल कर दिया। गुरु तेगबहादुर के पुत्र और सिखों के दसवें गुरु गोविन्दसिंह ने सिख सम्प्रदाय को सैनिक-सम्प्रदाय बनाया और निरन्तर औरंगजेब से संघर्ष किया। गुरु के दो पुत्र युद्ध में मारे गये, दो पुत्रों को दीवार में जिन्दा चिनवा दिया गया और गुरु को एक स्थान से दूसरे स्थान पर भागना पड़ा। परन्तु उन्होंने अपने संघर्ष को न छोड़ा। औरंगजेब के अन्तिम समय तक पंजाब में सिख पर्याप्त शक्तिशाली हो गये थे और औरंगजेब के पुत्र बहादुरशाह ने अपने भाइयों के विरुद्ध गुरु गोविन्दसिंह से सहायता प्राप्त की। 1678 में राणा जसवन्तसिंह की मृत्यु होते ही औरंगजेब राजपूतों के राज्यों को अपनी प्रत्यक्ष अधीनता में लाने के लिए प्रयत्नशील हो गया जिसके फलस्वरूप उसका राजपूतों से संघर्ष आरम्भ हुआ। औरंगजेब मारवाड़ को मुगल राज्यों में सम्मिलित करने में सफल हुआ परन्तु दुर्गादास के नेतृत्व में राठौरों ने अजीतसिंह को राजा बनाने के लिए जो युद्ध आरम्भ किया वह बीच-बीच में स्थगित रहते हुए भी औरंगजेब की मृत्यु-पर्यन्त चला। मेवाड़ के शासकों ने भी इस युद्ध में मारवाड़ की सहायता की। उसी अवसर पर औरंगजेब के पुत्र अकबर ने विद्रोह किया और जब वह असफल होकर दक्षिण-भारत भाग गया तब मेवाड़ से सन्धि करके औरंगजेब उसका पीछा करने लिए दक्षिण-भारत चला गया। अन्त में, औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् अजीतसिंह ने मारवाड़ का शासक बनने में सफलता प्राप्त की। दक्षिण-भारत में औरंगजेब ने बीजापुर और गोलकुण्डा के शिया-राज्यों को मुगल-साम्राज्य में सम्मिलित करने और शम्भाजी को समाप्त करके महाराष्ट्र पर अधिकार करने में अवश्य सफलता पायी परन्तु वह मराठा-शक्ति को नष्ट न कर सका। मराठों ने जिस स्वतन्त्रता-संग्राम को आरम्भ किया उसने औरंगजेब की दक्षिण-भारत की विजय को नष्ट कर दिया और औरंगजेब की मृत्यु मराठों से निरन्तर असफल संघर्ष में व्यस्त रहते हुए दक्षिण-भारत में हुई।

[नोट—उपर्युक्त विद्रोहों और युद्धों की घटनाओं के विस्तृत अध्ययन के लिए अध्याय 8 देखिए।]

औरंगजेब के समय के इन विद्रोहों और संघर्षों ने राज्य के शासन को अव्यवस्थित कर दिया, राज्य की आर्थिक और सैनिक शक्ति को नष्ट कर दिया तथा प्रजा का धन, सम्मान और सुरक्षा संकट में हो गयी। औरंगजेब की धर्म की संकुचित भावना ने उसके आदर्श और कर्तव्यों की परिभाषा को बदल दिया। वह न तो अपनी सम्पूर्ण प्रजा का प्रजापालक बादशाह बन सका और न अपनी प्रजा की आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक प्रगति के अनुकूल परिस्थितियों का निर्माण करने वाला योग्य शासन-प्रबन्धक। औरंगजेब की स्वयं की असफलता का मुख्य कारण उसकी धर्मान्धता की नीति रही और अपनी असफलता के द्वारा वह मुगल-साम्राज्य की दुर्बलता का कारण बना। लेनपूल ने लिखा है : "उसके शासन के समाप्त होने से पहले ही हिन्दुस्तान अव्यवस्थित हो गया, और भविष्य के पतन के चिह्न प्रकट हो गये थे।"[1] सर जदुनाथ सरकार ने लिखा है : "हिन्दुस्तान में शासन बहुत शीघ्रता से गिरने लगा। शान्ति, समृद्धि और ललित-कलाएँ कम हो गयीं और सम्पूर्ण

---

1 "Even before the end of his reign, Hindustan was in confusion and the signs of coming dissolution had appeared." —*Lane-Poole.*

भारतीय सभ्यता पीछे हो गयी। उत्तर-पश्चिम की सीमाओं की सुरक्षा की ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया और साम्राज्य के आर्थिक साधन इतने संकुचित हो गये कि वे साम्राज्य की आवश्यकताओं की पूर्ति करने में अपर्याप्त हो गये।"[1] जजिया, तीर्थयात्रा-कर, हिन्दुओं को सम्मान से न रहने देना, उनको राज्य की सेवाओं में उचित ध्यान न देना और खुले तौर से उनके मन्दिरों का विनाश तथा उनके देवी-देवताओं का अपमान, आदि ऐसे कारण बने जिससे औरंगजेब की हिन्दू प्रजा उससे घृणा करने लगी। औरंगजेब ने अकबर द्वारा आरम्भ की गयी और जहाँगीर तथा शाहजहाँ द्वारा स्वीकार की गयी धार्मिक सहनशीलता की नीति को त्याग दिया। इससे राज्य की एकता समाप्त हो गयी, वफादार राजपूत जाति मुगलों की शत्रु बन गयी तथा जाट, सिख और मराठों जैसी युद्धप्रिय जातियों ने मुगल-साम्राज्य के विरुद्ध शस्त्र उठा लिये। इन विद्रोहों ने औरंगजेब और मुगल-साम्राज्य की नींव को हिला दिया। मि. प्रिंगले कैनेडी ने लिखा है: "जिसे अकबर ने प्राप्त किया था और अनेक दुर्गुणों के होते हुए भी जिसे जहाँगीर और शाहजहाँ ने स्थापित रखा था, उसे औरंगजेब ने खो दिया; और वह था अपनी हिन्दू प्रजा का प्यार; और जिस शक्ति ने हिन्दू जाति का विश्वास प्राप्त न किया हो वह भारत में स्थायी रहने की आशा नहीं कर सकती।"[2] औरंगजेब की धार्मिक अनुदारता की नीति हिन्दुओं तक ही सीमित न रही बल्कि शिया, बोहरा, आदि भी उससे प्रभावित हुए। इससे औरंगजेब को योग्य शिया व्यक्तियों की सेवाएँ प्राप्त न हो सकीं जो अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ को प्राप्त हो सकी थीं। इससे राज्य की हानि हुई। इस प्रकार, औरंगजेब की धार्मिक असहिष्णुता की नीति उसकी और बहुत कुछ मात्रा में मुगल-साम्राज्य की दुर्बलता के लिए उत्तरदायी हुई।

आधुनिक समय के कई विद्वान इतिहासकारों के अनुसार औरंगजेब का जो व्यवहार शिया-राज्यों, राजपूतों और हिन्दुओं के प्रति रहा उसका मुख्य कारण राजनीतिक और आर्थिक था। भारत की एकता, एक सूत्र और एक शासन में बँधा हुआ राज्य और राज्य की बढ़ती हुई आवश्यकताएँ उसकी नीति का मुख्य कारण थीं। अपने पक्ष के समर्थन में उन्होंने विभिन्न तर्क और उदाहरण दिये हैं जैसे कि औरंगजेब ने हिन्दू-मन्दिरों को जागीरें दी थीं और उन्हीं हिन्दू-मन्दिरों को गिराया था जहाँ पहले मुसलमानों की मस्जिदें थीं। परन्तु इन विद्वानों के तर्कों में विस्तृत रूप से जाये बिना यह अवश्य कहा जा सकता है कि अधिकांश तत्कालीन लेखकों के विवरणों में उसके पक्ष का समर्थन प्राप्त नहीं होता (जैसा कि डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव का कथन है)। अधिकांश तत्कालीन विवरणों के आधार पर औरंगजेब की नीति असहि-

---

1. "In Hindustan the administration rapidly deteriorated; peace, prosperity and the arts decreased, and the entire Indian civilisation fell backwards. The defence of the north-western frontier was neglected and the material resources of the empire dwindled till they ceased to suffice for its need." —*Sir J. N. Sarkar.*
2. "What Akbar had gained, what Jahangir and Shah Jahan with all their vices had retained, he (Aurangzeb) lost *viz*, the affection of his Hindu subjects. And no power that has not acquired the confidence of the Hindu community can be expected to last in India." —*Mr. Pringle Kennedy.*

ष्णुता की ही सिद्ध होती है। इसके अतिरिक्त, महान् मुगल बादशाह अकबर की नीति भी भारत की राजनीतिक और शासन की एकता के उद्देश्य की पूर्ति के हेतु थी और उसके आरम्भ के समय में भी राज्यकोष रिक्त था। परन्तु उसे जजिया, तीर्थयात्रा-कर आदि लगाने और मन्दिरों को तोड़ने की आवश्यकता नहीं हुई। इसके विपरीत, अकबर ने भारत की धार्मिक और सांस्कृतिक एकता के लिए प्रयत्न किये थे। ऐसी स्थिति में दो ही निर्णय हो सकते हैं—या तो अकबर की नीति को अव्यावहारिक, अनुचित और अपर्याप्त कहा जाय अथवा औरंगजेब की नीति को अव्यावहारिक और अनुचित कहा जाय? विद्वान इतिहासकार ही इस बात का निर्णय करने में समर्थ हो सकते हैं। हाँ, यह बात अवश्य ध्यान में रखने की है कि जबकि अकबर की नीति से अकबर के समय में ही नहीं बल्कि उसके उत्तराधिकारियों के समय में भी मुगल-साम्राज्य शक्ति, समृद्धि और सांस्कृतिक दृष्टि से प्रगतिशील हुआ, औरंगजेब की नीति से औरंगज़ेब के समय में न तो शक्ति का स्थायी विस्तार हुआ, न राज्य में समृद्धि हुई और न कला, शिक्षा, साहित्य आदि की दृष्टि से कोई प्रगति हुई। औरंगजेब के उत्तराधिकारियों के समय में मुगल-साम्राज्य प्रत्येक दृष्टि से पतन के मार्ग पर अग्रसर हुआ। इस कारण, यह कहा जा सकता है कि अपनी व्यक्तिगत धारणाओं की श्रेष्ठता में विश्वास करते हुए, अपने ही धर्म को श्रेष्ठ मानते हुए और उसकी प्रगति में अपने जीवन की सार्थकता को मानकर औरंगजेब ने कर्तव्य, नैतिकता और बादशाह के आदर्शों की जो व्याख्या बना ली थी वह न उसके लिए लाभदायक रही और न उसके वंश अथवा साम्राज्य के लिए। औरंगजेब उन व्यक्तियों में से एक था जो अपनी सद्भावनाओं में अटूट विश्वास रखते हुए अन्य व्यक्तियों के दृष्टिकोण को समझने का प्रयत्न ही नहीं करते, उनके विश्वासों, आदर्शों और सद्भावनाओं को बड़ी भूल मान बैठते हैं और उनको ठीक मार्ग पर लाना अपना धर्म बना लेते हैं, चाहे अपने स्वयं के आदर्शों और भावनाओं में कितनी ही त्रुटि क्यों न हो। ऐसी एकांगी और संकुचित भावना की कट्टरता की तुलना किसी से नहीं की जा सकती और न ऐसे व्यक्ति के विचारों में परिवर्तन सम्भव है। ऐसा व्यक्ति एक फकीर या धर्म-प्रचारक तो अच्छा हो सकता है, परन्तु अच्छा, कुशल और नीतिज्ञ बादशाह नहीं हो सकता। सम्भवतया, औरंगजेब इसीलिए न अपनी परिस्थितियों को समझ सका और न अच्छा नीतिज्ञ सिद्ध हो सका और यदि वह समझ भी सका तो उसने उसकी कोई चिन्ता नहीं की। इसका मुख्य कारण उसकी धर्मान्धता थी। लेनपूल का यह कथन पर्याप्त सत्य प्रतीत होता है कि "यदि औरंगजेब ने अपनी क्रियाशील शक्ति और अद्भुत योग्यता को अपने विनाश और उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त किये हुए महान् साम्राज्य का विनाश करने वाले कार्यों में व्यय न किया होता, तो वह सरलता से सिंहासन का आभूषण बन गया होता। इसके स्थान पर उसने आलमगीर अथवा विश्वविजयी बनने के खोखले कार्य को करने का प्रयत्न किया और वह इसी बात से सन्तुष्ट था कि तत्कालीन रूढ़िवादी मुसलमान उसे 'जिन्दा पीर' समझते थे ···उसका गौरव सिर्फ उसके लिए था··· उसके विशाल साम्राज्य के लिए उसका निष्ठावान उत्साह एक अभिशाप सिद्ध हुआ था।"[1]

---

1 "Aurangzeb could easily have become an 'ornament of the throne,' had he not spent his dynamic energy and genius in channels destructive to both himself and the Empire that was his

[2]
मुगल बादशाहों की राजपूत-नीति

मुसलमानों के आक्रमण के अवसर पर भारत की राजनीतिक सत्ता राजपूतों के हाथों में थी। उनको परास्त करके मुसलमानों ने भारत की राज्य-सत्ता को प्राप्त किया था। तुर्क और अफगान शासकों ने भारत में अपनी श्रेष्ठता को स्थापित करने में सफलता पायी थी, परन्तु वे राजपूतों की शक्ति को समाप्त करने में असफल रहे थे। प्राय: 350 वर्षों के संघर्ष के पश्चात् भी राजपूत अपनी स्वतन्त्रता की भावना को जीवित रख सके थे और मुगल बादशाह बाबर के भारत पर आक्रमण करने के अवसर पर राजस्थान में राजपूतों की शक्ति प्रबल थी। राणा संग्रामसिंह से हुआ खानुवा का युद्ध पानीपत के प्रथम युद्ध की तुलना में बाबर के लिए अधिक कठिन सिद्ध हुआ था।

बाबर

बाबर की राजपूतों के प्रति कोई सुनिश्चित नीति थी, ऐसा प्रतीत नहीं होता। उसे अपनी सत्ता को भारत में स्थापित रखने के लिए राणा संग्रामसिंह से खानुवा का युद्ध करना पड़ा। उसके पश्चात् राणा के सहायक और सहयोगी चन्देरी के मेदिनीराय पर भी उसने आक्रमण किया और उस पर विजय प्राप्त की। दोनों ही अवसरों पर उसने राजपूतों के विरुद्ध जिहाद (धर्मयुद्ध) घोषित किया, गाजी की उपाधि ग्रहण की और राजपूतों के सिरों की मीनारें बनवायीं। परन्तु उसने हुमायूँ का विवाह एक राजपूत राजकुमारी से किया और राजपूतों को अपनी सेना में सम्मिलित किया। उसके सरदारों में से कुछ राजपूत भी थे, ऐसा उदाहरण प्राप्त होता है। इस कारण, यह माना जा सकता है कि उसने राजपूतों से मित्रता का तो प्रयत्न नहीं किया था परन्तु राजनीतिक कारणों से उत्पन्न संघर्षों के अतिरिक्त कोई स्थायी शत्रुता का व्यवहार भी नहीं किया था। डॉ. त्रिपाठी अवश्य बाबर को इससे अधिक श्रेष्ठ स्थान प्रदान करते हैं। उनके अनुसार, "अकबर की महानता में, जिसका कि वह उपयुक्त पात्र था, किंचित मात्र भी कमी न लाते हुए, यह कहा जा सकता है कि उसकी नीति के बीज उसके प्रख्यात पितामह ने डाले थे। धार्मिक अथवा साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से पृथक राजनीतिक दृष्टिकोण पर आधारित एक नवीन साम्राज्य का विचार, राज्य में बादशाह का स्थान, राजपूत समस्या का सन्धियों और विवाह-सम्बन्धों से हल निकालना तथा दरबार के सांस्कृतिक चरित्र पर बल की उत्पत्ति बाबर के समय से प्राप्त की जा सकती है। इस प्रकार, बाबर ने एक नवीन साम्राज्य के निर्माण का ही मार्ग प्रशस्त नहीं किया था अपितु उसने उसके शासन की नीति और व्यवहार की ओर भी संकेत कर दिया। उसने भारत में एक ऐसे वंश और परम्परा को आरम्भ किया जिसकी समता किसी अन्य देश के इतिहास में कम ही

---

glorious heritage. Indeed, he set for himself the vain task of becoming 'Alamgir' or 'world grasper' and was content to be 'Zinda Pir' or 'living saint' to his orthodox Muslim contemporaries... His glory is for himself alone...To his great empire his devoted zeal was an unmitigate curse." —*Lane-Poole.*

प्राप्त होती है।"[1] डॉ. त्रिपाठी के उपर्युक्त विचारों के अनुसार बाबर ने नीति के आधार पर कार्य किया हो, ऐसा प्रतीत नहीं होता। यह अन्य बात है कि उसकी नीति के व्यावहारिक प्रयोग के परिणाम यह निकले।

हुमायूँ का व्यवहार भी राजपूतों के प्रति इसी प्रकार का रहा। उसकी नीति भी राजपूतों के प्रति सुनिश्चित न थी अपितु हुमायूँ ने तो मेवाड़ से मित्रता करने का एक बड़ा सुअवसर खो दिया। मेवाड़ की रानी कर्णवती ने गुजरात के शासक बहादुरशाह के मेवाड़-आक्रमण के अवसर पर हुमायूँ से सहायता माँगी। हुमायूँ ने तुरन्त सहायता न दी। उसका कारण चाहे धार्मिक रहा हो और चाहे सैनिक अथवा राजनीतिक, परन्तु हुमायूँ ने अफगानों के विरुद्ध मेवाड़ के राजपूतों की मित्रता प्राप्त करने का एक अच्छा अवसर अवश्य खो दिया। मारवाड़ के शासक मालदेव ने भी हुमायूँ को शेरशाह के विरुद्ध सहायता देने का आश्वासन दिया था, परन्तु हुमायूँ समय रहते हुए भी उसका लाभ नहीं उठा सका था।

हुमायूँ

अफगान सुल्तान शेरशाह ने राजपूतों को अपनी अधीनता में लाने की नीति का पालन किया। शेरशाह की उत्तर-भारत की विजय उस समय तक पूर्ण नहीं हो सकती थी जब तक कि वह राजस्थान को न जीत लेता। शेरशाह के समय में राजस्थान की सबसे बड़ी शक्ति मारवाड़ था जहाँ के शासक मालदेव ने हुमायूँ को सहायता देने का आश्वासन दिया था। 1544 में शेरशाह ने मारवाड़ पर आक्रमण किया और चालाकी से ही वह मारवाड़ को अपने अधिकार में कर सका। मालदेव की शक्ति कितनी अधिक थी, यह इस बात से जाना जा सकता है कि स्वयं शेरशाह ने कहा था कि "मुठ्ठी भर बाजरे के लिए मैं हिन्दुस्तान के साम्राज्य को प्रायः खो चुका था।"[2] (शेरशाह की मृत्यु के पश्चात् मालदेव पुनः मारवाड़ को स्वतन्त्र कराने में सफल हुआ था।) इसके अतिरिक्त, रणथम्भौर को शेरशाह ने अपने आधिपत्य में किया था और मेवाड़ तथा जयपुर के राजपूत शासकों ने स्वेच्छा से उसकी अधीनता स्वीकार कर ली थी। अपनी मृत्यु के अवसर तक शेरशाह ने कालिंजर को भी विजय कर लिया था। इस प्रकार, शेरशाह राजपूतों की शक्ति को दबाने में सफल हुआ, परन्तु वह उन्हें समाप्त नहीं कर सका। शेरशाह की नीति की सफलता का एक

शेरशाह

---

1 "Without depriving Akbar of his well-deserved greatness, it can be maintained that the seeds of his policy were sown by his illustrious grandfather. The conception of a new empire, based on a political outlook as distinct from the religious or sectarian, of the place of the crown in the state, of settling the Rajput problems by alliances and matrimonial contracts, and of emphasising the cultural character of the court, could be traced back to Babar. Thus Babar had not only shown the way to found a new empire, but had also indicated the character and policy which should govern it. He established a dynasty and a tradition in India, which have few parallels in the history of any other country."
—*Dr. R. P. Tripathi.*

2 "For a handful of *bajra*, I had almost lost the Empire of Hindustan."
—*Sher Shah.*

कारण यह भी था कि उसने राजपूतों के राज्यों को अपने राज्य में सम्मिलित करने की नीति को नहीं अपनाया था। अधिकांशतया राजपूत राज्यों द्वारा उसकी अधीनता स्वीकार करने से ही वह सन्तुष्ट हो गया था।

अकबर पहला मुगल बादशाह था जिसने राजपूतों के प्रति एक सुनिश्चित नीति अपनायी। अकबर ने जिस राजपूत नीति को अपनाया उसके विभिन्न कारण बताये जाते हैं। **अकबर की नीति साम्राज्यवादी थी।** सम्पूर्ण भारत को अपनी अधीनता में लाना उसका लक्ष्य था। **जब तक राजपूत-शासक उसकी अधीनता को स्वीकार न कर लेते तब तक सम्पूर्ण भारत की विजय पूर्ण नहीं हो सकती थी।** पिछले 350 वर्षों तक मुसलमानों से संघर्ष करते हुए भी राजपूत राजस्थान और उसके निकट के प्रदेशों में अपनी स्वतन्त्रता को स्थापित रखने में सफल हुए थे और उस समय भी उस क्षेत्र में उनकी शक्ति प्रबल थी। **अकबर की कुशाग्र बुद्धि ने यह अनुभव कर लिया कि राजपूतों को शत्रु बनाने की अपेक्षा मित्र बनाना अधिक लाभदायक होगा।** राजपूतों का शौर्य, चरित्र और गुण प्रभावशाली थे। शारीरिक बल, शस्त्र-कौशल, नैतिक चरित्र, जीवन की अपेक्षा युद्ध में मारे जाने को गौरवपूर्ण मानना, दिये हुए वचन को पूरा करना और धन या किसी अन्य लालच से न खरीदी जाने वाली वफादारी के गुणों को राजपूतों ने सदियों से सुरक्षित रखा था। अकबर इन गुणों की उपयोगिता को समझ गया। **अफगानों और मिर्जा-वर्ग के सरदारों के द्वारा किये गये विद्रोहों ने उसे राजपूतों की मित्रता के लाभों को और अधिक स्पष्ट किया। राजपूतों का सहयोग प्राप्त करके अकबर अपने शासन के आधार को विदेशियों की शक्ति पर आधारित करने के स्थान पर भारतीयों की शक्ति के आधार पर निर्भर कर सकता था और, इस प्रकार, उसे स्थायित्व प्रदान कर सकता था। अकबर की उदार भावना और धार्मिक नीति भी राजपूतों से मित्रता करने में सहायक थी।**

अकबर का उद्देश्य राजपूतों को अपनी अधीनता में लाकर उन्हें अपना मित्र बनाना था। उसका प्रमुख लक्ष्य अपने वंश के अधिकार को भारत में दृढ़ करना और उसकी सीमाओं का अधिकतम विस्तार करना था। राजपूतों के प्रति अपनी नीति में वह अपने इस लक्ष्य को नहीं भूला। इस कारण, राजपूतों के प्रति अकबर की नीति में हमें निम्नलिखित तीन बातें स्पष्ट होती हैं :

(अ) राजपूतों के महत्वपूर्ण दुर्गों पर अधिकार जैसे चित्तौड़, मेड़ता, रणथम्भौर, कालिंजर आदि पर। इन किलों पर आधिपत्य करने से अकबर ने राजपूतों की विरोध करने की शक्ति को दुर्बल कर दिया।

(ब) स्वेच्छा से अधीनता स्वीकार करने वाले अथवा विवाह-सम्बन्धों के इच्छुक राजपूत राजाओं को अपनी अधीनता में लेना। ऐसे राजपूत राजाओं को अपनी अधीनता में लेकर और उनसे एक निश्चित वार्षिक कर लेकर अकबर ने उनके राज्य उन्हीं को वापस कर दिये, उन्हें और उनके सम्बन्धियों को राज्य की सेवा में लिया, उनकी योग्यता के अनुसार उन्हें राज्य में बड़े-बड़े पद दिये, उनके आन्तरिक शासन में कोई हस्तक्षेप नहीं किया, उनके सम्मान को सुरक्षित रखा और उन्हें सामाजिक, धार्मिक तथा राजनीतिक क्षेत्र में समानता प्रदान की। ऐसे राजाओं में आमेर का राजा भारमल (बिहारीमल), मारवाड़ का राजा चन्द्रसेन (मालदेव का पुत्र और

उत्तराधिकारी) और उसके पश्चात् उदयसिंह, बीकानेर का राजा कल्याणमल, जैसलमेर का राजा रावल हरराय और बूंदी का राज्य प्रमुख थे। अकबर ने ऐसे राज्यों के प्रति कितनी उदारता और सम्मान की नीति अपनायी थी, यह बूंदी-राज्य के साथ की गयी सन्धि की निम्नलिखित शर्तों से स्पष्ट होता है :

1. बूंदी के राजाओं को मुगल-वंश से विवाह-सम्बन्ध स्थापित करने के लिए नहीं कहा जायगा;

2. बूंदी राज्य जजिया नहीं देगा;

3. बूंदी के राजाओं को अटक के उत्तर-पश्चिम में जाकर राज्य-सेवा के लिए नहीं कहा जायगा;

4. बूंदी के अधीन राजपूत-सरदारों को मीना-बाजार में दुकान लगाने के लिए अपनी स्त्रियों को भेजने के लिए बाध्य नहीं किया जायगा;

5. बूंदी के राजाओं को दीवान-ए-आम में शस्त्रों सहित जाने दिया जायेगा;

6. बूंदी के पवित्र स्थानों का सम्मान किया जायगा;

7. बूंदी के राजाओं को किसी हिन्दू-राजा के नेतृत्व में नहीं रखा जायगा;

8. बूंदी राज्य के घोड़ों को राज्य की मोहर से नहीं दागा जायगा;

9. बूंदी के राजाओं को राजधानी में किले के लाल दरवाजे तक अपने नगाड़ों को बजाने का अधिकार होगा;

10. बूंदी के राजा मुगल बादशाह के सम्मुख 'सिजदा' (जमीन पर लेटकर दण्डवत् करना) नहीं करेंगे; तथा

11. हाड़ा राजाओं के लिए बूंदी का वही स्थान होगा जो मुगल बादशाह के लिए दिल्ली का है और हाड़ा राजाओं से राजधानी बदलने के लिए नहीं कहा जायगा।[1]

राजपूतों के साथ ऐसी सम्मानपूर्ण सन्धि करने के कारण अकबर अधिकांश राजपूत-राजाओं को स्वेच्छा से अपनी अधीनता में ला सका था। इसके अतिरिक्त, उसने उन्हें सम्मानित पद प्रदान किये थे। राजा भगवानदास और राजा मानसिंह जैसे राजपूत सरदार इसके उदाहरण थे। इससे वह उनकी वफादारी भी प्राप्त कर सका जिससे राजपूतों की योग्यता से मुगल-वंश लाभान्वित हुआ। इसके अतिरिक्त, शक्तिशाली राजपूत-शासकों को अपनी सेवा में लेकर अकबर ने उन्हें उनके राज्यों से पृथक करके अन्य स्थानों पर नियुक्त किया, जिसके परिणामस्वरूप वे अपनी शक्ति के स्रोत से पृथक् हो गये और राजस्थान में मुगलों की सत्ता के विरोध में संगठन किये जाने की सम्भावनाएँ कम हो गयीं।

(स) विरोधी राजपूत राजाओं को युद्ध करके अपनी अधीनता में लाने का प्रयत्न, जैसा कि मेवाड़-राज्य के उदाहरण से स्पष्ट होता है।

अकबर की किलों को जीतने की नीति के अन्तर्गत 1572 में मेड़ता पर अधिकार किया गया जो मेवाड़ के अधीन सरदार जयमल के अधिकार में था। 1568 में मेवाड़ से चित्तौड़ का किला छीन लिया गया। 1569 में राजा सुरजनराय

---

1 बूंदी राज्य के प्रपत्रों के आधार पर इतिहासकार स्मिथ ने सन्धि की इन शर्तों को बताया है।

को रणथम्भौर का किला मुगलों को सौंपने के लिए बाध्य किया गया और 1569 में राजा रामचन्द्र ने कालिंजर का किला अकबर को सौंप दिया।

स्वेच्छा से अकबर की अधीनता को स्वीकार करने वाले राजपूत राजाओं में सबसे पहला आमेर (जयपुर) का राजा भारमल था। 1562 में राजा भारमल ने अकबर से भेंट की, उसकी अधीनता को स्वीकार किया और अपनी पुत्री का विवाह अकबर से कर दिया। इसी राजपूत राजकुमारी के गर्भ से शाहज़ादा सलीम का जन्म हुआ। अकबर ने राजा भारमल, उसके पुत्र राजा भगवानदास और पोते मानसिंह को राज्य में सम्मानित पद प्रदान किये। चित्तौड़ के पतन के पश्चात् मारवाड़, बीकानेर, जैसलमेर तथा अन्य बहुत-से राजपूत राजाओं ने अकबर की अधीनता स्वीकार कर ली और कुछेक ने अकबर से विवाह-सम्बन्ध स्थापित कर लिये। इसी प्रकार, हल्दीघाटी के युद्ध के पश्चात् बाँसवाड़ा, बूंदी, ओरछा, आदि के राजपूत राजाओं ने भी स्वेच्छा से अकबर के साथ सन्धि करके उसकी अधीनता स्वीकार कर ली। इस प्रकार, अधिकांश राजपूत राजाओं ने थोड़े से बल-प्रदर्शन के पश्चात् ही अकबर की अधीनता स्वीकार कर ली।

विरोधी राजपूत राजाओं में एक मेवाड़ का राणा ही ऐसा हुआ जिसने अकबर की अधीनता को स्वीकार करने से अन्त तक इन्कार किया। मेवाड़ का सिसोदिया-वंश राजस्थान और राजपूत-शासकों में सबसे सम्मानित राज-वंश था। राणा संग्रामसिंह (साँगा) के समय में वह अपनी शक्ति की चरम सीमा पर था। उसके पश्चात् उसकी शक्ति दुर्बल हो गयी। हुमायूँ के समय में गुजरात के शासक बहादुरशाह ने उसको विजय किया और शेरशाह की अधीनता को उसने स्वेच्छा से स्वीकार कर लिया। परन्तु मेवाड़ का राजवंश अब भी प्रतिष्ठित माना जाता था और सिसोदिया राजपूत तब भी अपने गौरव को याद करते थे। अकबर के समय में आरम्भ में मेवाड़ का शासक राणा उदयसिंह था। मेवाड़ की विजय अकबर के लिए आवश्यक थी। **राजनीतिक और आर्थिक, दोनों ही दृष्टिकोणों से मेवाड़ मुगलों के लिए महत्वपूर्ण था।** राणा उदयसिंह ने मालवा के राजा बाजबहादुर को अपने यहाँ शरण दी थी और विद्रोही मिर्जाओं को उसका संरक्षण प्राप्त हुआ था। राणा ने अकबर की अधीनता को मानने से इन्कार कर दिया था और वह उन राजपूत राजाओं से घृणा करता था जिन्होंने अकबर से विवाह-सम्बन्ध किये थे। इनके अतिरिक्त, प्रमुख बात यह थी कि मेवाड़ को विजय किये बिना अकबर की राजस्थान तथा उत्तर-भारत की विजय पूर्ण नहीं हो सकती थी। मेवाड़-विजय का प्रभाव राजपूत राजाओं को अकबर की अधीनता को सरलता से स्वीकार करने में सहायक हो सकता था, जैसा कि हुआ भी। आर्थिक दृष्टि से मेवाड़ का महत्व इसलिए था कि वह मुगल-साम्राज्य के पश्चिमी समुद्र-तट के व्यापारिक मार्ग पर था। गुजरात की विजय के बाद पश्चिमी देशों से मुगल-साम्राज्य का जो व्यापार होता था उसका मार्ग राजस्थान होकर था। मेवाड़ यदि शत्रु-राज्य होता था तो वह इस व्यापारिक मार्ग में बाधा उपस्थित करता था। गुजरात की सुरक्षा और उत्तर-भारत के वहाँ के द्वारा होने वाले व्यापार की सुरक्षा के लिए मेवाड़ का मुगलों की अधीनता को स्वीकार करना आवश्यक था। 1567 में अकबर ने मेवाड़ पर आक्रमण किया। अपने सरदारों की सम्मति से राणा उदयसिंह अरावली की पहाड़ियों में चला गया। वहाँ उसने अपनी नवीन राजधानी उदयपुर की नींव डाली। चित्तौड़ के किले की

रक्षा का उत्तरदायित्व प्रायः 8,000 राजपूत सैनिकों के साथ जयमल को दिया गया। अकबर ने चित्तौड़ का घेरा डाल दिया और कई महीने के पश्चात् 1568 में किले को जीतने में सफलता पायी। जयमल किले की दीवार की मरम्मत कराते हुए अकबर की बन्दूक की गोली से मारा गया था और फतहसिंह (फत्ता), उसकी माँ और उसकी पत्नी ने राजपूत-सेना का नेतृत्व करते हुए युद्ध में अपनी जान दी। जिस कठिनाई से अकबर ने इस किले पर अधिकार किया था उससे क्रोधित होकर उसने किले को जीतकर कत्ले-आम की आज्ञा दी जिसमें हजारों राजपूत सैनिक और किसान मारे गये। चित्तौड़ का विनाश और अपमान अकबर के जीवन पर एक धब्बा है, यद्यपि बाद में अकबर ने जयमल और फतहसिंह की हाथी पर बैठी हुई मूर्तियों को उनके सम्मान में आगरा के किले के सामने बनवाया (औरंगजेब ने अपने समय में इनको हटा दिया)। परन्तु चित्तौड़ की विजय मात्र से मेवाड़ की विजय पूर्ण नहीं हो गयी थी। मेवाड़ का अधिकांश भू-प्रदेश राणा के हाथों में रहा।

मेवाड़ के पतन के पश्चात् 1569 में सुर्जन हाड़ा ने रणथम्भौर और रामचन्द्र ने कालिंजर को थोड़े से युद्ध के पश्चात् ही मुगलों को सौंप दिया तथा मारवाड़, बीकानेर और जैसलमेर के शासकों ने स्वेच्छा से अकबर की अधीनता स्वीकार कर ली।

1572 में राणा उदयसिंह की मृत्यु हो गयी। कर्नल टॉड ने उदयसिंह को दुर्बल और डरपोक बताया है। परन्तु उनका मत तथ्यों के आधार पर सिद्ध नहीं होता। उदयसिंह ने अपने वंश और परिवार की सुरक्षा के लिए सरदारों की सम्मति से चित्तौड़ के किले को छोड़ा था और उसने जीवनभर अकबर की अधीनता को स्वीकार नहीं किया। इस कारण, उसे दुर्बल, डरपोक अथवा अपने वंश के लिए अशोभनीय स्वीकार नहीं किया जा सकता। अपनी मृत्यु के अवसर पर उदयसिंह ने अपने पुत्र जगमल को अपना उत्तराधिकारी बनाने की इच्छा प्रकट की थी, परन्तु राजपूत सरदारों ने उसे स्वीकार नहीं किया और उसके सबसे बड़े पुत्र प्रतापसिंह को राणा बनाया। राणा प्रताप की दृढ़ता, उसका शौर्य और मुगलों के विरुद्ध संघर्ष की कट्टरता मेवाड़, राजस्थान और भारत के इतिहास में गौरवपूर्ण स्थान रखती है। उसने स्वयं ही मुगलों से जीवनपर्यन्त संघर्ष करने की शपथ नहीं ली बल्कि अपनी मृत्यु के अवसर पर अपने राजपूत-सरदारों से भी इसी प्रकार की शपथ लेने के लिए कहा। अकबर ने राजा मानसिंह, राजा भगवानदास और राजा टोडरमल को राणा प्रताप के पास भेजकर समझौते के प्रयत्न किये परन्तु वे सफल नहीं हुए। अकबर ने निरन्तर राणा से मुगल दरबार में उपस्थित होने के लिए आग्रह किया और मेवाड़ की जीती हुई भूमि को वापस नहीं दिया। उधर राणा अकबर के शत्रु अफगानों और विद्रोही राजपूतों को शरण देता रहा। ऐसी स्थिति में समझौता सम्भव न हो सका। इसी अवसर पर बूंदी और मारवाड़ के विद्रोहों ने अकबर को विश्वास दिला दिया कि राणा प्रताप को दबाये बिना राजपूत अपनी विरोध करने की भावना को नहीं छोड़ेंगे। राजा मानसिंह के नेतृत्व में एक मुगल-सेना राणा के विरुद्ध भेजी गयी और 1576 में हल्दीघाटी का महत्वपूर्ण युद्ध हुआ। इस युद्ध के पश्चात् राणा पहाड़ों और जंगलों में चला गया। 1597 में राणा प्रताप की मृत्यु हुई। उसने जीवनभर मुगलों से संघर्ष किया और अन्त में चित्तौड़ के किले के अतिरिक्त मेवाड़ के अधिकांश भू-प्रदेश को अपने अधिकार में करने में सफलता पायी। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्र अमरसिंह ने भी युद्ध को जारी रखा और मेवाड़ की स्वतन्त्रता के प्रयत्न में लगा

रहा। इस प्रकार, अकबर मेवाड़ को पूर्णतया जीतने या दबाने में असफल रहा। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि मेवाड़ की शक्ति बहुत सीमित हो गयी; उसका मुगलों से संघर्ष एकांकी रहा और उसने अकबर की साम्राज्य-विस्तार की नीति में बाधा उपस्थित करने में सफलता नहीं पायी।

अकबर से राणा प्रताप के निरन्तर युद्ध का कारण धार्मिक न होकर राजनीतिक था। यह युद्ध इस कारण था कि राजस्थान में मेवाड़ ही एक ऐसा राज्य था जो अकबर की शक्ति को निरन्तर चुनौती देता रहा। इस युद्ध ने राणा प्रताप को इतिहास में स्मरणीय स्थान प्रदान किया है। अपनी दृढ़ता, इच्छाशक्ति और आत्म-विश्वास के कारण ही वह विशाल मुगल-साम्राज्य की शक्ति से अपने सीमित साधनों के बल पर टक्कर ले सका। राणा ने मेवाड़ की स्वतन्त्रता और सिसोदिया-वंश के सम्मान की सुरक्षा के लिए युद्ध किया और इसमें वह सफल हुआ। कर्नल टॉड ने लिखा है : "अरावली पहाड़ की कोई ऐसी घाटी नहीं है जो प्रताप के शौर्य से पुनीत न की गयी हो—कुछ उसकी यशस्वी विजयों से अथवा अन्य उसकी कीर्तिमयी पराजय से। हल्दीघाटी मेवाड़ की थर्मोपली है और देवार का युद्ध-स्थल उसका मेराथन है।"[1]

अकबर की राजपूत-नीति सफल हुई। मेवाड़ के भू-प्रदेश को छोड़कर बाकी सभी राजपूत राज्य अकबर की संप्रभुता के अधीन हो गये। जो राजपूत शासक पिछले 350 वर्षों में मुसलमानी-सत्ता का सफलता से विरोध करते आ रहे थे वे मुगल-साम्राज्य के वफादार सरदार बन गये और उन्होने मुगल-साम्राज्य के विस्तार में महत्वपूर्ण भाग लिया। कर्नल टॉड ने लिखा है : "वास्तव में, मुगल-साम्राज्य का संस्थापक अकबर था। वह राजपूत स्वतन्त्रता का प्रथम सफल विजेता था।"[2] उसकी नीति के कारण राजपूत अपने राज्यों की स्वतन्त्रता की भावना और आदर्श को भूल गये और उन्होंने प्रसन्नता से अपने गौरव और शौर्य को मुगल-वंश के गौरव और शौर्य के साथ सम्मिलित कर दिया। यह अकबर की राजपूत-नीति की सबसे बड़ी सफलता थी। इससे मुगल-साम्राज्य के विस्तार में सहायता मिली और वह भारत में दृढ़ हुआ। यह कहना भूल होगी कि अकबर ने राजपूतों को असम्मानित करने के लिए उनसे विवाह-सम्बन्ध किये थे। पहले के अनेक मुसलमान-शासकों ने भी हिन्दू और राजपूत स्त्रियों से विवाह किये थे। अकबर ने राजपूत राजाओं को विवाह-सम्बन्धों के लिए बाध्य नहीं किया, और उसकी राजपूत पत्नियों को पूर्ण सम्मान प्राप्त होता था। इसके अतिरिक्त, अकबर ने किसी राजपूत-स्त्री को विवाह से पहले इस्लाम धर्म को स्वीकार करने के लिए बाध्य नहीं किया और बाद में भी उनको अपने धर्म के अनुसार पूजा आदि करने की पूर्ण सुविधा प्रदान की। इसी प्रकार, यह भी कहना भूल होगी कि राजपूत-जाति शौर्यविहीन अथवा कायर हो गयी थी। यदि अकबर ने राजपूतों के राज्यों को मुगल-साम्राज्य में सम्मिलित करने, उनको असम्मानित करने अथवा उनके धर्म पर आक्रमण करने की नीति अपनायी होती तो राजपूत-जाति अक-

---

1 "There is not a pass in the alpine Aravali that is not sanctified by some deed of Pratap—some brilliant victory, or oftener, more glorious defeat. Haldighat is the Thermopylae of Mewar; the field of Dewar her marathon." —*Tod.*

2 "Akbar was the real founder of the Empire of the Mughals, the first successful conqueror of Rajput independence." —*Tod.*

बर का भी विरोध करती, जैसा कि उसने औरंगजेब के समय में किया। परन्तु अकबर ने ऐसा कोई कार्य नहीं किया। अकबर केवल यह चाहता था कि राजपूत-राजा उसकी अधीनता को स्वीकार कर लें, उसको कुछ वार्षिक कर दें, अपनी विदेश-नीति उसे सौंप दें, आवश्यकता के समय उसे निश्चित संख्या में कुछ सैनिक सहायता दें और अपने आप को मुगल-साम्राज्य का अन्तरंग भाग मानें। इसके बदले में वह उनको आन्तरिक मामलों में स्वतन्त्रता, उनके सम्मान की सुरक्षा, उनको धार्मिक स्वतन्त्रता और योग्यता के अनुसार मुगल-साम्राज्य में श्रेष्ठतम पद देने को तत्पर था। यह बात भी ध्यान में रखने की है कि जब अकबर ने भारत में मुसलमान-शासकों से जीते हुए सभी राज्यों को मुगल-साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया, राजपूतों के किसी भी महत्वपूर्ण राज्य को (अलावा गोंडवाना के) मुगल-साम्राज्य में सम्मिलित नहीं किया। अकबर की यह उदार नीति ही उसकी सफलता का कारण बनीं। डॉ. बेनीप्रसाद ने अकबर के राजपूतों के साथ विवाह-सम्बन्धों और नीति पर विचार करते हुए लिखा है कि "यह भारतीय राजनीति में एक नवीन युग का प्रतीक था। इसने देश को निरन्तर महत्वपूर्ण शासक प्रदान किये। इसने मुगल बादशाहों की चार पीढ़ियों को मध्ययुगीन भारत के कुछ श्रेष्ठतम सेनापतियों और कूटनीतिज्ञों की सेवाएँ उपलब्ध कीं।"[1]

जहाँगीर ने राजपूतों के प्रति वही नीति अपनायी जो उसके पिता अकबर की थी। राजपूत-राजाओं से विवाह-सम्बन्ध, मित्रतापूर्ण व्यवहार, उनके राज्यों की आन्तरिक स्वतन्त्रता, उन्हें राज्य में सम्मानित पद देना, आदि उसकी नीति के प्रमुख आधार रहे। उसी प्रकार, विरोधी मेवाड़ को मुगल अधीनता में लाना भी उसका लक्ष्य रहा। राणा अमरसिंह के विरुद्ध उसने अपने शासनकाल के आरम्भ से ही मुगल सेनाएँ भेजीं। आसफखाँ (1606-1608), महावतखाँ (1608-1609), अब्दुल्लाखाँ (1609-11), राजा बसु (1611) और मिर्जा अजीज कोका तथा शाहजादा खुर्रम (1611-1615) के नेतृत्व में निरन्तर मेवाड़ पर आक्रमण किये गये। इन युद्धों में मेवाड़ की कृषि, उद्योग, गाँव, नगर और मन्दिर बरबाद हो गये, स्थान-स्थान पर मुगलों ने अधिकार कर लिया, जगह-जगह मुगल-चौकियाँ स्थापित कर दी गयीं और एक प्रकार से सम्पूर्ण मेवाड़ का घेरा डाल दिया गया। राणा अमरसिंह ने साहस से सभी कठिनाइयों का मुकाबला किया और निरन्तर युद्ध किये, परन्तु अन्त में युवराज करनसिंह और कुछ अन्य राजपूत-सरदारों की सलाह से सन्धि करने को तत्पर हो गया। 1615 में मुगलों और मेवाड़ में सन्धि हो गयी, जिसके अनुसार—

जहाँगीर

1. राणा ने मुगल-आधिपत्य को स्वीकार कर लिया और अपने स्थान पर अपने पुत्र करनसिंह को मुगल-दरबार में भेजना स्वीकार कर लिया;

2. राणा को मुगल-वंश से विवाह-सम्बन्धों के लिए बाध्य नहीं किया गया; तथा

---

1 "It symbolized the dawn of a new era in Indian politics; it gave the country a line of remarkable sovereigns; it secured to four generations of Mughal Emperors the services of some of the greatest captains and diplomats that mediaeval India produced."
—*Dr. Beni Prasad.*

3. जहाँगीर ने मेवाड़ के सम्पूर्ण भू-प्रदेश और चित्तौड़ के किले को भी राणा को वापस कर दिया यद्यपि यह शर्त रखी गयी कि राणा किले की मरम्मत नहीं करायेगा।

इस प्रकार, मेवाड़ और मुगलों का लम्बा संघर्ष समाप्त हुआ। मेवाड़ के राणाओं ने इस सन्धि का उस समय तक पालन किया जब तक कि औरंगजेब की नीति के कारण राणा राजसिंह को मुगलों का विरोध करने के लिए बाध्य न होना पड़ा। मेवाड़ और मुगलों का संघर्ष राजस्थान के इतिहास का सबसे गौरवपूर्ण अध्याय है। शक्तिशाली मुगल-साम्राज्य का मुकाबला करने में राजपूतों का मुख्य साधन उनका दृढ़ निश्चय और सम्मान-रक्षा की भावना मात्र ही थी। मेवाड़ के सिसौदिया-वंश ने राणा कुम्भा और राणा साँगा के गौरव की रक्षा राणा प्रताप और राणा अमरसिंह के समय में भी की। इसी में उनकी महानता और मेवाड़ का गौरव था। डॉ. आर. पी. त्रिपाठी ने लिखा है कि "इस प्रकार, 1526 से आरम्भ हुआ और 1567 के पश्चात् से गम्भीरता से निरन्तर लड़ा गया तैमूर-वंश और चित्तौड़ का द्वन्द्व-युद्ध समाप्त हुआ। आधी शताब्दी तक लड़े गये इस विरोध के युद्ध का इतिहास उत्साहवर्धक घटनाओं, अद्वितीय शौर्य, आश्चर्यजनक वफादारी, महान् त्याग, असाधारण सहनशीलता, आदर्श चरित्र और श्रेष्ठ राष्ट्रभक्ति का है। राजपूत-शौर्य के आदर्श की इतनी कठिन परीक्षा इस समय से पहले कभी नहीं हुई थी और न वे इससे पहले कभी भी इतने गौरव तथा शान-शौकत से चमके थे। एक भावना और एक आदर्श के लिए, कठिनतम बाधाओं के होते हुए, एक हारे हुए युद्ध के लिए 50 वर्ष तक संघर्ष करना और सम्पूर्ण सुविधाओं को त्यागकर अनेक दुखों को सहर्ष सहन करना श्रेष्ठतम गुणों को माँगता है।"[1]

मेवाड़-मुगल संघर्ष के सन्दर्भ में यह कहना एक भूल होगी कि राजा अमरसिंह ने मेवाड़ के गौरव की रक्षा करने का प्रयत्न नहीं किया और मुगलों के आधिपत्य को स्वीकार करके राणा प्रताप के नाम को लज्जित कर दिया। राणा अमरसिंह ने मुगलों से उसी प्रकार और उन्हीं परिस्थितियों में रहते हुए युद्ध किया जिस प्रकार राणा प्रताप ने किया। युवराज करनसिंह और अपने सरदारों के कहने से बाध्य होकर उसने मुगलों से सन्धि की। सन्धि की शर्तें भी सम्मानित थीं। यह स्वयं न कभी मुगल दरबार में गया और न उसने मुगलों से विवाह-सम्बन्ध स्थापित किया। इससे भी उसे सन्तोष न हुआ। कुछ समय के पश्चात् उसने अपना सिंहासन युवराज

---

1 "Thus came to a close the long protracted duel between the House of Timur and Chittor, which began in 1526, but became serious and continuous after 1567. The history of this war of resistance for half-a-century is full of the most thrilling events, prodigious valour, amazing loyalty, wonderful sacrifice, extraordinary endurance, nobility of character and high patriotism. Never before was the Rajput valour and idealism put to so severe a test and never did it shine forth with so much glory and splendour. It requires far nobler qualities to fight a losing battle against heavy odds for five decades, suffer untold miseries and sacrifice all comforts for a sentiment and a cause." —*Dr. R. P. Tripathi.*

करन को सौंप दिया और अपने जीवन के शेष दिन एकान्त स्थान 'नौ चौकी' में जाकर व्यतीत किये। यह कहना भी अनुचित नहीं है कि मेवाड़ का मुगलों से संघर्ष मेवाड़ की प्रजा के लिए अनेक दुखों का कारण बना हुआ था। निरन्तर संघर्ष और युद्धों के कारण न राज्य में शान्ति सम्भव थी, न सम्पत्ति और न सुख। शक्तिशाली और समृद्धिशाली मुगल-साम्राज्य से युद्ध करते हुए मेवाड़ कब तक सफलता पा सकता था? मुगलों के आधिपत्य मात्र को स्वीकार करने से राणा को मेवाड़ की सम्पूर्ण भूमि और चित्तौड़ का किला प्राप्त हो गया तथा प्रजा को शान्ति प्राप्त हो गयी।

मेवाड़ के प्रति जहाँगीर का व्यवहार भी सराहनीय था। जहाँगीर ने सन्धि की शर्तें बहुत सम्मानित रहने दीं। उसने राणा के सम्मान को कहीं भी चोट नहीं पहुँचाई और मेवाड़ के जीते हुए भू-प्रदेश तथा चित्तौड़ उदारता से राणा को वापस कर दिये। युवराज करन को मुगल दरबार में बादशाह के दाहिनी ओर बैठने का स्थान दिया गया। उसे 5,000 जात और 5,000 सवार का पद दिया गया और अनेक बहुमूल्य उपहार भी जहाँगीर तथा नूरजहाँ की ओर से दिये गये। साधारणतया, ऐसा सम्मान बादशाह की ओर से किसी को नहीं दिया जाता था।

इस प्रकार, जहाँगीर ने अकबर के कार्य को पूर्ण कर दिया। मेवाड़ भी अन्य राजपूप राज्यों की भाँति मुगलों की अधीनता में आ गया और उसका सहायक राज्य बन गया।

शाहजहाँ ने अकबर और जहाँगीर की राजपूत-नीति का अनुसरण किया। उसके समय में भी राजपूतों के प्रति सम्मान और समानता का व्यवहार किया गया और राजपूत उसकी नीति से सन्तुष्ट रहे।

शाहजहाँ

मारवाड़ के राजा जसवन्तसिंह और अम्बर (जयपुर) के राजा जयसिंह ने मुगल-साम्राज्य की वफादारी और योग्यता से सेवा की। मेवाड़ के राणा जगतसिंह ने जहाँगीर के अन्तिम दिनों में चित्तौड़ के किले की मरम्मत आरम्भ कर दी थी और उसके पश्चात् राणा राजसिंह ने भी उस मरम्मत को जारी रखा। यह उस सन्धि के विरुद्ध कार्य था जो मेवाड़ ने 1615 में जहाँगीर के समय में की थी। परन्तु 1654 में जब शाहजहाँ ने किले की सुरक्षा हेतु निर्मित की गयी दीवारों और इमारतों को तोड़ने के लिए मुगल सेना को भेजा तो राणा ने कोई विरोध नहीं किया। इस प्रकार, शाहजहाँ के समय मुगलों और राजपूतों के सम्बन्ध सम्मान और सद्भाव के रहे।

औरंगजेब ने अकबर द्वारा आरम्भ की गयी और जहाँगीर तथा शाहजहाँ द्वारा स्वीकार की गयी राजपूत-नीति में परिवर्तन कर दिया। **औरंगजेब की धार्मिक नीति असहिष्णु थी और वह राजपूतों को अपनी धार्मिक नीति के व्यावहारिक प्रयोग**

औरंगजेब

में सबसे बड़ी बाधा मानता था। राजपूतों की शक्ति को नष्ट किये बिना औरंगजेब की धार्मिक नीति भारत में सफल नहीं हो सकती थी और यदि वह सफल हो भी जाती तो स्थायी नहीं हो सकती थी। इस कारण औरंगजेब राजपूतों को सन्देह की दृष्टि से देखता था। **उसका लक्ष्य राजपूतों की स्वतन्त्र सत्ता को नष्ट करने का बन गया और उसने उनके राज्यों को मुगल-राज्य में सम्मिलित करने का प्रयत्न किया।** औरंगजेब के समय में अम्बर (जयपुर) का राजा जयसिंह, मेवाड़ का राणा जयसिंह और मारवाड़ का राजा जसवन्तसिंह प्रमुख राजपूत राजा थे। शाहजहाँ के समय तक सभी

राजपूत राजा मुगल बादशाह के मित्र रहे और राजा जयसिंह और राजा जसवन्तसिंह ने शाहजहाँ के समय में ही नहीं अपितु औरंगजेब के आरम्भ के समय में भी मुगल-साम्राज्य की सेवा की। परन्तु औरंगजेब ने जयपुर के राज्य को छोड़कर मेवाड़ और मारवाड़ को अपनी नीति से असन्तुष्ट कर दिया। उसने उनके राज्यों को अपने राज्य में सम्मिलित करने का प्रयत्न किया जिसके परिणामस्वरूप इन दोनों राज्यों ने मुगल-सत्ता का विरोध किया।

उत्तराधिकार के युद्ध के अवसर पर राजा जयसिंह ने शाहशुजा को परास्त करने में महत्वपूर्ण भाग लिया था परन्तु सामूगढ़ के युद्ध के पश्चात् वह औरंगजेब के साथ हो गया था। उसी प्रकार राजा जसवन्तसिंह ने धरमट के युद्ध में औरंगजेब का मुकाबला किया था तथा औरंगजेब और शाहशुजा के युद्ध के अवसर पर भी वह औरंगजेब का साथ छोड़कर अपने राज्य में वापस चला गया था। परन्तु बाद में राजा जयसिंह के समझाने और दाराशिकोह की शक्ति को नष्टप्रायः समझकर वह भी औरंगजेब के साथ हो गया था। औरंगजेब सर्वदा उनको शंका की दृष्टि से देखता रहा और उसने उन दोनों को अपने राज्यों से दूर मुगल-साम्राज्य के लिए लड़े जाने वाले कठिनतम युद्धों में नियुक्त किया। राजा जयसिंह को दक्षिण-भारत भेजा गया और वहीं 1666 में बुरहानपुर में उसकी मृत्यु हुई। राजा जसवन्तसिंह को अफगानिस्तान की सीमा पर भेजा गया जहाँ उसके दो पुत्र युद्ध करते हुए मारे गये और वह स्वयं भी 1678 में जमरूद नामक स्थान पर वीरगति को प्राप्त हुआ।

औरंगजेब इसी अवसर की प्रतीक्षा कर रहा था। यह कहा गया है कि जब तक राजा जसवन्तसिंह जीवित रहा, औरंगजेब ने सन्तोष की साँस नहीं ली। औरंगजेब ने उसके पुत्र और उत्तराधिकारी पृथ्वीसिंह को पहले ही एक जहर की पोशाक पहनाकर चालाकी से मरवा दिया था। इस कारण, मारवाड़ का कोई उत्तराधिकारी जीवित न था। औरंगजेब ने तुरन्त मुगल सेना भेजकर मारवाड़ पर अधिकार कर लिया और मारवाड़ को असम्मानित करने के लिए जसवन्तसिंह के सिंहासन को 36 लाख रुपये में बेच दिया। ऐसा प्रतीत हुआ कि मारवाड़ का स्वतन्त्र अस्तित्व सर्वदा के लिए समाप्त हो गया।

परन्तु ऐसा नहीं हुआ। अफगानिस्तान से वापस आते हुए लाहौर में राजा जसवन्तसिंह की दो रानियों ने दो पुत्रों को जन्म दिया। उनमें से एक बच्चे की मृत्यु हो गयी। परन्तु दूसरा बच्चा अजीतसिंह जीवित रहा। राठौर-सेनापति दुर्गादास रानियों और बच्चों को लेकर दिल्ली गया और औरंगजेब से अजीतसिंह को मारवाड़ का शासक स्वीकार करने की माँग की। औरंगजेब इसके लिए तत्पर न हुआ। इसके विपरीत, उसने अजीतसिंह को अपने पास रखने और उसे इस्लाम धर्म में दीक्षित करने की इच्छा प्रकट की। यहीं से राजपूतों और औरंगजेब का संघर्ष आरम्भ हुआ, जो औरंगजेब की मृत्युपर्यन्त चला। दुर्गादास रानियों और अजीतसिंह को लेकर दिल्ली से मारवाड़ भाग गया जहाँ राठौर-जनता ने अजीतसिंह को अपना राजा मान लिया। औरंगजेब ने निरन्तर मारवाड़ पर आक्रमण किये, उस पर अधिकार कर लिया और उसे नष्ट कर दिया। परन्तु राठौरों ने मुगलों से संघर्ष करना बन्द नहीं किया। मेवाड़ का राणा राजसिंह जो औरंगजेब की धार्मिक नीति से असन्तुष्ट था, जिससे जजिया माँगा गया था, जिसके वंश की राजकुमारी अजीतसिंह की माँ थी और जिसकी स्वयं की स्वतन्त्रता को संकट उपस्थित हो गया था, मारवाड़ की तरफ से युद्ध में

सम्मिलित हो गया। उसी समय 1681 में औरंगजेब के पुत्र अकबर ने राजपूतों की सहायता लेकर विद्रोह किया। अकबर का यह विद्रोह सफल न हुआ और उसे दक्षिण भागना पड़ा। औरंगजेब भी मेवाड़ के राजा जयसिंह (राजसिंह की मृत्यु हो चुकी थी) से सन्धि करके अकबर का पीछा करता हुआ दक्षिण-भारत चला गया और फिर कभी भी वहाँ से वापस न लौटा। मारवाड़ ने अपना युद्ध जारी रखा जो रुक-रुक कर औरंगजेब की मृत्यु के समय तक चला। दुर्गादास इस युद्ध की आत्मा सिद्ध हुआ। उसकी दृढ़ता, वफादारी और शौर्य ने मारवाड़ की स्वतन्त्रता की ज्योति को बुझने नहीं दिया, और अन्त में औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् अजीतसिंह ने मारवाड़ के अधिकांश भाग पर अधिकार करने में सफलता पायी।

इस प्रकार औरंगजेब न तो मेवाड़ को जीत सका और न ही मारवाड़ पर अपनी सत्ता को स्थापित रख सका। इस कारण, औरंगजेब की राजपूत-नीति का केवल एक ही परिणाम निकला। राजपूत-जाति, जो अकबर के समय से मुगल-साम्राज्य के प्रति वफादार हो गयी थी और जिसने मुगल-साम्राज्य के विस्तार और उसकी शक्ति को भारत में दृढ़ करने में भाग लिया था, वह मुगल-साम्राज्य से असन्तुष्ट हो गयी और उसने उसका विरोध किया। इससे औरंगजेब के शत्रुओं की संख्या में वृद्धि हुई, अन्य विद्रोहों को प्रोत्साहन मिला और राजपूतों की योग्यता का प्रयोग मुगल-साम्राज्य के हित में नहीं किया जा सका। औरंगजेब ने राजपूतों को अपना शत्रु बनाकर और उसका विश्वास खोकर मुगल-साम्राज्य की सुरक्षा के एक प्रमुख स्तम्भ को उखाड़ दिया। इस कारण औरंगजेब की राजपूत-नीति उसकी विफलता और मुगल-साम्राज्य की दुर्बलता का एक प्रमुख कारण बनी।

[युद्धों के विस्तृत अध्ययन के लिए मुगल बादशाहों की 'साम्राज्य-विस्तार की नीति' शीर्षक के अन्तर्गत देखिए।]

[3]
मुगल बादशाहों की दक्षिण-नीति

बाबर के भारत पर आक्रमण करने के अवसर पर दक्षिण-भारत में खानदेश, बरार, अहमदनगर, बीजापुर, गोलकुण्डा और बीदर के मुसलमानी राज्य थे और विजयनगर का हिन्दू राज्य था। बाबर के वर्णन के अनुसार 'सेना और सीमाओं की दृष्टि से विजयनगर का राज्य हिन्दू-राज्यों में सर्वाधिक शक्तिशाली' था। परन्तु इससे पहले कि मुगल बादशाह दक्षिण-भारत की राजनीति में कोई महत्वपूर्ण भाग ले पाते, दक्षिण की इस स्थिति में परिवर्तन हो गया। जनवरी 1565 में बीजापुर, अहमदनगर, गोलकुण्डा और बीदर की संयुक्त सेनाओं ने विजयनगर पर आक्रमण करके उसे तालीकोटा के युद्ध में परास्त कर दिया और उसके अस्तित्व को समाप्त कर दिया। उसके कुछ समय पश्चात् अहमदनगर ने बरार को जीतकर अपनी सीमाओं में और बीजापुर ने बीदर को जीतकर अपने राज्य में सम्मिलित कर लिया। इस कारण, जब अकबर के समय में मुगलों का दक्षिण की राजनीति में सक्रिय हस्तक्षेप आरम्भ हुआ, उस समय वहाँ केवल खानदेश, अहमदनगर, बीजापुर और गोलकुण्डा के राज्य ही बाकी रह गये थे। परन्तु इससे पहले कि मुगल दक्षिण-भारत की विजय को पूर्ण कर पाते, दक्षिण-भारत में एक नवीन हिन्दू-शक्ति मराठों का उदय हो गया। औरंगजेब के समय में मुगलों को मराठों की शक्ति का मुकाबला

करना पड़ा । प्रायः एक सौ वर्ष के संघर्ष के पश्चात् मुगल बादशाह दक्षिण के सभी मुसलमानी राज्यों को अपने राज्य में सम्मिलित करने में समर्थ हुए और यह भी कहा जा सकता है कि उन्होंने सम्पूर्ण दक्षिण-भारत को विजय करने में सफलता पायी । परन्तु यह भी स्वीकार करना पड़ता है कि वे अन्त में मराठों की शक्ति को समाप्त करने में असफल हुए और दक्षिण-भारत की विजय मुगलों को बहुत महँगी पड़ी । जब तक मुगलों ने दक्षिण के राज्यों को अपनी अधीनता में लेकर ही सन्तोष कर लिया और सम्पूर्ण दक्षिण को अपने प्रत्यक्ष शासन में लाने का प्रयत्न नहीं किया, वे सफल हुए; परन्तु जब औरंगजेब ने दक्षिण में अपनी प्रत्यक्ष सत्ता को स्थापित करने का प्रयत्न किया और इन राज्यों के अस्तित्व को समाप्त कर दिया तो मुगलों की असफलता आरम्भ हो गयी, क्योंकि मुगलों की दक्षिण-विजय स्थायी न हो सकी । मुगल-साम्राज्य का पराभव दक्षिण-विजय से आरम्भ हुआ । सम्पूर्ण दक्षिण-भारत को विजय करने के पश्चात् भी मुगलों की नीति, अन्त में, दक्षिण में असफल हुई और नवोदित मराठा-शक्ति ने मुगलों की शक्ति को छिन्न-भिन्न करना आरम्भ कर दिया । उसके पश्चात् मराठों ने ही नहीं अपितु मुगल सरदार 'निजाम-उल-आसफ खाँ' ने भी दक्षिण-भारत में हैदराबाद के स्वतन्त्र राज्य को स्थापित करने में सफलता पायी । इस प्रकार, मुगलों का दक्षिण-नीति का इतिहास उनकी सफलता और असफलता दोनों का है ।

बाबर को दक्षिण-भारत की ओर ध्यान देने का कोई अवसर प्राप्त नहीं हुआ । हुमायूँ के समय में खानदेश का शासक मुहम्मदशाह प्रथम गुजरात के शासक बहादुरशाह की तरफ से मेवाड़ के आक्रमण में सम्मिलित हुआ और इस कारण वह हुमायूँ के विरुद्ध मन्दसौर और माण्डू के युद्धों में बहादुरशाह के साथ था । हुमायूँ ने गुजरात को जीतकर एक साधारण आक्रमण खानदेश पर भी किया । उस समय मुहम्मदशाह ने हुमायूँ से माँफी माँग ली और हुमायूँ सन्तुष्ट होकर वापस चला आया । इस प्रकार, बाबर और हुमायूँ ने दक्षिण-भारत के राज्यों के प्रति कोई निश्चित योजना नहीं बनायी । यह समय मुगलों के लिए भारत की राजसत्ता के लिए अफगानों से संघर्ष का था और मुगल बादशाह उत्तर-भारत में ही मुगल-साम्राज्य को स्थापित और दृढ़ करने का प्रयत्न कर रहे थे । इस कारण, उन्हें दक्षिण-भारत की ओर ध्यान देने का अवसर न था । अकबर के समय से मुगलों की दक्षिण-नीति सुनिश्चित रूप से आरम्भ हुई । मुगलों की स्थिति को उत्तर-भारत में दृढ़ करने के पश्चात् अकबर ने दक्षिण-भारत की ओर ध्यान दिया । अकबर की नीति साम्राज्यवादी थी और दक्षिण-भारत की विजय उसकी नीति का एक भाग बनी । दक्षिण-भारत को विजय किये बिना अकबर का भारत की राजनीतिक एकता और एक विस्तृत साम्राज्य की स्थापना का उद्देश्य पूरा नहीं हो सकता था । अकबर का एक अन्य उद्देश्य पुर्तगालियों की शक्ति को सीमित करना था । पुर्तगाली दक्षिण के समुद्र-तट पर अधिकार करके भारत के आर्थिक साधनों को अपने स्वार्थ के लिए प्रयोग में ला रहे थे और भारतीय राजनीति में हस्तक्षेप करके उसके नवीन साम्राज्य को भी हानि पहुँचा सकते थे । इस कारण, अकबर ने जहाँ तक सम्भव था वहाँ तक दक्षिण-भारत में राज्य-विस्तार किया और जहाँ सम्भव न था, वहाँ दक्षिण के राज्यों को मुगलों की अधीनता स्वीकार करने के लिए बाध्य करने की नीति को अपनाया । उसकी दक्षिण-भारत की विजय का आधार मूलतया राजनीतिक रहा । औरंगजेब के

समय में मुगलों की दक्षिण-नीति का आधार केवल राजनीतिक ही नहीं रहा अपितु धार्मिक भी हो गया। औरंगजेब दक्षिण के नवीन हिन्दू-मराठा राज्य को ही नहीं अपितु बीजापुर और गोलकुण्डा के शिया राज्यों के अस्तित्व को भी नष्ट करने पर तुल गया। इसके अतिरिक्त, जबकि शाहजहाँ के समय तक दक्षिण-भारत के राज्यों की शक्ति को नष्ट करके और उनसे मुगल-अधीनता को स्वीकार कराकर ही सन्तोष कर लिया गया, औरंगजेब ने उसको मुगल-साम्राज्य में सम्मिलित करने की नीति को अपनाया। इस कारण यह कहा जा सकता है कि मुगल बादशाहों ने अकबर के समय से दक्षिण-विजय की सुनिश्चित नीति को आरम्भ किया, जहाँगीर और शाहजहाँ के समय में उस नीति के मूल उद्देश्य की पूर्ति करने का प्रयत्न किया गया और औरंगजेब के समय में खुले तौर से दक्षिण के राज्यों को मुगल-साम्राज्य का भाग बनाने की नीति को अपनाकर उसे पूर्ण किया गया। औरंगजेब के समय में मुगलों की दक्षिण-नीति अपनी सफलता की चरम सीमा पर पहुँच गयी। यह बात दूसरी है कि मुगल बादशाह अपनी इस विजय को स्थायी न रख सके। स्वयं औरंगजेब को अपनी दक्षिण-भारत की विजय की असफलता स्पष्ट हो गयी थी। उत्तरकालीन मुगल बादशाहों के समय में वह असफलता और अधिक स्पष्ट हो गयी और दक्षिण-भारत में पुनः स्वतन्त्र राज्य स्थापित हो गये।

अकबर पहला मुगल बादशाह था जिसने उत्तर-भारत की विजय को पूर्ण करने के पश्चात् दक्षिण-भारत को जीतने की योजना बनायी। दक्षिण-भारत को विजय करने में अकबर का मुख्य लक्ष्य साम्राज्य का विस्तार करना था। इसके अतिरिक्त, अकबर पुर्तगालियों से असन्तुष्ट था जो भारत के समुद्र-तट पर प्रभावशाली होते जा रहे थे। वह उनकी शक्ति को तोड़ना चाहता था जो दक्षिण-भारत की विजय के द्वारा ही सम्भव हो सकता था। अबुल फजल ने इस सम्बन्ध में अकबर का एक अन्य लक्ष्य भी बताया है। उसके अनुसार दक्षिण-भारत को जीतने में अकबर का लक्ष्य वहाँ के नागरिकों को उनके तानाशाही शासकों से मुक्त कराकर उन्हें शान्ति और सम्पन्नता प्रदान करना था। परन्तु आधुनिक इतिहासकारों में से कोई भी उसके इस विचार से सहमत नहीं है। 1591 में अकबर ने दक्षिण के चारों राज्यों—खानदेश, अहमदनगर, बीजापुर और गोलकुण्डा—में अपने राजदूत भेजे और उसने मुगल अधीनता को स्वीकार करने के लिए कहा। खानदेश के शासक अलीखाँ ने अकबर के आधिपत्य को स्वीकार कर लिया और बाद में वह अकबर की तरफ से अहमदनगर के साथ युद्ध करते हुए मारा गया। परन्तु दक्षिण के अन्य तीनों राज्यों ने नम्रता से अकबर के प्रस्ताव को ठुकरा दिया। इस कारण, मुगलों ने अहमदनगर पर आक्रमण किया। चाँदबीबी के नेतृत्व में अहमदनगर ने मुगलों का कठोर मुकाबला किया परन्तु चाँदबीबी की मृत्यु के पश्चात् और कई वर्षों के संघर्ष के पश्चात् मुगलों ने बरार, अहमदनगर और दौलताबाद के भू-प्रदेशों तथा किलों पर अधिकार करने में सफलता पायी। खानदेश के शासक अलीखाँ की मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्र मीरन बहादुर ने अकबर के आधिपत्य को स्वीकार करने से इन्कार कर दिया। इस कारण, मुगलों ने उस पर आक्रमण किया और अन्त में बुरहानपुर और असीरगढ़ के किलों को जीतकर सम्पूर्ण खानदेश को मुगल-साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया। मीरन बहादुर को पेन्शन देकर ग्वालियर के किले में कैद कर लिया गया। बीजापुर और गोलकुण्डा को अपनी अधीनता में लाने का अवसर अकबर को प्राप्त नहीं हुआ। इस प्रकार,

अकबर ने खानदेश के स्वतन्त्र राज्य को समाप्त कर दिया। वह अहमदनगर को समाप्त तो न कर सका परन्तु उसके पर्याप्त बड़े भू-प्रदेश पर अधिकार कर लिया और दक्षिण के कई दृढ़ किलों जैसे दौलताबाद, अहमदनगर, बुरहानपुर, असीरगढ़, आदि को जीतकर मुगलों की शक्ति को दक्षिण में स्थापित कर दिया और अपने उत्तराधिकारियों के दक्षिण-विजय के मार्ग को खोल दिया।

जहाँगीर ने अपने पिता की दक्षिण-नीति को यथावत् रखा। उसके समय में अहमदनगर राज्य को समाप्त करने और बीजापुर तथा गोलकुण्डा के राज्यों को मुगलों की अधीनता को स्वीकार कराने के लिए प्रयत्न किये गये। जहाँगीर की दक्षिण-विजय की नीति में सबसे बड़ी बाधा अहमदनगर के योग्य वजीर मलिक अम्बर ने उपस्थित की। उसने अपनी योग्यता से अहमदनगर राज्य के शासन और आर्थिक अवस्था को ठीक किया, मराठा-सैनिकों को 'गुरिल्ला युद्ध-पद्धति' में योग्य बनाया और जहाँगीर के शासन-काल के आरम्भ के वर्षों में मुगलों से अहमदनगर का किला और अपने खोये हुए अन्य प्रदेशों को जीतने में सफलता पायी। जहाँगीर ने आरम्भ से ही विभिन्न मुगल-सेनापतियों के नेतृत्व में मुगल सेनाओं को अहमदनगर के विरुद्ध भेजा परन्तु मलिक अम्बर की कुशलता और मुगलों के पारस्परिक मतभेदों के कारण मुगल कोई विशेष सफलता न पा सके। जब शाहजादा खुर्रम ने अहमदनगर पर आक्रमण किया तब 1617 में अहमदनगर ने बालाघाट का प्रदेश और अहमदनगर का किला मुगलों को सौंपकर एक सन्धि कर ली और बीजापुर ने, जिसने इस सन्धि के लिए मध्यस्थता की थी, खुर्रम को मूल्यवान उपहार भेंट किये। जहाँगीर ने खुर्रम को शाहजहाँ की उपाधि दी और उसकी इस सफलता को एक बड़ी सफलता माना गया। परन्तु ऐसा कुछ न था। मलिक अम्बर ने मुगलों के विरुद्ध पुनः युद्ध आरम्भ कर दिया जिससे स्पष्ट हो गया कि अहमदनगर मुगलों की अधीनता को स्वीकार करने के लिए तत्पर न था। दक्षिण में युद्ध चलता रहा जब तक कि 1621 में अहमदनगर राज्य को पुनः सन्धि के लिए बाध्य न किया गया। इस सन्धि के अनुसार अहमदनगर ने मुगलों को बहुत से भू-प्रदेश दे दिये, एक अन्य भू-क्षेत्र जिसकी आय 14 लाख रुपया वार्षिक थी, मुगलों को दिया और 18 लाख रुपया भी दिया। बीजापुर और गोलकुण्डा ने, जिन्होंने अहमदनगर-राज्य की सहायता की थी, क्रमशः 12 लाख और 20 लाख रुपया हर्जाने के रूप में मुगलों को दिया। इसके पश्चात् दक्षिण-भारत का युद्ध समाप्त हो गया। इस प्रकार, जहाँगीर के समय में अहमदनगर राज्य को दुर्बल किया गया और बीजापुर तथा गोलकुण्डा के राज्यों पर दबाव बढ़ाया गया परन्तु साम्राज्य-विस्तार सम्भव न हो सका और न दक्षिण-भारत के किसी राज्य को समाप्त किया जा सका अथवा पूर्णतया मुगलों की अधीनता में लिया जा सका। डॉ. आर. पी. त्रिपाठी ने लिखा है कि "मुगल शक्ति दक्षिण में वहीं पर थी जहाँ पर अकबर ने दक्षिण से लौटते समय छोड़ी थी।"[1]

शाहजहाँ ने अकबर और जहाँगीर द्वारा अपनायी गयी नीति का अनुसरण किया और दक्षिण-भारत के राज्यों को समाप्त करने अथवा उनको अपनी पूर्ण अधीनता में लाने के प्रयत्न किये। शाहजहाँ स्वयं एक योग्य सेनापति था और दक्षिण-भारत

1 "...advanced the Mughal power no further than it had stood when Akbar left the Deccan." —*Dr. R. P. Tripathi.*

की राजनीति का उसे अच्छा अनुभव था। अहमदनगर के योग्य वजीर मलिक अम्बर की मृत्यु और उसके पश्चात् राज्य में उत्पन्न हुई अव्यवस्था ने उसे सुअवसर प्रदान किया। मलिक अम्बर का पुत्र फतहखाँ जो राज्य का वजीर बना, न केवल अयोग्य अपितु धूर्त भी था। उसने न केवल सुल्तान मुर्तजा निजामशाह द्वितीय को कैद करके कत्ल ही करा दिया बल्कि वह कभी मुगलों और कभी बीजापुर के साथ मिलता भी रहा। वह निजामशाह-वंश के लिए वफादार नहीं था बल्कि केवल अपने स्वार्थ की रक्षा करना उसका लक्ष्य था। जिस छोटे बालक हुसैनशाह को उसने गद्दी पर बैठाया उसके प्रति भी वह वफादार नहीं रहा। अपनी स्वार्थपूर्ण नीति के कारण उसने निजामशाही-वंश के प्रति वफादार सरदारों (जैसे शाहजी भोंसले) को ही नहीं खो दिया बल्कि बीजापुर की सहानुभूति और मुगलों के विश्वास को भी खो दिया। महाबतखाँ के नेतृत्व में मुगलों ने दौलताबाद का घेरा डाला। अन्तिम समय में अपनी दुर्बलता को देखकर फतहखाँ $10\frac{1}{2}$ लाख रुपया लेकर मुगलों के पक्ष में हो गया और 1633 में उसने अपने मालिक हुसैनशाह के साथ मुगलों को आत्म-समर्पण कर दिया। दौलताबाद के किले पर मुगलों का अधिकार हो गया। हुसैनशाह को ग्वालियर के किले में कैद कर दिया गया और अहमदनगर राज्य को मुगल-साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया गया (1633)। उसके पश्चात् भी शाहजी भोंसले ने एक बालक को मुर्तजा तृतीय के नाम से घोषित करके मुगलों से संघर्ष चलाये रखा परन्तु, अन्त में, 1636 में उसने भी मुर्तजा तृतीय को मुगलों को सौंप दिया और स्वयं बीजापुर की सेवा में चला गया।

1626 में गोलकुण्डा के शासक मुहम्मद कुतुबशाह की मृत्यु हो गयी और उसके पश्चात् 11 वर्ष की आयु का अब्दुल्ला कुतुबशाह बना। उसके समय में उसके दरबार के सरदारों में एकता न रही और राज्य दुर्बल हो गया। 1636 में मुगलों के दबाव से गोलकुण्डा को एक सन्धि करनी पड़ी जिसके अनुसार अन्य शर्तों के अतिरिक्त उसने मुगलों की अधीनता को स्वीकार कर लिया। 1652 से 1657 के समय में शाहजादा औरंगजेब को दूसरी बार दक्षिण का सूबेदार बनाया गया। उस समय औरंगजेब ने गोलकुण्डा पर पुनः दबाव डाला। गोलकुण्डा 1636 में की गयी सन्धि की शर्तों को पूरा नहीं कर रहा था और उसने अपना वार्षिक कर भी पूरी तरह से नहीं दिया था। जब कुतुबशाह का झगड़ा अपने सरदार मीरजुमला से हुआ और मीरजुमला ने शाहजहाँ से संरक्षण माँगा तब औरंगजेब को गोलकुण्डा में हस्तक्षेप करने का अवसर मिल गया। औरंगजेब ने हैदराबाद को जीतकर गोलकुण्डा का घेरा डाल दिया। परन्तु इससे पहले कि वह गोलकुण्डा पर अपना अधिकार करता, शाहजहाँ का आदेश मिला कि गोलकुण्डा का घेरा हटा दिया जाय। इस कारण, 1656 में गोलकुण्डा से सन्धि कर ली गयी जिसके अनुसार गोलकुण्डा ने मुगल आधिपत्य को ही स्वीकार नहीं किया अपितु उसने अपनी एक पुत्री का विवाह औरंगजेब के पुत्र शाहजादा मुहम्मद से कर दिया, 10 लाख रुपया दहेज के रूप में दिया और 15 लाख रुपया युद्ध के हर्जाने के रूप में दिया। इस प्रकार, गोलकुण्डा को दुर्बल तो कर दिया गया परन्तु उसका स्वतन्त्र अस्तित्व नष्ट होने से बच गया।

बीजापुर के सुल्तान इब्राहीमशाह की मृत्यु के पश्चात् मुहम्मद आदिलशाह सुल्तान बना। आदिलशाह की मुगलों के प्रति अपनी कोई स्वतन्त्र नीति न थी और

उसके सरदारों में इस विषय में मतभेद था। तब भी 1631 में किया गया मुगलों का आक्रमण विफल रहा। 1636 में मुगलों ने पुनः बीजापुर पर आक्रमण किया और बीजापुर ने मुगलों से सन्धि कर ली जिसके अनुसार अन्य शर्तों के अतिरिक्त बीजापुर ने मुगलों की अधीनता स्वीकार कर ली। इसके पश्चात् प्रायः 20 वर्षों तक बीजापुर और मुगलों का कोई संघर्ष न हुआ। जब शाहजादा औरंगजेब दूसरी बार दक्षिण का सूबेदार बना तब मुगलों ने पुनः बीजापुर में हस्तक्षेप किया। नवम्बर 1656 में आदिलशाह प्रथम की मृत्यु हो गयी। यह विश्वास किया जाता था कि उसके कोई पुत्र न था और उसकी बेगम 'बड़ी साहिबा' ने किसी अन्य लड़के को अपना पुत्र बनाकर उसे आदिलशाह द्वितीय के नाम से गद्दी पर बैठा दिया था। शाहजहाँ ने इससे लाभ उठाना चाहा और विभिन्न दोष लगाकर औरंगजेब को बीजापुर पर आक्रमण करने का आदेश दे दिया। मुगलों ने बीदर के किले को जीता, गुलबर्गा में एकत्रित बीजापुर की सेना को नष्ट कर दिया और कल्याणी के किले को भी जीत लिया। इसके पश्चात् औरंगजेब ने बीजापुर के किले का घेरा डाल दिया। परन्तु इससे पहले कि बीजापुर के किले पर अधिकार किया जाता, शाहजहाँ के आदेश से औरंगजेब को बीजापुर से सन्धि कर लेनी पड़ी। 1657 में हुई इस सन्धि के अनुसार बीजापुर ने मुगलों की अधीनता स्वीकार कर ली और डेढ़ करोड़ रुपया देने का वायदा किया। इसके अतिरिक्त बीदर और कल्याणी के किले भी मुगलों के अधिकार में रहे।

औरंगजेब ने इस अवसर पर शिवाजी को परास्त करके उन्हें भी मुगलों से सन्धि करने के लिए बाध्य किया।

इस प्रकार, शाहजहाँ के समय में मुगलों की दक्षिण-नीति पर्याप्त सफल रही। अहमदनगर-राज्य को पूर्णतया समाप्त कर दिया गया। बीजापुर तथा गोलकुण्डा से भूमि छीनी गयी, कुछ किले हस्तगत कर लिये गये, उनसे धन वसूल किया गया, उनकी शक्ति को दुर्बल कर दिया गया और उन्हें स्पष्ट रूप से मुगलों की अधीनता में ले लिया गया। सम्भवतया, बीजापुर और गोलकुण्डा के अस्तित्व को भी समाप्त कर दिया गया होता यदि स्वयं शाहजहाँ ने औरंगजेब के मार्ग में बाधा डालकर उनको जीवित रहने का अवसर न दिया होता। शाहजहाँ दक्षिण-भारत की राजनीति से गम्भीरता से परिचित था और उसने यह ठीक समझा था कि इन राज्यों को समाप्त कर देने से दक्षिण की राजनीति मुगलों के लिए जटिल हो जायेगी। इस कारण, वह उन राज्यों को दुर्बल करके और उनसे अपनी अधीनता स्वीकार कराकर ही सन्तुष्ट हो गया। यह भी विश्वास किया जाता है कि शाहजहाँ का बड़ा पुत्र दाराशिकोह और पुत्री जहाँआरा इन राज्यों को समाप्त करने के पक्ष में न थे। दाराशिकोह को औरंगजेब की बढ़ती हुई शक्ति और सम्मान से खतरा हो सकता था। इस कारण, उनके प्रभाव के कारण शाहजहाँ ने इन राज्यों के अस्तित्व को रहने दिया। शाहजहाँ की बीमारी और उत्तराधिकार के युद्ध की सम्भावना भी इस अवसर पर इन राज्यों के जीवित रह जाने का कारण बनी।

औरंगजेब की दक्षिण-नीति का उद्देश्य राजनीतिक था और धार्मिक भी। औरंगजेब न केवल साम्राज्य-विस्तार के लिए ही इन राज्यों को समाप्त करना चाहता था बल्कि उसका यह विश्वास भी हो गया था कि बिना इन राज्यों को समाप्त किये हुए मराठों की शक्ति का दमन करना असम्भव होगा। ये राज्य शिया राज्य थे।

इस कारण भी वह इनसे असन्तुष्ट था। इसके अतिरिक्त, औरंगजेब का दक्षिण-भारत को जीतने में एक अन्य लक्ष्य भी था। दक्षिण के यह राज्य धनवान थे। औरंगजेब उन राज्यों की सम्पत्ति पर भी अधिकार करना चाहता था। औरंगजेब ने दक्षिण के राज्यों द्वारा मुगल-साम्राज्य की अधीनता स्वीकार कर लेने मात्र से सन्तोष नहीं किया बल्कि उसने उनके स्वतन्त्र अस्तित्व को नष्ट करके उनको मुगल-साम्राज्य में सम्मिलित करने की योजना बनायी।

अपने शासन-काल के आरम्भ के प्रायः 25 वर्षों में औरंगजेब उत्तर-भारत में व्यस्त रहा और दक्षिण-भारत के राज्यों को जीतने का उत्तरदायित्व विभिन्न मुगल सरदारों को सौंपा गया। बीजापुर ने 1657 में की गयी सन्धि की शर्तों का पालन नहीं किया। इस कारण 1665-1666 में राजा जयसिंह के नेतृत्व में मुगलों ने उस पर आक्रमण किया परन्तु सफलता प्राप्त न हो सकी। 1672 में सुल्तान अली आदिलशाह द्वितीय की मृत्यु हो जाने पर उसका चार वर्षीय पुत्र सिकन्दर आदिलशाह गद्दी पर बैठा। अल्पायु के इस शासक के समय में दरबार के भारतीय मुसलमान और विदेशी मुसलमान सरदारों में प्रभुत्व के लिए प्रतिस्पर्धा होने लगी जिससे राज्य में अव्यवस्था फैल गयी। 1676 से मुगलों ने पुनः बीजापुर पर आक्रमण करने आरम्भ कर दिये। परन्तु कई वर्षों तक मुगल कोई विशेष सफलता न पा सके। अन्त में, अप्रैल 1685 में शाहजादा आजम ने बीजापुर के किले का घेरा डाल दिया। औरंगजेब भी 1682 में अपने विद्रोही पुत्र अकबर का पीछा करता हुआ दक्षिण-भारत पहुँच गया। जुलाई 1686 से स्वयं औरंगजेब किले के घेरे की देखभाल के लिए वहाँ उपस्थित था। प्रायः 18 महीने के घेरे के पश्चात् सितम्बर 1686 में बीजापुर ने आत्मसमर्पण कर दिया। सिकन्दर आदिलशाह को एक पेन्शन देकर गद्दी से हटा दिया गया और बीजापुर-राज्य को मुगल-साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया गया (1686)।

गोलकुण्डा का तत्कालीन शासक अबुलहसन कुतुबशाह था। अबुलहसन ने अपना शासन दो ब्राह्मण मन्त्रियों को सौंप रखा था। वह शिया मत को मानता था और उसने औरंगजेब द्वारा सिकन्दर आदिलशाह पर किये गये आक्रमण की आलोचना की थी। औरंगजेब इन सभी बातों से असन्तुष्ट था। 1685 में शाहजादा शाहआलम ने गोलकुण्डा पर आक्रमण किया। अबुलहसन को हैदराबाद छोड़कर गोलकुण्डा के किले में शरण लेनी पड़ी और मुगलों ने हैदराबाद को बुरी तरह से लूटा। अबुलहसन ने शाहजादा शाहआलम को कुछ शर्तों पर सन्धि करने के लिए राजी कर लिया और शाहजादा औरंगजेब के पास वापस चला गया। परन्तु औरंगजेब किसी भी शर्त पर सन्धि करने के लिए तत्पर न था। औरंगजेब ने बीजापुर के किले को जीतने के पश्चात् 1687 में गोलकुण्डा के किले का घेरा डाल दिया। अक्टूबर 1687 में चालाकी से गोलकुण्डा के किले को जीतने में औरंगजेब ने सफलता पायी। अबुलहसन कुतुबशाह को पेन्शन देकर दौलताबाद के किले में कैद कर लिया गया और गोलकुण्डा के राज्य को मुगल-साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया गया (1687)।

परन्तु बीजापुर और गोलकुण्डा की विजय से औरंगजेब की दक्षिण की विजय सम्पन्न नहीं हो गयी। औरंगजेब के समय में दक्षिण-भारत में मराठों की नवीन शक्ति का उदय हुआ। औरंगजेब का सबसे कठिन संघर्ष मराठों से हुआ। मराठा-राज्य की स्थापना शिवाजी ने की और ऐसा करते हुए उन्हें बीजापुर तथा मुगल, दोनों

से संघर्ष करना पड़ा। मुगलों से शिवाजी का पहला संघर्ष 1656 में हुआ जब शिवाजी ने अहमदनगर और चुनार पर आक्रमण किया परन्तु 1657 में औरंगजेब ने एक युद्ध में उन्हें परास्त करके सन्धि करने पर बाध्य किया। यह वह अवसर था जबकि औरंगजेब उत्तराधिकार के युद्ध की तैयारी कर रहा था। परन्तु वह सन्धि नाममात्र की थी। बिना मुगल-प्रदेशों को जीते हुए शिवाजी के राज्य की स्थापना सम्भव न थी। औरंगजेब ने भी बादशाह बनने के पश्चात् शाइस्ताखाँ को शिवाजी को दबाने के लिए भेजा। लेकिन जब शिवाजी ने शाइस्ताखाँ पर पूना के महल में अचानक आक्रमण करने में सफलता पायी तब औरंगजेब , शाइस्ताखाँ को वापस बुलाकर राजा जयसिंह को भेजा। राजा जयसिंह ने 1665 में, शिवाजी को पुरन्दर की सन्धि करने के लिए बाध्य किया जिसके अनुसार उन्होंने अपने 3/4 किले और भूमि मुगलों को सौंप दी। 1666 में शिवाजी औरंगजेब से भेंट करने आगरा गये जहाँ उन्हें नजरबन्द कर लिया गया। शिवाजी अपनी बुद्धिमानी से वहाँ से भाग निकलने में सफल हुए। 1670 में शिवाजी ने पुनः मुगलों से संघर्ष आरम्भ कर दिया। 1674 में उन्होंने रायगढ़ में अपना राज्याभिषेक किया और इस प्रकार मराठों का एक स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने में सफलता पायी। स्पष्ट है कि मुगल शिवाजी की प्रगति को रोकने में असफल रहे। 1680 में शिवाजी की मृत्यु के पश्चात् उनका पुत्र शम्भाजी गद्दी पर बैठा। मुगल-शाहजादा अकबर उसके दरबार में संरक्षण के लिए पहुँचा और 1682 में औरंगजेब अपने पुत्र का पीछा करते हुए दक्षिण-भारत पहुँच गया। कई वर्षों के युद्ध के पश्चात् 1689 में औरंगजेब ने शम्भाजी को पकड़ने और कत्ल करने में सफलता पायी। सम्पूर्ण महाराष्ट्र पर मुगलों का अधिकार हो गया, शिवाजी द्वारा स्थापित किया हुआ मराठा-राज्य नष्ट हो गया तथा औरंगजेब व मुगलों की दक्षिण-भारत की विजय पूर्ण हो गयी। परन्तु औरंगजेब मराठा-राज्य को समूलतः नष्ट नहीं कर सका। मराठों ने राजाराम के नेतृत्व में महाराष्ट्र की स्वतन्त्रता का युद्ध आरम्भ किया। राजाराम की मृत्यु के पश्चात् उसकी विधवा पत्नी ताराबाई ने अपने पुत्र शिवाजी द्वितीय के नाम से इस स्वतन्त्रता-संग्राम को जारी रखा और यह युद्ध औरंगजेब की मृत्यु तक चलता रहा। राजाराम और ताराबाई दोनों ही योग्य सिद्ध हुए। राजाराम ने एक अच्छे संगठनकर्ता होने का परिचय दिया, जबकि ताराबाई अच्छी कूटनीतिज्ञ सिद्ध हुई। ताराबाई ने राजाराम की मृत्यु के पश्चात् अपने अल्पायु पुत्र को मराठा शासक घोषित करके मुगलों से संघर्ष जारी रखा। एक मुसलमान इतिहासकार, खाफीखाँ, जिसे मराठों के प्रति कोई सहानुभूति नहीं थी, ताराबाई के बारे में लिखता है : "यह उसी के प्रयत्नों का परिणाम था कि मराठों ने न केवल दक्षिण-भारत के सूबों पर आक्रमण करने आरम्भ कर दिये अपितु मुगलों के दूरस्थ प्रान्तों पर भी आक्रमण करने आरम्भ कर दिये तथा औरंगजेब अपने शासनकाल के अन्त तक भी मराठों को दबाने में असफल हुआ।"[1] इस समय में न मराठों का कोई एक सेनापति था और न वे किसी एक ही युद्ध-स्थल पर अपने भाग्य का निर्णय करने को तैयार थे। विभिन्न मराठा सेनापति विभिन्न स्थानों पर

---

1 "It was the result of her efforts that the Marathas started attacking not only the *Subas* of the Deccan but also the distant Mughal provinces and Aurangzeb failed to subdue the Marathas even till the end of his reign."

युद्ध कर रहे थे और सम्पूर्ण महाराष्ट्र और आस-पास का ही नहीं बल्कि दूर-दूर तक मुगल प्रदेश उनका युद्ध-स्थल बना हुआ था। इस युद्ध को समाप्त करने में औरंगजेब असफल रहा। औरंगजेब की मृत्यु इस युद्ध में घिरे रहते हुए ऐसी स्थिति में हुई जबकि मराठा-सैनिक उसकी छावनियों तक पर आक्रमण करने में सफलता पा रहे थे। इस प्रकार, औरंगजेब सम्पूर्ण दक्षिण-भारत को विजय करके भी असफल हुआ। वह अपनी दक्षिण-विजय को संगठित न कर सका। मराठा-स्वतन्त्रता-संग्राम ने उसकी दक्षिण-नीति की सफलता को नष्ट कर दिया और, अन्त में, मराठों ने औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् महाराष्ट्र में अपना राज्य स्थापित करने में सफलता पायी।

इस प्रकार, औरंगजेब के समय में अकबर के द्वारा आरम्भ की गयी मुगलों की दक्षिण-नीति अपनी चरम सीमा पर पहुँच गयी। औरंगजेब ने सम्पूर्ण दक्षिण-भारत को विजय करने में सफलता पायी। परन्तु उसकी सफलता के समय से ही उसकी दक्षिण-नीति की और मुगल बादशाहों की दक्षिण-नीति की विफलता प्रारम्भ हो जाती है। उत्तरकालीन मुगल बादशाह दक्षिण-भारत को अपनी वास्तविक सत्ता के अधीन न रख सके। मराठों से उन्हें तुरन्त समझौता करना पड़ा और बाद में वे सम्पूर्ण दक्षिण-भारत को खो बैठे। दक्षिण-भारत औरंगजेब का कब्रिस्तान सिद्ध हुआ और उसकी दक्षिण-नीति मुगल-साम्राज्य के पतन का कारण बनी। औरंगजेब की दक्षिण-विजय ने मुगल-साम्राज्य को इतना अधिक विस्तृत कर दिया कि एक केन्द्र-स्थान से उसका शासन करना असम्भव हो गया। भारतीय इतिहास ने कई बार यह सिद्ध किया था जिस शासक ने उत्तर और दक्षिण-भारत के दोनों भागों को अपनी प्रत्यक्ष अधीनता में लाने का प्रयत्न किया, वह असफल हुआ। परन्तु उत्तर-भारत के जिस बादशाह ने दक्षिण-भारत के राज्यों को अपना स्वामित्व स्वीकार कराकर स्वतन्त्र छोड़ दिया वह सफल रहा। औरंगजेब के समय में भारतीय इतिहास के इस सबक की पुनरावृत्ति होती है। दक्षिण-भारत को अपनी प्रत्यक्ष अधीनता में लाने के प्रयत्न के कारण औरंगजेब उत्तर-भारत के शासन की ओर ध्यान न दे सका जो उसके साम्राज्य की शक्ति का आधार था। दक्षिण-भारत में साम्राज्य की सम्पूर्ण आर्थिक शक्ति, उसके सबसे योग्य अधिकारी और उसकी सबसे अच्छी सेना लगी रही तथा उत्तर-भारत का शासन, अधिकार और सुरक्षा मध्य श्रेणी के अधिकारियों के हाथों में रही जिससे कोई भी कार्य ठीक प्रकार न हो सका। औरंगजेब ने दक्षिण-भारत को तो खोया ही परन्तु साथ-साथ उसने अपने और मुगल-साम्राज्य की शक्ति के स्रोत उत्तर-भारत को भी खो दिया। शासन-व्यवस्था, शान्ति-समृद्धि और उन्नति की दृष्टि से औरंगज़ेब ने सम्पूर्ण भारत को खो दिया। इसके अतिरिक्त बीजापुर को गोलकुण्डा की विजय ने मराठों की उठती हुई शक्ति का प्रत्यक्ष संघर्ष मुगलों से करा दिया। औरंगजेब ने इन शिया-राज्यों को समाप्त न किया होता तो, सम्भवतया, मराठे दक्षिण की राजनीति में व्यस्त रहते और उन्हें मुगलों से संघर्ष करने का और उनकी दुर्बलताओं को समझने का अवसर प्राप्त न हो पाता। परन्तु जदुनाथ सरकार ने एक अन्य विचार प्रकट किया है। उनका कहना है कि दक्षिण-भारत के दुर्बल राज्य न तो मराठों और मुगलों के मध्य एक सुरक्षात्मक दीवार बन सकते थे और न मुगलों के उपयोगी मित्र ही। ऐसी स्थिति में मराठों और मुगलों के संघर्ष को रोक पाना असम्भव था। औरंगजेब ने ऐसा ही किया। वास्तविकता कुछ भी हो परन्तु औरंगजेब की दक्षिण-नीति अव्यावहारिक, अविवेकपूर्ण और असफल सिद्ध हुई।

[युद्धों के विस्तृत अध्ययन के लिए मुगल बादशाहों की दक्षिण-नीति अलग-अलग अध्यायों में देखिए।]

[4]
मुगल बादशाहों की मध्य-एशिया की नीति

मध्य-एशिया में ट्रान्स-ऑक्सियाना के भू-प्रदेश पर जहाँ बदख्शां, बल्ख, बुखारा, समरकन्द आदि स्थित थे, मुगल बादशाह अपना राज्य स्थापित करने के लिए सर्वथा उत्सुक रहे। वे उसे अपनी और अपने पूर्वजों की मातृभूमि मानते थे और समरकन्द को विजय करना वे बड़े गौरव और सम्मान का सूचक समझते थे। बाबर से लेकर शाहजहाँ तक प्रत्येक मुगल बादशाह इस प्रदेश को अपने अधिकार में करने के लिए उत्सुक रहा। केवल औरंगजेब ने इस कार्य को असम्भव समझकर इसकी लालसा छोड़ दी थी।

बाबर समरकन्द को जीतने के लिए सर्वथा लालायित रहा। उसने तीन बार उस पर अधिकार भी किया परन्तु तीनों बार उजबेगों के विरोध के कारण उसे समरकन्द छोड़ना पड़ा। बाबर ने बदख्शां अपने अधिकार में रखा और उसका पुत्र हुमायूँ 1520 से 1529 तक वहाँ का सूबेदार रहा। हुमायूँ के वापस आ जाने पर बाबर ने सुलेमान को वहाँ का सूबेदार नियुक्त किया। हुमायूँ के समय में सुलेमान ने एक स्वतन्त्र शासक की भाँति व्यवहार किया और इस प्रकार बदख्शां मुगलों के आधिपत्य में न रहा। सुलेमान ने अपने को तैमूर-वंश के शाहजादों में प्रमुख माना और काबुल को जीतने का प्रयत्न किया यद्यपि इस कार्य में वह असफल रहा। इस कारण, हुमायूँ के समय में मध्य-एशिया का कोई भाग मुगलों के अधिकार में न रहा। 1598 में सुलेमान और उसके विद्रोही पोते शाह-रुख के झगड़े में हस्तक्षेप करके अब्दुल्लाखाँ उजबेग ने बदख्शां को अपने अधिकार में कर लिया। इस कारण, अकबर के समय में मध्य-एशिया का यह भाग उजबेगों के अधिकार में था। अकबर ने शाह-रुख को अपने यहाँ शरण दी क्योंकि वह मध्य-एशिया को जीतने की लालसा करता था। परन्तु यह सम्भव न हो सका। अकबर अपनी भारत की विजय में व्यस्त रहा और उजबेगों की शक्ति भी अब्दुल्लाखाँ के नेतृत्व में दृढ़ रही। अकबर के समय में न तो उजबेग काबुल को जीतने का साहस कर सके और न मुगल मध्य-एशिया पर आक्रमण कर सके यद्यपि दोनों शक्तियाँ एक-दूसरे को शंका की दृष्टि से देखती रहीं और दोनों को एक-दूसरे के आक्रमण की आशंका रही। जहाँगीर के समय में मध्य-एशिया पर चंगेजखाँ के वंशजों के एक वंश अस्तराखाँ-वंश ने अधिकार कर लिया। 1611 में इस वंश के इमामकुली उजबेग ने समरकन्द को अपने अधिकार में कर लिया और अपने छोटे भाई नजर मोहम्मद को बल्ख का शासक नियुक्त किया। इमामकुली शान्त प्रकृति का शासक था। उसने मुगलों से मित्रता के सम्बन्ध रखे यहाँ तक कि जब 1622 में फारस ने कन्धार पर अधिकार किया तो उसने फारस के विरुद्ध मुगलों को सहायता का आश्वासन दिया।

शाहजहाँ के समय में मध्य-एशिया को विजय करने की सुनिश्चित योजना बनायी गयी। उसके लिए कारण और अवसर भी उपलब्ध हो गये। परन्तु मूल कारण तो महत्वाकांक्षा थी। मुगलों के लिए मध्य-एशिया की लालसा को समाप्त करना कठिन था और उजबेगों के लिए काबुल और कन्धार की लालसा को छोड़ना

कठिन था। परन्तु झगड़े का मुख्य कारण बल्ख और बदख्शां थे जो काबुल और मध्य-एशिया की विजय के प्रवेश-द्वार थे। मुगल और उजबेग दोनों ही इन स्थानों को अपने आधिपत्य में रखने के लिए उत्सुक थे। शाहजहाँ के आरम्भकाल में उत्तराधिकार के प्रश्न से उत्पन्न हुई आशंकाओं से प्रोत्साहित होकर नजर मोहम्मद ने काबुल पर आक्रमण करने का प्रयत्न किया परन्तु शाहजहाँ उस समय तक सिंहासन पर बैठ चुका था और उसने शीघ्र एक सेना काबुल की सहायता के लिए भेज दी। नजर मोहम्मद को असफल होकर वापस लौटना पड़ा। शाहजहाँ ने एक पत्र इमामकुली को लिखा जिसके उत्तर में इमामकुली ने अपने भाई के व्यवहार के लिए माँफी माँग ली और मुगलों से अच्छे सम्बन्ध रखने का वायदा किया। बाद में स्वयं नजर मोहम्मद ने भी शाहजहाँ से अपने कार्य के लिए खेद प्रकट किया। 1641 में मध्य-एशिया में अव्यवस्था हो गयी। इमामकुली अन्धा हो गया और उसके भाई नजर मोहम्मद ने उसके सिंहासन पर अधिकार कर लिया। नजर मोहम्मद ने जिस प्रकार जागीरदारी प्रथा को समाप्त करने, दान में दी गयी भूमि पर अधिकार करने तथा कठोरता से शासन करने के साधनों को अपनी सत्ता को स्थापित करने के लिए अपनाया, उससे उसके सरदारों ने ही नहीं बल्कि उसके पुत्र ने भी विद्रोह करना आरम्भ कर दिया। उसके एक पुत्र अब्दुल अजीज ने बुखारा में अपने आप को बादशाह घोषित कर दिया और अपने पिता के विरुद्ध युद्ध आरम्भ कर दिया (1645)। नजर मोहम्मद की स्थिति इतनी दुर्बल हो गयी कि उसने शाहजहाँ से सहायता माँगी। शाहजहाँ के लिए यह एक सुअवसर था। उसने शाहजादा मुराद के नेतृत्व में एक बड़ी सेना मध्य-एशिया पर अक्रमण करने के लिए भेजी। मुगलों ने कुन्दुज, खोस्त, बदख्शां और अन्त में बल्ख पर भी अधिकार कर लिया। नजर मोहम्मद मुगलों पर पूर्ण विश्वास न कर सका और उसने उनका विरोध करने का प्रयत्न किया परन्तु असफल होने पर वह फारस भाग गया। स्वयं शाहजहाँ युद्ध-स्थल के निकट रहने की इच्छा से काबुल गया और उसने दिल्ली से बल्ख तक के मार्ग को रसद और सेना के आवागमन के लिए सुरक्षित रखा। बल्ख की विजय से शाहजहाँ इतना उत्साहित हुआ कि वह बुखारा और समरकन्द को भी मुगलों के आधिपत्य में लाने की लालसा करने लगा। परन्तु इससे पहले कि मुगल अपनी इस विजय को संगठित कर पाते, शाहजादा मुराद बल्ख को छोड़कर वापस आ गया। शाहजादा मुराद ऐशो-आराम में पला था। मध्य-एशिया की कठोर जलवायु और बंजर प्रदेश में वह अधिक समय न रह सका। शाहजादा मुराद के वापस आने पर मुगल सरदारों ने जीते हुए प्रदेशों को चार भागों में बाँटकर शासन करने का प्रयत्न किया परन्तु वे अधिक सफल न हुए। उनके और उनके सैनिकों के लिए मध्य-एशिया की जलवायु उपयुक्त न थी। इसके अतिरिक्त उजबेग शान्ति से नहीं बैठे हुए थे। उन्होंने स्थान-स्थान पर विद्रोह किये, मुगलों के विभिन्न स्थानों पर आक्रमण किये और अपने खोये हुए प्रदेशों को पुनः जीतने के लिए प्रयत्नशील रहे। 1647 में शाहजहाँ ने औरंगजेब को बल्ख का सूबेदार बना कर भेजा। जब तक औरंगजेब वहाँ पहुँचा तब तक उजबेगों ने मुगलों से कई महत्वपूर्ण स्थानों को छीन लिया था और मुगलों से बड़ी सेना तैयार कर ली थी। तब भी औरंगजेब ने आस-पास के पहाड़ों और घाटियों से उजबेगों को निकालने में सफलता पायी और मुगल सेना को लेकर बल्ख तक पहुँच गया। बल्ख से औरंगजेब तैमूराबाद गया जहाँ उसने उजबेगों को परास्त किया। उसके पश्चात् उसने उजबेगों के मुख्य स्थान पशाई पर अधिकार करने में भी सफलता पायी। परन्तु औरंगजेब बल्ख

को छोड़कर बहुत आगे बढ़ गया था। अब्दुल अजीज और उसका छोटा भाई सुभान कुली बल्ख पर आक्रमण करने के लिए आगे बढ़ रहे थे। इस कारण, औरंगजेब को वापस लौटना पड़ा। ऑक्सस नदी के किनारे औरंगजेब ने दोनों भाइयों की सम्मिलित और अपने से कहीं बड़ी सेना को परास्त करने में सफलता पायी और वह कुशलता से बल्ख वापस पहुँच गया। परन्तु युद्ध का कोई परिणाम नहीं निकल रहा था। औरंगजेब ऑक्सस नदी से आगे नहीं बढ़ सका था और उजबेग मुगलों को बल्ख से निकालने में असफल रहे थे। सम्भवतया, यदि औरंगजेब के नेतृत्व में मुगलों ने कुछ और समय तक मध्य-एशिया में ठहरने का निश्चय किया होता तो मुगल जीते हुए प्रदेशों को अपने आधिपत्य में रखने में सफल हो जाते क्योंकि औरंगजेब के नेतृत्व और दृढ़ता ने मुगलों को सफलता ही नहीं दिलायी अपितु उजबेगों को भी प्रभावित कर दिया था। औरंगजेब के नेतृत्व में मुगलों ने यह सिद्ध कर दिया था कि उजबेग युद्ध में मुगलों से अधिक साहसी अथवा पराक्रमी न थे जिसका उन्हें अभी तक विश्वास और घमण्ड था। परन्तु परिस्थितियाँ ऐसी बन गयीं कि दोनों ही पक्ष शान्ति के इच्छुक हो गये। आमने-सामने के युद्ध में उजबेग मुगलों को परास्त करने में असफल हुए थे, बुखारा का खजाना रिक्त हो गया था और विभिन्न जातियों के सरदार युद्ध से पृथक् होते जा रहे थे। डॉ. आर. पी. त्रिपाठी ने लिखा है कि "उनकी कठिनाइयाँ इतनी गम्भीर थीं कि धन की कमी के कारण उनकी सेना मुगलों को अपने घोड़े बेचने के पश्चात् गर्मी के मौसम के बादलों के समान तितर-बितर हो गयी।"[1] ऐसी स्थिति में उजबेग लम्बे समय तक मुगलों का मुकाबला नहीं कर सकते थे। उसी प्रकार मुगलों की भी कठिनाइयाँ थीं। मुगल उजबेगों के छुटमुट आक्रमणों को रोकने में असमर्थ रहे थे, उन्हें रसद की कठिनाई हो रही थी, मुगल छावनी में एक रोटी की कीमत एक या दो रुपया हो गयी थी, नजर मोहम्मद फारस के शाह की सहायता लेकर वापस आ गया था और फारस का शाह कन्धार पर आक्रमण करने की योजना बना रहा था। ऐसी स्थिति में जब नजर मोहम्मद और अब्दुल अजीज ने सन्धि की बातचीत आरम्भ की तो शाहजहाँ शान्ति के लिए तत्पर हो गया। औरंगजेब भी मुगल सैनिकों और सरदारों के नैतिक बल में कमी देखकर शान्ति के लिए इच्छुक था। शाहजहाँ ने औरंगजेब को आदेश दिये कि यदि नजर मोहम्मद व्यक्तिगत रूप से आकर माफी माँगे और मुगलों की अधीनता स्वीकार करे तो उसे माफ कर दिया जाय और उसका राज्य उसे वापस कर दिया जाय। नजर मोहम्मद ने अपने पोते कासिम सुल्तान को औरंगजेब के पास भेजकर माफी माँग ली। शाहजहाँ ने इस तरीके को भी स्वीकार कर लिया और 1647 में नजर मोहम्मद को बल्ख वापस देकर औरंगजेब काबुल वापस आ गया।

मध्य-एशिया के इस युद्ध में मुगलों का प्रायः 4 करोड़ रुपया खर्च हुआ और प्रायः 5,000 व्यक्ति मारे गये। इससे मुगलों को कोई भूमि प्राप्त नहीं हुई और यह स्पष्ट हो गया कि मुगलों की मध्य-एशिया में साम्राज्य स्थापित करने की लालसा व्यर्थ थी। मुगल बादशाहों को यह पता लग गया कि यद्यपि वह अपनी उत्तर-

---

1 "Nevertheless, their difficulties are so serious that for want of money, their army dispersed like summer clouds, selling their horses to Mughals." —*Dr. R. P. Tripathi.*

पश्चिम की सीमाओं की सुरक्षा करने में समर्थ था परन्तु उत्तर-पश्चिम की ओर साम्राज्य का विस्तार करने से राजनीतिक, आर्थिक, सैनिक और प्रशासकीय, आदि अनेक समस्याएँ उत्पन्न हो सकती थीं। इस युद्ध की असफलता से फारस के शाह को कन्धार को विजय करने के लिए प्रोत्साहन प्राप्त हुआ और 1648 में उसने शाहजहाँ से कन्धार को फारस को दे देने की स्पष्ट माँग की। परन्तु तब भी यह आक्रमण पूर्णतया व्यर्थ गया। उजबेगों ने मुगलों से अधिक हानि उठायी थी। उजबेगों की आर्थिक स्थिति शोचनीय हो गयी, ऑक्सस नदी के दक्षिण की उनकी सम्पूर्ण भूमि नष्ट हो गयी और युद्ध ने उनको यह सबक सिखाया कि मुगलों पर आक्रमण करना सरल न था। इससे उजबेगों की काबुल पर आक्रमण करने की इच्छा और शक्ति समाप्त हो गयी। युद्ध की दृष्टि से मुगलों का यह सैनिक आक्रमण विफल था परन्तु उजबेगों के लिए यह एक अच्छा सबक था। इस प्रकार, अन्य सभी प्रकार से हानिकारक और व्यर्थ होते हुए भी शाहजहाँ की मध्य-एशिया की नीति एक दृष्टि से अवश्य लाभदायक रही। परन्तु उसके पश्चात् औरंगजेब ने इस युद्ध से सबक लेकर मध्य-एशिया की राजनीति में हस्तक्षेप नहीं किया। उसने मध्य-एशिया के सभी शासकों से अच्छे सम्बन्ध बनाकर रखे। उसने बल्ख के शासक सुभानकुली, बोखारा के शासक अब्दुल अजीजखाँ और काशगर के शासक अब्दुल्लाखाँ से राजनीतिक सम्बन्ध बनाये। मध्य-एशिया के कुछ विद्वानों और व्यापारियों से भी उसने पत्र-व्यवहार रखा।

[5]
मुगल बादशाहों की कन्धार की नीति

कन्धार मुगलों और फारस के शाहों के साम्राज्यों की सीमा पर था और दोनों राजवंशों के लिए उसका महत्व था। कन्धार का महत्व राजनीतिक और आर्थिक, दोनों ही दृष्टियों से था। राजनीतिक दृष्टि से यह जिस वंश के भी हाथ में होता उसे अपने राज्य की सुरक्षा और दूसरे के राज्य पर आक्रमण करने की सुविधा थी। आर्थिक दृष्टि से कन्धार भारत और पश्चिम-एशिया तथा यूरोप तक के व्यापार के स्थल-मार्ग पर था। यह जिस वंश के भी अधिकार में होता वह उस विस्तृत व्यापार का स्वामी हो जाता था और कर आदि वसूल करके लाभ प्राप्त करता था। इस कारण, मुगल बादशाह और फारस के शाह कन्धार को अधिकार में रखने के लिए एक-दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी थे। यह समय ऐसा भी रहा जबकि फारस और भारत दोनों ही स्थानों पर शक्तिशाली साम्राज्य और बादशाह थे जिसके कारण वह प्रतिद्वन्द्विता और अधिक तीव्र हो गयी।

मुगल बादशाहों में सर्वप्रथम बाबर ने 1522 में कन्धार को अपने अधिकार में किया था। हुमायूँ की मृत्यु के पश्चात् 1558 में फारस ने उस पर आक्रमण करके अधिकार कर लिया और पहले सुल्तान हुसैन मिर्जा तथा उसके पश्चात् उसके पुत्र मुजफ्फर हुसैन मिर्जा को उसकी देखभाल के लिए नियुक्त किया। 1594 में अकबर को कन्धार सरलता से प्राप्त हो गया। किलेदार मुजफ्फर हुसैन मिर्जा उजबेगों के आक्रमणों को रोकने में असफल हो रहा था और उसे फारस के दरबार से कोई सैनिक सहायता नहीं मिल रही थी। इस कारण, उसने मुगलों से बातचीत आरम्भ की और मुगल सूबेदार शाहबेगखाँ को किला सौंप दिया। अकबर की मृत्यु के पश्चात् खुसरो के विद्रोह के अवसर पर फारस के बादशाह शाह अब्बास सफाई ने

कन्धार को जीतने का प्रयत्न किया। वह स्वयं तो टर्की से युद्ध करने चला गया परन्तु खुरासान के सूबेदार और अन्य अधिकारियों को कन्धार पर आक्रमण करने के गुप्त आदेश दे गया। शाहबेगखाँ ने दृढ़ता से फारस के आक्रमणकारियों का मुकाबला किया और जहाँगीर ने एक सेना शीघ्रता से कन्धार के किलेदार की सहायता के लिए भेज दी। फारस के आक्रमणकारियों को किले का घेरा उठाना पड़ा और वे वापस चले गये। इस प्रकार, 1607 में फारस का यह प्रयत्न असफल हुआ। शाह अब्बास ने कूटनीति का सहारा लेकर जहाँगीर से माफी माँगी और इस आक्रमण को अपने बेवकूफ अधिकारियों की भूल बताया। जहाँगीर इससे सन्तुष्ट हो गया। परन्तु फिर भी उसने कन्धार की सुरक्षा के लिए मिर्जा गाजीखाँ के नेतृत्व में 15,000 की एक दृढ़ सेना किले में छोड़ दी। यह अनुभव करके कि केवल शक्ति-प्रयोग लाभदायक न होगा, शाह अब्बास ने जहाँगीर को प्रेम और मित्रता से परिपूर्ण पत्र लिखने आरम्भ किये और जहाँगीर के दरबार में निरन्तर अपने राजदूत भेजे। 1611 में यादगार अली, 1615 में मुस्तफाबेग, 1616 में रिजाबेग और 1620 में जम्बलबेग फारस के राजदूत के रूप में मुगल दरबार में आये। इन राजदूतों को भेजने के दो आशय थे—एक, जहाँगीर कन्धार की ओर से आश्वस्त हो जाय और कन्धार पर फारस के आक्रमण का भय न करे; और दूसरे, मुगल दरबार की राजनीति की सूचना फारस के शाह को प्राप्त होती रहे। जहाँगीर ने भी अपने राजदूत खानेआलम को फारस के दरबार में भेजा था। परन्तु फारस के राजदूत अधिक सफल रहे। जहाँगीर फारस के बादशाह की सद्भावनाओं पर विश्वास करके कन्धार के किले की सुरक्षा की तरफ से असावधान हो गया और फारस के शाह को 1621 में नूरजहाँ और शाहजहाँ के बढ़ते हुए भेदभावों का पता लग गया। उसी वर्ष फारस ने कन्धार पर आक्रमण किया और 1622 में किले का घेरा डाल दिया गया। जहाँगीर ने शाहजहाँ को कन्धार जाने के आदेश दिये परन्तु वह टाल गया। इस कारण कन्धार की सुरक्षा के लिए समय से सहायता न पहुँच सकी और 45 दिन के घेरे के पश्चात् 1622 में कन्धार पर फारस का अधिकार हो गया। शाह अब्बास ने एक पत्र में जहाँगीर को लिखा कि कन्धार पर कानूनी अधिकार फारस का था और जब जहाँगीर ने उसे स्वेच्छा से फारस को नहीं दिया तब बाध्य होकर फारस को कन्धार पर आक्रमण करना पड़ा। जहाँगीर ने फारस के शाह पर धोखेबाजी का आरोप लगाया और उसे बुरा-भला लिखकर भेजा, परन्तु शाहजहाँ के विद्रोह के कारण वह कन्धार को अपने अधिकार में करने का प्रयत्न न कर सका। इस प्रकार, जहाँगीर के अन्तिम वर्षों में कन्धार पर फारस का अधिकार हो गया।

शाहजहाँ के गद्दी पर बैठने के अवसर पर शाह अब्बास ने उसे बधाई का पत्र भेजा और आवश्यकता होने पर सहायता देने का भी आश्वासन दिया। परन्तु 1629 में शाह अब्बास की मृत्यु हो गयी और शाह सफी फारस का बादशाह बना। शाहजहाँ ने उसे बधाई का पत्र भेजा और सहायता का आश्वासन दिया। इस प्रकार, फारस और मुगल बादशाहों के मध्य कूटनीतिक सम्बन्ध रहे, यहाँ तक कि शाह सफी शाहजहाँ को अपना चाचा पुकारता था और शाहजहाँ ने उसे समय-समय पर सलाह दी थी। परन्तु इस कूटनीति के पीछे शाहजहाँ की कन्धार को प्राप्त करने की लालसा छिपी हुई थी। 1638 में सुविधा से यह कार्य पूरा हो गया। कन्धार

के सूवेदार अलीमर्दन से शाह सफी असन्तुष्ट हो गया क्योंकि उसने पिछले कई वर्षों से शाह को वार्षिक कर नहीं भेजा था। उसके स्थान पर एक नवीन सूवेदार की नियुक्ति की गयी और उसे एक सेना के साथ अलीमर्दन से किला छीन लेने और उसे शाह के पास भेजने के लिए कहा गया। अलीमर्दन ने अपने पद और सम्मान को खतरे में जानकर काबुल के मुगल-सूवेदार से बातचीत की। शाहजहाँ ने फौरन अलीमर्दन को मुगल-सेना में लेकर ऊँचा पद प्रदान किया और काबुल के सूवेदार सईद-खाँ को कन्धार पर आधिपत्य कर लेने के आदेश दिये। सईदखाँ ने कन्धार पर अधिकार कर लिया और फारस द्वारा भेजी गयी सेना को परास्त करके वापस लौटने के लिए वाध्य किया। शाहजहाँ ने शाह सफीखाँ को पत्र द्वारा सूचित कर दिया कि कन्धार पर मुगल-वंश का कानूनी अधिकार था, इस कारण शाह को इस घटना का बुरा नहीं मानना चाहिए। शाह सफी इस हानि को भूल न सका, यद्यपि वह अन्य युद्धों में व्यस्त रहने के कारण कन्धार को अपने हाथ में लेने का प्रयत्न न कर सका। इस प्रकार, 1638 में एक बार फिर कन्धार मुगलों के हाथों में आ गया।

1642 में शाह सफी की मृत्यु हो गयी। उसका उत्तराधिकारी शाह अब्बास द्वितीय सिंहासन पर बैठने के अवसर पर केवल 11 वर्ष की आयु का था। इस कारण, कुछ वर्षों तक फारस कन्धार की ओर ध्यान न दे सका। 1648 में शाह अब्बास द्वितीय ने शासन-सत्ता अपने हाथों में ले ली और टर्की तथा उजवेगों से सन्धि हो जाने के पश्चात् उसने कन्धार की ओर ध्यान दिया। शाहजहाँ को फारस के आक्रमण की तैयारी की जानकारी हो गयी और उसने कन्धार की रक्षा की तैयारी कर ली। काबुल के सूवेदार ने भी 5,000 सैनिक और पाँच लाख रुपया कन्धार के किलेदार दौलतखाँ को भेजा। स्वयं शाहजहाँ भी जाड़ों के पश्चात् काबुल जाने के लिए तत्पर हो गया। परन्तु शाह अब्बास चतुर सिद्ध हुआ। वह जानता था कि मुगल जाड़े के मौसम से डरते थे और उस मौसम में वे फारस के आक्रमण की आशा भी नहीं कर सकते थे। इस कारण, वह जाड़ों के समय को खोने के लिए तैयार न था। पहले उसने कूटनीति, चालाकी और धन का सहारा लिया परन्तु जब वह इसमें असफल हुआ तो उसने कन्धार पर आक्रमण कर दिया। दिसम्बर 1648 में कन्धार के किले का घेरा डाल दिया गया और साथ-साथ 'विस्त' और 'जमींदवार' पर भी आक्रमण किया गया। मुगल-सैनिकों को धन का लालच भी दिया गया और उनमें से कुछ सरदार और सैनिक फारस की सेना से जाकर मिल गये। किलेदार दौलतखाँ को सहायता मिलने की कोई आशा दिखायी न दी और उसने भय-भीत होकर फरवरी 1649 में आत्म-समर्पण कर दिया। फारस का जाड़ों में आक्रमण और दौलतखाँ की दुर्वलता के कारण कन्धार का किला मुगलों के हाथ से निकल गया। दौलतखाँ यह न समझ सका कि उसकी स्थिति बहुत खराब न थी, फारस की सेना में रसद की कमी हो रही थी और मुगलों के मुकाबले फारस की सेना की अधिक हानि हो रही थी। इस प्रकार, फारस कन्धार को जीतने में सफल हो गया। शाह अब्बास ने शाहजहाँ को पत्र लिखा कि किले पर कानूनी अधिकार फारस का ही था।

कन्धार का घेरा डाले हुए फारस को जब एक माह व्यतीत हो चुका था, तब शाहजहाँ को उसकी सूचना प्राप्त हुई। शाहजहाँ ने तुरन्त शाहजादा औरंगजेब और वजीर सादुल्लाखाँ को कन्धार की सहायता के लिए भेजा। परन्तु औरंगजेब मई 1649 से पूर्व कन्धार न पहुँच सका। तब तक कन्धार के किले पर फारस का

अधिकार हो चुका था। स्वयं शाहजहाँ भी काबुल पहुँच गया। औरंगजेब ने किले का घेरा डाल दिया और लगातार धन व पद के लालच देने और युद्ध के द्वारा किले को जीतने का प्रयत्न किया। परन्तु वह असफल रहा। मुगलों ने फारस की सेना को मैदान में पराजित करने में तो सफलता पायी और मुख्यतया 'शाहमीर' के युद्ध में मुगलों ने अपने से दुगुनी फारस की सेना को सफलता से परास्त करने का श्रेय प्राप्त किया परन्तु वे किले की दीवार को न तोड़ सके। रसद की कमी, जाड़ों के मौसम में युद्ध को चलाये रखने की कठिनाई और फारस से किले के लिए सहायता आने की सम्भावना के कारण प्रायः 3½ माह के घेरे के पश्चात् औरंगजेब को सितम्बर 1649 में किले का घेरा उठाकर वापस आने के लिए बाध्य होना पड़ा।

1652 में पुनः औरंगजेब और सादुल्लाखाँ को कन्धार को जीतने के लिए भेजा गया। इस बार औरंगजेब ने पूरी तैयारी से आक्रमण किया था परन्तु उसकी तोपों ने उसे धोखा दिया। फारस के पास अच्छा तोपखाना था और मुगल उनके मुकाबले में कुछ न कर सकें। इसी अवसर पर उजबेगों ने गजनी पर दबाव डाला जिससे यह भय हो गया कि मुगल-सेना के वापस आने का रास्ता बन्द हो जायगा। प्रायः दो माह (मई से जुलाई) के घेरे के पश्चात् मुगलों को वापस लौटने के लिए बाध्य होना पड़ा।

1653 में शाहजहाँ ने अपने सबसे बड़े पुत्र दाराशिकोह को पर्याप्त धन, बहुत बड़ी सेना और बड़ी-बड़ी तोपें लेकर कन्धार पर आक्रमण करने के लिए भेजा। दारा ने आस-पास के क्षेत्र को जीत लिया, बिस्त और गिरषिक के किलों पर अधिकार कर लिया और फारस से सहायता प्राप्त होने वाले मार्गों पर भी अधिकार कर लिया। अप्रैल 1653 में कन्धार के किले का घेरा डाल दिया गया और उसकी दीवारों को हानि पहुँचायी गयी। परन्तु तब भी किले की तोपों के मुकाबले मुगलों की तोपें सफल नहीं हुईं। जब तक दारा के पास गोला-बारूद और रसद रही तब तक वह किले से नहीं हटा। परन्तु उसे भी कोई सफलता न मिली। अन्त में, अक्टूबर में मुगल-सेना किले से वापस लौट गयी।

इस प्रकार, कन्धार के किले पर मुगलों के तीनों आक्रमण विफल हुए और कन्धार स्थायी रूप से, फारस के हाथों में चला गया। औरंगजेब ने इस किले को जीतने का कोई प्रयत्न नहीं किया। वास्तव में, देखा जाय तो कन्धार का किला बहुत दृढ़ था और फारस या मुगल बादशाहों में से कोई भी उस पर सरलता से अधिकार नहीं कर सकता था। जब कभी मुगलों ने उस पर अधिकार किया तब कूटनीति से किया। अकबर और शाहजहाँ के समय में वह फारस के किलेदारों की गद्दारी से मुगलों को प्राप्त हुआ था। उसी प्रकार, जहाँगीर और शाहजहाँ के समय में जब फारस ने इस पर अधिकार किया, तब मुगल किलेदारों के साहस छोड़ देने के कारण ऐसा सम्भव हुआ। सैनिक-अभियान की दृष्टि से फारस और मुगल बादशाह, दोनों ही कन्धार के किले के सम्मुख असफल रहे थे। शाहजहाँ के समय में किये गये कन्धार को जीतने के सभी प्रयत्न, इसी कारण, असफल हुए। इसके अतिरिक्त, मुगलों की अपनी अन्य दुर्बलताएँ भी थीं। मुगलों के मुकाबले फारस के पास अच्छी और दूर तक मार करने वाली तोपें थीं। इसी कारण, मुगल कभी भी किले की दीवार को तोड़ने में सफल नहीं हो सके। इसके अतिरिक्त, मुगल-सेना कन्धार में जाड़े के समय में युद्ध करने की स्थिति में न थी। केवल गर्मी के मौसम के कुछ माह ही उसे उस

प्रयत्न के लिए मिल पाते थे। इस कारण, मुगल कन्धार के किले को जीतने में असफल रहे।

इन आक्रमणों में शाहजहाँ का प्राय: 12 करोड़ रुपया व्यय हुआ, हजारों सैनिक मारे गये और मुगल-साम्राज्य की सैनिक प्रतिष्ठा में कमी आयी जिसके कारण औरंगजेब के आरम्भ के समय में शाह अब्बास उसे भारत पर आक्रमण करने की धमकी दे सका। परन्तु इससे एक बात निश्चित हो गयी थी। फारस के शाह को यह स्पष्ट हो गया था कि यदि मुगल पश्चिम की ओर साम्राज्य-विस्तार करने में असमर्थ हैं तो फारस भी कन्धार के पूर्व की ओर बढ़ने में असमर्थ है। कन्धार उस समय तक के लिए मुगलों और फारस के राज्यों की सीमा का विभाजन-स्थल बन गया जब तक कि उत्तरकालीन मुगल-बादशाह दुर्बल न हो गये।

11
अठारहवीं सदी के भारत के मुख्य राज्य और मराठा-शक्ति का उत्कर्ष

[अ] प्रमुख राज्य (हैदराबाद, बंगाल और अवध)

मुगल-साम्राज्य के भग्नावशेषों पर भारत के कई भागों में शक्तिशाली राज्यों का निर्माण हुआ। उनमें से सबसे अधिक शक्तिशाली राज्य का निर्माण मराठों ने किया। छत्रपति शाहू के प्रथम तीन पेशवाओं ने पुनः भारतीय इतिहास की पुनरावृत्ति करने का प्रयत्न किया। उनके नेतृत्व में दक्षिण-भारत में उत्कर्षित मराठों की शक्ति ने उत्तर-भारत की राजनीति में सक्रिय हस्तक्षेप करके अपनी श्रेष्ठता को स्थापित करने का प्रयत्न किया। अपने इस प्रयत्न में मराठे सफल हुए। 18वीं सदी के मध्य तक वे भारत की प्रथम शक्ति बन गये। परन्तु अपने से पहली शक्तियों की भाँति अन्त में मराठे भी उत्तर-भारत में राजनीति को स्थायित्व प्रदान करने और भारत को राजनीतिक एकता प्रदान करने में असफल हुए। तब भी भारत में अंग्रेजों की शक्ति की स्थापना से पहले मराठे ही भारत की सर्वश्रेष्ठ शक्ति बने हुए थे। दक्षिण-भारत में एक अन्य शक्ति का भी उदय हुआ। निजाम-उल-मुल्क आसफजा ने हैदराबाद के स्वतन्त्र राज्य के निर्माण में सफलता प्राप्त की। तदुपरान्त 18वीं सदी के उत्तरार्द्ध में हैदरअली ने भी मैसूर में एक शक्तिशाली राज्य का निर्माण किया। उत्तर-भारत में औरंगजेब की मृत्यु के कुछ वर्षों के पश्चात् ही बंगाल, बिहार और उड़ीसा में एक स्वतन्त्र राज्य स्थापित हो गया। अवध में सादतखाँ बुरहानमुल्क ने एक स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की और 18वीं सदी के पूर्वार्द्ध में रणजीतसिंह ने पंजाब में सिखों के शक्तिशाली राज्य का निर्माण किया। कर्नाटक, रुहेलखण्ड, केरल और भरतपुर में भी स्वतन्त्र राज्यों का निर्माण हुआ परन्तु वे बहुत अधिक शक्तिशाली राज्य न बन सके। राजपूत-राज्य भी अपने को स्वतन्त्र कराने में तो सफल हुए परन्तु वे आन्तरिक संघर्षों से मुक्त न हो सके। उनमें से कोई भी राज्य महत्वपूर्ण न बन सका। भारत के ये सभी राज्य, अन्त में, अंग्रेजों से परास्त हुए। अंग्रेजों ने इनमें से प्रत्येक को या तो अपने राज्य में सम्मिलित कर लिया अथवा उनकी सीमाओं को छोटा करके उनके शासकों को अपनी अधीनता स्वीकार करने के लिए बाध्य किया। भारत के ये राज्य भी मध्ययुगीन विचारधाराओं से ग्रस्त रहे। इनमें से कोई भी भारत के भविष्य को न समझ सका और इनके किसी भी शासक ने भारत के नागरिकों के प्रति न्याय करने का प्रयत्न नहीं किया। अन्य कारणों के अतिरिक्त अंग्रेजों के

विरुद्ध उनकी पराजय का एक प्रमुख कारण बना। अंग्रेज भारतीय नागरिकों और भारतीय सैनिकों की सहायता से ही भारत के मालिक बने क्योंकि भारत का कोई भी तत्कालीन शासक भारतीयता या भारतीय हित का आदर्श अपने नागरिकों के सामने उपस्थित नहीं कर सका जो उसे भारतीयों की सहानुभूति या वफादारी प्राप्त करा सकता। तत्कालीन सभी भारतीय शासक असफल हुए क्योंकि उन्होंने अपने नागरिकों पर न्यायोचित शासन करने के अधिकार को खो दिया था। अंग्रेजों ने भारत की सत्ता को प्राप्त करके जिस स्थिति में विभिन्न भारतीय नरेशों को पहुँचा दिया था, वे और उनके पूर्वज इससे अधिक और कुछ प्राप्त करने के योग्य न थे।

[1]

हैदराबाद

दक्षिण-भारत में हैदराबाद के स्वतन्त्र राज्य का निर्माण करने वाला चिनकिलिचखाँ था जिसे बाद में मुगल-बादशाह ने 'निजाम-उल-मुल्क आसफजा' की उपाधि से विभूषित किया। औरंगजेब की मृत्यु के अवसर पर चिनकिलिचखाँ बीजापुर में था। जब औरंगजेब के पुत्रों में उत्तराधिकार का युद्ध हुआ तब चिनकिलिचखाँ पूर्णतया तटस्थ रहा। उत्तराधिकार के युद्ध में बहादुरशाह प्रथम ने सफलता प्राप्त की। मुगल-बादशाह बनने पर उसने चिनकिलिचखाँ को दक्षिण से हटा दिया और उसे अवध का सूबेदार तथा गोरखपुर का फौजदार नियुक्त किया। बहादुरशाह की मृत्यु के पश्चात् चिनकिलिचखाँ ने जहाँदारशाह के विरुद्ध फर्रुखसियर की सहायता की। फर्रुखसियर ने मुगल-बादशाह बनने में सफलता प्राप्त की। उसने चिनकिलिचखाँ को दक्षिण के छः सूबों की सूबेदारी प्रदान की और उसे 'खान-ए-खाना' और 'निजाम-उल-मुल्क बहादुर फतहजंग' की उपाधि से विभूषित किया। उस समय से निजाम-उल-मुल्क ने दक्षिण-भारत में अपने स्वतन्त्र राज्य के निर्माण का प्रयत्न आरम्भ किया, परन्तु 1715 में मुगल-बादशाह ने उसे दिल्ली बुला लिया। उसे पहले मुरादाबाद में नियुक्त किया गया और उसके पश्चात् मालवा का सूबेदार बनाया गया। उसने मालवा में अपनी शक्ति को दृढ़ करने का प्रयत्न किया जिससे मुगल-राज्य के वस्तुतः सर्वेसर्वा सैयद-भाई उससे शंकित हो गये। उन्होंने निजाम-उल-मुल्क की शक्ति और प्रभाव को नष्ट करने का प्रयत्न किया। उन्होंने दिलावर खाँ को मालवा की सूबेदारी सौंपी और एक सेना के साथ उसे मालवा से निजाम-उल-मुल्क को अपदस्थ करने के लिए भेजा। निजाम-उल-मुल्क ने दिलावरखाँ को एक युद्ध में परास्त करके मार दिया। उसके पश्चात् उसने असीरगढ़ और बुरहानपुर पर भी अधिकार कर लिया। इससे दक्षिण-भारत में निजाम की स्थिति सुदृढ़ हो गयी और वस्तुतः वह भारत के मुगल-सूबों का स्वतन्त्र शासक बन गया। सैयद-भाइयों के पतन के पश्चात् मुगल-बादशाह मुहम्मदशाह ने निजाम-उल-मुल्क को दिल्ली बुलाकर अपना वजीर नियुक्त किया और दक्षिण का सूबेदार मुबारिजखाँ को बनाया। निजाम-उल-मुल्क को दिल्ली की राजनीति रुचिकर नहीं लगी और वह दक्षिण-भारत वापस लौट गया। नवीन सूबेदार मुबारिजखाँ ने उसका विरोध किया। उसे, सम्भवतया, मुगल-बादशाह से इसी प्रकार के आदेश प्राप्त हुए थे। निजाम-उल-मुल्क ने मराठों से सहायता ली और 1724 में सखरखर्दा के युद्ध में मुबारिजखाँ को परास्त कर दिया। 1725 में उसने हैदराबाद पर अधिकार कर लिया। उस समय से निजाम-उल-मुल्क ने पूर्ण स्वतन्त्र

शासक की भाँति व्यवहार करना शुरू कर दिया, यद्यपि उसने न तो अपने नाम से सिक्के चलाये और न कभी राजछत्र ग्रहण किया।

निजाम-उल-मुल्क का दक्षिण-भारत में मुख्य विरोध पेशवा बाजीराव ने किया। पेशवा निजाम के बढ़ते हुए प्रभाव से शंकित था और उसकी शक्ति को सीमित करना चाहता था। वह उससे 'चौथ' और 'सरदेशमुखी' भी प्राप्त करना चाहता था जिसका अधिकार मराठों ने मुगल-बादशाह से प्राप्त किया था। परन्तु निजाम भी अपने समय का महान् कूटनीतिज्ञ और सुयोग्य सेनापति था। उसने मराठों में आन्तरिक कलह और संघर्ष अंकुरित करने के प्रयत्न किये। उसने छत्रपति शाहू और उसके भाई तथा कर्नाटक के मराठा राजा शम्भाजी द्वितीय के पारस्परिक मतभेदों को बढ़ावा दिया, प्रतिनिधि श्रीपतराव को अपने पक्ष में करने का प्रयत्न किया और मराठा सेनापति त्रिम्बकराव को पेशवा के विरुद्ध भड़काया। परन्तु पेशवा बाजीराव के सफल सेनापतित्व के सम्मुख निजाम को झुकना पड़ा। पेशवा ने उसे क्रमशः 1728 में पालखेड़ के युद्ध में और 1738 में भोपाल के निकट एक युद्ध में परास्त किया और उसे 'चौथ' तथा 'सरदेशमुखी' देने के लिए बाध्य किया। इस प्रकार बाजीराव ने निजाम की शक्ति को हैदराबाद तक सीमित रखने में सफलता पायी। निजाम को पुनः मुगल दरबार में बुलाया गया और उसे 'आसफजा' की उपाधि दी गयी। नादिरशाह के आक्रमण के अवसर पर भी मुगल-बादशाह ने उसे दिल्ली बुलाया और उसके माध्यम से नादिरशाह से समझौता करने का प्रयत्न किया यद्यपि उससे कोई लाभ न हुआ। उसके पश्चात् निजाम ने दिल्ली की राजनीति में कोई भाग नहीं लिया। 1748 में 77 वर्ष की आयु में उसकी मृत्यु हो गयी। निजाम-उल-मुल्क आसफजा हैदराबाद-राज्य का सर्वप्रथम स्वतन्त्र और सर्वाधिक योग्य शासक था।

आसफजा की मृत्यु के पश्चात् हैदराबाद-राज्य में आन्तरिक संघर्ष आरम्भ हो गया। नासिरजंग और मुजफ्फरजंग ने क्रमशः अंग्रेजों और फ्रान्सीसियों की सहायता लेकर आपस में गद्दी के लिए संघर्ष किया। इससे इन विदेशी शक्तियों को हैदराबाद में अपने प्रभाव को बढ़ाने का अवसर मिला। हैदरअली के नेतृत्व में मैसूर-राज्य के उत्थान और मराठों के निरन्तर हस्तक्षेप ने भी हैदराबाद के शासकों के सम्मुख समस्याएँ उत्पन्न कीं। हैदराबाद का कोई भी शासक दक्षिण-भारत की राजनीति में सफल न रहा। आसफजा के उत्तराधिकारी अयोग्य सिद्ध हुए। उन्हें उसका मूल्य चुकाना पड़ा। सितम्बर 1798 में तत्कालीन निजाम ने 'सहायक-सन्धि' को स्वीकार करके स्वयं को अंग्रेजों पर आश्रित कर लिया। भारतीय राजनीति में हैदराबाद के निजाम उसके पश्चात् नगण्य ही बने रहे।

[2]
बंगाल

औरंगजेब की मृत्यु के कुछ वर्ष पश्चात् ही बंगाल में एक स्वतन्त्र राज्य का निर्माण हो गया। औरंगजेब की मृत्यु के अवसर पर मुर्शिदकुलीखाँ बंगाल का नायब-नाजिम और उड़ीसा का सूबेदार था। 1717 में मुगल-बादशाह फर्रुखसियर ने उसे बंगाल के सूबे का जिसमें उस समय बिहार भी सम्मिलित था, सूबेदार भी नियुक्त कर दिया। उस अवसर पर उसे 'मुतमान-उल-मुल्क अब्दुल्ला जफरखाँ बहादुर नासिरी नासिरजंग' की उपाधि से भी विभूषित किया गया। मुर्शिदकुलीखाँ ने नाम-

मात्र के लिए मुगल-बादशाह के आधिपत्य को स्वीकार किया। वस्तुतः औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् ही उसने स्वतन्त्र शासक की भाँति व्यवहार करना आरम्भ कर दिया था। वह एक योग्य शासन-प्रबन्धक था। उसने राज्य की अर्थ-व्यवस्था में सुधार किया; उसने सम्पूर्ण जागीरदारी-भूमि को खालसा-भूमि (बादशाह की भूमि) में परिवर्तित कर दिया और लगान वसूल करने के लिए स्वयं ठेकेदारों की नियुक्ति की। यही वे लगान वसूल करने वाले ठेकेदार थे जिनको बाद में लॉर्ड कार्नवालिस ने 'स्थायी बन्दोबस्त' करके जमींदार बनाया। मुर्शिदकुलीखाँ ने व्यापार की उन्नति का प्रयत्न किया और उसके लिए व्यापारियों को सभी सम्भव सुविधाएँ दीं। वह सच्चरित्र और सादगी-पसन्द था जिससे उसने अपने राज्य के व्यय में भी कमी की। इन प्रयत्नों से उसने बंगाल, बिहार और उड़ीसा के सूबों को यथेष्ट सम्पन्न बनाने में सफलता प्राप्त की। जून 1727 में मुर्शिदकुलीखाँ की मृत्यु हो गयी।

मुर्शिदकुलीखाँ का कोई पुत्र जीवित न था। इस कारण, उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका दामाद शुजाउद्दीन मुहम्मदखाँ बंगाल की गद्दी पर बैठा। शुजाउद्दीन योग्य शासक था। उसने अपने सूबों को शासन की सुविधा के हेतु चार भागों में बाँटा, उनकी अर्थव्यवस्था को ठीक किया, पक्षपातरहित न्याय किया और सर्वदा अपने नागरिकों के हितों का ध्यान रखा। परन्तु उसके चरित्र में कुछ व्यक्तिगत दुर्गुण थे जिनके कारण उसके शासनकाल के बाद के समय में शासन-व्यवस्था दुर्बल हो गयी। इसके अतिरिक्त, शासनसत्ता वस्तुतः उसके कुछ स्वार्थी चाटुकारों के एक दल के हाथ में चली गयी जिसके मुख्य सदस्य हाजी अहमद, आलमचन्द और जगतसेठ फतहचन्द थे। मार्च 1739 में शुजाउद्दीन की मृत्यु हो गयी।

शुजाउद्दीन की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र सरफराजखाँ गद्दी पर बैठा। वह विलासी सिद्ध हुआ। उसने शासन-व्यवस्था की ओर ध्यान नहीं दिया जिसके कारण राज्य की शक्ति उस दल के सदस्यों के हाथों में चली गयी जो शुजाउद्दीन के शासन के बाद के वर्षों में राज्य में प्रभावशाली बन गये थे। सरफराजखाँ को राज्य के प्रति अपनी उदासीनता का मूल्य चुकाना पड़ा। हाजी अहमद उसका मुख्य सलाहकार था। उसका भाई अलीवर्दीखाँ बिहार का नायब सूबेदार था। वह महत्वाकांक्षी सिद्ध हुआ और उसने अपने भाई की सहायता पर निर्भर करके बंगाल की गद्दी को अपने हाथों में लेने का प्रयत्न किया। वह अपनी सेना को लेकर राजधानी मुर्शिदाबाद की ओर बढ़ा। 10 अप्रैल, 1740 को सरफराजखाँ एक युद्ध में पराजित हुआ और मारा गया। अलीवर्दीखाँ ने बंगाल की मसनद (गद्दी) पर अधिकार कर लिया। उसने अपने इस अधिकार की स्वीकृति मुगल-बादशाह से भी प्राप्त कर ली।

अलीवर्दीखाँ एक योग्य शासक सिद्ध हुआ। उसने अपने राज्य के शासन की कुशलता से देखभाल की और सर्वदा अपने नागरिकों के हितों का ध्यान रखा। उसे अफगान-विद्रोही सरदारों और मराठों ने परेशान किया। 1748 में उसने अफगानों के विद्रोह को दबाने में सफलता प्राप्त की। परन्तु मराठों के आक्रमणों को रोकने में वह असमर्थ रहा। इस कारण, उसने मराठों से एक सन्धि कर ली जिसके अनुसार उसने 12 लाख रुपया प्रति वर्ष 'चौथ' के रूप में मराठों को देना स्वीकार किया। तब ही वह अपने राज्य में शान्ति और सुरक्षा रखने में सफल रह सका। उसके समय में बंगाल का राज्य सम्पन्न भी रहा। 10 अप्रैल, 1756 को अलीवर्दीखाँ की मृत्यु हो गयी।

अलीवर्दीखाँ का कोई पुत्र जीवित न था। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका नाती सिराजुद्दौला बंगाल की गद्दी का मालिक बना। सिराजुद्दौला योग्य था। उसने अपने विपक्षी तथा गद्दी के दावेदारों को समाप्त करने में सफलता पायी। उसने शासन की ओर पूर्ण ध्यान दिया और अपने शत्रुओं को नष्ट करने का प्रयत्न किया। इससे कुछ व्यक्ति उसके विरोधी बन गये। अँग्रेजों से उसका मुख्य झगड़ा था जो उसके शत्रुओं को संरक्षण प्रदान करते थे, बिना कर दिये व्यापार करते थे, उस अधिकार का दुरुपयोग भी करते थे तथा जिन्होंने उसकी आज्ञा के विरुद्ध कलकत्ता के किले को दृढ़ बनाने का प्रयत्न किया था। उन्होंने नवाब के शत्रुओं से मिलकर उसके विरुद्ध षड्यन्त्र किया जिसका अन्तिम परिणाम जून 1757 में लड़ा गया प्लासी का युद्ध था। युद्ध में सिराजुद्दौला की पराजय हुई और बाद में उसे कत्ल कर दिया गया। उसके पश्चात्, अंग्रेजों ने मीरजाफर को बंगाल का नवाब बनाया। वह उनके हाथ की कठपुतली बनकर रहा। 1760 में अंग्रेजों ने उसे गद्दी से हटा दिया और मीरकासिम को गद्दी पर बैठाया। मीरकासिम योग्य सिद्ध हुआ। उसने नवाब के अधिकारों पर बल दिया और स्वयं को अँग्रेजों के आधिपत्य से मुक्त करने का प्रयत्न किया। इसका अन्तिम परिणाम 1764 में लड़ा गया बक्सर का युद्ध था। इस युद्ध में अंग्रेजों ने न केवल मीरकासिम को अपितु उसके सहायक मुगल-बादशाह शाहआलम और अवध के नवाब शुजाउद्दौला को भी परास्त किया। इस युद्ध के पश्चात् बंगाल, बिहार और उड़ीसा के वस्तुतः स्वामी अंग्रेज हो गये। भारत में अंग्रेजी-राज्य बंगाल से ही आरम्भ हुआ।

[3]

अवध

अवध के राज्य में अवध की भूमि ही नहीं बल्कि पूर्व में इलाहाबाद, कानपुर, उनके निकट के अन्य जिले और बनारस तक की भूमि तथा पश्चिम की ओर भी कई जिले सम्मिलित थे। इस प्रकार, इसके अधीन एक विस्तृत और उपजाऊ भू-प्रदेश था। अवध के स्वतन्त्र राज्य का निर्माण मुगल-बादशाह मुहम्मदशाह के शासनकाल में हुआ। मीर मुहम्मद अमीन जिसे 'सादतखाँ' की उपाधि से विभूषित किया गया, इस राज्य का पहला स्वतन्त्र नवाब था। सादतअली खुरासान का रहने वाला था। उसने अपनी योग्यता से मुगल-दरबार में सम्मान प्राप्त किया था। 1722 में मुगल-बादशाह मुहम्मदशाह ने उसे अवध का सूबेदार नियुक्त किया। तब से वह नाममात्र के लिए मुगल-बादशाह के अधीन रहा। वस्तुतः वह स्वतन्त्र शासक की भाँति कार्य करता रहा। सादतअली एक योग्य सेनापति ही न था अपितु एक सफल शासन-प्रबन्धक भी था। उसने अवध के राज्य को सम्पन्नता और शक्ति प्रदान की। नादिरशाह के भारत पर आक्रमण करने के अवसर पर उसे मुगल-बादशाह ने दिल्ली बुलाया। उसने नादिरशाह से कुछ गुप्त समझौता करने का प्रयत्न किया। परन्तु उसका पता दूसरों को लग गया जिसकी शर्म के कारण 1739 में उसने आत्महत्या कर ली।

सादतखाँ की मृत्यु के पश्चात् उसका दामाद सफदरजंग अवध का नवाब बना। वह एक योग्य नवाब सिद्ध हुआ। उसके शासनकाल में अवध-राज्य की शक्ति और सम्पन्नता में वृद्धि हुई। उसकी योग्यता से प्रभावित होकर मुगल-बादशाह ने 1748 में उसे अपना वजीर नियुक्त किया और दिल्ली बुला लिया। परन्तु अन्य सरदारों की ईर्ष्या के कारण वह वजीर की दृष्टि से सफल न हुआ। 1753 में वह अवध वापस आ गया। प्रायः एक वर्ष के पश्चात् 1754 में उसकी मृत्यु हो गयी।

सफदरजंग की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र शुजाउद्दौला अवध का नवाब बना। वह महत्वाकांक्षी सिद्ध हुआ। उसके शासनकाल में अवध में कुछ महत्वपूर्ण राजनीतिक परिवर्तन हुए। उसने मुगल-युवराज अली गौहर को अपने राज्य में संरक्षण प्रदान किया। उसने पानीपत के तृतीय युद्ध में मराठों के विरुद्ध अहमदशाह अब्दाली की सहायता की। 1762 में जब युवराज अलीगौहर शाहआलम द्वितीय के नाम से मुगल-बादशाह बना तब उसे बादशाह का वजीर नियुक्त किया गया। उसने बंगाल के भागे हुए नवाब मीरकासिम को अपने यहाँ शरण दी और उसकी सहायता करते हुए 1764 में अंग्रेजों से बक्सर का युद्ध लड़ा। उस युद्ध में उसकी पराजय हुई और अवध का राज्य अंग्रेजों की दया पर निर्भर हो गया। अंग्रेजों ने उससे कड़ा और इलाहाबाद के किले लेकर मुगल-बादशाह शाहआलम को सौंप दिये। अवध का राज्य शुजाउद्दौला को अंग्रेजों को 50 लाख रुपये देने के बाद वापस मिल गया। उस समय से अवध के राज्य का पतन आरम्भ हो गया। निःस्सन्देह शुजाउद्दौला एक स्वतन्त्र नवाब रहा परन्तु वह पर्याप्त मात्रा में अंग्रेजों से प्रभावित रहा। 26 जनवरी, 1775 को शुजाउद्दौला की मृत्यु हो गयी।

शुजाउद्दौला की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र आसफउद्दौला अवध का नवाब बना। उसने 1797 तक राज्य किया। वह लगभग पूर्ण रूप से अंग्रेजों पर आश्रित रहा। उसके शासन में अँग्रेज रेजीडेन्ट का निरन्तर हस्तक्षेप रहा। उसके पश्चात् के सभी नवाब अंग्रेजों पर आश्रित रहे, तथा 1801 में नवाब सादतअली ने लॉर्ड वैलेजली द्वारा आरोपित 'सहायक-सन्धि' को स्वीकार करके अपनी नाममात्र की स्वतन्त्रता को भी नष्ट कर लिया। अवध का कोई भी नवाब अँग्रेजों के चंगुल से निकलने का साहस न कर सका। अन्त में, 1856 में अंग्रेजों ने कुशासन के आधार पर नवाब वाजिदअलीशाह को गद्दी से अपदस्थ करके अवध-राज्य को अंग्रेजी-राज्य में सम्मिलित कर लिया।

[ब] मराठा-शक्ति का उत्कर्ष और विस्तार

[1]

मराठा-शक्ति के उत्कर्ष के कारण

अँग्रेजों ने भारत का साम्राज्य मुगलों से नहीं बल्कि मराठों से प्राप्त किया। उत्तरकालीन मुगल बादशाहों की शक्ति बहुत दुर्बल और सीमित हो गयी थी तथा 18वीं सदी में मराठे भारत की प्रथम शक्ति बन गये थे। मुसलमानों की शक्ति एक लम्बे समय तक भारत में शासन करने के पश्चात् समाप्त हो चुकी थी और हिन्दू एक बार फिर अपनी सत्ता को स्थापित करने में सफल हुए थे। इस कारण, यह कहना अधिक उपयुक्त है कि भारत की राजसत्ता के लिए अँग्रेजों को वास्तव में हिन्दू-मराठों से संघर्ष करना पड़ा था।

जी. एस. सरदेसाई के अनुसार 'मराठा' शब्द की उत्पत्ति राठा (Ratthas) शब्द से हुई प्रतीत होती है। महाराष्ट्र में इनकी शक्ति का उदय हुआ। दक्षिण-पश्चिम भारत का वह भाग जो पश्चिम में अरब सागर से लेकर उत्तर में सतपुड़ा पहाड़ तक फैला हुआ है और जिसमें आधुनिक बम्बई का राज्य, कोंकण, खानदेश, बरार, मध्य-भारत का कुछ भाग और हैदराबाद राज्य का प्रायः $\frac{1}{3}$ भाग सम्मिलित

हैं, मराठवाड़ा कहलाता था। भारत के इसी भाग को महाराष्ट्र पुकारा गया है, जहाँ के निवासियों की मुख्य भाषा मराठी है। यहीं पर मराठा-शक्ति का उदय हुआ।

मराठा-शक्ति का उत्कर्ष किसी एक व्यक्ति अथवा विशेष व्यक्ति-समूह का कार्य न था और न किसी विशेष समय में उत्पन्न हुई कुछ अस्थायी परिस्थितियों का परिणाम था। 18वीं सदी में बंगाल, अवध, हैदराबाद, कर्नाटक, आदि के स्वतन्त्र राज्यों का निर्माण व्यक्ति-विशेष की योग्यता के कारण हुआ था। परन्तु मराठा-शक्ति के उदय का मुख्य कारण यह न था। मराठा-शक्ति के उदय का आधार महाराष्ट्र के समस्त निवासी थे जिनमें जाति, भाषा, धर्म और निवास-स्थान की एकता के आधार पर राष्ट्रीयता की भावना ने जन्म लिया और जिन्होंने उस राष्ट्रीयता को संगठित करने के लिए एक स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की इच्छा की। मुसलमानों द्वारा भारत की विजय पूर्ण हो जाने के पश्चात् स्वतन्त्र राज्य की पुनःस्थापना के लिए यह हिन्दुओं का प्रयत्न था और यह प्रयत्न एक ऐसा राष्ट्रीय आन्दोलन बन गया जिसमें सभी वर्गों और व्यक्तियों ने भाग लिया। मराठों के उत्कर्ष का इतिहास मुसलमानों की राजनीतिक दुर्बलता से लाभ उठाकर हिन्दू राष्ट्रीयता के निर्माण का ऐसा इतिहास है जिसमें मराठा-जाति ने भाग लिया। यही वह शक्ति थी जिसके आधार पर मराठा नेताओं ने भारत में 'हिन्दू-पादशाही' के निर्माण का स्वप्न देखा और दिल्ली के साम्राज्य को अपने हाथों में लेकर भारत की विभिन्न शक्तियों को एक शक्ति की अधीनता में लाने का प्रयत्न किया तथा यह वह शक्ति थी जिसके बल पर मराठे बड़े से बड़े संकट को सहन कर सके। जिस समय शिवाजी औरंगजेब के द्वारा आगरा में नजरबन्द कर लिये गये, जिस समय औरंगजेब ने शम्भाजी को कत्ल करके सम्पूर्ण महाराष्ट्र पर अधिकार कर लिया, जिस समय तृतीय पानीपत के युद्ध में मराठा-शक्ति को जबर्दस्त धक्का लगा और जिस समय पेशवा नारायणराव को कत्ल करके रघुनाथराव (राघोवा) ने अंग्रेजों की सहायता से पेशवा बनने का प्रयत्न किया, मराठा-शक्ति टूटने को हो गयी। ये सभी अवसर उनकी शक्ति की बरबादी के थे। परन्तु प्रत्येक अवसर पर मराठे सँभल सके, प्रत्येक चुनौती को उन्होंने स्वीकार किया, प्रत्येक से संघर्ष किया और उसमें सफलता पायी। इस सफलता का मूल आधार मराठा जन-समूह की भावना और शक्ति थी। इस प्रकार मराठा-शक्ति के उत्कर्ष का इतिहास एक जन-समूह के उत्कर्ष का इतिहास है और एक ऐसे जागरण का इतिहास है जो सम्पूर्ण महाराष्ट्र की जनता में व्याप्त था।

इस शक्ति के निर्माण और उत्कर्ष में विभिन्न परिस्थितियों ने भाग लिया। महाराष्ट्र की भौगोलिक परिस्थितियाँ मराठा-शक्ति के उत्कर्ष में सहायक थीं। महाराष्ट्र का अधिकांश भाग पठारी है जहाँ जीवन की सुविधाओं को प्राप्त करने के लिए मनुष्य को प्रकृति से कठोर संघर्ष करना पड़ता है। इससे वहाँ के निवासी परिश्रमी और साहसी बनते हैं। वहाँ आक्रमणकारी के लिए बहुत कठिनाइयाँ थीं तथा बड़ी सेना को लेकर चलना और उसके लिए रसद प्राप्त करना कठिन था जबकि सुरक्षा के लिए वहाँ अनेक सुविधाएँ थीं। स्थान-स्थान पर सरलता से पहाड़ी किले बनाये जा सकते थे जिनकी रक्षा करना सरल था परन्तु जिनको जीतना कठिन था। वहाँ गुरिल्ला युद्ध-पद्धति अथवा छापामार युद्ध-नीति का प्रयोग सरलता से सम्भव था। इसके अतिरिक्त भारत के बीच में स्थित होने के कारण वहाँ के निवासियों के लिए उत्तर और दक्षिण दोनों दिशाओं में अपनी प्रगति करने की सुविधा थी।

आर्थिक दृष्टि से महाराष्ट्र के निवासियों में अधिक आर्थिक असमानताएँ न थीं। व्यापारी वर्ग के अतिरिक्त वहाँ धनवान व्यक्ति अधिक न थे। इस कारण, आर्थिक शोषण करने वाले वर्ग का महाराष्ट्र में सर्वथा अभाव था। मराठा-सैनिक और निवासी उत्तर-भारत के सैनिकों और निवासियों की तुलना में निर्धन और व्यवहार-हीन कहे जा सकते थे। मराठों के शासनकाल में कला और साहित्य की दृष्टि से कोई विशेष प्रगति नहीं हो सकी। पेशवाओं के महल भी बहुत साधारण और खराब ढंग से बने हुए थे। निस्सन्देह, यह सभी कुछ निर्धनता के कारण था। परन्तु इससे महाराष्ट्र-निवासियों का चरित्र दृढ़ बना था। वे परिश्रमी और साहसी थे, उनमें समानता की भावना थी, वे छोटे और बड़े की भावना से रहित थे तथा वे उस भोग-विलास से बच रहे थे जिसके कारण उत्तर-भारत का समाज खोखला होता जा रहा था।

सामाजिक दृष्टि से महाराष्ट्र में तीव्र विभाजन न था। 15वीं और 16वीं सदी के धर्म-सुधार और भक्ति-आन्दोलन ने सामाजिक और धार्मिक सुधार किये तथा जातीय समानता को शक्तिशाली बनाया था। महाराष्ट्र में राजनीतिक चेतना से पहले सामाजिक और धार्मिक चेतना विद्यमान थी। इसके अतिरिक्त, दक्षिण-भारत का यह धार्मिक और सामाजिक आन्दोलन किसी एक वर्ग का आन्दोलन न था बल्कि वह जन-साधारण का आन्दोलन था। इस आन्दोलन का नेतृत्व उन व्यक्तियों ने किया जिनमें से अधिकांश समाज के निम्न भाग में से थे। तुकाराम, रामदास, वामन पण्डित और एकनाथ जैसे सन्त और दार्शनिक इसकी आत्मा थे। यह आन्दोलन ब्राह्मणों की श्रेष्ठता, ऊँच-नीच की भावना, जाति-व्यवस्था और कर्मकाण्ड के विरुद्ध था। इसने विश्वास, आस्था और भक्ति के द्वारा सभी को ईश्वर को प्राप्त करने का मार्ग बताया। इस आन्दोलन ने धार्मिक और सामाजिक एकता तथा सरलता का मार्ग बनाया, महाराष्ट्र के समाज और जन-जीवन को संगठित किया तथा उसे एकता की वह भावना दी जिससे राष्ट्रीय भावना का निर्माण होता है। इतिहासकार रानाडे के विचारानुसार महाराष्ट्र की राजनीतिक उथल-पुथल का मुख्य कारण धार्मिक था और इसमें कोई सन्देह नहीं कि महाराष्ट्र के विभिन्न सन्तों ने मराठों की राष्ट्रीय भावना के निर्माण में सहयोग दिया। विभिन्न सन्तों के उपदेश, भजन, आदि ने अशिक्षित मराठों की भावनाओं को गम्भीरता से प्रभावित किया और उन्हें अपने धर्म और समाज की सुरक्षा के लिए संघर्ष करने की प्रेरणा दी।

भाषा की दृष्टि से मराठी भाषा बहुत सरल और व्यावहारिक थी। मराठी भाषा जन-साधारण की भाषा थी। साधारण भाषा के प्रयोग से महाराष्ट्र के निवासियों में एकता और समानता थी। महाराष्ट्र-निवासियों की यह जनतन्त्रीय विचारधारा इस बात से स्पष्ट होती है कि वे आपस में 'आप' और 'जनाब' जैसे आदर-सूचक शब्दों का प्रयोग नहीं करते थे।

दक्षिण-भारत में हिन्दू और मुसलमानों में शक्ति-सन्तुलन रहा। इसके कारण दक्षिण के निवासी अपने सम्मान और गौरव तथा अपने समाज और धर्म के प्रति प्रेम को जीवित रख सके। उत्तर-भारत में राजस्थान के अतिरिक्त भारत के सभी भागों में मुसलमानों की विजय पूर्ण थी, इस्लाम ने हिन्दुओं की विरोध करने की शक्ति को प्रायः समाप्त कर दिया था और मुसलमान एक लम्बे समय तक पूर्ण राजनीतिक सत्ता का उपभोग कर सके थे। परन्तु दक्षिण-भारत में ऐसी स्थिति कभी नहीं आयी।

इसी कारण, उत्तर-भारत में जबकि जन-साधारण की भाषा फारसी या उर्दू होती जा रही थी, हिन्दू सामाजिक दृष्टि से अपने को हीन समझने लगे थे और हिन्दू मन्दिर छोटी-छोटी गलियों और कोनों तक ही सीमित रह गये थे, दक्षिण-भारत में ऐसी स्थिति न थी। दक्षिण-भारत में हिन्दू न केवल अपनी सामाजिक परम्पराओं को जीवित रख सके थे और न केवल हिन्दू मन्दिर ही सुरक्षित रहे थे अपितु हिन्दू अपने गौरव और सम्मान को भी सुरक्षित रख सके थे। राजनीतिक शक्ति के सन्तुलन के कारण मुसलमान शासकों को शासन में हिन्दुओं से सहायता लेनी पड़ी और हिन्दू तथा मुसलमान समाज एक-दूसरे के साथ समानता से व्यवहार कर सका। इस शक्ति-सन्तुलन के विभिन्न कारण थे। दक्षिण के मुसलमान शासक विदेशी मुसलमानों की सहायता नहीं पा सकते थे जैसे उत्तर-भारत के शासक उत्तर-पश्चिम से पा लेते थे तथा दक्षिण-भारत की भौगोलिक परिस्थितियाँ एक विस्तृत साम्राज्य के विषय में थीं। मुसलमान शासकों के आर्थिक और लगान-विभाग में ही नहीं बल्कि सेना में भी बहुत बड़ी संख्या में हिन्दू थे और विजयनगर के साम्राज्य ने करीब दो सौ वर्षों तक दक्षिण-भारत में हिन्दू-प्रभाव और समाज को सुरक्षित रखा था। मुसलमान शासकों ने पर्याप्त संख्या में हिन्दू स्त्रियों से विवाह किये थे और अनेक मुसलमान शासक उन्हीं स्त्रियों की सन्तान थे अथवा हिन्दू से मुसलमान बने थे, जैसे—अहमदनगर का पहला शासक एक हिन्दू से मुसलमान बने हुए व्यक्ति का पुत्र था और बरार-राज्य का संस्थापक एक ब्राह्मण की सन्तान था। इन विभिन्न कारणों से हिन्दू और मुसलमानों का दक्षिण-भारत में शक्ति-सन्तुलन सम्भव हो सका और दक्षिण के मुसलमान शासक और मुस्लिम समाज हिन्दुओं के निकट हो सका था। दक्षिण के मुसलमान उत्तर-भारत के मुसलमानों की भाँति कट्टर न बन सके और उनके शासन, राज्य और व्यवहार पर हिन्दुओं का गम्भीर प्रभाव पड़ा। इतिहासकार ग्राण्ट डफ का कहना है कि "शिवाजी के उत्कर्ष से पहले ही कम से कम आठ मराठा परिवार ऐसे थे जिनका दक्षिण की राजनीति में पर्याप्त प्रभाव था।" स्वयं शिवाजी के पिता शाहजी अहमदनगर-राज्य के प्रभावशाली सरदार थे और शासकों को बनाने वालों में से एक थे। उन्होंने अहमदनगर के पतन के पश्चात् वहाँ के बालक-शासक की तरफ से पर्याप्त समय तक मुगलों से संघर्ष किया और उसके पश्चात् बीजापुर-राज्य में उनका पद और सम्मान प्रभावपूर्ण रहा।

साम्राज्य-निर्माण की आकांक्षा मराठों के लिए नवीन भी न थी। राष्ट्रकूट सम्राटों ने दक्षिण-भारत में एक शक्तिशाली साम्राज्य का निर्माण किया था और अलाउद्दीन खलजी की दक्षिण-विजय से पहले ही देवगिरि के यादवों ने महाराष्ट्र में एक शक्तिशाली राज्य स्थापित कर रखा था।

इसके अतिरिक्त, **आरम्भ में औरंगजेब की दक्षिण के प्रति उदासीनता और बाद में सम्पूर्ण दक्षिण को अपनी अधीनता में लाने का प्रयत्न जिससे मराठों को अपने वतन (मातृभूमि) और जागीरों के छिनने का भय हो गया।**

औरंगजेब के दक्षिण-भारत पहुँचने से मराठों को यह शंका हो गयी कि सम्भवतया सम्पूर्ण दक्षिण-भारत पर मुगलों का अधिकार हो जायेगा। इस कारण, अपने भविष्य को सुरक्षित करने के लिए वे मुगलों के विरुद्ध संयुक्त हो गये। उस समय तक मराठे दक्षिण-भारत के विभिन्न मुसलमान-शासकों की अधीनता में अनेक विशेष सुविधाओं का उपभोग कर रहे थे। वहाँ के शासकों में उन्हें अपने प्रशासन में

सम्मिलित पद दे रखे थे, उनके द्वारा मराठों के समाज और धर्म में कोई हस्तक्षेप नहीं किया जाता था और मराठे बहुत बड़ी संख्या में उनकी सेनाओं में सम्मिलित थे। इस्लाम के कट्टर समर्थक औरंगजेब के शासन में मराठे इन सुविधाओं को पाने की आशा नहीं कर सकते थे। इस कारण, जब उन्हें यह आशंका हुई कि औरंगजेब सम्पूर्ण दक्षिण-भारत को जीतने के लिए कटिबद्ध है, तब उन्होंने उसके विरुद्ध संगठित होकर संघर्ष करने का निर्णय किया। निस्सन्देह, शिवाजी के पश्चात् मराठों के उत्थान का यह एक प्रमुख कारण था। मराठा सैनिकों में सभी वर्गों के व्यक्तियों का सम्मिलित होना जिससे मराठा सेना राष्ट्रीय सेना बन सकी, आदि भी ऐसे कारण बने जिन्होंने मराठा-शक्ति के उत्कर्ष में सहयोग दिया।

इस प्रकार, शिवाजी से पहले ही महाराष्ट्र में ऐसी विभिन्न परिस्थितियाँ थीं जिनसे मराठा-शक्ति के उत्कर्ष की पृष्ठभूमि का निर्माण हो चुका था। परन्तु महाराष्ट्र में एक कमी थी। महाराष्ट्र में इन तत्वों को एकत्रित नहीं किया गया था, इन तत्वों के आधार पर मराठों को एकता का प्रयत्न संगठित रूप से किसी ने नहीं किया था और स्वतन्त्र हिन्दू-राज्य की स्थापना का विचार मराठों में नहीं आया था। इस कार्य की पूर्ति शिवाजी ने की। इसी कारण वे मराठा-राष्ट्र और एक स्वतन्त्र हिन्दू-राज्य के निर्माता बने।

[2]

छत्रपति शिवाजी (1627-1680 ई.)

20 अप्रैल, 1627 को पूना के निकट शिवनेर के दुर्ग में शिवाजी का जन्म हुआ। उनके पिता का नाम शाहजी भौंसले और माता का नाम जीजाबाई था। शाहजी भौंसले ने न केवल अहमदनगर-राज्य में ही शक्ति और सम्मान प्राप्त किया था अपितु उस अवसर पर वे बीजापुर राज्य में प्रतिष्ठित पद पर थे। उन्होंने युद्ध, शासन और विद्वानों को संरक्षण प्रदान करने की दृष्टि से बीजापुर में ख्याति प्राप्त की थी। इस कारण, शिवाजी के पिता एक शक्तिशाली और सम्मानित सामन्त थे। शाहजी ने तुकाबाई मोहिते नामक एक अन्य स्त्री से विवाह कर लिया था, इस कारण, जीजाबाई अपने पुत्र शिवाजी को लेकर अपने पति से पृथक रहती थीं। अतः शिवाजी को अपने पिता का संरक्षण प्राप्त न हो सका। परन्तु यह कहना भूल होगी कि शाहजी ने अपने पुत्र का बिल्कुल ध्यान नहीं रखा था। शाहजी ने अपने एक योग्य और वफादार सेवक दादाजी कोंणदेव को शिवाजी की देखभाल और शिक्षा के लिए नियुक्त किया था। 12 वर्ष की आयु में शिवाजी को अपने पिता से पूना की जागीर प्राप्त हुई। इसके अतिरिक्त, शाहजी ने अपने पुत्र की सहायता के लिए, बाद में, कुछ योग्य अधिकारी भी भेजे, जो उनके सहायक सिद्ध हुए। शिवाजी ने अपनी माँ से साहस, दृढ़-निश्चय, अत्याचार का विरोध और धर्म के प्रति रुचि प्राप्त की और दादाजी कोंणदेव से उन्होंने शस्त्र तथा सैन्य-संचालन और शासन की शिक्षा प्राप्त की। पुस्तकों की शिक्षा में उनकी रुचि न थी परन्तु युद्ध और साहसपूर्ण कार्यों के लिए वे सदैव तत्पर रहते थे। यह कहना सर्वथा उचित है कि उनके चरित्र-निर्माण में जीजाबाई (उनकी माँ) का बहुत बड़ा हाथ था, जो उनकी सहायता का एक मुख्य कारण बना।

A. जीवन

आरम्भ से ही शिवाजी का उद्देश्य एक स्वतन्त्र राज्य की स्थापना करना था। वे किसी भी मुसलमान शासक के जागीरदार के रूप में जीवन व्यतीत करने को तत्पर न थे। इस बात पर उनका अपने संरक्षक कोंणदेव से भी मतभेद था। जब शिवाजी ने निकट के किलों को जीतकर अपने स्वतन्त्र अस्तित्व को स्थापित करने का प्रयत्न किया तभी कोंणदेव ने उन्हें समझाया और सलाह दी कि वे अपने पिता की भाँति किसी भी मुसलमान शासक की सेवा में रहकर अपनी उन्नति का प्रयत्न करें और स्वतन्त्र राज्य की स्थापना करने के खतरे को न उठायें। परन्तु शिवाजी ने इसे स्वीकार नहीं किया। वे सेवक के रूप में बड़ी से बड़ी प्रतिष्ठा को स्वीकार करने के लिए तैयार न थे। महाराष्ट्र में एक स्वतन्त्र हिन्दू-राज्य की स्थापना करना उनका मुख्य लक्ष्य रहा। शिवाजी का प्रारम्भिक उद्देश्य मुसलमानी सत्ता से हिन्दुओं को मुक्ति दिलाना न था। सर जदुनाथ सरकार ने लिखा है: "उन्हें एक स्वतन्त्र सत्ता की स्थापना की लालसा सदैव रही परन्तु हिन्दुओं का उद्धारकर्ता उन्होंने अपने को वहुत बाद के समय के अतिरिक्त कभी नहीं माना।"[1] इस प्रकार, हिन्दू धर्म की रक्षा की भावना उनमें थी परन्तु उनका मुख्य उद्देश्य राजनीतिक था। साथ ही, यह बात भी स्पष्ट है कि उन्होंने हिन्दुओं की धार्मिक भावना से प्रेरणा प्राप्त की थी, और वे धर्म की रक्षा करना भी अपना एक मुख्य लक्ष्य मानते थे। उन्होंने कहा था, "हम विदेशियों द्वारा दिये जाने वाले उपहारों अथवा अपनी पैतृक जागीरों से ही क्यों सन्तुष्ट रहें। हम हिन्दू हैं और यह सम्पूर्ण देश हमारा है, लेकिन तब भी इस पर मुसलमानों का अधिकार है। वे हमारे मन्दिरों को अपवित्र करते हैं, हमारी मूर्तियों को तोड़ते हैं, हमारी सम्पत्ति को लूटते हैं, जबर्दस्ती हमारे देशवासियों को अपने धर्म में परिवर्तित करते हैं और खुले तौर से गायों का वध करते हैं। हम इस प्रकार के व्यवहार को अब सहन नहीं करेंगे। हमारी बाहुओं में शक्ति है। हमें अपने पवित्र धर्म की रक्षा के लिए तलवार उठानी चाहिए, अपने देश को स्वतन्त्र करना चाहिए और अपने प्रयत्न से नवीन भूमि और सम्पत्ति प्राप्त करनी चाहिए। यदि हम इस पवित्र कार्य को आरम्भ करेंगे तो ईश्वर अवश्य हमारी सहायता करेगा।"[2]

एम. जी. रानाडे ने शिवाजी के जीवन को चार भागों में बाँटकर उनके उद्देश्य को स्पष्ट किया है। आरम्भ के छह वर्षों में शिवाजी का उद्देश्य निकट के मराठा सरदारों को अपनी सत्ता में लेकर एकत्रित करना और अपनी रक्षा का

---

1 "An independent sovereignty he always coveted, but he never posed as the liberator of the Hindus in general, at all events not till long afterwards." —*Sir J. N. Surkar.*

2 "Why remain content with the gifts conferred by foreigners, or with our paternal acquisitions only? We are Hindus: this whole country is ours, and yet it is occupied and held by the Muslims. They desecrate our temples, break our idols, plunder our wealth, convert our countryman forcibly to their religion, kill cows openly; we will suffer this treatment no more. We possess strength in ours arms. Let us draw our sword in defence of our sacred religion, liberate our native country and acquire new lands and wealth by our own efforts.... If we undertake this sacred task, God will surely help us..." —*Shivaji.*

प्रयत्न करना था। इस समय में वे औरंगाबाद के मुगल अधिपति अथवा बीजापुर के शासक का विरोध नहीं करना चाहते थे। इस प्रारम्भिक कार्य की पूर्ति के पश्चात् उन्हें बीजापुर राज्य से संघर्ष करना पड़ा। अगले दस वर्षों तक अपनी रक्षा करना, राष्ट्रीय तत्वों को एकत्रित करके अपनी सीमाओं का विस्तार करना उनका लक्ष्य रहा। बीजापुर राज्य के निरन्तर प्रयत्नों और उसके श्रेष्ठतम सेनापतियों से संघर्ष करते हुए भी शिवाजी ने अपने उद्देश्य की पूर्ति में सफलता प्राप्त की। उनके जीवन के तीसरे समय (1662-1672) में उनका मुख्य संघर्ष मुगलों की दक्षिण की ओर बढ़ती हुई शक्ति से हुआ, और अन्त में इसमें भी उन्हें सफलता मिली। अपने जीवन के अन्तिम समय (1674-1680) में शिवाजी ने अपने स्वतन्त्र राज्य को कानूनी रूप से स्थापित किया, अपना राज्याभिषेक कराया और 'छत्रपति' की उपाधि धारण की। इस प्रकार, स्वरक्षा और स्वतन्त्र-राज्य की स्थापना की भावना उनके जीवन का आरम्भ से अन्त तक उद्देश्य रहा, और इसी भावना के कारण मुसलमानों से उनका संघर्ष हुआ। यदि बीजापुर अपने को कर्नाटक में सीमित रखता और मुगल अपने को उत्तर-भारत में सीमित रखते तथा उनमें से कोई भी महाराष्ट्र को अपनी अधीनता में लाने का प्रयत्न न करता तो उनका बीजापुर-राज्य अथवा मुगलों से कोई झगड़ा न था। शिवाजी मुगल आधिपत्य को भी स्वीकार करने के लिए तत्पर थे यदि मुगल बादशाह उनको उनके प्रदेश में स्वतन्त्र छोड़ देता। सम्भवतया, वे इसी उद्देश्य से आगरा भी गये थे। शिवाजी का हिन्दू राजाओं को एकत्रित करके मुसलमानी राज्य को समाप्त करने का लक्ष्य कभी नहीं था। उनका मूल उद्देश्य दक्षिण-भारत में एक स्वतन्त्र राज्य की स्थापना करना था। इस उद्देश्य की पूर्ति और मुगलों को ताप्ती नदी तक सीमित रखने के लिए वे बीजापुर और गोलकुण्डा के राज्यों की सहायता करने के लिए तत्पर थे। इसी कारण, जब मुगलों ने बीजापुर का घेरा डाला तो शिवाजी ने बीजापुर की सहायता की, जिससे उनका निरन्तर संघर्ष रहा था। इस प्रकार, **शिवाजी का मूल उद्देश्य मराठों की बिखरी हुई शक्ति को एकत्रित करके महाराष्ट्र में एक स्वतन्त्र हिन्दू-राज्य की स्थापना करना था।**

दादाजी कोंणदेव की संरक्षकता के समय में शिवाजी ने पूना के आस-पास के किलों को जीतना आरम्भ कर दिया। कोंणदेव शिवाजी के इस कार्य से सहमत न थे; परन्तु वे शिवाजी को इस कार्य से रोक भी न सके। 1647 में कोंणदेव की मृत्यु हो गयी और शिवाजी अपने लक्ष्य की पूर्ति करने के लिए पूर्णतया स्वतन्त्र हो गये। उस समय शिवाजी की आयु 20 वर्ष की थी। उनके नेतृत्व में अनेक साहसी और योग्य मराठा-सरदार एकत्रित हो गये। उनके पिता शाहजी ने श्यामजी नीलकण्ठ, बालकृष्ण दीक्षित, सोनाजी पन्त और रघुनाथराव बल्लाल जैसे योग्य व्यक्तियों को 1639 में उनके पास भेजा। शिवाजी ने तुकोजी और नरायन पन्त जैसे व्यक्तियों को स्वयं प्राप्त किया। 1643 में शिवाजी ने बीजापुर से सिंहगढ़ के किले को जीता और उसके पश्चात् धीरे-धीरे उन्होंने चाकन, पुरन्दर, बारामती, तोरना, सूपा, तिकोना, लोहगढ़, रायरी (रायगढ़, जो बाद में उनकी राजधानी बना) आदि विभिन्न किलों पर अधिकार कर लिया। शिवाजी का उस समय तक बीजापुर से कोई खुला संघर्ष नहीं हुआ। सुल्तान अहमद आदिलशाह उस समय (1646-1656) बीमार था और शिवाजी ने उसके दरबार के बहुत-से सरदारों को रिश्वत देकर अपने पक्ष में कर लिया था। इस प्रकार, 1656 तक शिवाजी ने बिना किसी बड़े संघर्ष के

विभिन्न मराठा-सरदारों को एकत्रित करने, विभिन्न दुर्गों को जीतने और महाराष्ट्र तथा कोंकण प्रदेश के कुछ भाग पर अधिकार करने में सफलता पा ली। 1648-49 के समय में बीजापुर के सुल्तान ने उनके पिता शाहजी भोंसले को कैद में डाल दिया और उनके द्वारा शिवाजी पर दबाव डालकर उनकी कार्यवाहियों में बाधा डालने का प्रयत्न किया। शिवाजी को कुछ समय शान्त रहना पड़ा और उन्होंने शाहजहाँ से अपने पिता को मुक्त कराने के लिए प्रार्थना की। 1649 में शाहजी को कैद से छोड़ दिया गया और शिवाजी पुनः अपने कार्य को करने के लिए स्वतन्त्र हो गये।

1656 में शिवाजी की एक महत्वपूर्ण विजय जावली की थी। जावली एक मराठा सरदार चन्द्रराव के अधिकार में था और वह शिवाजी के विरुद्ध बीजापुर राज्य से मिला हुआ था। शिवाजी ने चन्द्रराव की हत्या करा दी और किले पर अधिकार कर लिया। इस प्रकार, एक षड्यन्त्र के द्वारा शिवाजी ने इस दृढ़ किले पर अधिकार किया। शिवाजी पर यह दोष लगाया गया है कि इस प्रकार चन्द्रराव और उसके पुत्रों की हत्या करके शिवाजी का किले को जीतना उचित न था। इस सम्बन्ध में सिर्फ यह कहा जा सकता है कि शिवाजी की शक्ति उस समय बहुत सीमित थी और वह प्रत्येक तरीके से अपने शत्रुओं को समाप्त करने में लगे हुए थे। चन्द्रराव उनका शत्रु था और उनके विकास में एक बड़ी बाधा था। उसको समाप्त करना शिवाजी के लिए आवश्यक था। इसके अतिरिक्त, शिवाजी ने कभी यह दावा नहीं किया कि अपनी शक्ति को बढ़ाने के अतिरिक्त, चन्द्रराव को कत्ल कराने में उनका कोई अन्य उद्देश्य था। जावली की विजय शिवाजी के लिए महत्वपूर्ण थी। इसके पश्चात् ही उनका राज्य-विस्तार दक्षिण-पश्चिम की ओर सम्भव हो सका।

1657 में शिवाजी का मुकाबला पहली बार मुगलों से हुआ। दक्षिण के सूबेदार, शाहजादा औरंगजेब ने बीजापुर पर आक्रमण किया और बीजापुर ने शिवाजी से सहायता माँगी। यह अनुभव करके कि दक्षिण में मुगलों की बढ़ती हुई शक्ति को रोकना आवश्यक है, शिवाजी ने बीजापुर की सहायता करने के उद्देश्य से मुगलों के दक्षिण-पश्चिम भाग पर आक्रमण करना आरम्भ कर दिया। उसी समय शिवाजी ने जुनार को लूटा और स्थान-स्थान पर आक्रमण करके मुगलों को तंग किया। परन्तु जब बीजापुर ने मुगलों से सन्धि कर ली तब शिवाजी ने मुगलों पर आक्रमण करने समाप्त कर दिये। उत्तराधिकार के युद्ध के कारण मुगलों को प्रायः दो वर्ष तक दक्षिण-भारत की ओर ध्यान देने का अवसर न मिल सका। इस समय का उपयोग शिवाजी ने सर्वप्रथम कोंकण को विजय करके किया।

परन्तु मुगलों से मुक्त होकर बीजापुर शिवाजी की शक्ति को दबाने के लिए तत्पर हो गया। 1659 में बीजापुर-राज्य ने अपने एक प्रख्यात सरदार अफजलखाँ को शिवाजी को कैद करने या मार डालने के लिए भेजा। उसके साथ करीब दस हजार घुड़सवार और एक अच्छा तोपखाना था। मार्ग में आते हुए अफजलखाँ ने मन्दिरों का ध्वंस किया, गाँवों को उजाड़ा और हर सम्भव प्रयत्न किया जिससे शिवाजी आतंकित हो जायें। बाई नामक स्थान पर आकर अफजलखाँ रुका और उसने कूटनीति का सहारा लिया। उसने अपने दूत कृष्णाजी भास्कर को शिवाजी के पास भेजकर वह सन्देशा दिया कि यदि शिवाजी स्वयं उससे आकर मिले और बीजापुर के आधिपत्य को स्वीकार कर ले तो वह उन्हें आदिलशाह से माफी ही नहीं दिलवा देगा अपितु जितने भू-प्रदेश और किले शिवाजी के पास हैं उन्हें उन्हीं को जागीर के रूप में

तथा कुछ अन्य प्रदेश भी जागीर के रूप में दिला देगा। शिवाजी ने धर्म की दुहाई देकर कृष्णाजी भास्कर से अफजलखाँ की वास्तविक इच्छा को जानने का प्रयत्न किया और उससे उन्हें यह संकेत मिल गया कि अफजलखाँ उन्हें धोखा देगा। अफजलखाँ वैसे भी विश्वास के योग्य न था। उसने एक बार 1639 में कस्तूरी रंगा नामक एक सरदार को मित्रता का आश्वासन देकर कत्ल कराया था और 1657 में इसी प्रकार खान मुहम्मद नामक एक अन्य सरदार का कत्ल कराया था। उसने तुलजापुर के भवानी-मन्दिर के अतिरिक्त अन्य हिन्दू-मन्दिरों को भी तोड़ा था और शिवाजी की माँ जीजाबाई अपने बड़े पुत्र और शिवाजी के बड़े भाई शम्भाजी (जो अपने पिता के साथ रहा था) की मृत्यु के लिए अफजलखाँ को जिम्मेदार समझती थीं। एक युद्ध के अवसर पर अफजलखाँ के द्वारा समय पर सहायता न पहुँचाने के कारण शम्भाजी युद्ध में लड़ते हुए मारा गया था। इस कारण, शिवाजी ने अफजलखाँ पर विश्वास न किया और धूर्तता का जवाब धूर्तता से देने का निश्चय किया। मोरो पिंगले और नेताजी पालकर को शीघ्रता से परन्तु चुपके-चुपके प्रतापगढ़ के जंगलों में पहुँचने के आदेश दिये गये और गोपीनाथ को दूत बनाकर अफजलखाँ के पास भेजा गया। गोपीनाथ ने सन्देश दिया कि शिवाजी बहुत भयभीत हैं और यदि अफजलखाँ उन्हें माफ करने का आश्वासन दें तो वह प्रतापगढ़ के निकट उससे मिल सकते हैं। अफजलखाँ इस बात के लिए तत्पर हो गया और अपनी सेना को लेकर प्रतापगढ़ से एक मील दूर जाकर रुक गया। किले और अफजलखाँ की सेना के मध्य में शिवाजी और अफजलखाँ की मुलाकात के लिए स्थान निश्चित किया गया। यह भी निश्चित हुआ कि शिवाजी और अफजलखाँ केवल दो-दो अंगरक्षकों को लेकर एक-दूसरे से मिलने आयेंगे। शिवाजी को बिना अस्त्र-शस्त्र के आना था। शिवाजी ने अपनी सुरक्षा के लिए अपने अँगरखे के नीचे लोहे का कवच पहना, अपनी पगड़ी के नीचे लोहे की टोपी पहनी और अपने बायें हाथ में बघनख तथा सीधे हाथ की बाँह में एक तेज कटार को छिपा लिया। अपने अंगरक्षकों के रूप में उन्होंने जीवमहाल और शम्भूजी कावजी को शस्त्रों-सहित अपने साथ लिया। अफजलखाँ अस्त्र सहित आया और उसके साथ दो अंगरक्षक आये जिनमें से एक प्रख्यात तलवारबाज सैयद बाँदा था। शिवाजी के दूत गोपीनाथ की प्रार्थना पर अफजलखाँ ने अपने 1,000 सैनिक बन्दूकचियों को मिलने के स्थान से कुछ दूर छोड़ दिया। अफजलखाँ शिवाजी से गले मिला। शिवाजी आकार में उससे बहुत छोटे थे। उसने एक हाथ से शिवाजी के गले पर दबाव डाला और दूसरे हाथ से शिवाजी पर तलवार से प्रहार किया। शिवाजी के कवच ने उनकी रक्षा की और उन्होंने अपने बघनख और कटार को अफजलखाँ के पेट में घोंप दिया। अफजलखाँ ने घायल होकर शिवाजी को छोड़ दिया और जोर से चीखा। सैयद बाँदा ने तलवार से शिवाजी के सर पर चोट की परन्तु उनकी लोहे की टोपी ने उनकी रक्षा की। जीवमहाल ने सैयद बाँदा का दाहिना हाथ काटकर उसे मार दिया। जंगल में छिपी हुई मराठा-सेना ने बीजापुर की सेना पर आक्रमण किया और उसे परास्त करके भगा दिया। शिवाजी को इस युद्ध के पश्चात् तोपखाना, गोला-बारूद, हाथी, घोड़े, ऊँट और करीब दस लाख रुपया प्राप्त हुआ।

प्रो. फारुखी ने शिवाजी पर अफजलखाँ की हत्या का आरोप लगाया है। कुछ तत्कालीन फारसी ग्रन्थों और विदेशी यात्री मनुची के विवरण में भी इसी प्रकार

का विचार प्रकट किया गया है। परन्तु आधुनिक इतिहासकार इस बात को स्वीकार नहीं करते। यह विश्वास किया गया है कि स्वयं अफजलखाँ शिवाजी को धोखे से मारना चाहता था और शिवाजी ने उसकी इच्छा को जानकर ही अपनी सुरक्षा का प्रबन्ध किया था। सर जदुनाथ सरकार का कहना है : "अफजलखाँ को बीजापुर-दरबार से इसी प्रकार चुपके से शिवाजी को मार डालने की सलाह मिली थी। अफजलखाँ को शिवाजी की छिपी हुई सेना का कोई पता न था और न उसे यह अनुमान हो पाया था कि शिवाजी उसकी धोखे की योजना को समझ गये थे। अपनी शक्ति और सैयद बाँदा के तलवार-कौशल पर भरोसा करके उसे शिवाजी और उसके दो अंगरक्षकों से कोई भय न था। उसे विश्वास था कि वह शिवाजी को सरलता से समाप्त कर देगा। आक्रमण भी पहले अफजलखाँ ने किया था। ऐसी स्थिति में शिवाजी ने अपनी सुरक्षा के लिए अफजलखाँ की हत्या की थी। इस कारण, शिवाजी को इस कार्य के लिए दोषी नहीं माना जा सकता।" अफजलखाँ की मृत्यु के पश्चात् शिवाजी ने कोंकण और कोल्हापुर के प्रदेशों पर आक्रमण किया और पन्हाला तथा आस-पास के क्षेत्रों पर अधिकार कर लिया। अफजलखाँ की घटना ने शिवाजी की कीर्ति में वृद्धि की। परन्तु बाद में बीजापुर ने शिवाजी से पन्हाला छीन लिया और मुगलों ने शिवाजी से चाकन छीन लिया (1660)। 1662-63 में शाहजी के हस्तक्षेप के कारण शिवाजी ने बीजापुर में एक समझौता कर लिया कि वे एक-दूसरे की सीमाओं पर आक्रमण नहीं करेंगे और मिलकर मुगलों का विरोध करेंगे। उसके पश्चात् शिवाजी का बीजापुर से कोई महत्वपूर्ण संघर्ष नहीं हुआ, यद्यपि 1673 में शिवाजी ने पन्हाला को पुनः जीत लिया और 1677-1680 के समय में बीजापुर से उन किलों को भी छीन लिया जो बीजापुर ने गोलकुण्डा से जीते थे। इस प्रकार, शिवाजी ने बीजापुर-राज्य से संघर्ष करते हुए सफलता प्राप्त की।

1660 में मुगल-सूबेदार शाइस्ताखाँ को शिवाजी को समाप्त करने के आदेश प्राप्त हुए। उसने बीजापुर-राज्य से मिलकर शिवाजी को समाप्त करने की योजना बनायी और शिवाजी से पूना, चाकन और कल्याण को छीनने में सफलता पायी। प्रायः दो वर्ष के युद्ध में शाइस्ताखाँ ने शिवाजी के बहुत कुछ स्थानों और किलों को जीतने में सफलता पायी, परन्तु शिवाजी युद्ध करते रहे। 1663 में शाइस्ताखाँ ने पूना में वर्षा बिताने की योजना बनायी। 15 अप्रैल, 1663 को शिवाजी चुपके से पूना में प्रवेश कर गये और रात को अचानक शाइस्ताखाँ के महल पर आक्रमण करने में सफल हो गये। शाइस्ताखाँ घबराकर भाग खड़ा हुआ। यद्यपि शिवाजी केवल उसका अँगूठा काटने में सफल हुए, परन्तु उनका यह रात्रि का आक्रमण बहुत सफल हुआ। इससे उनकी प्रतिष्ठा में वृद्धि हुई और उन्होंने मुगलों पर पुनः आक्रमण आरम्भ कर दिये। 10 जनवरी, 1664 को शिवाजी ने अचानक सूरत पर आक्रमण किया। मुगल किलेदार भाग खड़ा हुआ। चार दिन तक पूना को अच्छी तरह लूटकर और अधिक से अधिक धन लेकर शिवाजी वापस चले गये। उसके पश्चात् प्रायः एक वर्ष तक शिवाजी मुगल आक्रमण से मुक्त रहे। औरंगजेब ने शाइस्ताखाँ को वापस बुला लिया था और नवीन सूबेदार शाहजादा मुअज्जम और उनके सहयोगी राजा जसवन्तसिंह ने शिवाजी के विरुद्ध कोई ठोस कदम नहीं उठाया।

1664 में शिवाजी के पिता शाहजी की मृत्यु हो गयी और उनके पुत्र व्यंकोजी ने उनकी जागीर (मैसूर और पूर्वी कर्नाटक) को अपने अधिकार में कर लिया।

1665 में औरंगजेब ने राजा जयसिंह को शिवाजी के विरुद्ध भेजा। राजा जयसिंह अपने समय का योग्यतम सेनापति और कूटनीतिज्ञ था। वह तुर्की, फारसी, उर्दू और राजस्थानी भाषा का जानकार था। शाहजहाँ के शासनकाल में उसने मुगल-साम्राज्य के प्रत्येक भाग में युद्ध किया था। मुगल-दरबार ने बल्ख से लेकर दक्षिण तक और कन्धार से लेकर बंगाल तक के युद्धों में उसकी सेवाओं का लाभ प्राप्त किया था। शाहजहाँ के काल का एक भी वर्ष ऐसा न था जबकि राजा जयसिंह ने किसी न किसी प्रकार की सफलता प्राप्त न की हो और बादशाह से सम्मान और पद प्राप्त न किया हो। 60 वर्ष की आयु में सैकड़ों युद्धों में भाग लिये हुए इस योग्य राजपूत सेनापति को औरंगजेब ने शिवाजी के विरुद्ध भेजा। जयसिंह ने शक्ति और कूटनीति दोनों का सहारा लिया। एक शक्तिशाली मुगल-सेना के दक्षिण में प्रवेश करने से यह सम्भावना थी कि गोलकुण्डा और बीजापुर के राज्य तथा शिवाजी मुगलों के विरुद्ध एक हो जायें। जयसिंह ने इसे रोकने के लिए कूटनीति का सहारा लिया। एक तरफ उसने बीजापुर राज्य को मुगल बादशाह की सहानुभूति का लालच दिया और दूसरी तरफ उसने उसके विद्रोही जागीरदारों को विद्रोह करने के लिए प्रोत्साहित किया। उसकी नीति सफल रही और बीजापुर ने शिवाजी का साथ नहीं दिया। जयसिंह ने दक्षिण-भारत के भूतपूर्व सैनिक और असैनिक शासन को अपने हाथों में केन्द्रित करने की माँग की और औरंगजेब ने इसे स्वीकार भी कर लिया। जयसिंह ने विभिन्न मराठा-सरदारों के पास अपने ब्राह्मण राजदूत भेजे और उनसे शिवाजी के विरुद्ध सहायता माँगी तथा उनको लालच दिया। वे सभी मराठा-सरदार, जो शिवाजी से ईर्ष्या करते थे, मुगलों की सेवा में आने के लिए प्रोत्साहित किये गये। उनमें से कई जैसे शिवप्पा नायक, बाजी चन्द्रराव, और उसका भाई अम्बाजी गोविन्दराव मोर (जावली के), अफजलखाँ का पुत्र फजलखाँ और कोली प्रदेश के छोटे-छोटे राजा जयसिंह के साथ हो गये और उनमें से कई को मुगल-सेना में ले लिया गया। जयसिंह ने शिवाजी के सरदारों को भी लालच देकर अपनी ओर मिलाने का प्रयत्न किया। राय और हनुमन्त जैसे सूपा के पुराने जागीरदारों के सम्बन्धियों को मुगलों की सेवा में बुला लिया गया। जयसिंह ने यूरोपियन जातियों और जंजीरा के सीदियों को भी शिवाजी के विरुद्ध साथ देने के लिए पत्र लिखे। इस प्रकार, पूरी तरह तैयारी करके जयसिंह ने शिवाजी पर आक्रमण किया। वज्रगढ़ को जीतकर जयसिंह ने पुरन्दर के किले में शिवाजी को घेर लिया। आस-पास के मराठा प्रदेश को नष्ट करने के लिए मुगल-सेना को भेजा गया और किले पर अत्यधिक दबाव डाला गया। यह निश्चय हो गया कि पुरन्दर के किले की रक्षा सम्भव न हो सकेगी। यह देखकर शिवाजी ने आत्मसमर्पण कर दिया और बिना किसी शर्त के राजा जयसिंह से मिलने गये। जून 1665 में पुरन्दर की सन्धि हुई जिसके अनुसार—

1. शिवाजी ने अपने 23 किले और करीब 4 लाख हूण की वार्षिक आय की भूमि मुगलों को दे दी।

2. रायगढ़ को सम्मिलित करके शिवाजी के पास केवल 12 किले और एक लाख हूण की वार्षिक आय की भूमि रही।

3. शिवाजी ने मुगल आधिपत्य को स्वीकार कर लिया परन्तु अपने स्थान पर अपने लड़के शम्भाजी को 5,000 घुड़सवारों के साथ मुगलों की सेवा में भेजना स्वीकार किया।

4. शिवाजी ने बीजापुर के विरुद्ध मुगलों को सैनिक सहायता देने का वायदा किया।

बाद में इस सन्धि में एक और शर्त जोड़ी गयी जिसके अनुसार—

5. शिवाजी ने वायदा किया कि कोंकण में 4 लाख हूण की वार्षिक आय की भूमि और बालाघाट (जो बीजापुर के पास था) की 5 लाख हूण वार्षिक आय की भूमि उन्हें दे दी जाय तो वह मुगलों को 13 वर्षों में 40 लाख हूण देंगे। इन प्रदेशों को शिवाजी को स्वयं ही जीतना था। इस शर्त से मुगलों को बहुत लाभ था। प्रथम, शिवाजी और बीजापुर एक-दूसरे के शत्रु हो गये, और दूसरे, शिवाजी की शक्ति का इन प्रदेशों में ही लग जाने की सम्भावना हो गयी। यह जयसिंह की कूटनीति का परिणाम था।

इस प्रकार, तीन माह में ही जयसिंह की कूटनीति और शक्ति ने शिवाजी को मुगलों की अधीनता स्वीकार करने के लिए बाध्य कर दिया। इस आक्रमण और सन्धि से शिवाजी की बहुत हानि हुई। इसके पश्चात् मुगलों को बीजापुर के विरुद्ध सहायता देते हुए शिवाजी ने पन्हाला के किले को जीतने का प्रयत्न किया यद्यपि वह सफल न हुए।

1666 में शिवाजी औरंगजेब से मिलने आगरा गये। राजा जयसिंह ने उनको उनकी सुरक्षा के बारे में आश्वस्त किया और यह सुझाया कि, सम्भवतया, उनको स्वयं बादशाह से मिलने से उनको दक्षिण के मुगल प्रदेश की सूबेदारी और सीदियों से जंजीरा का टापू प्राप्त हो जाय। सम्भवतया, शिवाजी स्वयं भी औरंगजेब के दरबार से सम्पर्क स्थापित करने और उत्तर-भारत की स्थिति को जानने के लिए उत्सुक हो गये थे। राजा जयसिंह ने अपने पुत्र रामसिंह की व्यक्तिगत सुरक्षा में शिवाजी को रखने का विश्वास दिलाया। अन्त में, अपनी माता जीजाबाई को राज्य का संरक्षक बनाकर और अपने वफादार सरदारों एवं किलेदारों को अपना-अपना कार्य समझाकर शिवाजी अपने पुत्र शम्भाजी को लेकर आगरा गये। जब रामसिंह शिवाजी को लेकर दरबार में गया तब औरंगजेब ने उनके प्रति उदासीनता का व्यवहार किया और उन्हें पंचहजारी मनसबदारों में खड़े हो जाने का इशारा कर दिया। शिवाजी ने इसे अपना असम्मान माना और वह उसी समय मनसबदारों की पंक्ति से निकलकर बाहर जाकर बैठ गये। औरंगजेब ने रामसिंह तथा अन्य दो सरदारों को शिवाजी को बुलाने के लिए भेजा परन्तु उन्होंने औरंगजेब के सम्मुख जाने से इन्कार कर दिया। रामसिंह ने शिवाजी की तबियत खराब हो जाने का बहाना कर दिया। इसके पश्चात् शिवाजी को, रामसिंह की देख-रेख में 'जयपुर भवन' में रखा गया जहाँ उनको नजरबन्द कर दिया गया। शिवाजी औरंगजेब से भेंट करने के लिए फिर कभी नहीं गये। दरबार में अनेक व्यक्ति ऐसे थे जो शिवाजी को मरवा देना चाहते थे। राठौर राजपूत जयसिंह का अपमान करने के लिए शिवाजी का वध चाहते थे। शाइस्ताखाँ और वजीर जाफरखाँ की पत्नियाँ और औरंगजेब की बहिन जहाँआरा शिवाजी का वध चाहती थीं। औरंगजेब भी अपने एक प्रमुख शत्रु को

समाप्त करना चाहता था। औरंगजेब ने एक बार शिवाजी को उत्तर-पश्चिम के युद्ध-क्षेत्र में भेजने का निश्चय किया परन्तु बाद में उस आज्ञा को रद्द कर दिया। औरंगजेब ने राजा जयसिंह से पूछा कि उसने शिवाजी को क्या आश्वासन दिया था? राजा जयसिंह ने उत्तर दिया कि शिवाजी के जीवन की सुरक्षा के अतिरिक्त उसने कोई वायदा नहीं किया था। परन्तु इस पत्र-व्यवहार में थोड़ा समय लगा। इस बीच में शिवाजी ने अनेक मुगल-सरदारों को रिश्वत दी और भाग निकलने की योजना बनायी। शिवाजी ने बीमारी का बहाना किया और कुछ समय पश्चात् बीमारी के ठीक हो जाने की खुशी में बड़े-बड़े मिठाई के टोकरे गरीबों में बाँटने के लिए भेजने आरम्भ किये। एक दिन अपने सौतेले भाई हीरोजी को अपना सोने का कड़ा पहनाकर और अपने बिस्तर में लिटाकर शिवाजी और उनका पुत्र शम्भाजी उन्हीं मिठाई के टोकरों में बैठकर बाहर निकलने में सफल हो गये। उसके पश्चात् साधुओं का भेष बनाकर, अपने पुत्र को मथुरा में एक मराठा परिवार के साथ छोड़कर, इलाहाबाद, बनारस, गोंडवाना और गोलकुण्डा होते हुए शिवाजी 25 दिन के पश्चात् रायगढ़ वापस पहुँच गये। औरंगजेब ने दक्षिण-भारत की ओर जाने वाले सभी मार्गों पर उनको पकड़ने की व्यवस्था की थी, परन्तु वह असफल हुआ। औरंगजेब ने असन्तुष्ट होकर रामसिंह को नौकरी से हटा दिया तथा जयसिंह को भी बीजापुर के आक्रमण में असफल हो जाने के कारण दक्षिण से वापस आने के आदेश दे दिये गये। इस प्रकार, शिवाजी की आगरा की यात्रा निरर्थक सिद्ध हुई परन्तु उसने एक रोमांचकारी इतिहास का निर्माण किया।

1668 में शिवाजी ने मुगलों से एक सन्धि कर ली। आगरा से वापस आ जाने के पश्चात् शिवाजी मुगलों से युद्ध करने की स्थिति में न थे। औरंगजेब भी उत्तर-पश्चिम के उपद्रवों के कारण शिवाजी की ओर ध्यान देने की स्थिति में न था। दक्षिण का सूबेदार शाहजादा मुअज्जम आराम-पसन्द था और उसका सहायक राजा जसवन्तसिंह शिवाजी के प्रति सहानुभूतिपूर्ण था। इस कारण, प्रायः तीन वर्ष तक मराठों और मुगलों का कोई संघर्ष नहीं हुआ। 1668 में हुई सन्धि के द्वारा औरंगजेब ने शिवाजी को चाकन का दुर्ग और 'राजा' की उपाधि दी थी और शिवाजी ने अपने पुत्र शम्भाजी को 5,000 सैनिकों के साथ बादशाह की सेवा में भेज दिया था।

1670 में शिवाजी ने पुनः मुगलों से युद्ध आरम्भ कर दिया। औरंगजेब ने शम्भाजी और अन्य मराठा सरदारों को कैद करने की योजना बनायी। शिवाजी ने इससे पहले ही उनको वापस बुला लिया। औरंगजेब शिवाजी से धन भी वसूल करना चाहता था और वह इस बात से असन्तुष्ट था कि शिवाजी ने दक्षिण में मुगल सेना से निकाले गये सैनिकों को अपनी सेवा में ले लिया था। शिवाजी भी अपने खोये हुए भू-प्रदेशों को जीतने के लिए उत्सुक थे। इस कारण, 1670 में शिवाजी ने मुगल प्रदेशों पर आक्रमण करने आरम्भ कर दिये। पुरन्दर की सन्धि के अन्तर्गत खोये गये अपने अनेक किलों को शिवाजी ने पुनः जीत लिया। इसी समय कोंगना के किले को नानाजी ने अपने साहस से जीता जिसे शिवाजी ने सिंहगढ़ का नाम दिया। विभिन्न मुगल-प्रदेशों को सफलता से लूटने के अतिरिक्त शिवाजी ने पुरन्दर, कल्याण, माहुली आदि किलों को जीता। दिलेरखाँ और शाहजादा मुअज्जम की परस्पर अन-बन से लाभ उठाकर शिवाजी ने 1670 में सूरत के बन्दरगाह और शहर को दुबारा लूटा। मराठों ने इस समय बरार, बगलाना और खानदेश पर आक्रमण किये तथा

सलहेर और मुलहेर के किलों को जीता। इसी समय उत्तर कोंकण पर आक्रमण करके मराठों ने जवाहरनगर और रामनगर को जीता। 1672 में मराठों का झगड़ा बीजापुर से भी हुआ जबकि मराठों ने पन्हाला पर आक्रमण किया। मराठों ने पन्हाला, पार्ली और सतारा के दुर्गों को भी जीत लिया। इस प्रकार, कुछ ही वर्षों में शिवाजी ने मुगलों और बीजापुर से अनेक दुर्गों और भू-प्रदेशों को जीतने में सफलता पायी।

1674 में शिवाजी ने अपना राज्याभिषेक किया, 'छत्रपति' की उपाधि ग्रहण की और रायगढ़ को अपनी राजधानी बनाया। यद्यपि शिवाजी ने एक बड़ा राज्य स्थापित कर लिया था और वह एक स्वतन्त्र शासक की भाँति व्यवहार करने लगे थे, परन्तु मुगल बादशाह तब भी उनको एक बड़ा जमींदार और बीजापुर का सुल्तान उन्हें एक विद्रोही जागीरदार ही मानता था। इस कारण, अपने सम्मान की रक्षा, बीजापुर और गोलकुण्डा के सुल्तानों की समता, प्रजा की वफादारी, सन्धि अथवा युद्ध-वार्ता, सभी मराठा-सरदारों में विश्वास और भक्तिभाव उत्पन्न करने, आदि के लिए शिवाजी को 'राजा' की उपाधि ग्रहण करना आवश्यक हो गया था। अनेक हिन्दू विद्वान और नेता भी शिवाजी को राजा बनाकर उनकी अधीनता में हिन्दू-स्वराज्य की स्थापना के लिए उत्सुक थे। इस कारण, शिवाजी ने राज्याभिषेक का निश्चय किया। उस युग के महान् विद्वान, वेदों के ज्ञाता और बनारस के महान् पण्डित विश्वेश्वर उर्फ नागभट्ट ने शिवाजी को क्षत्री स्वीकार किया, उदयपुर के राजपूत राजवंश से उनका सम्बन्ध बताया और शिवाजी का राज्याभिषेक स्वयं करना स्वीकार किया। 15 जून, 1674 को वेद-मन्त्रों और हिन्दू रीति-रिंवाजों के अनुसार बड़ी धूमधाम से शिवाजी का रायगढ़ में राज्याभिषेक हुआ, उन्होंने 'छत्रपति' की उपाधि ग्रहण की और भगवा-ध्वज उनका झण्डा बना। इस अवसर पर शिवाजी ने काफी धन व्यय किया। परन्तु इस प्रसन्नता से थोड़ी बाधा 12 दिन पश्चात् हुई जबकि शिवाजी की माता जीजाबाई की मृत्यु हो गयी। इसके कारण, शिवाजी ने कुछ समय पश्चात् अपना राज्याभिषेक तान्त्रिक विधि से पुनः कराया।

अपने रिक्त खजाने की पूर्ति करने के उद्देश्य से शिवाजी ने मुगल-सेनापति बहादुरखाँ के शिविर पर आक्रमण किया और प्रायः एक करोड़ रुपया और 200 अच्छे घोड़े लूटने में सफलता पायी। शिवाजी ने बीजापुर के खानदेश और बगलाना के प्रदेशों को लूटने में भी सफलता पायी। इन आक्रमणों से शिवाजी को केवल धन ही प्राप्त नहीं हुआ बल्कि उनकी शक्ति में भी वृद्धि हुई।

1677-78 में शिवाजी ने पूर्वी कर्नाटक पर आक्रमण किया। कर्नाटक का भू-प्रदेश बहुत उपजाऊ और धनवान था। शिवाजी ने बहाना किया कि वह अपने भाई से अपनी पैतृक जागीर का हिस्सा लेने जा रहे हैं। परन्तु उन्होंने युद्ध की पूर्ण तैयारी की। उन्होंने मुगल सूबेदार बहादुरखाँ से एक समझौता कर लिया और गोलकुण्डा के महामन्त्री मदन्ना की सहायता से गोलकुण्डा से एक सन्धि कर ली। गोलकुण्डा से शिवाजी के सम्बन्ध अच्छे रहे थे और समय-समय पर सुल्तान ने उनकी धन के द्वारा सहायता भी की थी। इस अवसर पर हुई सन्धि के अनुसार शिवाजी ने लूटे हुए धन और जीते हुए प्रदेशों को परस्पर बाँट लेने का वायदा किया, मुगलों के विरुद्ध एक-दूसरे को सहायता देने का वायदा किया तथा कर्नाटक पर आक्रमण करने की संयुक्त योजना बनायी। शिवाजी ने कर्नाटक में प्रवेश करके जिंजी और वेलूर के

क़िलों को जीता और तुंगभद्रा से लेकर कावेरी नदी तक के कर्नाटक के भाग पर अपना अधिकार कर लिया। जिंजी को उन्होंने अपने इस भाग की राजधानी बनाया। अपने भाई व्यंकोजी से भी शिवाजी ने अपने पिता की पैतृक जागीर में से आधा भाग माँगा और उसके इन्कार करने पर उसके प्रदेशों पर आक्रमण किया तथा कावेरी नदी के उत्तर के सभी भागों पर अधिकार कर लिया। प्रायः एक वर्ष के समय में शिवाजी ने कर्नाटक की 20 लाख हूण प्रति वर्ष आय की भूमि पर अधिकार किया और प्रायः 100 किले अपने अधिकार में किये अथवा बनवाये। कर्नाटक की सीमाओं की सुरक्षा और शासन का प्रबन्ध करके शिवाजी महाराष्ट्र वापस आ गये। बाद में व्यंकोजी ने अपने प्रदेश को जीतने का प्रयत्न किया परन्तु असफल हुआ। शिवाजी ने अपने भाई को एक कड़ा पत्र लिखा और बीजापुर के हाथ में खेलने के उसके व्यवहार के लिए उसे धिक्कारा। अन्त में, व्यंकोजी के भूतपूर्व मुख्य-मन्त्री के बीच में पड़ने से दोनो भाइयों में समझौता हो गया। व्यंकोजी ने अपने बड़े भाई के आधिपत्य को स्वीकार कर लिया, शिवाजी ने किलों के अतिरिक्त उसके भू-प्रदेश उसे वापस कर दिये और उसने सफलता से उनका शासन किया। इस प्रकार, **शिवाजी ने कर्नाटक में अपने प्रभुत्व को स्थापित करने में सफलता पायी।**

शिवाजी का संघर्ष जंजीरा टापू के अधिपति सीदियों से भी हुआ। उत्तर-पश्चिम के समुद्री तट को जीतने की इच्छा शिवाजी की थी। उससे उनके साम्राज्य की सुरक्षा होती थी और पश्चिम से व्यापार करने के लिए मार्ग खुल जाता था। इस उद्देश्य से शिवाजी ने बीजापुर-राज्य से पोंडा और कारवार के समुद्री भागों को छीन लिया, कोलाबा से मलवान तक समुद्री तट पर अधिकार कर लिया और स्वर्ण-दुर्ग, विजयदुर्ग तथा सिन्दुदुर्ग जैसे समुद्र-तट के दृढ़ किलों को उन्होंने जीत लिया। इसी उद्देश्य से शिवाजी ने एक नौ-सेना का निर्माण किया परन्तु वह पुर्तगालियों से गोआ को न छीन सके और न ही सीदियों से चौल और जंजीरा को छीना जा सका।

सीदी पहले अहमदनगर के आधिपत्य को मानते थे परन्तु 1636 के पश्चात् से वे बीजापुर की अधीनता को मानने लगे थे। शिवाजी ने कोंकण प्रदेश को जीत लिया जो सीदियों की आय और रसद का साधन था। इस कारण वे शिवाजी से शत्रुता मानते थे। दूसरी तरफ, शिवाजी के लिए जंजीरा को जीतना अपने कोंकण प्रदेश की रक्षा के लिए आवश्यक था। इसके अतिरिक्त, सीदियों को बिना अपनी अधीनता में लाये शिवाजी की नौ-सेना का विकास सम्भव न था। 1669 में शिवाजी ने दरिया सारंग के नेतृत्व में अपने जल-बेड़े को जंजीरा पर आक्रमण करने के लिए भेजा। लगातार संघर्ष के पश्चात् फतहखाँ सीदी शिवाजी से सन्धि करने के लिए तत्पर हो गया। परन्तु उसके दो सम्बन्धियों ने 1671 में मुगलों के आधिपत्य को स्वीकार करके न केवल शिवाजी का विरोध किया अपितु फतहखाँ सीदी का विरोध भी किया। मुगलों की सहायता मिल जाने से सीदी शिवाजी से संघर्ष करते रहे। कई वर्षों तक युद्ध करने के बाद भी शिवाजी कोंकण प्रदेश पर तो अपना अधिकार रख सके, परन्तु **जंजीरा के टापू को जीतने अथवा सीदियों को अपने आधि-पत्य में लेने में असफल रहे।**

शिवाजी के अन्तिम दिनों में उनको पारिवारिक चिन्ताओं ने घेर लिया।

उनका बड़ा पुत्र शम्भाजी योग्य सिद्ध नहीं हुआ और 1678 में वह भागकर पहले मुगलों से और फिर बाद में बीजापुर से मिल गया, यद्यपि एक वर्ष बाद वह पुनः अपने पिता के पास ही वापस आ गया। परन्तु शिवाजी उसके चाल-चलन और व्यवहार से सन्तुष्ट न थे। उनका छोटा पुत्र राजाराम 10 वर्ष का बालक था और उसकी माता सोदराबाई उसी को छत्रपति बनाना चाहती थी। राजदरबार में शिवाजी के दो प्रमुख मन्त्री मोरोपन्त पिंगले और अन्नाजी दत्तो के परस्पर सम्बन्ध खराब चल रहे थे। ऐसी स्थिति में शिवाजी अपनी मृत्यु के पश्चात् अपने राज्य की सुरक्षा और अपने वंश के सम्मान की रक्षा के प्रति चिन्तित रहने लगे। परन्तु वह इन पारिवारिक और दरबार की समस्याओं का कोई हल न निकाल सके। अपने अन्तिम समय में उन्होंने एक बार फिर बीजापुर को मुगलों के विरुद्ध सहायता दी, परन्तु शिवाजी का अन्तिम समय निकट आ गया था। वह बीमार हो गये और करीब 12 दिन की बीमारी के पश्चात् 12 अप्रैल, 1680 को शिवाजी की मृत्यु हो गयी।

इस प्रकार, शिवाजी ने निरन्तर बीजापुर-राज्य और मुगलों की दक्षिण की ओर बढ़ती हुई शक्ति के विरुद्ध संघर्ष किया। उन्होंने अपने जीवन का आरम्भ बीजापुर में संघर्ष करते हुए किया क्योंकि वहीं से उनके राज्य का विस्तार सम्भव था। परन्तु बाद में उनका मुख्य संघर्ष मुगलों से रहा, क्योंकि मुगल दक्षिण-भारत में किसी भी स्वतन्त्र राज्य को सहन करने के लिए तत्पर न थे। अपने इस संघर्ष में उन्होंने सफलता भी पायी। अपनी मृत्यु के समय तक उन्होंने एक बड़े तथा स्वतन्त्र राज्य का निर्माण कर लिया था। शिवाजी के राज्य में महाराष्ट्र, कोंकण और कर्नाटक का पर्याप्त बड़ा भाग सम्मिलित था। उत्तर में रामनगर से लेकर दक्षिण में कारबार तक और पूर्व से बगलाना, आधा नासिक, पूना के किले, सतारा और कोल्हापुर का बहुत-सा भाग इसमें सम्मिलित था। पश्चिमी कर्नाटक का वह भाग जिसमें आधुनिक मैसूर का उत्तर-मध्यवर्ती और पूर्वी भाग था, बेलारी ज़िले का कुछ भाग और अर्काट शिवाजी के राज्य में सम्मिलित थे। अस्थायी रूप से उन्होंने कनारा-प्रदेश को भी जीता था। इतिहासकार सभासद के अनुसार शिवाजी के राज्य की आय एक करोड़ हूण प्रति वर्ष थी। इसके अतिरिक्त, शिवाजी निकट के क्षेत्रों से चौथ (वार्षिक लगान 1/5 भाग) वसूल करते थे जिससे उनकी आय 80 लाख हूण प्रति वर्ष थी। यह प्रदेश उनके प्रभाव-क्षेत्र के अन्तर्गत था। इस प्रकार, शिवाजी ने दक्षिण के एक विस्तृत भू-प्रदेश को अपने राज्य में सम्मिलित करने में सफलता पायी थी।

शिवाजी की इस सफलता के लिए विभिन्न कारण उत्तरदायी थे। शिवाजी की यह सफलता इतिहास की एक आश्चर्यजनक घटना मानी जा सकती है। शिवाजी को दक्षिण के बीजापुर-राज्य से संघर्ष करना पड़ा जो दुर्बल होते हुए भी दक्षिण का एक प्रमुख राज्य था। इसके अतिरिक्त, मुगल-साम्राज्य औरंगजेब के समय में अपनी शक्ति की चरम सीमा पर था। औरंगजेब शिवाजी को तो क्या, दक्षिण की शिया-रियासतों को भी समाप्त करने के लिए कटिबद्ध था। उसने शिवाजी के विरुद्ध अपने एक से एक योग्य सेनापतियों को भेजा, कूटनीति और चालाकी का प्रयोग किया, परन्तु तब भी शिवाजी न केवल अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने में ही सफल हुए अपितु उन्होंने मुगल सीमाओं से निरन्तर चौथ वसूल करने में भी सफलता पायी। यह शिवाजी की महान् सफलता थी। महाराष्ट्र की भौगोलिक परिस्थितियाँ शिवाजी के पक्ष में

थीं। 1664 में एक पत्र में उन्होंने लिखा था कि "मेरा देश 250 मील लम्बा और 50 मील चौड़ा एक ऐसा पहाड़ी भू-प्रदेश है जो 60 नवीन निर्मित किलों से सुरक्षित है................ईश्वर की कृपा से अभी तक कोई ऐसा व्यक्ति पैदा नहीं हुआ जिसकी आक्रमणकारी सेनाएँ इनमें प्रवेश कर सकी हों।"[1] महाराष्ट्र का पठारी प्रदेश शिवाजी की सुरक्षा के लिए सबसे बड़ा सहायक था और उनकी गुरिल्ला युद्ध-पद्धति के लिए सबसे अधिक उपयुक्त स्थल था। **शिवाजी ने हिन्दुओं की धार्मिक भावना और महाराष्ट्र की एकता अथवा राष्ट्रीय भावना का सदुपयोग किया।** शिवाजी ने अपना लक्ष्य और आदर्श इस प्रकार रखा कि वह हिन्दू धर्म, ब्राह्मणों और गायों के रक्षक माने गये। उनमें हिन्दुओं ने हिन्दू-स्वराज्य, 'हिन्दू-पादशाही' और हिन्दू सभ्यता की रक्षा तथा स्थापना का स्वप्न साकार करने वाला व्यक्ति पाया। इस कारण, शिवाजी बहुसंख्यक हिन्दुओं की सहानुभूति पा सके। जिस समय शिवाजी आगरा गये थे तब जयसिंह ने औरंगजेब को उनके जीवन की सुरक्षा के बारे में लिखा था। राजा जसवन्तसिंह शिवाजी से सहानुभूति रखते थे, गोलकुण्डा के वजीर मदन्ना और अकन्ना शिवाजी की सहायता के लिए तत्पर थे और राजपूत सरदार और सैनिक शिवाजी के विरुद्ध उत्साहपूर्वक लड़ने को तत्पर न थे। जब औरंगजेब ने 1679 में हिन्दुओं पर जजिया लगाया तब एकमात्र शिवाजी ही ऐसे व्यक्ति थे जिन्होंने उसका तीव्र विरोध करते हुए औरंगजेब को एक पत्र लिखा था। दक्षिण के अनेक सन्तों, जैसे तुकाराम, रामदास, बाबा याकूत, जयराम स्वामी, आदि ने प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से अपने शिष्यों को शिवाजी की सहायता करने की प्रेरणा दी थी। इसके अतिरिक्त, शिवाजी ने कभी किसी मस्जिद को नहीं तोड़ा, कभी कुरान का अपमान नहीं किया और न कभी मुस्लिम स्त्रियों और बच्चों का अपमान किया। इस कारण, मुसलमान भी शिवाजी से असन्तुष्ट न थे, और उनमें से अनेक उनका आदर भी करते थे। **शिवाजी का गुप्तचर-विभाग बहुत श्रेष्ठ था।** उनके गुप्तचरों से कई भाषाओं को जानने की और महाराष्ट्र के भू-प्रदेश की चप्पा-चप्पा भूमि से परिचित होने की आशा की जाती थी। इस कारण, शिवाजी को अपने शत्रुओं की स्थिति को जानने, चुपके से उन पर आक्रमण करने और चुपके से भाग निकलने में सरलता होती थी। **बीजापुर-राज्य की दुर्बलता शिवाजी की प्रारम्भिक प्रगति में सहायक हुई।** आरम्भ में अपने सरदारों के पारस्परिक मतभेदों और दुर्बलता के कारण बीजापुर कभी भी अपनी सम्पूर्ण शक्ति का प्रयोग शिवाजी के विरुद्ध न कर सका और, बाद में, औरंगजेब के भय ने उसे अनेक अवसरों पर शिवाजी की सहायता लेने के लिए बाध्य किया। **गोलकुण्डा-राज्य ने शिवाजी को अनेक अवसरों पर धन, सेना और तोपखाने से सहायता दी।** शिवाजी की कर्नाटक-विजय बिना गोलकुण्डा की सहायता के सम्भव न थी। **औरंगजेब का एक लम्बे समय तक उत्तर-भारत में व्यस्त रहना और दक्षिण-भारत में नियुक्त हुए उसके सरदारों का पारस्परिक मतभेद शिवाजी के लिए लाभदायक रहा।** औरंगजेब की धार्मिक नीति के कारण हुए विद्रोह, उसका राजपूतों से संघर्ष, उत्तर-पश्चिम

---

1 "My country has a hilly tract 250 miles long by 50 miles broad, defended by 60 newly built forts...By the grace of God, none has as yet been born whose invading troops could have penetrated it."
—*Shivaji.*

की सीमान्त-जातियों के विद्रोह, आदि के कारण मुगलों की सम्पूर्ण शक्ति का प्रयोग दक्षिण-भारत में नहीं हो सका। जो मुगल शाहजादे दक्षिण-भारत में भेजे गये वह सभी आराम-पसन्द थे और अनेक अवसरों पर तो उनके मुगल-सरदार भी बेईमान और झगड़ालू सिद्ध हुए। यह मुगलों की आन्तरिक दुर्बलता का ही परिणाम था कि शिवाजी मुगल-दरबार में मुगल बादशाह का अपमान करने के पश्चात् भी आगरा से भाग निकलने में सफल हुए, शाइस्ताखाँ पर उसके महल पर आक्रमण कर सके, मुगल सेनापतियों को परास्त कर सके, मुगलों के शहरों और खजानों को लूट सके और मुगलों की सीमाओं से चौथ वसूल कर सके। परन्तु, वास्तव में, शिवाजी की सफलता का मुख्य श्रेय उनके व्यक्तित्व और चरित्र को था। एक व्यक्ति, एक जन्मजात नेता, एक सैनिक, एक सेनापति, एक शासन-प्रबन्धक आदि सभी दृष्टियों से शिवाजी की योग्यता उनकी सफलता का मुख्य कारण थी।

B. शासन-प्रबन्ध

1. **राजा**—मध्य-युग के अन्य शासकों की भाँति शिवाजी एक सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न निरंकुश शासक थे। राज्य की सम्पूर्ण शक्तियाँ उनमें केन्द्रित थीं। वही राज्य के अन्तिम कानून-निर्माता, प्रशासकीय प्रधान, न्यायाधीश और सेनापति थे। परन्तु शिवाजी ने अपनी शक्तियों का प्रयोग अपनी स्वार्थ-पूर्ति के लिए नहीं किया, बल्कि वे एक प्रजापालक शासक रहे। इतिहासकार रानाडे ने कहा है कि "नैपोलियन की भाँति शिवाजी भी एक महान् संगठनकर्ता और सफल असैनिक शासन-प्रबन्धक थे।" शिवाजी के शासन की एक मुख्य विशेषता मराठी भाषा को राजभाषा बनाना तथा उसकी उन्नति के लिए पंडित हनुमन्ते के सभापतित्व में विद्वानों की एक समिति का निर्माण करना था जिसने एक शब्दकोश—**राज्य-व्यवहार-कोश**—का मराठी में निर्माण किया।

2. **अष्ट-प्रधान**—शासन में शिवाजी की सहायता के लिए आठ बड़े अधिकारी अथवा मन्त्री थे। वे एक मन्त्रि-परिषद् अथवा समिति की तरह से कार्य नहीं करते थे। प्रत्येक मन्त्री अपने-अपने विभाग का प्रधान था, और यह शिवाजी की इच्छा पर निर्भर करता था कि वे उनसे पृथक-पृथक अथवा सम्मिलित रूप से सलाह लें। उनकी सलाह को मानने के लिए भी शिवाजी बाध्य न थे। ये आठ प्रधान शिवाजी के सचिवों की भाँति कार्य करते थे। शिवाजी द्वारा दिये गये आदेशों का पालन करना और शासन की विस्तृत रूप से देखभाल करना उनका मुख्य उत्तरदायित्व था। शिवाजी वास्तव में, फ्रान्स के शासक लुई 14वें और प्रशा के शासक फ्रेडरिक महान् की भाँति स्वयं ही अपने प्रधानमन्त्री थे और शासन की सभी शक्तियों को अपने हाथों में केन्द्रित रखते थे। उनके इन आठ प्रधानों में पेशवा की स्थिति, निस्सन्देह, कुछ श्रेष्ठ थी, परन्तु शेष अन्य प्रधान किसी भी प्रकार पेशवा के अधीन न थे। उनमें से प्रत्येक का उत्तरदायित्व केवल शिवाजी के प्रति था। ये आठ प्रधान निम्नलिखित थे :

(i) **पेशवा अथवा मुख्य प्रधान**—इसका कार्य सम्पूर्ण राज्य के शासन की देखभाल करना था। राजा की अनुपस्थिति में उसके कार्यों की देखभाल करना, शासन में एकरूपता लाने के लिए शासन के अधिकारियों पर नियन्त्रण रखना और प्रजा के हितार्थ प्रयत्न करना उसका मुख्य उत्तरदायित्व था। राजा के सभी आदेशों और पत्रों पर राजा की मुहर के नीचे उसकी मुहर लगती थी।

(ii) अमात्य अथवा मजमुआदार—राज्य की आय और व्यय की देखभाल करना और राजा को उससे अवगत कराना इसका कार्य था :

(iii) मन्त्री अथवा वाकिया-नवीस—राजा के दैनिक कार्यों को लिखना, मिलने-जुलने वालों की देखभाल करना और राजा के जीवन की सुरक्षा की देखभाल करना इसका कार्य था।

(iv) सचिव अथवा शुरु-नवीस—राजा के पत्रों की भाषा और शैली को सुधारना तथा परगनों की आय और व्यय की देखभाल करना इसका कार्य था।

(v) सुमन्त अथवा दबीर—यह राजा का विदेश-मन्त्री था। राजा को सन्धि अथवा युद्ध के बारे में सलाह देना, विदेशों से समाचार प्राप्त करना, विदेशों में राजा के सम्मान की सुरक्षा, विदेशी राजदूतों की देखभाल और अपने राजदूतों को विदेशों में भेजना तथा उनकें कार्यों की देखभाल करना इसका कार्य था।

(vi) सेनापति अथवा सर-ए-नौबत– सेना की भर्ती, संगठन, शिक्षा, शस्त्रों और रसद की व्यवस्था करना आदि इसका कार्य था।

(vii) पण्डितराव—राजा की तरफ से विद्वान ब्राह्मणों को दान देना, धार्मिक कार्यों को निश्चित करना, पाप के लिए दण्ड देना, धर्म और जाति के झगड़ों का निर्णय करना और प्रजा के नैतिक चरित्र को सुधारना इसका कार्य था।

(viii) न्यायाधीश—सैनिक और असैनिक झगड़ों का हिन्दू-कानून के आधार पर न्याय करना, भूमि सम्बन्धी तथा गाँव के मुखिया के पद के झगड़ों का निर्णय करना इसका कार्य था।

सेनापति के अतिरिक्त, ये सभी प्रधान ब्राह्मण थे। पण्डितराव तथा न्याया-धीश के अतिरिक्त सभी को अवसर पड़ने पर सेनाओं का नेतृत्व करना पड़ता था। राज्य के सभी पत्रों, आदेशों और सन्धियों पर राजा और पेशवा के अतिरिक्त चार अन्य मन्त्रियों के हस्ताक्षर होते थे परन्तु उनमें सेनापति, पण्डितराव और न्यायाधीश सम्मिलित नहीं होते थे।

इन आठ प्रधानों के अतिरिक्त राज्य के पत्र-व्यवहार की देखभाल करने वाले चिटनिस और मुन्शी भी महत्वपूर्ण व्यक्ति थे। ये एक प्रकार से सचिव का कार्य करते थे। मुन्शी फारसी भाषा में लिखता था। शिवाजी के समय में बालाजी आवजी चिटनिस के रूप में और नीलोजी मुन्शी के रूप में बहुत सम्मानित समझे जाते थे। इन आठ प्रधानों की देखरेख में विभिन्न अधिकारी होते थे। प्रत्येक प्रधान को सहायता के लिए अनेक छोटे अधिकारियों के अतिरिक्त दावन, मजमुआदार, फडनिस, सबनिस, कारखानों (जैसे तोपखाना, जवाहरात-घर, नकदी धन, आदि) और 12 महलों (जैसे खजाना, व्यापारिक वस्तुएँ, घुड़साल आदि) की देखभाल भी इन आठ प्रधानों को करनी पड़ती थी और उनके सभी अधिकारी इनके अधीन थे। इस प्रकार, शिवाजी ने केन्द्र का शासन एक विस्तृत और सुनिश्चित योजना द्वारा किया था।

3. प्रान्त—शिवाजी का संगठित किया हुआ साम्राज्य तीन प्रान्तों में बँटा हुआ था। उनमें से प्रत्येक में एक प्रान्तपति अथवा सूबेदार की नियुक्ति की गयी थी। उत्तरी प्रान्त में डाँग, बगलाना, कोली प्रदेश, दक्षिणी सूरत, उत्तरी बम्बई का कोंकण प्रदेश और पूना की ओर का दणिणी पठार सम्मिलित था। यहाँ त्रिम्बक पिंगले की

नियुक्ति की गयी थी। दक्षिणी प्रान्त में दक्षिणी बम्बई का कोंकण प्रदेश, सावन्तवाडी और उत्तरी कनारा का समुद्र-तट सम्मिलित था। यह प्रान्त अन्नाजी दत्तो की अधीनता में था। दक्षिण-पूर्वी प्रान्त में सतारा और कोल्हापुर के जिले तथा कर्नाटक में तुंगभद्रा के पश्चिम में बेलगांव, धारवार और कोपल के जिले थे। यह प्रान्त दत्तोजी पन्त के अधिकार में था।

शिवाजी ने अपने अन्तिम समय में तुंगभद्रा के दूसरी ओर का कोपल से लेकर वेलूर और जिंजी तक का प्रदेश जीता था। इसमें मैसूर राज्य का उत्तर-मध्यवर्ती और पूर्वी भाग तथा मद्रास-राज्य के वेलारी, चित्तूर और अर्काट के जिले सम्मिलित थे। परन्तु इस प्रदेश का संगठन नहीं हो सका था और यहाँ उनके समय में सेना की शक्ति के आधार पर ही शासन चलाया जाता था। इसके अतिरिक्त, कनारा, दक्षिणी धारवार, सोन्धा और वेदनूर के प्रदेश ऐसे थे जहाँ से शिवाजी कर वसूल करते थे, परन्तु जिनके स्वामित्व के बारे में निर्णय नहीं हो सका था। ये शिवाजी की मृत्यु के निकट के समय में जीते गये प्रदेश थे।

4. **सेना और नौ-सेना**—शिवाजी की सेना का मुख्य भाग घुड़सवार और पैदल सेना थी। उनकी मृत्यु के अवसर पर उनकी सेना में 45,000 पागा (शाही घुड़सवार), 60,000 सिलेदार घुड़सवार तथा एक लाख मावले पैदल सैनिक थे। उनकी सेना में हाथी भी थे। सम्भवतया उनकी संख्या 300 के लगभग थी। उनके पास एक छोटा तोपखाना भी था।

पागा या शाही घुड़सवार को 'बरगीर' पुकारते थे। इन्हें राज्य की ओर से शस्त्र दिये जाते थे जबकि 'सिलेदार' घुड़सवार अपने घोड़ों और शस्त्रों को स्वयं खरीदते थे और कभी-कभी अपने साथ अपने साथियों को लाते थे तथा उनके शस्त्रों और घोड़ों का प्रबन्ध भी स्वयं करते थे। पागा-घुड़सवार सेना का नियमित संगठन था। 25 घुड़सवारों के ऊपर एक हवलदार, 5 हवलदारों के ऊपर एक जमादार, 10 जमादारों पर एक एकहजारी और पाँच एकहजारियों के ऊपर पंचहजारी अधिकारी होता था। सम्पूर्ण घुड़सवार सेना का प्रधान 'सर-ए-नौबत' कहलाता था।

इसी प्रकार पैदल-सेना में भी अधिकारियों का पद-विभाजन किया गया था। 9 सैनिकों या पाइकों का अधिकारी नायक, दस नायकों के ऊपर एक हवलदार, दो या तीन हवलदारों के ऊपर एक जुमलादार, दस जुमलादारों के ऊपर एक एकहजारी और सात एकहजारियों के ऊपर सातहजारी अधिकारी होता था। पैदल-सेना में पंचहजारी का पद न था। सम्पूर्ण पैदल-सेना का प्रधान पैदल-सेना का 'सर-ए-नौबत' होता था। शिवाजी के अंगरक्षक 2,000 मावली सैनिक थे जिनके वस्त्रों और हथियारों पर बहुत धन व्यय किया जाता था।

शिवाजी ने अपनी सेना में मुसलमान सैनिक भी रखे थे। बीजापुर की सेना से निकाले गये 700 पठान-सैनिकों को उन्होंने अपनी सेवा में अपने विभिन्न अधिकारियों की सलाह के विरुद्ध भी रख लिया था।

शिवाजी की सेना बहुत ही संगठित और नियमित थी। उसकी भर्ती, शिक्षा और नियन्त्रण का पूरा ध्यान रखा जाता था। सेना में भर्ती होने वाले व्यक्तियों को स्वयं शिवाजी देखते थे। प्रत्येक नवीन सैनिक को अपनी गवाही किसी एक अन्य सैनिक से दिलानी पड़ती थी। सैनिकों और अधिकारियों को अधिकांशतया नकद

वेतन दिया जाता था। पैदल-सेना के सैनिक और छोटे अधिकारियों का वेतन 3 रु. से 9 रु. प्रति माह और घुड़सवार-सेना में 6 रु. से लेकर 20 रु. प्रति माह तक था। पैदल-सेना के जुमलादार को 100 हूण प्रति वर्ष और एकहजारी को 500 हूण प्रति वर्ष मिलता था। घुड़सवार-सेना के जमादार को 500 हूण प्रति वर्ष और एकहजारी को 1,000 हूण प्रति वर्ष मिलता था। शिवाजी सैनिकों को ठीक समय पर वेतन देते थे। शिवाजी की सेना का नियन्त्रण कठोर था। किसी भी सैनिक को अपने साथ अनावश्यक सामान ले जाने का अधिकार न था। सैनिकों को आदेश थे कि वे खेतों और घरों के निकट आग न जलायें या हुक्का आदि न पियें। स्त्रियों अथवा नौकरों को सेना के साथ ले जाने की आज्ञा किसी को न थी। इन नियमों को तोड़ने वालों को कठोर दण्ड दिया जाता था। वर्षा के चार महीनों में सेना छावनी में ही रहती थी और आठ महीने के लिएं आक्रमण करने और रसद को एकत्रित करने के लिए बाहर निकलती थी। छावनी छोड़ने से पहले प्रत्येक सैनिक की वस्तुओं की गणना कर ली जाती थी और छावनी से वापस पहुँचने से पहले पुनः उनकी वस्तुओं की गणना की जाती थी जिससे सैनिक लूट के सामान को छिपाकर न रख सकें। आक्रमण के अवसर पर स्त्रियों और बालकों को मारना या सताना, ब्राह्मणों को लूटना, कृषि को बरबाद करना, आदि भी दण्डनीय था। इस प्रकार, शिवाजी ने सेना के नियन्त्रण के लिए विभिन्न नियम बनाये थे और वे कठोरता से लागू किये जाते थे। इन सभी के कारण शिवाजी की सेना एक शक्तिशाली सेना बन गयी थी।

शिवाजी की सैनिक-व्यवस्था में किलों की व्यवस्था एक मुख्य स्थान रखती थी। शिवाजी के राज्य में प्राय: 250 किले थे जो उनकी सुरक्षा और आक्रमणकारी नीति के प्रमुख आधार थे। इस कारण शिवाजी ने किलों की रक्षा के लिए विशेष प्रयत्न किये थे। प्रत्येक किले में तीन प्रमुख अधिकारी होते थे—एक हवलदार, एक सबनिस और एक सर-ए-नौबत। किले की रक्षा और शासन तीनों का संयुक्त उत्तर-दायित्व था। हवलदार और सर-ए-नौबत मराठा होता था और सबनिस ब्राह्मण होता था। इनके अतिरिक्त, किले की रसद और सैन्य-सामग्री की देखभाल के लिए एक अन्य अधिकारी होता था जिसे 'कारखाना-नवीस' पुकारते थे। यह आय और व्यय का पूर्ण विवरण रखता था। हवलदार को अपने अधीन अधिकारियों को पदच्युत करने, सरकारी पत्रों को लेने और भेजने, शाम को किले के फाटक बन्द करने और सुबह के समय फाटक खोलने और बीच-बीच में अनायास निरीक्षण करने का उत्तरदायित्व दिया गया था। सर-ए-नौबत को रात में किले की सुरक्षा और प्रहरियों की देखभाल का उत्तरदायित्व दिया गया था। सबनिस किले के असैनिक शासन की देखभाल करता था। इस प्रकार, विभिन्न अधिकारियों और विभिन्न जातियों के अधिकारियों की नियुक्ति करके शिवाजी ने यह प्रयत्न किया था कि किसी एक अधिकारी के शत्रु-पक्ष के साथ मिल जाने से किला शत्रुओं के हाथों में न चला जाय। शिवाजी ने विस्तृत रूप से यह निश्चित कर रखा था कि किस किले में कितने सैनिक होंगे, कितनी रसद होगी, कितने शस्त्र होंगे, फाटक को खोलने और बन्द करने का क्या समय होगा, इत्यादि। इन नियमों का कठोरता से पालन किया जाता था। इससे शिवाजी के किले जो प्राकृतिक ढंग से पहाड़ों पर बने हुए थे, सरलता से शत्रु के हाथों में नहीं जा सकते थे।

शिवाजी ने नौ-सेना का भी निर्माण किया था। कोंकण प्रदेश को जीतने के

पश्चात् जंजीरा के सीदियों के आक्रमण से अपने समुद्र-तट की रक्षा के लिए उन्हें उसका निर्माण करना आवश्यक हो गया था। सभासद के अनुसार, शिवाजी की नौ-सेना में विभिन्न प्रकार के 400 जहाज थे। यह जल-बेड़ा दो भागों में विभक्त था। दरिया सारंग और माई नायक दोनों में से प्रत्येक एक भाग का प्रधान था। कुछ वर्षों के पश्चात् शिवाजी को दो अन्य योग्य व्यक्तियों मिसरी और दौलतखाँ की सेवाएँ प्राप्त हो गयी थीं। शिवाजी की नौ-सेना विदेशी व्यापारियों, जंजीरा के सीदियों और औरंगजेब के लिए चिन्ता का कारण बन गयी थी। उसने अनेक अवसरों पर पुर्तगाली, डच और अंग्रेज जहाजों से टक्कर ली और खण्डेरी के द्वीप को सीदी और अंग्रेजों के संयुक्त आक्रमण से बचाने में सफलता पायी। इसके अतिरिक्त, शिवाजी ने एक बड़ी व्यापारिक नौ-सेना का भी निर्माण किया था जैसा कि डॉ. एस. एन. सेन ने लिखा है : "अपने तत्कालीन शासकों से भिन्न उस महान् मराठा ने यह समझ लिया था कि बिना एक शक्तिशाली व्यापारिक नौ-शक्ति के एक शक्तिशाली नौ-सेना का निर्माण असम्भव था।"[1] परन्तु तब भी शिवाजी की नौ-सेना यूरोपियनों की नौ-सेना की तुलना में दुर्बल थी। उसका मुख्य कारण उनकी नौ-सेना के पास तोपखाने का अभाव था। इसी दुर्बलता के कारण शिवाजी को जंजीरा के सीदियों के विरुद्ध सफलता प्राप्त न हो सकी। सूरत की अंग्रेज फैक्टरी के प्रधान ने यह मत व्यक्त किया था कि "एक अंग्रेजी जहाज अपने को बिना किसी खतरे में डाले हुए उनके एक-सौ जहाजों को बरबाद कर देगा।" इस कारण शिवाजी की नौ-सेना का मुख्य कार्य अपने समुद्र-तट की रक्षा करना, अपने तट पर आये हुए जहाजों से व्यापारिक कर वसूल करना और समुद्र-तट पर टूटे हुए जहाजों के सामान को अपने अधिकार में करने तक ही सीमित था।

5. **अर्थ-व्यवस्था और लगान-व्यवस्था**—मुद्रा, व्यापारिक कर और भूमि से लगान शिवाजी की आय के स्थायी साधन थे। परन्तु यह उनकी सेना और शासन के व्यय के लिए पर्याप्त न थे। इस कारण शिवाजी ने अपनी आय का मुख्य साधन 'चौथ' और 'सरदेशमुखी' को बनाया था। यह कर पड़ोसी राज्यों की सीमाओं और नगरों से अथवा अपने प्रभाव-क्षेत्र के नागरिकों से वसूल किये जाते थे। **'चौथ' उस प्रदेश की वार्षिक आय का एक-चौथाई भाग और 'सरदेशमुखी' उस प्रदेश की आय का 1/10वाँ भाग होता था।** श्री रानाडे के अनुसार ये कर शिवाजी कर देने वाले प्रदेश के नागरिकों की बाह्य आक्रमण से सुरक्षा के बदले में लिया करते थे। परन्तु डॉ. जदुनाथ सरकार, श्री सरदेसाई और डॉ. सेन के अनुसार शिवाजी ऐसा कोई उत्तरदायित्व अपने कन्धों पर नहीं लेते थे। शिवाजी इन प्रदेशों के शासन का उत्तर-दायित्व अपने ऊपर नहीं लेते थे और ये प्रदेश उनके राज्य की सीमाओं के अन्तर्गत नहीं आते थे। इन करों की वसूली शक्ति के आधार पर की जाती थी और इनका मुख्य लक्ष्य अपने शत्रु-राज्यों की सम्पत्ति से अपनी सेना और शासन के व्यय को पूरा करना था। ये कर शिवाजी की आय के मुख्य साधन थे और धीरे-धीरे ये शिवाजी और बाद में मराठा-शक्ति के विस्तार में सहायक हुए।

---

1 "Unlike many of his contemporaries, the great Maratha had realised that a strong naval power without a strong mercantile navy was an impossibility." — *Dr. S. N. Sen.*

शिवाजी की लगान-व्यवस्था रैयतवाड़ी थी जिसमें राज्य ने किसानों से सीधा सम्पर्क स्थापित किया था। शिवाजी ने जागीरें देने की प्रथा को अधिकांशतया नहीं माना था और यदि भूमि जागीर के रूप में दी गयी थी तो उसकी आय का हिसाब राज्य के कर्मचारी रखते थे और उसी के अनुरूप उस जागीरदार के वेतन में कमी कर दी जाती थी। इस प्रकार, लगान-व्यवस्था और भूमि की आय की देखभाल जागीरदार के हाथ में नहीं रहती थी अपितु राज्य के लगान अधिकारियों के हाथों में रहती थी। शिवाजी ने पहले के पैतृक लगान-अधिकारियों से, जो पाटिल, कुलकर्णी, देशमुख आदि कहलाते थे, लगान वसूल करने का अधिकार छीन लिया और उनके स्थान पर नवीन अधिकारी नियुक्त किये जिनको राज्य की ओर से वेतन मिलता था। एक तर्फ के लगान-अधिकारी को कारकुन या हवलदार पुकारा गया, एक प्रान्त से लगान एकत्रित करने वाले अधिकारी को सूबादार या मुखिया पुकारा गया और कई प्रान्तों के लगान-अधिकारी को सर-सूबादार पुकारा गया। शिवाजी ने यह समझा कि मलिक अम्बर द्वारा स्थापित की गयी लगान-व्यवस्था उनके राज्य के लिए सर्वथा उपयुक्त रहेगी। इस कारण थोड़े से परिवर्तन के साथ उसी व्यवस्था को उन्होंने अपने राज्य में लागू किया। इस व्यवस्था के अन्तर्गत प्रत्येक गाँव की भूमि पैमाइश की जाती थी और पैदावार का अन्दाजा किया जाता था। पैमाइश के लिए रस्सी के स्थान पर लकड़ी के डण्डे का प्रयोग किया गया था। इस पैमाइश के आधार पर प्रत्येक किसान की पैदावार का अन्दाजा लगाकर उससे लगान माँगा जाता था। आरम्भ में शिवाजी ने पैदावार का 33% लगान के रूप में माँगा परन्तु वाद में जब उन्होंने स्थानीय करों को समाप्त कर दिया तब वह पैदावार का 40% लेने लगे। शिवाजी ने प्रायः 40 स्थानीय करों से किसानों को मुक्त कर दिया था। यह देखते हुए 40% लगान कोई अधिक न था। इससे किसानों को लाभ हुआ क्योंकि वे अनिश्चित करों के भार से मुक्त हो गये। इसके अतिरिक्त, शिवाजी बाहर से आने वाले किसानों को मुफ्त भूमि देते थे और जब तक उस भूमि से समुचित पैदावार नहीं होने लगती थी तब तक उससे लगान नहीं लेते थे। इस प्रकार, शिवाजी ने किसानों को अपने राज्य में बसने के लिए प्रोत्साहन दिया था। नवीन किसानों को बीज और पशुओं की सहायता भी दी जाती थी जिसे सरकार धीरे-धीरे वापस लेती थी। शिवाजी लगान नकद और अन्न, दोनों ही रूपों में लेते थे।

लगान-व्यवस्था के लिए शिवाजी ने राज्य को सोलह प्रान्तों में बाँटा था। प्रान्तों को तर्फ और मौजों में बाँटा गया था। तर्फ का प्रधान कारकुन कहलाता था और प्रान्त का अधिकारी सूबेदार कहलाता था। कभी-कभी कई प्रान्तों की देखभाल के लिए एक सूबेदार की नियुक्ति भी की जाती थी। यद्यपि गाँव के प्राचीन पैतृक अधिकारी पाटिल और जिले के देशमुख अथवा देशपाण्डे पहले के अपने अधिकारों का उपयोग करते रहे थे, परन्तु शिवाजी ने लगान की देखभाल के लिए नवीन अधिकारियों की नियुक्ति की थी।

शिवाजी की यह लगान-व्यवस्था किसानों के लिए लाभदायक रही थी, इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता। जर्विस ने लिखा है : "यह कहा जाता है कि उपद्रव,

युद्ध और गैर-वफादारी के होते हुए भी लगान में वृद्धि हुई थी और प्रजा समृद्ध हो रही थी।"[1]

मि. पिंगले-कैनेडी ने भी लिखा है: "किसान यह जानते थे कि उन्हें क्या देना है, और वे उतना बिना किसी बड़ी क़ठोरता के देने की स्थिति में थे।"[2]

6. धार्मिक नीति—शिवाजी एक अच्छे हिन्दू थे। हिन्दू धर्म की उदारता की भावना को उन्होंने ठीक प्रकार समझा और उन्होंने अपने व्यवहार और नीति में उसका प्रयोग किया। समर्थ गुरु रामदास उनके आध्यात्मिक और धार्मिक गुरु थे। यह कहना तो उचित नहीं है कि गुरु रामदास ने शिवाजी के राजनीतिक उद्देश्यों के निर्माण में प्रमुख भाग लिया था, परन्तु यह कहना सत्य है कि शिवाजी पर गुरु रामदास का प्रभाव धर्म और सदाचार का था, और वे शिवाजी के प्रेरणा-स्रोत थे। शिवाजी ने हिन्दुओं, ब्राह्मण और गौरक्षा की दुहाई देते हुए भी अन्य धर्मों के प्रति पूर्ण सहिष्णुता का व्यवहार किया। वह दुर्गा-भवानी के पूजक थे, परन्तु उन्होंने किसी धर्म के पैगम्बर या देवता का अपमान नहीं किया। इस्लाम के साथ उनका व्यवहार बहुत उदार रहा। मुहम्मद और कुरान के प्रति उनका व्यवहार आदरपूर्ण था। जब भी उनको कुरान की पुस्तक प्राप्त हो जाती थी, वह उसे सम्मान से अपने मुसलमान साथियों को पढ़ने के लिए दे देते थे। उन्होंने कभी भी मस्जिदों को नहीं तोड़ा, मुसलमान स्त्रियों और बच्चों के प्रति युद्ध के अवसर पर भी सम्मानपूर्ण व्यवहार किया तथा मस्जिदों, मुस्लिम सन्तों और पीरों को आर्थिक सहायता दी। राज्य की सेवा में मुसलमानों को लिया गया था, उनकी सेना और नौ-सेना में मुसलमान थे तथा उन्हें योग्यतानुसार बड़े पद दिये गये थे। इतिहासकार खाफीखाँ भी, जो शिवाजी से सन्तुष्ट न था, उनकी धार्मिक नीति की प्रशंसा करता है।

इस प्रकार, शिवाजी का शासन-प्रबन्ध अत्यन्त श्रेष्ठ था। इतिहासकार स्मिथ जैसे इतिहासकारों का शिवाजी के राज्य को 'डाकू-राज्य' (Robber State) कहना सर्वथा अनुचित है। साम्राज्य-निर्माण के साथ एक अच्छी शासन-व्यवस्था की स्थापना शिवाजी को इतिहास के महान् व्यक्तियों में स्थान प्रदान करती है। शिवाजी के शासन-प्रबन्ध की श्रेष्ठता इस उदाहरण से भी सिद्ध होती है कि जब शिवाजी आगरा में औरंगजेब के द्वारा नजरबन्द किये गये थे, उस समय में उनके राज्य में कोई अव्यवस्था नहीं हुई और सम्पूर्ण शासन उसी प्रकार चलता रहा जैसा कि उनकी उपस्थिति में चलता था। इसे सर जदुनाथ सरकार ने 'मध्ययुगीन राजतन्त्र की एक अनोखी घटना' पुकारा है। एस. जी. रानाडे ने शिवाजी के असैनिक शासन-प्रबन्ध को निम्नलिखित विशेषताओं के कारण अन्य शासन-व्यवस्थाओं से पृथक माना है:

1. किलों के शासन-प्रबन्ध को विशेष महत्व देना।

---

1 "In the midst of all this confusion, warfare and general disloyalty the state of the revenue and population is said to have prospered."
—*Jervis.*

2 "The peasant knew what he had to pay and he seems to have been able to pay this without any great oppression."
—*Mr. Pingle Kennedy.*

2. किसी भी एक पद को एक ही परिवार तक सीमित न करना अथवा उस पद को पैतृक पद न बनाना।

3. अपने सैनिक और असैनिक अधिकारियों को जागीरें प्रदान न करना।

4. लगान-व्यवस्था में किसानों से सीधा सम्पर्क स्थापित करना।

5. ठेके पर भूमि न देना।

6. अष्ट-प्रधान का निर्माण जिसके प्रत्येक सदस्य को पृथक्-पृथक् कार्य दिया गया था तथा उनमें से प्रत्येक राजा और अपने सभी साथियों के प्रति अपने कार्यों के लिए उत्तरदायी था।

7. शासन में सैनिक अधिकारियों की तुलना में असैनिक अधिकारियों को अधिक श्रेष्ठता प्रदान करना।

8. शासन में ब्राह्मण, प्रभु, मराठा आदि सभी जातियों को सम्मिलित करके उनमें सन्तुलन बनाये रखने का प्रयत्न करना।

इस प्रकार, शिवाजी एक महान् राज्य-निर्माता ही न थे अपितु एक महान् शासन-प्रबन्धक भी थे।

C. एक स्थायी राज्य की स्थापना करने में शिवाजी की असफलता के कारण

शिवाजी की मृत्यु के 9 वर्ष पश्चात् ही उनके द्वारा स्थापित किया हुआ राज्य समाप्त हो गया, उनके द्वारा स्थापित की हुई शासन-व्यवस्था नष्ट हो गयी, जागीरदारी प्रथा पुनः आरम्भ हो गयी, पद पैतृक आधार पर दिये जाने लगे और हिन्दू-समाज की विभिन्न परम्परागत ऐतिहासिक और सामाजिक कुप्रवृत्तियों ने पुनः अपना सिर उठा लिया। इसके विभिन्न कारण थे।

यह कहा जा सकता कि शिवाजी का शासनकाल बहुत थोड़े समय का था। 1670 से 1680 तक का समय उन्हें शासन-व्यवस्था के लिए प्राप्त हुआ था क्योंकि उससे पहले का समय मूलतया राज्य-संस्थापन का समय था। परन्तु यह कारण उनके राज्य के पतन का मूल कारण नहीं माना जा सकता है। उनके राज्य के अस्थायी होने के मूल कारण कुछ अन्य थे। उनके हिन्दू-राज्य को सबसे पहला खतरा हिन्दू-रूढ़िवादिता से हुआ। शिवाजी (और बाद के समय में बाजीराव प्रथम) की सफलताओं ने हिन्दू-रूढ़िवादिता को प्रोत्साहन दिया जिससे जातिवाद और कर्मकाण्ड को बल प्राप्त हुआ। इससे मराठा-समाज की एकता नष्ट हो गयी, उसमें ऊँच-नीच की भावना आ गयी, ब्राह्मणों और मराठों की श्रेष्ठता का विवाद खड़ा हो गया और ये अन्तर इतने बढ़ गये कि पूर्व और पश्चिम के ब्राह्मण तथा पहाड़ों के निवासी और मैदानों के निवासी तक आपस में अन्तर मानने लगे। स्वयं शिवाजी को भी इस जातिवाद के अपमान को सहन करना पड़ा था। दक्षिण के ब्राह्मण उन्हें क्षत्रिय मानने को तैयार न थे। इसी कारण उन्होंने बनारस के पण्डित गागभट्ट को अपने राज्याभिषेक के लिए बुलाया था और इसी कारण वह बालाजी आवजी जैसे कायस्थ विद्वानों पर अधिक निर्भर करते थे। यह सभी बातें उनके राज्य की एकता और शक्ति में छिद्र करने वाली थीं। सर जदुनाथ सरकार ने लिखा है कि "जाति जनन-क्रिया के भाँति बढ़ती है। यह राष्ट्रीय एकता के विरोध में है। जिस मात्रा में शिवाजी का हिन्दू-स्वराज्य का आदर्श रूढ़िवादिता पर आधारित था, उसी मात्रा में

उसकी मृत्यु के बीज उसमें स्वयं ही निहित थे।''[1] शिवाजी मराठों की पारस्परिक प्रतिस्पर्धा और अपने 'वतनों' (जागीरों) से प्रेम करने की भावना को समाप्त नहीं कर सके। अपने व्यक्तित्व के कारण वह उनकी सीमित वफादारी और पारस्परिक कलह की भावना को दबाने और उसे एक बड़े आदर्श के लिए प्रेरित करने में अवश्य सफल हुए परन्तु वह उसे समाप्त नहीं कर सके। उनकी मृत्यु के पश्चात् मराठों की वे भावनाएँ पुनः जाग्रत होने लगीं। शिवाजी के शासन की एक दुर्बलता यह थी कि उन्होंने जन-साधारण की शिक्षा, भावात्मक एकता और सांस्कृतिक प्रगति के लिए ठोस कदम नहीं उठाये। उनका प्रभाव उनके स्वयं के व्यक्तित्व और चरित्र का था जो सफल तो हुआ परन्तु उसमें चिरस्थायी होने वाले तत्वों का अभाव रह गया। शिवाजी के शासन की एक दुर्बलता मध्य-युग के सभी शासकों की भाँति, मात्र राजा के चरित्र और योग्यता पर निर्भर रहने की थी। शिवाजी का उत्तराधिकारी शम्भाजी उनके समान योग्य सिद्ध न हुआ जिसके कारण जो शक्ति शिवाजी ने स्थापित की थी उसे वह यथावत् न रख सका। औरंगजेब का दक्षिण-भारत में आगमन और मुगल-साम्राज्य की विशाल शक्ति का प्रयोग दक्षिण के सभी राज्यों को नष्ट करने के लिए करना शिवाजी के द्वारा स्थापित किये हुए राज्य के विनाश का मूल कारण बना। मुगल-साम्राज्य की शक्ति और सामर्थ्य मराठा-राज्य की तुलना में बहुत श्रेष्ठ थी। जब उसका प्रयोग कटिबद्ध होकर नवीन स्थापित मराठा-राज्य के विनाश के लिए किया गया तो मराठा-राज्य स्थिर न रह सका। शिवाजी के कार्य का महत्व तो इसी बात से बहुत था कि मराठे अपने राज्य के पतन के पश्चात् भी अपनी स्वतन्त्रता की भावना को न भूल सके और महाराष्ट्र को स्वतन्त्र करने के लिए कटिबद्ध होकर वर्षों तक मुगलों से संघर्ष कर सके तथा अन्त में न केवल महाराष्ट्र को ही स्वतन्त्र कर सके अपितु मराठा-शक्ति के विस्तार के आधार का भी निर्माण करने में समर्थ हुए।

D. शिवाजी का चरित्र, मूल्यांकन और इतिहास में स्थान (शिवाजी एक राष्ट्र-निर्माता)

सरदेसाई ने शिवाजी के सम्बन्ध में लिखा है कि "निस्सन्देह शिवाजी का व्यक्तित्व अपने ही युग में नहीं अपितु सम्पूर्ण आधुनिक युग में भी असाधारण है। अन्धकार के राज्य में वह एक ऐसे नक्षत्र के समान चमकते हैं जो अपने समय से बहुत आगे था।''[2] शिवाजी का चरित्र और व्यक्तित्व मराठा इतिहासकार के इस कथन की पुष्टि करता है। शिवाजी का चरित्र प्रत्येक प्रकार से आदर्श माना जा सकता है। वे एक अच्छे पुत्र, वफादार मित्र, पत्नीप्रिय पति और प्रिय पिता थे। अपनी माता का वे अत्यधिक सम्मान करते थे। उनके चरित्र के विकास में उनकी माता का बहुत बड़ा

---

1 "Caste grows by fission. It is antagonistic to national union. In proportion, as Shivaji's ideal or Hindu Swaraj was based on orthodoxy, it contained within itself the seed of its own death."
—*Sir J. N. Sarkar.*

2 "Shivaji stands out unmistakably as a unique personality not only in his own time but in the modern age as a whole. In the midst of surrounding darkness, he shines forth as a brilliant luniciary far ahead of his days."
—*G. S. Sardesai.*

भाग रहा। दयालुता, सहिष्णुता, सद्व्यवहार, साहस, शौर्य, दृढ़-निश्चय, पवित्र विचार, आदि सभी गुण उनमें थे। अपने समय की परम्परा के अनुसार उन्होंने कई विवाह किये थे। परन्तु अपनी सभी पत्नियों के प्रति उनका व्यवहार प्रेम का रहा। शिवाजी ने शिक्षा प्राप्त नहीं की थी परन्तु अपने अनुभव से अच्छा व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त किया था। वह कुशल नीतिज्ञ, मनुष्यों के पारखी और परिस्थितियों के समझने वाले थे। शिवाजी एक अच्छे हिन्दू और दुर्गा-भवानी से पूजक थे। धर्म, धार्मिक ग्रन्थ और कहानियाँ उनके जीवन की प्रेरणा थे। उनका धर्म उनको सत्कार्य में लगाने वाला था। उनकी धार्मिक प्रवृत्ति एक पहाड़ी झरने की भाँति स्वच्छ जल को अविरल गति से बहाने वाली थी जिसमें धर्मान्धता की गन्दगी न थी। उन्होंने सभी धर्मों का सम्मान किया और उनके साथ समान व्यवहार किया। महाराष्ट्र के तत्कालीन धार्मिक आन्दोलनों और सन्तों से वे प्रभावित हुए थे और महाराष्ट्र का वह धार्मिक पुनर्जागरण इस बात पर आधारित था कि शक्ति के आधार पर लादी गयी मुसलमानी धार्मिक असहिष्णुता को बर्दाश्त न किया जाय। शिवाजी के व्यक्तित्व पर धार्मिक पुनर्जागरण की इस भावना का प्रभाव स्पष्ट था। शिवाजी एक कुशल और साहसी सैनिक थे। अनेक युद्धों में उन्होंने अपने जीवन को संकट में डाला था। अफजलखाँ से भेंट करना, शाइस्ताखाँ पर अचानक उसके शहर और निवास में प्रवेश करके आक्रमण करना और औरंगजेब से मिलने जाना उनके जीवन की ऐसी घटनाएँ हैं जो यह सिद्ध करती हैं कि शिवाजी अपने जीवन को खतरे में डालने से कभी नहीं झिझके। शिवाजी एक योग्य सेनापति थे। अपने देश की भौगोलिक परिस्थितियों के अनुकूल उन्होंने गुरिल्ला युद्ध-पद्धति का प्रयोग किया और सुरक्षा के लिए अनेक दुर्गों का निर्माण कराया। शिवाजी किसी भी प्रकार की मादक वस्तुओं का प्रयोग नहीं करते थे और स्त्रियों के प्रति उनका व्यवहार आदरपूर्ण था। एक बार जब उनके सैनिक एक सुन्दर मुसलमान युवती को पकड़कर उनके सामने लाये तो उन्होंने कहा कि "यदि मेरी माँ भी इतनी सुन्दर होती तो मैं भी सुन्दर होता" और उसके पश्चात् उस युवती को सम्मानपूर्वक उसके सम्बन्धियों के पास पहुँचा दिया गया। इस प्रकार, शिवाजी सभी मानवीय गुणों से पूर्ण थे, और अपने समय की नैतिकता से कहीं आगे थे।

शिवाजी ने एक स्वतन्त्र हिन्दू-राज्य की स्थापना करने में सफलता पायी और ऐसी परिस्थितियों में पायी जबकि औरंगजेब आलमगीर मुगल-साम्राज्य की सम्पूर्ण विशाल शक्ति को लेकर हिन्दू-राज्य को तो क्या, दक्षिण के शिया-राज्यों को भी समाप्त करने पर तुला हुआ था। निरन्तर बीजापुर और मुगलों से युद्ध करके शिवाजी ने अपनी एक साधारण जागीर को दक्षिण-भारत के बड़े राज्य में परिवर्तित कर दिया। इस कार्य को करने में वे अकेले थे। उनसे पहले किसी भी मराठा-सरदार ने अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने की कल्पना भी नहीं की थी। स्वयं शिवाजी के पिता शाहजी और संरक्षक कोंणदेव उनके इस विचार से सहमत न थे। यह कहना भूल होगी कि शिवाजी का राज्य एक ऐसा 'युद्ध-राज्य' (Krieg State) था, जो केवल युद्ध पर ही जीवित रह सकता था और युद्ध में ही आगे बढ़ सकता था। उनकी परिस्थितियाँ ही ऐसी थीं कि उन्हें अपने अस्तित्व को स्थापित करने और उसे दृढ़ रखने के लिए निरन्तर युद्धों में लगना पड़ा था। बिना बीजापुर से युद्ध किये उनके राज्य का निर्माण सम्भव न था और बिना मुगलों से युद्ध किये उनके

राज्य का अस्तित्व सम्भव न था। इस कारण युद्ध तो उन्होंने किये, परन्तु युद्ध के साथ-साथ स्थापित की गयी उनकी शासन-व्यवस्था इस बात को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है कि शिवाजी का लक्ष्य केवल 'युद्ध-राज्य' तक ही सीमित न था।

शिवाजी एक महान् शासन-प्रबन्धक थे। असैनिक और सैनिक, दोनों ही प्रकार की शासन-व्यवस्था में उन्होंने अद्‌भुत योग्यता का परिचय दिया। शिवाजी ने शासन में पूर्णतया नवीन अन्वेषण किये हों, यह तो स्वीकार्य नहीं है किन्तु उन्होंने दूसरों के ज्ञान से लाभ उठाकर अपनी इच्छानुसार उसमें परिवर्तन किये थे, इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता। अकबर जैसे महान् शासन-प्रबन्धक ने भी शेरशाह के शासन से बहुत कुछ सीखा था। इस कारण, शासन में नूतनता को जन्म देना ही एक शासक की योग्यता का मापदण्ड नहीं होता। शिवाजी की अष्ट-प्रधान व्यवस्था, उनकी लगान-व्यवस्था, देसाई और देशमुख जैसे पैतृक पदाधिकारियों को बिना हटाये हुए उनकी शक्ति और प्रभाव को समाप्त करके किसानों से सीधा सम्पर्क स्थापित करना, शासन में असैनिक अधिकारियों को महत्व देना और ऐसे शासन की स्थापना करना जो उनकी अनुपस्थिति में भी सुचारु रूप से चल सका, ऐसी बातें थीं जो उनके असैनिक शासन की श्रेष्ठता को सिद्ध करती थीं। उनकी सैन्य-व्यवस्था भी उतनी ही श्रेष्ठ थी। घुड़सवार-सेना और पैदल-सैनिकों में पदों का विभाजन, उनके वेतन को निश्चित करना, उनको ठीक समय से वेतन देना, उनकी भर्ती की स्वयं देखभाल करना, उनको योग्यतानुसार पद देना, आदि सभी कार्य ठीक थे। गुरिल्ला युद्ध-पद्धति का प्रयोग उनकी सफलता के लिए उत्तरदायी था, किलों की सुरक्षा का प्रबन्ध और उनके शासन की व्यवस्था शिवाजी की अपनी पृथक विशेषता थी, और आठ महीने सेना को आक्रमणकारी युद्धों में लगाये रखना उनकी सबसे अच्छी सैनिक शिक्षा थी। शिवाजी ने मराठा-सैनिकों को भारी हथियार रखने अथवा अधिक या भारी सामान साथ में ले जाने के लिए मना कर रखा था जिससे उनकी सेना की गतिशीलता बहुत अधिक थी जो उनकी सफलता का मुख्य कारण थी। मराठा-सैनिक स्त्रियों, दासियों, आदि को अपने साथ युद्ध में नहीं ले जा सकते थे, अनावश्यक लूट-मार नहीं कर सकते थे, कैम्प के नियमों का उल्लंघन नहीं कर सकते थे और लूट के माल को छिपा नहीं सकते थे। शिवाजी ने इन सभी से सम्बन्धित विस्तृत नियम बनाये थे जिनका पालन कठोरता से किया जाता था। इसी कारण, 17वीं सदी में शिवाजी की सेना अजेय बन गयी थी। यही नहीं अपितु शिवाजी ने एक अच्छी नौ-सेना के निर्माण का भी प्रयत्न किया था। शिवाजी की नौ-सेना अपने समुद्र-तट की रक्षा करने में ही समर्थ न थी अपितु व्यापार की सुरक्षा भी कर सकती थी। शिवाजी ने मराठी भाषा को राजभाषा बनाया था और एक राज्य-व्यावहारिक संस्कृत-कोश का भी निर्माण कराया था। इससे मराठी साहित्य के निर्माण में सहायता मिली।

परन्तु इनसे भी अधिक शिवाजी की महानता एक राष्ट्र-निर्माता के रूप में है। शिवाजी का महानतम कार्य हिन्दू मराठा-राष्ट्र का निर्माण करना और उनकी महानतम देन उनको स्वतन्त्रता की भावना प्रदान करना था। शिवाजी ने एक स्वतन्त्र हिन्दू-राज्य की स्थापना का विचार किया। दास रहकर बड़ी से बड़ी प्रतिष्ठा को स्वीकार करने के लिए वे तत्पर न थे। अपनी छह वर्ष की आयु में उन्होंने बीजापुर के सुल्तान के सम्मुख अपना सिर झुकाने से इन्कार कर दिया था और औरंगजेब के दरबार में अपने को असम्मानित अनुभव करके उन्होंने दरबार की

परम्पराओं को तोड़कर शक्तिशाली मुगल-बादशाह का उसके दरबार में ही (अप्रत्यक्ष तरीके से) अपमान कर दिया था। अपने कार्य को उन्होंने बिना किसी विशेष सहायता के आरम्भ किया और यह अनुभव करके कि बढ़ती हुई मुस्लिम-शक्ति का विरोध बिना मराठों की एकता के सम्भव नहीं है, उन्होंने मराठों को एक सूत्र में बाँधने का प्रयत्न किया। अपने आकर्षक व्यक्तित्व और अपनी प्रारम्भिक सफलताओं के कारण वे शीघ्र ही योग्य मराठों को अपने नेतृत्व में एकत्र करने में सफल हो गये। आभाजी, रघुनाथ बल्लाल, समरजीपन्त, प्रतापराव गूजर, हम्मीरराव मोहिते, शिन्दोजी निम्बालकर, सम्बाजी मोरे, तानाजी मौलसरे, सूर्यराव काकादे, सन्ताजी घोरपड़े, धानाजी जादव, खाण्डेराव दाभादे, पार्सोजी भौंसले, सयाजी भौंसले, नेमाजी सिन्धे, आदि अनेक ऐसे व्यक्ति थे जो शिवाजी के सहायक बने और जिनमें से अनेक ने शिवाजी की मृत्यु के पश्चात् मराठों का नेतृत्व किया। सभी वर्गों से आये हुए इन योग्य व्यक्तियों ने शिवाजी के हिन्दू-राज्य की सेवाएँ कीं। खतरे के अवसरों पर इनमें से एक भी अपने कर्तव्य से विमुख नहीं हुआ, एक ने भी अपने राजा से गद्दारी नहीं की, अनेक ने अपने कर्तव्य की पूर्ति करते हुए सन्तोष से अपने जीवन को युद्धों में समाप्त किया और इस प्रकार अपने त्याग और बलिदान से मराठा-राष्ट्र को जाग्रत करने में सहायता दी। शिवाजी की मुख्य सफलता राज्य-विस्तार और धन की प्राप्ति में उतनी नहीं थी जितनी कि मराठों को एकता और आत्मविश्वास प्रदान करने में थी। शिवाजी ने महाराष्ट्र और मराठा सरदारों को यह विश्वास दिलाया कि वे मुस्लिम शक्ति का सफलता से विरोध कर सकते थे, और यही वह विश्वास था जिसके कारण मराठों ने 22 वर्षों (1685-1707) तक दृढ़ता से औरंगजेब की विशाल शक्ति का मुकाबला किया और मुगलों की कमर तोड़ दी। शिवाजी और प्रायः उनके एक-सौ योग्य सरदारों की योग्यता और मुसलमानों से संघर्ष करके प्राप्त हुई सफलता का ही परिणाम था कि मराठा-राष्ट्र में एक नवीन साहस और आशा जाग्रत हुई थी तथा उनमें अपने संघर्ष करने की शक्ति और अपनी अन्तिम विजय में विश्वास उत्पन्न हुआ था। महादेव गोविन्द रानाडे ने लिखा है : "सूर्य की तरह तपता हुआ और अपने को नष्ट तक करने की त्याग की भावना से परिपूर्ण धार्मिक उत्साह, एक ऐसी साहस और संकट को उठाने की भावना जो इस विश्वास पर आधारित थी कि मनुष्य से बड़ी कोई शक्ति उसकी और उसके कार्य की रक्षा कर रही थी, एक श्रेष्ठ प्रतिभा का आकर्षण जो मनुष्यों को एकता प्रदान करता है और उन्हें विजय की ओर ले जाता है, समय की आवश्यकताओं को समझने की एक दुर्लभ सूक्ष्म-दृष्टि और अपने लक्ष्य के प्रति एक ऐसी वफादारी जिसे दुर्भाग्य की कोई पराजय समाप्त नहीं कर सकती थी, एक ऐसी तत्परता और साधनों को एकत्र करने की क्षमता जिसका उदाहरण बहुत कठिनाई से ही यूरोप अथवा भारत के इतिहास में पाया जा सकता है, एक ऐसी सच्ची राष्ट्र-भक्ति जो अपने समय से बहुत आगे थी और न्याय की एक ऐसी भावना जो दया से पूर्ण थी—ये शिवाजी की शक्ति का स्रोत थे जिनके कारण उन्होंने उस शक्ति का बीजारोपण किया जिसने उनके उत्तराधिकारियों के समय में उन सभी कार्यों की पूर्ति की जिनकी योजना उन्होंने बनायी थी और उन्होंने उनकी जाति को भारतीय इतिहास में एक महत्वपूर्ण अध्याय को सम्मिलित करने के योग्य बनाया।"[1]

---

1 "Religious favour, almost at white heat, bordering on the verge

इस सभी का श्रेय शिवाजी को था। उन्होंने अकेले ही अपने संघर्ष को आरम्भ किया था, अपने आप ही अपने समर्थकों को एकत्र किया था, स्वयं अपनी सेना का संगठन किया था और बिना किसी की सहायता के एक संगठित राज्य, एक व्यवस्थित शासन और एक अजेय सेना का निर्माण करने में सफलता पायी थी। शिवाजी से पहले मराठों की शक्ति दक्षिण के राज्यों में बिखरी हुई थी। उस समय तक मराठे या तो शान्तप्रिय किसान थे अथवा दक्षिण के मुसलमानी राज्यों में सैनिक या सरदारों की भाँति सेवा-कार्य कर रहे थे। मराठे इन राज्यों की सेवा में अपनी शक्ति, योग्यता, वफादारी और रक्त की आहुति दे रहे थे परन्तु उन्हें नेतृत्व का अधिकार न था, वे सन्धि अथवा युद्ध का निश्चय नहीं कर सकते थे और उनकी सेनाएँ अपनी सेनाएँ न थीं। शिवाजी ने मराठों की बिखरी हुई शक्ति को एकत्र किया और उनको एक राष्ट्र का स्वरूप दिया। शिवाजी ने उनको कट्टर और साहसी सैनिक, योग्य सेनापति और कुशल शासन-प्रबन्धक बनाया तथा उन्हें यह सिद्ध करके दिखाया कि वे स्वयं अपने मालिक थे और स्वयं शासन कर सकते थे। शिवाजी ने एक राष्ट्र का निर्माण किया, एक हिन्दू-राज्य का निर्माण किया और उस समय में किया जबकि मुगल-साम्राज्य अपनी शक्ति की चरम सीमा पर था। उनका मुकाबला मुगलों से ही नहीं बल्कि दक्षिण की महत्वपूर्ण शक्तियों, जैसे बीजापुर, पुर्तगाली और जंजीरा के सीदियों से भी था। शिवाजी पहले हिन्दू थे जिन्होंने मध्य-युग की बदलती हुई युद्ध की नैतिकता को समझा। उनके विरोधी इतिहासकार चाहे उन्हें 'डाकू' कहें, चाहे उन्हें विद्रोही सामन्त पुकारें और चाहे औरंगजेब ने उनको 'पहाड़ी चूहा' कहकर अपनी सन्तुष्टि कर ली हो परन्तु शिवाजी ने हिन्दू युद्ध-नीति की नतिकता में एक नवीन अध्याय जोड़ा कि 'युद्ध जीतने के लिए लड़ा जाता है न कि शौर्य-प्रदर्शन के लिए।' उन्होंने युद्ध-नीति को अमानवीय, अनैतिक अथवा शौर्यरहित नहीं बनाया था अपितु समय के अनुकूल उसके लक्ष्य को एक मोड़ दिया था जो उचित और आवश्यक था। डॉ. सरकार के अनुसार उन्होंने "आधुनिक समय में भारत में ऐसी कुशलता और जीवन-शक्ति का परिचय किसी अन्य हिन्दू ने नहीं दिया। अपने उदाहरण से उन्होंने यह सिद्ध कर दिया कि हिन्दू-जाति एक राष्ट्र का निर्माण कर सकती है, राज्य स्थापित कर सकती है, शत्रुओं को परास्त कर सकती है, कला और साहित्य की रक्षा कर सकती है, व्यापार और उद्योगों की उन्नति कर सकती है और एक ऐसी

---

of self-abnegation, a daring and adventurous spirit born of a confidence that a higher power than man's protected him and his work, the magnetism of superior genius, which binds men together and leads them to victory, a rare insight into the real needs of the times and steadfastness of purpose, which no adverse turn of fortune could conquer, a readiness and resourcefulness rarely met with either in European or Indian history, true patriotism, which was far in advance of the time and a sense of justice tempered with mercy—these were the sources of the strength that enabled Shivaji to sow the seeds of a power which accomplished in the hands of his successors all that he had planned out, and enabled his race to write a chapter in Indian history to some purpose."
—*M. G. Ranade.*

नौ-सेना का भी निर्माण कर सकती है जो विदेशी नौ-सेना का मुकाबला करने में समर्थ हो सकती है।" शिवाजी ने अपने आदर्श और जीवन के उदाहरण से हिन्दुओं को अपने पूर्ण विकास का मार्ग बताया। उनकी धार्मिक सहनशीलता आधुनिक समय के लिए भी उदाहरण-स्वरूप है। शक्ति और साम्राज्य को संचय करने के बाद, औरंगजेब द्वारा जाग्रत किये गये धर्मान्धता के वातावरण में भी इस्लाम और मुसलमानों के प्रति उनका व्यवहार और मुसलमानों की वफादारी प्राप्त करने में उनकी सफलता अनुकरणीय है। शिवाजी, निस्सन्देह, महान् थे। इतिहासकार सर जदुनाथ सरकार ने लिखा है : "मैं उन्हें हिन्दू जाति द्वारा उत्पन्न किया हुआ अन्तिम महान् क्रियात्मक व्यक्ति और राष्ट्र-निर्माता मानता हूँ।"[1] उन्होंने पुनः लिखा है : "शिवाजी ने यह प्रमाणित करके दिखा दिया कि हिन्दुत्व का वृक्ष वास्तव में मरा नहीं है अपितु वह सदियों की राजनीतिक दासता, शासन से पृथकता और कानूनी अत्याचार के पश्चात् भी पुनः उठ सकता है, उसमें नवीन पत्ते और शाखाएँ आ सकती हैं और वह एक बार फिर आकाश में सिर उठा सकता है।"[2] इस प्रकार, शिवाजी का हिन्दू मराठा-राष्ट्र के निर्माण में सहयोग और हिन्दू मराठा-शक्ति के उत्थान में महत्वपूर्ण योगदान है।

[3]
शम्भाजी (1680-1689 ई.)

शिवाजी ने सात स्त्रियों से विवाह किया था। उनकी पहली पत्नी साईबाई थी जिसने शिवाजी के सबसे बड़े पुत्र शम्भाजी और एक पुत्री अम्बिकाबाई को जन्म दिया था। उनकी मृत्यु शिवाजी से पहले हो गयी। उनकी दूसरी पत्नी पुतलीबाई थी जिससे शिवाजी के कोई सन्तान न थी और जो अपने पति के साथ सती हुई। उनकी तीसरी पत्नी सूर्याबाई थी जिसने राजाराम नामक पुत्र और दीपाबाई नाम की कन्या को जन्म दिया था। उनकी चौथी पत्नी सकवारबाई थी जिसने कमलजाबाई नामक पुत्री को जन्म दिया। उनकी पाँचवीं पत्नी लक्ष्मीबाई से कोई सन्तान न थी। उनकी छठी पत्नी सगुनाबाई की केवल एक पुत्री नानीबाई थी। उनकी सातवीं पत्नी गुनवन्ताबाई के कोई सन्तान न थी। (फल्टन राज्य के प्रपत्रों में शिवाजी की एक और कन्या का नाम मिलता है जिसका नाम सखुबाई था।)

शम्भाजी शिवाजी का सबसे बड़ा पुत्र था। शिवाजी ने उसका लालन-पालन ठीक प्रकार से किया था। परन्तु वह आरम्भ से ही अभिमानी, क्रोधी और भोग-विलासी हो गया था। अपनी मृत्यु के अवसर पर शिवाजी ने उसे पन्हाला के किले में कैद कर रखा था। रायगढ़ में शिवाजी के मन्त्रियों ने शम्भाजी को अयोग्य मान कर उसके छोटे और सौतेले भाई राजाराम को छत्रपति बनाने का निर्णय किया और

---

1 "I regard him as the last great constructive genius and nation-builder that the Hindu race has produced." —*Sir J. N. Sarkar.*

2 "Shivaji has shown that the tree of Hinduism is not really dead, that it can rise from beneath the seemingly crushing load of centuries of political bondage, exclusion from the administration and legal repression, it can put forth new leaves and branches, it can again lift up its head to the skies." —*Sir J. N. Sarkar.*

गुप्त रूप से इसकी तैयारी की। परन्तु इस गुप्त समझौते में सेनापति हम्मीरराव मोहिते को सम्मिलित नहीं किया गया था। इस कारण, शम्भाजी ने अपने आप को पन्हाला के किले से मुक्त कर लिया और सेनापति हम्मीरराव मोहिते की सहायता से रायगढ़ को जीत लिया। उसने राजाराम, उसकी माता सूर्याबाई तथा पुराने पेशवा, सचिव और सुमन्त को बन्दीगृह में डाल दिया और जुलाई 1680 में गद्दी पर अधिकार कर लिया। गद्दी पर बैठने के समय से जो क्रूरता और विलासिता उसने आरम्भ की, वह उसकी मृत्यु तक चली। 1681 में औरंगजेब का विद्रोही पुत्र अकबर शम्भाजी से सहायता माँगने दक्षिण-भारत पहुँचा। शम्भाजी ने उसे सुरक्षा तो दी परन्तु उसकी कोई विशेष सहायता न कर सका। 1682 में औरंगजेब लगभग तीन लाख की विशाल सेना लेकर दक्षिण-विजय की अपनी चिर अभिलाषा की पूर्ति के लिए स्वयं दक्षिण-भारत पहुँचा। 1686 में बीजापुर और 1687 में गोलकुण्डा को जीतने के पश्चात् औरंगजेब ने अपनी सम्पूर्ण शक्ति शम्भाजी के विरुद्ध लगा दी। शम्भाजी ने साहसपूर्वक मुगलों का मुकाबला किया परन्तु अन्त में अपनी असावधानी के कारण 1689 में अपने मन्त्री कवि कलश के साथ पकड़ा गया। औरंगजेब ने उससे अपने समस्त किलों और खजाने को मुगलों को सौंप देने की माँग की। शम्भाजी ने इन माँगों को ठुकराकर औरंगजेब की पुत्री से विवाह करने का प्रस्ताव रखा। औरंगजेब के आदेश से कई दिनों तक कठोर यातनाएँ देने के पश्चात् शम्भाजी को कत्ल कर दिया गया और उसके शरीर के टुकड़े-टुकड़े करके कुत्तों को डाल दिया गया। इस प्रकार शिवाजी के पुत्र का अन्त हुआ।

शम्भाजी योग्य सैनिक और साहसी था; परन्तु वह विलासी और क्रूर था। उसमें राजनीतिज्ञता का अभाव था। उसने औरंगजेब के पुत्र अकबर की सहायता करके मुगल-साम्राज्य को दुर्बल करने का प्रयत्न नहीं किया और न उसने शिवाजी द्वारा संगठित राज्य की शक्ति को बढ़ाने का प्रयत्न किया। शम्भाजी स्वयं असफल रहा परन्तु उसके असम्मान और मृत्यु के अवसर पर प्रकट किये गये उसके साहस ने मराठा-राष्ट्र को मुगलों से संघर्ष करने की प्रेरणा दी। मराठे अपने राजा की मृत्यु का बदला लेने के लिए एक सूत्र में बँध गये और उन्होंने राजाराम के नेतृत्व में मराठा स्वतन्त्रता-संग्राम को प्रारम्भ किया।

[4]
मराठा स्वतन्त्रता संगाम (1689-1707 ई.)

शम्भाजी की मृत्यु के पश्चात् मराठों ने रायगढ़ में उसके भाई राजाराम को मराठा-छत्रपति घोषित किया। राजाराम की आयु उस समय लगभग 20 वर्ष की थी।

राजाराम (1689-1700) और शिवाजी द्वितीय (तथा ताराबाई) (1700-1707)

शम्भाजी की विधवा पत्नी येसूबाई ने राजाराम को विशालगढ़ भाग जाने की सलाह दी और उसने स्वयं रायगढ़ की सुरक्षा का प्रबन्ध किया। राजाराम विशालगढ़ भाग गया और मुगलों ने रायगढ़ पर अधिकार कर लिया। यहीं पर येसूबाई और उसके पुत्र शाहू को कैद किया गया और उन्हें औरंगजेब के पास भेज दिया गया। राजाराम को विशालगढ़ से भी भागना पड़ा और उसने कर्नाटक जाकर जिंजी के किले में शरण ली। प्रायः सम्पूर्ण महाराष्ट्र पर मुगलों का अधिकार हो गया और

औरंगजेब का दक्षिण-भारत को ज़ीतने का सपना साकार हो गया। उस समय ऐसा प्रतीत हुआ कि शिवाजी का सम्पूर्ण परिश्रम बेकार हो गया। परन्तु उसी समय जबकि यह प्रतीत हुआ कि सभी कुछ खो चुका है, शिवाजी द्वारा स्थापित की गयी राष्ट्र की भावना स्पष्ट हुई। असम्मान और दुर्भाग्य की उन परिस्थितियों ने ऐसे राष्ट्रभक्तों को खड़ा कर दिया जिन्होंने शिवाजी की धरोहर को अपने चरित्र में प्राप्त किया था। मराठों ने दृढ़ता और साहस से मुगलों की विशाल शक्ति को एक बार फिर चुनौती दी और अपने देश की स्वतन्त्रता के लिए कटिबद्ध हो गये। यहाँ से मराठों का स्वतन्त्रता-संग्राम आरम्भ हुआ जो उस समय तक चलता रहा जब तक कि मराठों ने महाराष्ट्र को स्वतन्त्र नहीं कर लिया और शाहू को मराठा-छत्रपति स्वीकार नहीं कर लिया गया। आरंभ में राजाराम ने इस संघर्ष का नेतृत्व किया। राजाराम ने अपने पिता से कुछ महान् गुण प्राप्त किये थे। वह दृढ़-निश्चयी और स्वतन्त्रताप्रिय था तथा उसका सबसे बड़ा गुण यह था कि वह विश्वास कर सकता था और विश्वास पा सकता था। वह अनेक वफादार और योग्य व्यक्तियों को अपने निकट एकत्रित कर सका। उसने स्वयं को राजा भी नहीं माना। उसका कहना था कि वह तो शाहू (जो औरंगजेब की कैद में था) का प्रतिनिधि मात्र था। इस समय उसे प्रहलाद नीराजी, रघुनाथपन्त हनुमन्ते और रामचन्द्र नीलकण्ठ जैसे कुशल नीतिज्ञ और सन्ताजी घोरपड़े तथा धानाजी जादव जैसे महान् सेनापति प्राप्त हुए। इनके अतिरिक्त, इस समय में अनेक ऐसे मराठा सरदारों का उत्कर्ष हुआ जिन्होंने मुगलों की शक्ति की कमर तोड़ दी।

इस युद्ध में राजाराम ने मराठा-सरदारों को अपनी सेना एकत्रित करने, मुगलों से अपनी इच्छानुसार युद्ध करने और जिस भूमि को वह जीत सकें, उस भूमि को अपनी जागीर बनाने की स्वतन्त्रता और अधिकार दे दिया। इससे अनेक मराठा सरदारों को प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। विभिन्न मराठा-सरदार अपनी-अपनी सेनाओं को लेकर विभिन्न स्थानों पर आक्रमण और युद्ध करने लगे। एक युद्ध द्वारा इस संघर्ष का निर्णय सम्भव न था। स्थान-स्थान पर मराठा सरदार मुगल सेना पर आक्रमण करते थे, अवसर पाने पर उन्हें परास्त करते थे, उनकी रसद को लूटते थे और अवसर न होने पर भाग जाते थे। औरंगजेब की सेना इस प्रकार के युद्ध के लिए तत्पर न थी और न वह मराठों से इस युद्ध में मुकाबला कर सकी। जब मुगल सेना ने जिंजी पर अधिकार किया तब राजाराम विशालगढ़ भाग गया और जब विशालगढ़ पर आक्रमण हुआ तो वह सतारा भाग गया। इसी प्रकार, मराठे कभी कर्नाटक में थे तो कभी महाराष्ट्र में, और जब वह पठारी प्रदेश से भगा दिये गये तो उन्होंने मालवा और गुजरात के उपजाऊ प्रदेशों पर आक्रमण करना आरम्भ कर दिया। मराठे सभी जगह थे और कहीं पर नहीं थे। एक ही युद्ध में अपनी शक्ति और भाग्य का निर्णय करने के लिए वे तैयार न थे और सम्मान तथा असम्मान का प्रश्न उनके सामने न था। महाराष्ट्र से मुगलों को निकालना उनका लक्ष्य था, चाहे उसका तरीका कुछ भी हो। जन-साधारण की सहानुभूति उनके साथ थी और दिन का किसान रात का सैनिक था। मराठों के इस संघर्ष की आत्मा महाराष्ट्र की जनता थी जिसने मुगलों द्वारा किये गये विनाश को सहन करते हुए अपने सरदारों और नेताओं को जीवन, धन और शक्ति दी। एक प्रकार से महाराष्ट्र का प्रत्येक व्यक्ति सैनिक था, प्रत्येक घर मराठा सैनिकों का सुरक्षा-स्थल था और प्रत्येक गाँव मुगलों के विरुद्ध

एक किला था। मुगल सतारा को पुनः अपने अधिकार में करने में सफल हो गये और इसी समय राजाराम की मृत्यु हो गयी (1700)। परन्तु मराठों ने अपने संघर्ष को समाप्त नहीं किया।

राजाराम की मृत्यु के पश्चात् उसकी विधवा पत्नी ताराबाई ने अपने चार वर्षीय पुत्र को 'शिवाजी द्वितीय' के नाम से गद्दी पर बैठाया और मुगलों से संघर्ष करती रही। ताराबाई एक योग्य और महत्वाकांक्षी स्त्री थी। विशालगढ़ और पन्हाला के किलों पर मराठों का आधिपत्य पहले ही स्थापित हो चुका था। अब उसके नेतृत्व में मराठों ने अन्य स्थानों को भी जीतने का प्रयत्न किया। औरंगजेब इस युद्ध में सफल न हो सका। वह और उसकी सेना हताश हो गयी। मराठों और मुगलों में सन्धि की चर्चा भी हुई परन्तु उसका कोई परिणाम न निकला और संघर्ष चलता रहा। धीरे-धीरे मराठों ने बसन्तगढ़, सिंहगढ़, रायगढ़, सतारा आदि, किलों को जीत लिया और उन्होंने दूर-दूर के प्रान्तों बुरहानपुर, सूरत, भड़ौंच जैसे समृद्ध नगरों पर आक्रमण करने आरम्भ कर दिये। ऐसी ही परिस्थितियों में जबकि मराठे महाराष्ट्र को स्वतन्त्र करने में ही नहीं बल्कि मुगल प्रदेशों पर आक्रमण करने, और औरंगजेब की छावनी तक को लूटने में सफलता पा रहे थे, मार्च 1707 में औरंगजेब की मृत्यु हो गयी। मराठों का यह स्वतन्त्रता-संग्राम प्रायः 20 वर्ष तब तक चला जब तक कि मुगलों ने शाहू को मराठों का छत्रपति स्वीकार नहीं कर लिया।

इस स्वतन्त्रता-संग्राम ने औरंगजेब और मुगलों की सैनिक शक्ति को दुर्बल बना दिया। इससे मराठों को अनेक योग्य राजनीतिज्ञ और साहसी सेनापति प्राप्त हुए और इससे मराठों की सैनिक शक्ति तथा महत्वाकांक्षाओं का विस्तार हुआ।

[5]
छत्रपति शाहू (1707-1749 ई.)

शाहू शम्भाजी का पुत्र था। रायगढ़ के पतन के पश्चात् उसे और उसकी माता येसुबाई को औरंगजेब ने कैद कर लिया। उस समय उसकी आयु 7 वर्ष थी। 17½ वर्ष तक शाहू मुगलों का बन्दी रहा था और यह आशा नहीं की जाती थी कि वह कभी भी मराठों का राजा बन सकेगा। परन्तु औरंगजेब की पुत्री जीनतुन्निसा की कृपा से वह मुसलमान होने या वध किये जाने से बच गया। मुगल-शिविर में ही उसने मराठी और हिन्दी की शिक्षा तथा साधारण तरीके की सैन्य-शिक्षा प्राप्त की।

औरंगजेब की मृत्यु होने पर उसके पुत्रों में उत्तराधिकार का युद्ध आरम्भ हुआ। उस समय शाहू आजमशाह की कैद में था। आजमशाह के सलाहकार जुल्फिकारखाँ ने उसे (आजमशाह को) शाहू को महाराष्ट्र वापस जाने देने की सलाह दी। उसका विचार था कि इससे मराठों में फूट पड़ जायेगी। उस समय तक राजाराम की विधवा पत्नी ताराबाई अपने पुत्र शिवाजी द्वितीय का मराठा राजा के रूप में राज्याभिषेक कर चुकी थी। शाहू के महाराष्ट्र पहुँचने से यह सम्भव था कि शाहू के पक्ष में भी अनेक मराठा-सरदार हो जाते और मराठों में गृह-युद्ध आरम्भ हो जाता। आजमशाह इस विषय में निश्चय तो न कर सका परन्तु 18 मई, 1707 को जब शाहू ने मुगल-शिविर को छोड़कर महाराष्ट्र की ओर प्रस्थान किया तब उसने उसे रोकने का कोई प्रयत्न नहीं किया।

महाराष्ट्र में शाहू का स्वागत हुआ और कई मराठा सरदार उसकी सहायता के लिए तत्पर हो गये। परन्तु ताराबाई ने शाहू को मराठा-राजा स्वीकार करने से इन्कार कर दिया। उसका कहना था कि शाहू के पिता शम्भाजी ने मराठा-राज्य को खो दिया था और इस समय के मराठा-राज्य का निर्माण उसके पति राजाराम ने किया है, अतः इस राज्य का अधिकारी उसके पति राजाराम का पुत्र शिवाजी द्वितीय है न कि शाहू। इस कारण मराठी सरदार आपस में विभाजित हो गये और जुल्फिकारखाँ की योजना सफल हुई। ताराबाई ने धानाजी जादव के नेतृत्व में एक सेना शाहू को महाराष्ट्र से निकालने के लिए भेजी। शाहू ने कूटनीति से धानाजी जादव को अपने पक्ष में कर लिया जिससे तारावाई का पक्ष अत्यन्त दुर्बल हो गया। नवम्बर 1707 में भीमा नदी के किनारे खेद नामक स्थान पर एक युद्ध हुआ जिसमें ताराबाई की पराजय हुई। इस विजय से शाहू का सितारा चमक गया। उसे धानाजी जादव जैसा योग्य सेनापति प्राप्त हो गया तथा अन्य अनेक मराठा सरदार भी उसके साथ हो गये। 12 फरवरी, 1708 को सतारा में उसने अपना राज्याभिषेक किया। तारावाई की शक्ति क्षीण होती गयी। 1714 में राजाराम की दूसरी पत्नी राजसबाई ने एक षड्यन्त्र करके ताराबाई और उसके पुत्र को कैद कर लिया और अपने पुत्र शम्भाजी द्वितीय के साथ कोल्हापुर में बस गयी। इस प्रकार, यद्यपि शम्भाजी द्वितीय भी मराठों का राजा बनने का दावा करता रहा और कोल्हापुर में मराठा-राजा की भाँति ही रहा परन्तु महाराष्ट्र में शाहू मराठों का राजा रहा। शाहू के शासनकाल में मराठा-शक्ति का विस्तार हुआ और मराठे दक्षिण-भारत में ही नहीं अपितु उत्तर-भारत में भी प्रवेश कर गये और शीघ्र ही भारत की सबसे बड़ी शक्ति बन गये। दिसम्बर 1749 में शाहू की मृत्यु हुई।

[6]

पेशवाओं का उत्थान और मराठा-शक्ति का विस्तार

शाहू अन्तिम मराठा राजा था जिसने राजाओं के अधिकारों का उपयोग किया। उसके बाद के मराठा राजा केवल नाम के राजा रहे। राज्य की सम्पूर्ण शक्ति पेशवाओं के हाथों में केन्द्रित हो गयी। जनवरी 1750 में रामराजा मराठा-राजा बना जिसे ताराबाई ने अपने पुत्र शिवाजी द्वितीय का पुत्र बतलाया था। रामराजा पर ताराबाई का कठोर नियन्त्रण था किन्तु जब रामराजा ने उसके प्रभाव से मुक्त होने का प्रयत्न किया तब तारावाई ने बताया कि वह शिवाजी द्वितीय का पुत्र नहीं है। इस कारण, पेशवा बालाजी बाजीराम ने संगोला के समझौते के द्वारा रामराजा को राज्य के सभी प्रमुख अधिकार उसे सौंप देने के लिए बाध्य किया और इस प्रकार मराठा-राज्य की सम्पूर्ण शक्ति पेशवा के हाथों में चली गयी और शिवाजी के वंशज नाममात्र के राजा तथा व्यावहारिक दृष्टि से सतारा के किले में पेशवा के बन्दी रह गये।

सरदेसाई के अनुसार, शाहू मराठों का सबसे महत्वपूर्ण शासक था। वह समय के अनुकूल राजा था। उस समय एक उदार विचार वाले, मन्त्रियों में विश्वास करने वाले, मुगलों के साथ अच्छे सम्बन्ध रखने वाले और दो मराठा-परिवारों में एकता लाने वाले राजा की आवश्यकता थी। सरदेसाई के अनुसार शाहू ऐसा ही राजा था। शाहू एक उदार, धार्मिक प्रवृत्तिवाला, सहनशील और अपने नागरिकों की

भलाई चाहने वाला राजा था। वह कृपालु था, उसमें अच्छे व्यक्तियों को खोजने और उन्हें उनकी योग्यता के अनुसार कार्य देने की क्षमता थी। इसी कारण, उसने बालाजी विश्वनाथ को पेशवा नियुक्त किया, उसके पश्चात् उसके 20 वर्ष के पुत्र बाजीराव को पेशवा बनाया और तदुपरान्त उसके अल्पायु पुत्र बालाजी बाजीराव को। शाहू को स्वयं सत्ता का शौक़ न था, अतएव वह शासन और शक्ति दोनों का प्रयोग पेशवाओं के हाथों में छोड़कर सन्तुष्ट था। परन्तु शाहू में व्यावहारिक बुद्धि थी। इसी कारण, वह पेशवाओं को सम्पूर्ण अधिकार प्रदान करने के बाद भी राजा के अधिकारों का उपभोग कर सका। उसे विश्वास प्रदान करना और विश्वास प्राप्त करना, दोनों आते थे। इस कारण, पेशवा निरन्तर उसका सम्मान करते रहे और उसकी आज्ञाओं का पालन करते रहे। पेशवाओं को कार्य करने की स्वतन्त्रता प्रदान करके वह अप्रत्यक्ष रूप से मराठा-शक्ति के विस्तार का साधन बना। वह जानता था कि जो योग्यता उसमें न थी, वह उसके पेशवाओं में थी। अतएव उसने निरन्तर उनका समर्थन किया और राज्य की शक्ति को उनके हाथों में देने में कोई संकोच नहीं किया। मुगलों के प्रति शाहू सर्वदा उदार रहा। वह दिल्ली और सतारा के मध्य कोई संघर्ष नहीं चाहता था। धार्मिक दृष्टि से वह बहुत उदार था और सभी धर्मों का सम्मान करता था। अपनी प्रजा के हित का भी शाहू ध्यान रखता था। उसने कृषि की उन्नति का प्रयास किया था और अनेक बेकार करों को हटा दिया था। इस प्रकार, शासक की दृष्टि से शाहू में अनेक गुण थे और इसी कारण वह जीवनपर्यन्त सफ़ल रहा।

परन्तु शाहू स्वयं न तो शासन-प्रबन्धक था और न योग्य सेनापति। उसने स्वयं न तो कभी शासन-प्रबन्ध में रुचि दिखायी और न किसी युद्ध में भाग लिया। ये कार्य उसने पेशवाओं को सौंप दिये। इस प्रकार, शाहू अप्रत्यक्ष रूप से पेशवाओं के उत्थान और मराठा-राजा की शक्ति के पतन के लिए भी उत्तरदायी बना। पेशवाओं की भक्ति मराठा-राजा के प्रति न होकर शाहू राजा के लिए थी। इस कारण, जब तक शाहू जीवित रहा तब तक वे उसका सम्मान करते रहे और उसकी आज्ञा का पालन भी। परन्तु शाहू की मृत्यु के पश्चात् पेशवा अपनी शक्ति को नाममात्र के मराठा-राजा को देने को तैयार न हुए। निस्सन्देह, पेशवाओं ने अपनी शक्ति शाहू की कृपा से प्राप्त की थी, परन्तु उन्होंने अपनी योग्यता से उसे सुरक्षित रखा था और उसका विस्तार किया था। अपने श्रम से प्राप्त की हुई शक्ति को पेशवा अयोग्य मराठा-राजा को देने को तत्पर न हुए। परन्तु पेशवा के उत्थान ने अन्य मराठा सरदारों को भी शक्ति प्राप्त करने के लिए प्रोत्साहित किया। वस्तुतः पेशवा भी एक सरदार ही तो था जब वह इतनी अधिक शक्ति पा सकता था तब अन्य सरदार भी पा सकते थे। इस भावना से पेशवा की शक्ति के दुर्बल होते ही मराठा-सरदार आपस में विभक्त हो गये जो उनके पतन का मुख्य कारण बना। इस प्रकार, अपनी कुछेक अयोग्यताओं के कारण शाहू ने मराठा-राजा के सम्मान को खो दिया जो मराठों के पतन का मुख्य कारण बना। इस प्रकार, शाहू का व्यक्तित्व एक तरफ मराठा-शक्ति के विस्तार और दूसरी तरफ मराठों के पतन का कारण बना।

पेशवाओं के उत्थान के कारण

शाहू के समय में महाराष्ट्र की राजनीतिक समस्याएँ अत्यन्त गम्भीर थीं। अच्छा आन्तरिक शासन, नागरिकों को शान्तिपूर्ण जीवन प्रदान करना, गृह-युद्ध को समाप्त करना और एक सुसंगठित, स्थायी और शक्तिशाली राज्य की स्थापना करना

ऐसे कार्य थे जो शाहू या ताराबाई के द्वारा सम्भव नहीं हो सकते थे। इनमें से शाहू एक आरामपसन्द, शान्तिप्रिय और सद्भावनाओं से युक्त व्यक्ति था और ताराबाई कठोर, स्वार्थी और संकुचित दृष्टिकोण की स्त्री थी। शिवाजी द्वारा स्थापित मन्त्रि-परिषद् अर्थात् अष्ट-प्रधान भी एक दुर्बल संस्था थी और औरंगजेब के आक्रमण के कारण वह प्राय: नष्ट हो चुकी थी। उसमें नीति को निर्धारित करने अथवा उसे कार्य-रूप में परिणत करने की क्षमता न थी। ऐसी स्थिति में जबकि शाहू दुर्बल था, मराठा-सरदारों की महत्वाकांक्षाएँ और स्वार्थ एक-दूसरे से टकरा रहे थे तथा मराठों की शक्ति बिखरी हुई थी, 'चितपावन' ब्राह्मण-परिवार के सदस्यों को आगे बढ़ने का अवसर प्राप्त हुआ। वे शाहू के नवीन पेशवा बने और उन्होंने समय के अनुकूल योग्यता प्रदर्शित करके मराठा-राज्य को उस समय की राजनीतिक दुर्व्यवस्था से बाहर निकाला। कोंकण प्रदेश के सौन्दर्य और वहाँ के जीवन से प्रभावित शाहू के प्रथम तीन पेशवा योग्य शासन-प्रबन्धक, साहसी सेनापति, महत्वाकांक्षी व्यक्ति और परिस्थितियों को समझने वाले तथा मराठा-शक्ति का संगठन करने वाले राजनीतिज्ञ सिद्ध हुए। शाहू के सभी सरदारों से वे योग्य सिद्ध हुए और इसी कारण वे मराठा-राज्य में सर्वशक्तिशाली बन गये। उस समय जबकि महाराष्ट्र में स्वार्थ, धन-लोलुपता और संकीर्ण वफ़ादारी ने अपनी जड़ें जमा ली थीं, इन पेशवाओं ने महाराष्ट्र के सम्मुख एक महान्, उच्च आदर्श, सेवा तथा परिश्रम का उद्देश्य प्रस्तुत किया और वह था 'हिन्दू पदपादशाही' का लक्ष्य। राजवाड़े (Rajwade) ने जब पेशवाओं के उद्देश्य को ब्राह्मण-प्रभुसत्ता को स्थापित करना बताया तब वह उसकी एक बड़ी भूल थी। पेशवाओं का उद्देश्य उससे कहीं विशाल और महान् था। उस समय महाराष्ट्र 25 वर्षों के युद्धों से परेशान हो चुका था, उसका नागरिक जीवन समाप्त-प्राय: था, उसकी आर्थिक स्थिति संकटमय थी और नागरिक राजनीतिक अस्थिरता से परेशान थे। उस समय उनकी एकाकी माँग शान्ति और व्यवस्था थी। शाहू और उसकी 'अष्ट-प्रधान सभा' इस कार्य की पूर्ति न कर सके। इस कारण, पेशवाओं का उत्कर्ष हुआ और इसी कारण वे महान् बने। पेशवाओं ने महाराष्ट्र को न केवल राजनीतिक स्थायित्व और शान्ति प्रदान की अपितु उनकी दृष्टि उत्तर-भारत के सम्पन्न और उपजाऊ प्रदेश की ओर भी आकर्षित की। उन्होंने महाराष्ट्र को संकीर्ण झगड़ों से हटाकर उत्तर-भारत की महान् विजय की ओर लगाया, और इस कारण मराठा-शक्ति भारत की सर्वश्रेष्ठ शक्ति बन सकी। यह पेशवाओं की मराठा-राज्य और महाराष्ट्र को एक महान् देन थी। अपनी योग्यता से पेशवाओं ने वह कर दिखाया जो उस समय की पुकार थी और जिससे मराठा-शक्ति का सदुपयोग हो सका। अपनी ही योग्यता से पेशवा पहले अष्ट-प्रधान की शक्ति से ऊपर उठ सके और बाद में मराठा-राजा से भी ऊपर हो गये। पेशवा बालाजी, पेशवा बाजीराव और पेशवा बालाजी बाजीराव (द्वितीय) निस्सन्देह महान् थे। मराठा-शक्ति का विस्तार उन्हीं के कारण हुआ।

1. पेशवा बालाजी विश्वनाथ (1713-1720 ई.)

बालाजी विश्वनाथ का जन्म कोंकण प्रदेश के श्रीवर्धन गाँव में 'चितपावन' ब्राह्मणों के भट्ट-परिवार में 1660 के लगभग हुआ। उसके पिता और पूर्वज जंजीरा के सीदियों के अधीन अपने गाँव के देशमुख (प्रधान) थे। उसके पिता ने सीदियों के अत्याचारों के कारण शिवाजी के यहाँ नौकरी कर ली थी। अपने पिता की मृत्यु के

जीवन और कार्य

पश्चात् बालाजी अपने गाँव वापस चला गया, परन्तु उसे वहाँ से भागना पड़ा। 1692 में वह दन्दराजपुरी गाँव का देशमुख बना और उस पद पर रहकर उसने लगान-व्यवस्था और सेना के संगठन को समझा। बाद में वह मराठा-सेनापति धानाजी जादव की सेवा में चला गया और 1699 से 1708 के बीच वह पूना और दौलताबाद का सर-सूबेदार रहा। यहाँ पर उसे शाहू के सम्पर्क में आने का प्रथम अवसर प्राप्त हुआ। शाहू इस समय औरंगजेब की कैद में था। औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् धानाजी जादव की ओर से उसने गुजरात पर आक्रमण किया और अहमदाबाद के नागरिकों से 2,10;000 रुपये वसूल किये। इससे यह स्पष्ट होता है कि उसमें सैनिक और सेनापति की योग्यताएँ भी थीं।

जिस समय शाहू ने महाराष्ट्र में प्रवेश किया, उस समय बालाजी दौलताबाद का सर-सूबेदार था। उसने धानाजी जादव को शाहू का साथ देने की सलाह दी और अपने स्वामी के साथ-साथ वह भी 1707 से शाहू की सेवा में चला गया। धानाजी जादव की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र चन्द्रसेन शाहू का सेनापति बना परन्तु शाहू उस पर पूर्ण भरोसा नहीं करता था और इस बात के प्रमाण भी हैं कि शाहू का सन्देह ठीक था क्योंकि शाहू का सेनापति होते हुए भी चन्द्रसेन ताराबाई से पत्र-व्यवहार कर रहा था। इस कारण, शाहू ने बालाजी को 1708 में 'सेनाकार्टे' का पद दिया जिससे वह सेना के संगठन की देखभाल करने के साथ-साथ चन्द्रसेन पर भी दृष्टि रख सके।

जिस समय से बालाजी ने शाहू की सेवा स्वीकार की, तभी से वह हृदय, बुद्धि और कर्म से शाहू का सच्चा सेवक बन गया। सेनापति चन्द्रसेन 1711 में शाहू के विरुद्ध ताराबाई से जा मिला और उसी वर्ष उसके कहने से 'सर-ए-लश्कर' हैबतराय निम्बालकर भी शाहू का साथ छोड़ गया। उसी समय शाहू को अपने मन्त्री परसराम पन्त पर भी सन्देह हुआ और उसने उसे कैद कर लिया। इस प्रकार, जबकि शाहू के सभी उच्च अधिकारी ताराबाई से मिले हुए प्रतीत होते थे, केवल बालाजी शाहू का पूर्ण विश्वासपात्र था। उस कठिनाई में बालाजी ने अपने कौशल एवं चातुर्य से शाहू की स्थिति को दृढ़ किया। उसने ताराबाई के विरुद्ध हो रहे षड्यन्त्र में भाग लिया। इस समय राजाराम की दूसरी पत्नी राजसबाई ने ताराबाई के मुख्य सलाहकार और अमात्य रामचन्द्र पन्त से मिलकर ताराबाई को हटाने का प्रयत्न किया। बालाजी ने इसमें उनकी सहायता की। इस षड्यन्त्र से कोल्हापुर में ताराबाई की शक्ति समाप्त हो गयी। उसे और उसके पुत्र को जेल में डाल दिया गया और राजसबाई ने अपने पुत्र के पक्ष में गद्दी प्राप्त कर ली यद्यपि उसका राज्याभिषेक उसने दो वर्ष बाद किया। इस प्रकार, शाहू की मुख्य शत्रु ताराबाई का पतन हुआ और सेनापति चन्द्रसेन हैदराबाद के निजाम के यहाँ भाग गया।

शाहू की स्थिति को दृढ़ बनाना

कुछ ही वर्षों में बालाजी ने शाहू की स्थिति को दृढ़ कर दिया। 1713 में बालाजी को पेशवा का पद दिया गया। इस पद पर रहकर बालाजी ने शाहू की महत्वपूर्ण सेवाएँ कीं। सबसे पहली समस्या कान्होजी आँग्रिया की थी। वह एक प्रकार से मराठा नौ-सेना का सेनापति था और पश्चिमी घाट का संरक्षण उसके हाथ में था। वह नाममात्र के लिए ताराबाई की संरक्षकता में था अन्यथा पूर्ण स्वतन्त्र था। वह अपने समय का महान् सफल नौ-सेनापति था और उससे यूरोपीय जातियाँ भी डरती

थीं। 'मराठी रियासत' में लिखा है : "सभी राष्ट्रों और जातियों के नाविक—मुसलमान, डच, पुर्तगाली, फ़ान्सीसी और अँग्रेज—इस समुद्री डकैत सरदार के सुर्ख लाल रंग के झण्डों का सम्मान करते थे।"[1] इसमें सन्देह नहीं कि कान्होजी के विरुद्ध पुर्तगाली, अँग्रेज और सीदियों के लगातार किये गये प्रयत्न असफल हुए थे। ऐसे व्यक्ति को शाहू की सेवा में लाना सरल कार्य न था। परन्तु बालाजी ने कूटनीति से काम लिया और कान्होजी से भेंट करके 1714 में उसने एक सन्धि कर ली जिससे यद्यपि कान्होजी के अधिकारों को स्वीकार कर लिया गया परन्तु कान्होजी ने शाहू को अपना राजा स्वीकार कर लिया। इसके अतिरिक्त, कृष्णराव खटाऊकर, धामाजी थोरट तथा उदाजी चौहान जैसे शक्तिशाली एवं स्वतन्त्र मराठा सरदारों को परास्त करना और शाहू की स्थिति को दृढ़ करने का श्रेय भी बालाजी को है। शक्ति के साथ कूटनीति का प्रयोग बालाजी की इन विभिन्न सफलताओं का कारण था।

परन्तु बालाजी की एक मुख्य सफलता 1719 में मुगलों से की गयी सन्धि थी। शाहू सर्वदा मुगल शासकों का भक्त रहा और जो भी मुगल शासक रहा, उसके प्रति उसने सम्मान प्रदर्शित किया। परन्तु उस समय मुगल दरबार की स्थिति बहुत खराब थी और वह षड्यन्त्रों का केन्द्र बना हुआ था। तत्कालीन मुगल बादशाह फर्रुखसियर सैयद-भाइयों की सहायता से बादशाह बना था। परन्तु जब वह बादशाह बन गया तब उसने सैयद-भाइयों को समाप्त करने का षड्यन्त्र रचा। उस अवसर पर सैयद हुसैनअली दक्षिण-भारत में था। उसके भाई सैयद अब्दुल्लाखाँ ने उसे शीघ्र दिल्ली बुलाया। उस अवसर पर फर्रुखसियर के विरुद्ध अपनी शक्ति को दृढ़ करने के लिए हुसैनअली ने मराठों से सहायता माँगी और उसके बदले में एक सन्धि की जो बाद में मुगल बादशाह के द्वारा स्वीकार कर ली गयी। इस सन्धि द्वारा निश्चित किया गया कि—

मुगलों की सन्धि

1. मुगल बादशाह शाहू को वे सभी प्रदेश और किले दे देगा जो शिवाजी के 'स्वराज्य' की सीमाओं के अन्तर्गत आते थे।
2. शाहू खानदेश, बरार, गोंडवाना, हैदराबाद और कर्नाटक के उन प्रदेशों को भी प्राप्त करेगा जो मराठों ने अभी जीते थे।
3. शाहू को दक्षिण के छह सूबों से चौथ और सरदेशमुखी वसूल करने का अधिकार होगा।
4. शाहू दक्षिण के इन सूबों में शान्ति स्थापित रखेगा।
5. शाहू कोल्हापुर के शम्भाजी को तंग नहीं करेगा।
6. शाहू मुगल बादशाह को दस लाख रुपया प्रति वर्ष देगा।
7. मुगल बादशाह शाहू की माता, पत्नी, भाई आदि को, जो अभी तक मुगलों की कैद में थे, छोड़ देगा।
8. शाहू इस अवसर पर मुगलों को 15,000 घुड़सवार सैनिक देगा।

---

1 "The seafarers of all nations and all races—Muhammadans, the Dutch, the Portuguese, the French and the English, honoured the blood-red banners of this pirate chief."
--Dr. Sinha, 'Rise of the Peshwas,' *Marathi Riyasat*, Vol. 1.

यह सन्धि अत्यन्त महत्वपूर्ण थी। इससे शाहू को दक्षिण-भारत में चौथ और सरदेशमुखी एकत्र करने का अधिकार मात्र ही नहीं मिला अपितु दक्षिण के छह सूबों में शान्ति स्थापित करने का अधिकार प्राप्त करने से अप्रत्यक्षतः दक्षिण की सम्प्रभुता भी उसे प्राप्त हो गयी। बालाजी और खाण्डेराव दाभादे के नेतृत्व में मराठा सैनिक पहली बार दिल्ली गये और उनकी सहायता से सैयद-भाइयों ने बादशाह फर्रुखसियर को सिंहासन से हटा दिया।

मराठों की यह दिल्ली-यात्रा बहुत महत्वपूर्ण सिद्ध हुई। इससे उन्हें मुगल-साम्राज्य का खोखलापन स्पष्ट हो गया और इसके पश्चात् ही मराठों में उत्तर-विजय की भावना जागी। यद्यपि यह कार्य बालाजी के समय में पूरा न हो सका, परन्तु उसके पुत्र बाजीराव ने आरम्भ से ही अपना उद्देश्य उत्तर-भारत की विजय रखा।

बालाजी ने राज्य की आर्थिक व्यवस्था को ठीक करने का प्रयत्न अवश्य किया परन्तु वह उसमें सफल नहीं हो सका। मराठों की आर्थिक व्यवस्था के अनुसार मराठे मुगल सूबों से चौथ और सरदेशमुखी वसूल करते थे या कुछ अन्य कर लेते थे।

आर्थिक व्यवस्था

इनमें से सरदेशमुखी पर राजा का अधिकार था और चौथ तथा वतनों (Watans) की आय में से राजा को केवल 25% प्राप्त होता था। शेष 75% में से 9% राजा और ले लेता था लेकिन यह उसे अपने प्रिय सरदारों को देना पड़ता था। इस प्रकार, सरदेशमुखी को छोड़कर राज्य की कुल आय का 66% भाग मराठा सरदारों के पास रहता था जिन पर शासन का कोई अधिकार न था। राजा की जो आय थी उससे सेना रखना और शासन करना असम्भव था। इस कारण, राजा सर्वदा सरदारों की सद्भावनाओं पर निर्भर करता था। इस स्थिति में बालाजी कोई परिवर्तन न कर सका। मूलतः व्यवस्था वही रही यद्यपि विभिन्न अधिकारियों की नियुक्ति करके उसने राजा की आय को ठीक प्रकार प्राप्त करने का प्रयत्न अवश्य किया। परन्तु इससे कोई लाभ नहीं हुआ। इसके अतिरिक्त, बालाजी ने एक भूल और की। राजा की कम आय की पूर्ति करने के लिए उसने राजाओं के विभिन्न व्यक्तिगत खर्चों का दायित्व विभिन्न सरदारों पर डाल दिया। इससे राजा को थोड़ी आर्थिक सुविधा तो हुई परन्तु इससे राजा आर्थिक दृष्टि से अपने सरदारों पर अधिक आश्रित हो गया। इस प्रकार, मराठा-राजा की आर्थिक दुर्बलता को दूर करने के स्थान पर बालाजी ने उसमें वृद्धि ही की।

2 अप्रैल, 1720 को बालाजी विश्वनाथ की मृत्यु हुई।

बालाजी विश्वनाथ ने अपना जीवन स्वयं बनाया था। वह एक साधारण व्यक्ति से पेशवा के पद तक पहुँचा और उसने पेशवा के पद और सम्मान में इतनी अधिक वृद्धि कर दी कि अन्त में पेशवा मराठा राजा से भी अधिक शक्तिशाली हो गये।

मूल्यांकन

इस कारण, बालाजी का स्थान पेशवाओं में बहुत महत्वपूर्ण है। बालाजी अपने समय का एक योग्य कूटनीतिज्ञ था। उसे अपने समय की परिस्थितियों और मराठों के गुणों व अवगुणों का बहुत अच्छा ज्ञान था और यही उसकी सफलता के मुख्य कारण बने। शाहू की स्थिति को महाराष्ट्र में दृढ़ करने का श्रेय उसी को था। उसी ने धानाजी जादव को शाहू के साथ मिलाया, चन्द्रसेन सेनापति को परास्त किया, ताराबाई की स्थिति को दुर्बल बनाया, बाद में कोल्हापुर के मराठा-राजा

शम्भाजी द्वितीय की स्थिति को दुर्बल बनाया तथा विभिन्न मराठा सरदारों और मुख्यतया कान्होजी आँग्रिया को कौशल, कूटनीति अथवा बल से शाहू के साथ मिलाया। इस प्रकार, शाहू की शक्ति को महाराष्ट्र में स्थापित करना, मराठों को एक बड़े गृह-युद्ध से बचाना और मराठा-शक्ति को एक राजा के अन्तर्गत संगठित करना बालाजी का ही कार्य था।

1719 में मुगलों के साथ की गयी सन्धि बालाजी की कूटनीति की एक महान् सफलता थी। इससे महाराष्ट्र पर शाहू का कानूनी अधिकार हो गया और उसे दक्षिण के छह सूबों से चौथ और सरदेशमुखी एकत्र करने का अधिकार मिला जिससे मराठा दक्षिण के संप्रभु बनने का दावा कर सके और इसी के पश्चात् मराठों को मुगल-साम्राज्य की दुर्बलता का पता लगा जिससे उनके साहस में वृद्धि हुई और वे दिल्ली की राजनीति में हस्तक्षेप कर सके तथा मुगल-साम्राज्य की दुर्बलता का लाभ उठा सके।

बालाजी ने मराठा-संघ के निर्माण को आगे बढ़ाया जिससे मराठों की शक्ति का विस्तार हुआ यद्यपि अन्त में वह उनकी बहुत बड़ी दुर्बलता भी सिद्ध हुई। शिवाजी के साम्राज्य के नष्ट हो जाने के पश्चात् मराठा स्वतन्त्रता संग्राम के अवसर पर जब विभिन्न सरदारों को जागीरें दे दी गयीं जिनको वह स्वयं अपनी शक्ति से जीत सकते थे, उस समय मराठा-संघ (Maratha Confederacy) की नींव पड़ी। बालाजी के समय में जब मराठों ने दक्षिण के छः सूबों से चौथ और सरदेशमुखी वसूल करने का अधिकार प्राप्त किया तब उनकी वसूली के लिए बालाजी को भी जागीर-प्रथा का सहारा लेना पड़ा और इस प्रकार, विभिन्न जागीरों को प्राप्त करके बड़े-बड़े स्वतन्त्र सरदारों के प्रभुत्व की स्थापना होती गयी और धीरे-धीरे मराठा-राज्य एक न रहा अपितु मराठा संघ-राज्य बन गया।

इस प्रकार से बालाजी ने मराठा-साम्राज्यवाद के विचार को भी जन्म दिया। यह तो स्वीकार नहीं किया जा सकता है कि बालाजी का विचार दुर्बल मुगल-साम्राज्य के विभिन्न प्रदेशों को शक्ति और युद्ध के आधार पर जीतने का था क्योंकि इसके लिए उसके पास न पर्याप्त शक्ति थी और न समय। उसका सम्पूर्ण समय शाहू की स्थिति को ठीक करने में व्यतीत हुआ और पेशवा बनने के पश्चात् वह जीवित भी बहुत कम समय तक रहा। परन्तु तब भी मुगलों से की गयी उसकी सन्धि में मराठा साम्राज्य-वाद के विचार सम्मिलित थे। शिवाजी ने चौथ और सरदेशमुखी की परम्परा को अपने अधिकार क्षेत्र को विस्तृत करने के लिए आरम्भ किया था। इसी उद्देश्य से बालाजी ने भी इस अधिकार को मुगलों से प्राप्त किया जिससे मराठा-साम्राज्य विक-सित हुआ। इसमें मुगल-साम्राज्य के पतन ने मराठों को सहयोग दिया। निस्सन्देह, दिल्ली यात्रा के पश्चात् मराठा सरदारों के विचार साम्राज्य-विस्तार के बने थे। इस कार्य का आरम्भ बालाजी के पुत्र बाजीराव ने किया। परन्तु यह विचार बालाजी के समय में ही उत्पन्न हो गया था और इसका श्रेय बालाजी को ही था।

इस प्रकार देखा जाय तो शाहू की शक्ति को दृढ़ करने में, मराठा-संघ के निर्माण में और मुगलों के साथ सन्धि करने में बालाजी ने मराठा-शक्ति के विस्तार की जड़ों को स्थापित किया था। सम्भवतया, उसे स्वयं भी यह ज्ञान नहीं था कि वह अपनी नीति से मराठा-शक्ति को भारत की सर्वश्रेष्ठ शक्ति बनाने का कार्य

आरम्भ कर रहा था। परन्तु यह स्पष्ट है कि बालाजी के कार्यों और सफलता के कारण भारत में मराठा-शक्ति के विस्तार की नींव रखी गयी। इतने कम समय में वह जो कुछ कर सका, वह निस्सन्देह सराहनीय है, जिसके कारण प्रथम तीन महान् पेशवाओं में बालाजी विश्वनाथ एक महान् पेशवा था।

2. पेशवा बाजीराव (1720-1740 ई.)

अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् 20 वर्ष से भी कुछ कम आयु में बाजीराव को पेशवा का पद दिया गया। यद्यपि शाहू के दरबार में अनेक ऐसे व्यक्ति थे, मुख्यतया प्रतिनिधि श्रीपतिराव के दल के सदस्य जो बाजीराव को पेशवा बनाने के पक्ष में नहीं थे। परन्तु शाहू में एक व्यक्ति के चरित्र और योग्यता को समझने की क्षमता थी। इस कारण, अल्पायु युवक को 1720 में पेशवा का पद प्रदान किया गया। बाजीराव की शिक्षा बहुत कम हुई थी तथा शासन और अर्थ-व्यवस्था में भी उसकी रुचि न थी, परन्तु वह एक महान् सैनिक और सेनापति था। अपने पिता के पास रहकर उसने राजनीति और कूटनीति के दाँव-पेचों को भी समझ लिया था। यही योग्यताएँ उसकी सफलता का कारण बनीं।

जिस समय बाजीराव ने पेशवा का पद ग्रहण किया, उस अवसर पर मराठों की स्थिति बहुत अच्छी नहीं मानी जा सकती थी। निस्सन्देह, बालाजी विश्वनाथ ने शाहू की स्थिति को महाराष्ट्र में दृढ़ कर दिया था और तत्कालीन समस्याओं का हल निकालने में सफलता प्राप्त की थी। परन्तु उसके द्वारा प्रसारित निर्णय अभी स्थायी नहीं हुए थे। उस समय तक शम्भाजी द्वितीय ही कोल्हापुर में मराठा-राजा था और समय-समय पर शाहू के विरोध में उसने अपने अधिकारों का दावा किया था। पेशवा की सत्ता और शक्ति का विरोध करने का साहस अभी तक शाहू के 'प्रतिनिधि' और 'सेनापति' में था अर्थात् शाहू के सरदारों में भी अभी तक पेशवा की स्थिति सर्वश्रेष्ठ नहीं बन सकी थी। कोंकण में मराठा-सत्ता का विरोध अभी भी सीदी और पुर्तगाली करते थे और आँग्रिया-सरदार शाहू के साथ एक अधीनस्थ सरकार का नहीं अपितु मित्रता का दावा करते थे तथा मराठा-शक्ति अभी तक दक्षिण तक ही सीमित थी। इन समस्याओं के अतिरिक्त दक्षिण-भारत में निजाम-उल-मुल्क आसफजा ने हैदराबाद के स्वतन्त्र राज्य को स्थापित करके मराठों के लिए एक गम्भीर समस्या उत्पन्न कर दी। दक्षिण-भारत की सत्ता के लिए निजाम जो अपने समय का एक योग्य और अनुभवी सेनापति ही नहीं अपितु सर्वश्रेष्ठ कूटनीतिज्ञ भी था तथा जिसने औरंगजेब के समय में कूटनीति का अनुभव प्राप्त किया था और सौ (100) से भी अधिक युद्धों में भाग लिया था, मराठों का एक प्रबल विरोधी सिद्ध हुआ। इस प्रकार नवयुवक पेशवा की कठिनाइयाँ कम न थीं। परन्तु बाजीराव ने इन सभी समस्याओं का निराकरण किया। उसने पेशवा की श्रेष्ठता स्थापित की, निजाम को निरन्तर परास्त करके शाहू से उनकी प्रतिद्वन्द्विता समाप्त की, निजाम को निरन्तर परास्त किया, कोंकण में शाहू की शक्ति स्थापित की और यही नहीं अपितु मराठा-शक्ति को पहली बार उत्तर-भारत के विस्तृत और उपजाऊ भू-प्रदेश में फैला दिया। गुजरात, मालवा, बुन्देलखण्ड, आदि पर मराठों की सत्ता स्थापित हुई और मराठों के आक्रमण दिल्ली तक होने लगे। अपने बीस वर्ष के कार्यकाल में पेशवा बाजीराव ने मराठों को भारत की सर्वश्रेष्ठ शक्ति बना दिया और यही उसकी महानता थी।

मुगल-साम्राज्य की जर्जर स्थिति ने पेशवा को सहयोग प्रदान किया। मुगल

बादशाह विलासी और अकर्मण्य होकर अपने विभिन्न सरदारों के हाथों में कठपुतली बन गये थे, दरबार में हिन्दुस्तानी और तूरानी मुसलमानों के दल बन चुके थे और मुगल-दरबार षड्यन्त्रों का केन्द्र-स्थल बना हुआ था। विभिन्न मुसलमान सरदार अपने स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने के लिए प्रयत्नशील हो रहे थे तथा मुगलों की सैन्य-शक्ति प्रायः नष्ट हो चुकी थी। पेशवा ने मुगल-साम्राज्य की दुर्बलता से लाभ उठाया। इसके अतिरिक्त, राजपूत शासकों जैसे गुजरात के सूबेदार अजीतसिंह और बुन्देलखण्ड के शासक छत्रसाल आदि की सहानुभूति से भी पेशवा को सहायता मिली। औरंगजेब और उसके उत्तराधिकारियों से असन्तुष्ट राजपूत राजाओं ने उत्तर में हिन्दू मराठा-शक्ति के विकास का स्वागत किया।

इन परिस्थितियों में बाजीराव ने अपने ध्येय को स्पष्ट कर लिया। उसका प्रथम लक्ष्य था कि ऐसी स्थिति का निर्माण किया जाय जिससे विभिन्न मराठा सरदार एक-दूसरे पर निर्भर करें और उस निर्भरता के कारण एक-दूसरे के साथ सहयोग करें। इसी कारण, वह मराठा-सरदारों को विभिन्न जागीरों का एकाधिपत्य देने को तैयार न था अपितु जागीरों पर विभिन्न सरदारों के मिले-जुले अधिकार को रखना चाहता था। उसका विचार था कि यदि एक जागीर पर दो सरदारों का भी अधिकार होगा तो उन दोनों सरदारों में से कोई भी एक उस जागीर का स्वतन्त्र मालिक नहीं बन सकेगा और इस प्रकार मराठा सरदारों की पृथकता की भावना पर अंकुश लगा रहेगा। इस प्रश्न पर उसका सेनापति से झगड़ा हुआ। बाजीराव का दूसरा मुख्य उद्देश्य गिरते हुए मुगल-साम्राज्य के शिलाखण्डों पर भारत में मराठा-राज्य की स्थापना करना था। उसने कहा था: "हमें इस जर्जर वृक्ष के तने पर आक्रमण करना चाहिए, शाखाएँ तो स्वयं ही गिर जायेंगी।"[1] उसकी इस नीति का विरोध प्रतिनिधि श्रीपतराव ने किया था जो इस पक्ष में था कि मराठों को अपनी शक्ति दक्षिण तक ही सीमित रखनी चाहिए। बाजीराव के निरन्तर प्रयत्नों और उससे भी अधिक उसकी सफलताओं के कारण ही छत्रपति शाहू और प्रतिनिधि श्रीपतराव उसकी नीति की उपयुक्तता में विश्वास कर सके।

निज़ाम

निजाम से बाजीराव का प्रथम सम्पर्क 1720 में हुआ। सैयद-भाइयों की नीति से असन्तुष्ट होकर निजाम स्वेच्छा से दक्षिण-भारत गया और उसने दक्षिण के सूबेदार तथा सैयद हुसैनअली के पुत्र आलिमअली को परास्त करके दक्षिण के छः सूबों पर अपना अधिकार कर लिया। उसी वर्ष सैयद-भाइयों का पतन हो गया और निजाम ने 1719 में मुगलों और मराठों के बीच हुई सन्धि के अनुसार मराठों को दक्षिण के सूबों की चौथ और सरदेशमुखी देने की शर्त को मानने से इन्कार कर दिया। परन्तु जब मराठों ने निजाम द्वारा भेजी गयी एक सेना को परास्त कर दिया तो 1721 में निजाम ने बाजीराव से भेंट की और बीदर की चौथ तथा छः सूबों की सरदेशमुखी देने का वायदा कर दिया। यह बाजीराव की प्रथम सफलता थी और वह भी एक बहुत चालाक, साहसी और योग्य मुगल सरदार के विरुद्ध। उसी वर्ष निजाम को वजीर का पद दिया गया और वह दिल्ली चला गया।

---

1 "Let us strike at the trunk of withering tree, the branches will fall by themselves." —Dr. H. N. Sinha, *Rise of the Peshwas.*

दिल्ली में निजाम सफल न हो सका और अपने सूबों को मराठों से बचाने हेतु दो वर्ष पश्चात् वह दक्षिण की ओर रवाना हुआ। परन्तु उसके दक्षिण पहुँचने से पहले ही मुबारिजखाँ को, जो उसकी अनुपस्थिति में दक्षिण के सूबों की देखभाल कर रहा था, दक्षिण का सूबेदार नियुक्त कर दिया गया। उस अवसर पर निजाम ने शाहू से सहायता माँगी और 1719 में मराठों और मुगलों के बीच हुई सन्धि को उसने पूर्णतया स्वीकार कर लिया। शाहू ने सन्तुष्ट होकर बाजीराव को निजाम की सहायता करने के आदेश दिये। 1724 में मराठों की सहायता से निजाम ने सकर-खेदा के युद्ध में मुबारिजखाँ को परास्त किया और दक्षिण के सूबों पर अधिकार कर लिया। परन्तु मुगल बादशाह ने निजाम से वजीर का पद और मालवा व गुजरात की सूबेदारी छीन ली। इस प्रकार निजाम दक्षिण में सीमित हो गया और उसने दक्षिण में अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया। ऐसी स्थिति में मराठों से उसका संघर्ष स्वाभाविक हो गया।

निजाम की इच्छा न तो कभी 1719 की सन्धि की शर्तों को पूरा करने की थी जिसका उसने वायदा किया था और न वह मराठों द्वारा कर्नाटक पर किये जाने वाले आक्रमणों को ही पसन्द करता था। उसके मार्ग में सबसे बड़ी बाधा बाजीराव था क्योंकि जहाँ शाहू, प्रतिनिधि और सेनापति बहुत लम्बे समय तक निजाम की चालाकी को न समझ सके, बाजीराव सर्वदा निजाम के प्रति शंकित रहा। अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए निजाम ने अनेक तरकीबें अपनायीं। उसने निरन्तर शाहू और उसके सरदारों को उत्तर-भारत की ओर ध्यान के लिए प्रोत्साहित किया, बाजीराव और प्रतिनिधि श्रीपतराव में मतभेद उत्पन्न कराने के प्रयत्न किये, सेनापति त्रिम्बकराव को बाजीराव के विरुद्ध भड़काया और शम्भाजी द्वितीय को इस बात के लिए उकसाया कि वह शाहू के विरुद्ध चौथ और सरदेशमुखी की माँग करे। अपने इन सभी षड्यन्त्रों में निजाम सफल हुआ जिससे बाजीराव को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा और उसके शत्रुओं की संख्या में वृद्धि हुई। परन्तु बाजीराव ने अपने साहस और कौशल से इन सभी कठिनाइयों का मुकाबला किया और निजाम के सभी षड्यन्त्रों को असफल कर दिया। प्रत्यक्ष युद्ध में भी उसने निजाम को परास्त किया।

1726 में जबकि बाजीराव कर्नाटक पर आक्रमण करने के लिए गया हुआ था, निजाम ने शाहू के प्रतिनिधि श्रीपतराव और स्वयं राजा शाहू को व्यक्तिगत जागीरें प्रदान कीं और बाजीराव की इच्छा के विरुद्ध उनसे यह स्वीकार करा लिया कि मराठा सरदार उसकी सीमाओं में नहीं आयेंगे और वह स्वयं को चौथ और सरदेशमुखी देता रहेगा। इस प्रकार, उसने न केवल मराठा-सैनिकों को ही अपनी सीमाओं से बाहर कर दिया अपितु बाजीराव और प्रतिनिधि के बीच में अन्तर बढ़ा दिया। बाद में उसने शम्भाजी द्वितीय को चौथ और सरदेशमुखी माँगने के लिए भड़काया और शाहू को ये कर देने के लिए उस समय तक मना कर दिया जब तक कि यह निर्णय न हो जाय कि ये कर उसे शाहू को देने हैं अथवा शम्भाजी को। तब शाहू की आँखें खुलीं। 1726 में निजाम ने शम्भाजी की सहायता से शाहू के विरुद्ध युद्ध आरम्भ कर दिया। उस समय शाहू की स्थिति बहुत खराब हो गयी। 1727 में बाजीराव कर्नाटक से वापस आ गया। उस अवसर पर बाजीराव ने सेनापति की योग्यता का परिचय दिया। एक वर्ष के छुटपुट युद्धों के पश्चात् फरवरी 1728 में बाजीराव ने पालखेड़ नामक स्थान पर निजाम को घेर लिया और निजाम को ऐसी

कठिन परिस्थिति में डाल दिया कि उसने बिना युद्ध के सन्धि कर ली। यह बाजीराव की महान् विजय थी। मार्च 1728 की मुंगी-शेगाँव (Mungi-Shegaon) की सन्धि के द्वारा—

1. निजाम ने शाहू को महाराष्ट्र का एकमात्र शासक स्वीकार कर लिया।
2. चौथ और सरदेशमुखी, जो पहले से बाकी थे, देने का वायदा किया।
3. मराठा सरदारों को अपनी सीमाओं में रहने देने की शर्त को मान लिया।

परन्तु निजाम पूर्णतया परास्त नहीं हुआ था। उसने सेनापति त्रिम्बकराव दाभादे को बाजीराव के विरुद्ध सहायता दी और इस पराजय के पश्चात् भी मराठों में फूट डालने का प्रयत्न करता रहा।

1737 में निजाम को पुनः दिल्ली बुलाया गया और उसे 'आसफजा' का पद देकर मराठों के विरुद्ध भेजा गया। भोपाल के निकट निजाम ने अपनी सेना की स्थिति दृढ़ता से स्थापित की। उसके पास बहुत अच्छा तोपखाना और बहुत बड़ी सेना थी। सेनापति और कई अन्य सरदारों की सहायता के न होते हुए भी अस्सी हजार सैनिकों को लेकर बाजीराव ने निजाम को घेर लिया। इस अवसर पर भी निजाम की भूल से उसकी सेना में भुखमरी और बरबादी फैलने लगी। स्वयं बाजीराव ने कहा, "वह एक बुजुर्ग और अनुभवी व्यक्ति है। मैं समझ नहीं सकता कि उसने अपने को इस बुरी स्थिति में कैसे फँसा लिया है। यह सम्पूर्ण भारत में उसके सम्मान को नष्ट कर देगा।"[1] अन्त में, बाजीराव की बात ठीक सिद्ध हुई। बिना युद्ध के निजाम को जनवरी 1738 में दुरई-सराय (Durai-Sarai) की सन्धि करने के लिए बाध्य होना पड़ा, जिसके अनुसार उसने—

1. सम्पूर्ण मालवा और नर्मदा तथा चम्बल नदी के बीच की सम्पूर्ण भूमि बाजीराव को दे दी; और
2. 50 लाख रुपया भी बाजीराव को दिया।

यह निजाम की बड़ी पराजय थी। इसके पश्चात् निजाम ने बाजीराव से पूर्ण पराजय मान ली। बाजीराव भारत में विख्यात हो गया। उसने उस समय के भारत के सबसे बड़े कूटनीतिज्ञ और प्रख्यात सेनापति को बुरी तरह से और वह भी बिना किसी युद्ध के पराजय मानने के लिए बाध्य किया था। बाजीराव का नाम मुगल बादशाह के लिए और सम्पूर्ण भारत में आतंक का कारण बन गया। बाजीराव उस समय अपनी शक्ति और सम्मान की चरम सीमा पर था और यह उसकी मराठा-शक्ति के विकास की नीति की भी चरम सीमा थी।

श्रीपतराव उन व्यक्तियों में से था जो बाजीराव को पेशवा बनाये जाने के पक्ष में न थे क्योंकि वह उसे अपरिपक्व आयु का अनुभवहीन व्यक्ति मानता था।

प्रतिनिधि श्रीपतराव

इसके अतिरिक्त श्रीपतराव और बाजीराव में नीति सम्बन्धी मतभेद भी थे। श्रीपतराव का विचार था कि मराठों को अपनी शक्तिदक्षिण-भारत में ही सीमित रखनी चाहिए

---

1 "He is an old and experienced man. I cannot comprehend how he got himself in this difficulty; it will ruin him in the opinion of all India." —H. N. Sinha, *Rise of the Peshwas*.

क्योंकि महाराष्ट्र पर्याप्त लम्बे संघर्ष से गुजरा था और उसकी आर्थिक स्थिति ठीक न थी। इसी कारण, वह मुगल-साम्राज्य से संघर्ष नहीं करना चाहता था। वह निजाम को भी बहुत शक्तिशाली विरोधी समझता था और उससे अच्छे सम्बन्ध रखने के पक्ष में था। इस प्रकार; विस्तार के स्थान पर श्रीपतराव की नीति आन्तरिक संगठन की थी। शाहू भी इसी नीति का समर्थक था। परन्तु बाजीराव इस सब के विरुद्ध था। वह निजाम पर सर्वदा से सन्देह करता था और आन्तरिक संगठन के स्थान पर दुर्बल मुगल-साम्राज्य पर आक्रमण करके मराठा-विस्तार की नीति के पक्ष में था। बाजीराव का विश्वास था कि यदि आन्तरिक मामलों की ओर अधिक ध्यान दिया गया तो मराठों के झगड़े बढ़ेंगे। इस कारण, उसका विचार था कि धन, शौर्य, साहस और विजय की लालसाओं को प्रोत्साहन देने तथा उत्तर-भारत में विस्तार की योजनाओं के द्वारा ही मराठों में एकता और उनकी शक्ति का विस्तार सम्भव है। इन दो विरोधी नीतियों पर विचार करने के लिए शाहू ने सतारा में एक सभा आमन्त्रित की जिसमें श्रीपतराव और बाजीराव ने अपने-अपने पक्ष का प्रतिपादन किया। यद्यपि वहाँ पर बाजीराव की नीति को स्वीकार किया गया, परन्तु शाहू और श्रीपत-राव उस समय तक बाजीराव की नीति में विश्वास न कर सके जब तक कि निजाम के षड्यन्त्र उन्हें स्पष्ट न हो गये और 1728 में पालखेड़ के युद्ध में बाजीराव ने निजाम को परास्त नहीं कर दिया। उसके पश्चात् श्रीपतराव बाजीराव की नीति का समर्थन करने लगा और इस प्रकार बाजीराव ने अन्त में इस राजनीतिक विवाद और नीति के मतभेद में सफलता पायी।

शम्भाजी द्वितीय

शम्भाजी शाहू का चचेरा भाई और कोल्हापुर का शासक था। वह आरम्भ से ही शाहू से ईर्ष्या करता था और, मुख्यतया, कर्नाटक में उसके हस्तक्षेप को पसन्द नहीं करता था। गुजरात और मालवा की ओर बढ़ती हुई शाहू की शक्ति से वह शाहू से और भी अधिक ईर्ष्या करने लगा। निजाम के भड़काने से उसने 'स्वराज्य' (शिवाजी के राज्य की सीमाएँ) का आधा भाग शाहू से माँगा और दक्षिण के छः सूबों की चौथ और सरदेशमुखी पर भी अपने अधिकार का दावा किया। 1728 में निजाम की पराजय हो जाने से यद्यपि उसका एक मुख्य मित्र खो गया परन्तु तब भी वह कुछ अन्य मराठा सरदारों, मुख्यतः उदाजी चौहान, की सहायता लेकर शाहू का विरोध करता रहा। उदाजी ने शाहू को कत्ल कराने का भी प्रयत्न किया यद्यपि वह सफल नहीं हुआ। जिस समय बाजीराव गुजरात की ओर गया हुआ था, शम्भाजी ने शाहू की सीमाओं पर आक्रमण करना आरम्भ कर दिया। अन्त में, शाहू ने प्रतिनिधि श्रीपतराव के नेतृत्व में एक सेना शम्भाजी के विरुद्ध भेजी। बाजीराव भी निरन्तर शाहू से सम्पर्क बनाये हुआ था। 1730 में वार्ना नदी के निकट शम्भाजी की पराजय हुई और अप्रैल 1731 में वार्ना की सन्धि (Treaty of Varna) हुई, जिसके अनुसार—

1. कर्नाटक और कोंकण के प्रदेश शम्भाजी और शाहू में विभाजित कर लिये गये।
2. महाराष्ट्र का छत्रपति शाहू को स्वीकार कर लिया गया और शम्भाजी ने शाहू की सत्ता को स्वीकार कर लिया।

इसके पश्चात् शम्भाजी ने कभी भी शाहू का विरोध नहीं किया। वह सर्वदा

शाहू का सम्मान करता रहा और उससे मिलता-जुलता रहा। इस प्रकार, मराठा-राजवंश में एकता स्थापित हो सकी।

जिस समय वार्ना की सन्धि की बातचीत हो रही थी, उस अवसर पर पेशवा बाजीराव और सेनापति त्रिम्बकराव एक-दूसरे की शक्ति का आँकलन करने में व्यस्त थे। त्रिम्बकराव और उससे पहले उसके पिता खाण्डेराव ने निरन्तर बाजीराव का विरोध किया था। शाहू ने गुजरात खाण्डेराव को और मालवा बाजीराव को दिया था परन्तु बाजीराव इस स्पष्ट विभाजन को मराठों की दुर्बलता का कारण समझता था और उसके मतानुसार मालवा और गुजरात की चौथ और सरदेशमुखी की आय को पेशवा और सेनापति में बराबर बाँट देना चाहिए था। इस कारण, खाण्डेराव से भी उसका झगड़ा था। खाण्डेराव निजाम के साथ भी मिला हुआ था जिससे बाजीराव असन्तुष्ट था। जिस समय बाजीराव निजाम के साथ युद्ध कर रहा था, उस समय खाण्डेराव ने बाजीराव की जागीर में स्थित मालवा पर आक्रमण किया था। 1730 में खाण्डेराव की मृत्यु के पश्चात् त्रिम्बकराव के सेनापति बनते ही सेनापति और पेशवा की पारस्परिक प्रतिस्पर्धा अत्यधिक बढ़ गयी।

सेनापति त्रिम्बकराव

जब शम्भाजी के विरुद्ध शाहू की युद्ध की तैयारी पूर्ण हो गयी तब पेशवा बाजीराव ने त्रिम्बकराव से अन्तिम निर्णय की तैयारी की क्योंकि उस अवसर पर भी त्रिम्बकराव निजाम, उदाजी चौहान, आदि से मिलकर बाजीराव के विरुद्ध षड्यन्त्र कर रहा था। अन्त में, अप्रैल 1, 1731 को दभाई के निकट बाजीराव और त्रिम्बकराव का मुकाबला हुआ। युद्ध में त्रिम्बकराव मारा गया और बाजीराव की विजय हुई। अब पेशवा का स्थान मराठा-सरदारों में प्रमुख हो गया। डॉ. सिन्हा ने लिखा है कि "दभाई की विजय बाजीराव के लिए निस्सन्देह दोहरे लाभ की थी—वह उसकी नीति की विजय के साथ-साथ उसके उत्कर्ष की भी विजय थी।"[1] पेशवा ही अब एक प्रकार से सेनापति भी हो गया क्योंकि त्रिम्बकराव का भाई और नवीन सेनापति यशवन्तराव अयोग्य तथा विलासी था। वह शक्ति के लिए लालायित भी नहीं था। युद्ध-कौशल की दृष्टि से भी यह एक महान् विजय थी। पेशवा ने केवल 15,000 सैनिकों के साथ सेनापति के 50,000 सैनिकों को परास्त किया था और निजाम को सेनापति से मिलने तक नहीं दिया था। अब बाजीराव अपनी नीति को उत्तर-भारत में कार्य-रूप में परिणत करने के लिए स्वतन्त्र हो गया।

1723 से ही गुजरात पर मराठा-आक्रमण आरम्भ हो गये थे और 1727 तक वहाँ उनका पर्याप्त प्रभुत्व हो गया। मुगल सूबेदार उनको चौथ तथा सरदेशमुखी देने को तैयार हो गये थे। शाहू ने गुजरात सेनापति को दे दिया था परन्तु दभाई के युद्ध के पश्चात् उसकी आधी आय शाहू को और आधी आय यशवन्तराव को मिलनी आरम्भ हो गयी। यशवन्तराव की तरफ से पिलाजी गायकवाड़ गुजरात की देखभाल करता था जिसका मुगल सूबेदार महाराजा

गुजरात, मालवा, दोआब और बुन्देलखण्ड

---

1 "Indeed Dabhai was a double triumph for Baji Rao—it was a triumph of his policy, it was a triumph of his ascendancy."
— *Dr. H. N, Sinha.*

अभयसिंह से झगड़ा हो गया और 1732 में पिलाजी की हत्या कर दी गयी। इस कारण मराठों ने गुजरात पर आक्रमण किया। अन्त में, 1735 तक प्रायः सम्पूर्ण गुजरात मराठों की अधीनता में आ गया।

1722 में बाजीराव ने मालवा पर प्रथम आक्रमण किया। 1724 में उसने वहाँ पुनः आक्रमण किया और वहाँ से चौथ माँगी। उसके पश्चात् पेशवा की तरफ से मल्हारराव होल्कर, रानोजी सिन्धिया और उदय पवार मालवा की देखभाल करने लगे और उन्हें इस कार्य में इन्दौर के नन्दलाल चौधरी और जयपुर से सवाई जयसिंह से भी सहायता मिली। 1728 में बाजीराव ने पुनः मालवा पर आक्रमण किया और तब से मालवा पर मराठों के निरन्तर आक्रमण हुए। अन्त में, 1738 की दुरई-सराय की सन्धि के द्वारा मुगल बादशाह के वजीर निजाम-उल-मुल्क ने मराठों को मालवा सौंप दिया।

1728 में बुन्देलखण्ड के शासक छत्रसाल ने मुहम्मदशाह बंगश के विरुद्ध बाजीराव से सहायता माँगी। 1729 में बाजीराव वहाँ गया और छत्रसाल की सहायता की जिसके बदले में छत्रसाल ने बुन्देलखण्ड का आधा भाग बाजीराव को दे दिया। इससे झाँसी, कालपी आदि, जो दिल्ली और आगरा के निकट थे, बाजीराव को प्राप्त हो गये।

इसके पश्चात् मराठों ने निरन्तर दोआब, राजस्थान तथा दिल्ली के निकट की मुगल सीमाओं पर आक्रमण करने आरम्भ कर दिये। अन्त में, 1736 में मुगल बादशाह ने मराठों को चम्बल नदी के

मुगल

दक्षिणी भू-क्षेत्र के लिए 13 लाख रुपया, राजस्थान के लिए 13 लाख 60 हजार रुपया और दक्षिण की आय का 5% बाजीराव को 'सरदेशपाण्ड्य' के रूप में देना स्वीकार कर लिया।

इसके उपरान्त बाजीराव ने अवध तक बंगाल जैसे सूबों तथा इलाहाबाद, गया, बनारस जैसे नगरों की माँग की और जब इसे अस्वीकार कर दिया गया तब उसने अवध पर आक्रमण किया। इस अवसर पर 1737 में अवध के सूबेदार सादत-अलीखाँ ने मल्हारराव होल्कर और उसके कुछ अन्य मराठा सरदारों को परास्त किया और दिल्ली खबर भेज दी कि उसने बाजीराव को चम्बल नदी के दक्षिण में भगा दिया है। इस बात को झूठ प्रमाणित करने और मुगल बादशाह को आतंकित करने हेतु बाजीराव ने दिल्ली की ओर प्रयास किया। उसने दस दिन की यात्रा दो दिन में पूरी की और रामनवमी के दिन दिल्ली के निकट पहुँच गया। इसकी सूचना मुगल बादशाह के पास पहुँच गयी और उसने डरकर भागने की तैयारी आरम्भ की। परन्तु बाजीराव का उद्देश्य दिल्ली को लूटने का न था। वह तो केवल यह सिद्ध करना चाहता था कि वह अभी जीवित है और सादतअलीखाँ द्वारा प्रेषित खबर पूर्णतया गलत है। इसी समय वजीर कमरुद्दीन और शमशुद्दौला तथा सादतअलीखाँ अपनी-अपनी सेनाओं के साथ दिल्ली की ओर बढ़ रहे थे। बाजीराव उनके बीच से निकल तो आया था परन्तु लौटना भी उसके लिए उतना ही आवश्यक था। बाजीराव जितनी तेजी से आया था उतनी ही तेजी से वापस लौटा और एक दिन में 20 मील चलकर तथा मुगलों से छुटपुट युद्ध करके राजस्थान के रेगिस्तान में घुस गया जहाँ उसका पीछा करना असम्भव था। इस प्रकार बाजीराव दो बड़ी मुगल सेनाओं के

बीच से साफ निकल गया। मुगल बादशाह ने मालवा के अतिरिक्त 13 लाख रुपया मराठों को देना स्वीकार किया। इस प्रकार बाजीराव ने मुगल बादशाह को आतंकित करके उससे अनेक सुविधाएँ प्राप्त कीं।

कोंकण प्रदेश

कोंकण प्रदेश व जंजीरा में सीदी, गोआ में पुर्तगाली और बम्बई में अंग्रेज प्रभावशाली थे। ये सभी नाविक शक्तियाँ थीं। बालाजी विश्वनाथ ने कान्होजी आँग्रिया से सन्धि करके कोंकण को मराठों के लिए सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया था और उसमें सफलता भी पायी थी। परन्तु स्वयं कान्होजी आँग्रिया नाममात्र के लिए ही शाहू की सत्ता को स्वीकार करता था अन्यथा वह पूर्ण स्वतन्त्र था। 1726 में सीदी सत ने पारसराम के शिव-मन्दिर को बरबाद कर दिया जिससे कान्होजी से सीदियों का युद्ध आरम्भ हो गया। शाहू ने कान्होजी की सहायता के लिए प्रतिनिधि को भेजा परन्तु मराठों को कोई विशेष सफलता न मिल सकी। इसी समय 1729 में कान्होजी की मृत्यु और उसके पुत्र मानाजी और शम्भाजी में उत्तराधिकार के लिए युद्ध हो जाने के कारण मराठों को और भी अधिक कठिनाई हुई। 1733 तक सीदी प्रबल होते गये।

अप्रैल 1733 में बाजीराव स्वयं कोंकण गया। उस अवसर पर सीदी सरदार रसूल याकूत की मृत्यु हो जाने से उसके पुत्रों में गद्दी के लिए झगड़ा आरम्भ हो गया था। 1734 तक बाजीराव वहाँ रहा और अन्त में एक सन्धि करके वापस आ गया। इस सन्धि से मराठों को कुछ प्रदेश तो मिल गये परन्तु सीदियों की शक्ति न टूट सकी। इस कारण युद्ध पुनः आरम्भ हो गया। अन्त में, 1736 में बाजीराव के भाई चिमनाजी अप्पा ने सीदी सत को एक युद्ध में मार दिया जिसके परिणामस्वरूप सीदियों में एक सन्धि हो गयी और सीदियों ने कोंकण प्रदेश पर पेशवा के प्रभुत्व को स्वीकार कर लिया।

उसी वर्ष बाजीराव ने कान्होजी के पुत्र मानाजी और शम्भाजी आँग्रिया में भी आँग्रिया-वंश के जहाजों, सम्पत्ति और दुर्गों का बँटवारा करा दिया जिससे दोनों भाइयों का झगड़ा समाप्त हो गया और दोनों ने शाहू की सेवाएँ स्वीकार कर लीं। इस विभाजन से आँग्रिया-वंश की शक्ति कम हो गयी और पेशवा व शाहू की स्थिति कोंकण में दृढ़ हो गयी।

पुर्तगालियों से मराठों का संघर्ष 1731 से आरम्भ हुआ था। उन्होंने सीदियों की सहायता की थी। परन्तु 1732 में उन्होंने सन्धि कर ली थी। 1737 में उन्होंने पुनः युद्ध आरम्भ किया और यह युद्ध उस समय तक चलता रहा जब तक कि 1739 में मराठों ने बेसीन पर अधिकार न कर लिया। उसके पश्चात् उन्होंने सन्धि कर ली। इसी प्रकार अँग्रेजों ने भी सीदियों की सहायता की थी। परन्तु बाद में उन्होंने भी मराठों से सन्धि कर ली।

इस प्रकार एक लम्बे संघर्ष के बाद 1739 तक पेशवा की स्थिति कोंकण प्रदेश में सुदृढ़ हो गयी।

बाजीराव की मृत्यु

पेशवा लगभग 40 वर्ष का ही था कि उसकी मृत्यु हो गयी। कहा जाता है कि पेशवा की मृत्यु बीमारी और उससे भी अधिक प्रेम-वियोग के कारण हुई। यह धारणा प्रकट की जाती है कि राजा छत्रसाल ने मस्तानी नामक एक लड़की पेशवा

को भेंटस्वरूप दी थी। मस्तानी, सम्भवतया, स्वयं छत्रसाल की एक मुसलमान-स्त्री से उत्पन्न पुत्री थी। मस्तानी अद्वितीय सुन्दरी थी। इसके अतिरिक्त वह व्यवहारकुशल और साहसी भी थी। युद्ध के कठिन अवसरों पर भी वह बाजीराव के साथ घोड़े पर सवार होकर उसके साथ रहती थी। बाजीराव उसके प्रेम के कारण अपनी पत्नी काशीवाई तक की परवाह नहीं करता था। परन्तु मराठा-समाज ने इस प्रेम को पसन्द नहीं किया, मस्तानी के पुत्र को हिन्दू मानने से इन्कार कर दिया और अन्त में, पेशवा के भाई और पुत्र तक उसके विरुद्ध हो गये। बाजीराव ने हताश होकर पूना छोड़ दिया और निजाम से अपनी जागीर छीनने चला गया। उसके पीछे मस्तानी को महल में नजरबन्द कर दिया गया। पेशवा बाजीराव इससे बहुत दुःखी हुआ और उसने अपना जीवन युद्धों में ही समाप्त करने का निश्चय किया। उसने निजाम के पुत्र नासिरजंग से युद्ध करके अपनी जागीर छीन ली और उसके पश्चात् भी पूना वापस नहीं आया। वह अपनी जागीर में ही घूमता रहा और उसी स्थिति में वहाँ बीमार हो गया। कुछ ही दिन की बीमारी के पश्चात् 28 अप्रैल, 1740 को नर्मदा नदी के निकट उसकी मृत्यु हो गयी। इस प्रकार इस महान् पेशवा का अन्त हुआ। इतिहासकार किन्केड और पारसनीस ने लिखा है कि मस्तानी बाजीराव के साथ सती हो गयी। डॉ. सिन्हा ने लिखा है: "बहादुरों में सर्वश्रेष्ठ, सुन्दरता में सुन्दरतम, बाजीराव एक प्रेम-प्रसंग में आकर्षक व्यक्ति के समान मर गया।"[1]

पेशवाओं में बाजीराव का स्थान श्रेष्ठ है। उसे महान् पेशवाओं में से एक माना जाता है। अनेक इतिहासकारों ने पेशवा माधवराव नारायन प्रथम को पेशवाओं में प्रमुख स्थान दिया है क्योंकि वह अपने समय का महान् कूटनीतिज्ञ और संगठनकर्ता था परन्तु यह सन्देह प्रकट किया जा सकता है कि बिना पेशवा बाजीराव की सफलताओं के पेशवा माधवराव नारायन को वह कार्यक्षेत्र प्राप्त होता भी अथवा नहीं जिसमें उसने अपनी महानता स्थापित की।

बाजीराव का मूल्यांकन

पेशवाओं में बाजीराव प्रथम था जिसने मराठा-शक्ति को भारत की प्रमुख शक्ति बना दिया, और हिन्दू जाति के सम्मुख एक बार फिर नवीन लक्ष्य स्थापित किया। डॉ. सिन्हा ने लिखा है: "एक बार फिर आधुनिक भारत के इतिहास में बाजीराव ने नवीन आशाएँ बनायीं, गिरी हुई हिन्दू जाति के सम्मुख महान् सम्भावनाएँ प्रस्तुत कीं और एक बार फिर उसने उनके आन्तरिक झगड़ों को समाप्त करने का प्रयत्न किया।"[2] बाजीराव एक महान् सैनिक और सेनापति था। निजाम ने सौ (100) से अधिक युद्धों में भाग लिया था और वह अपने समय का महान् सेनापति माना गया था परन्तु बाजीराव के मुकाबले युद्ध-भूमि में वह दो बार आया और दोनों ही बार बिना युद्ध के उसे आत्म-समर्पण करना पड़ा। कूटनीति में भी निजाम अपने समय का एक योग्य व्यक्ति माना गया था। परन्तु बाजीराव के कौशल, साहस और सैनिक-शक्ति के मुकाबले में निजाम की कूटनीति

---

1 "Bravest of the brave, fairest of the fair, Baji Rao died like a fascinating figure in a romance of love." —*Dr. H. N. Sinha.*

2 "For once in the annals of modern India, Baji Rao held out great promises, great possibilties for the fallen Hindu race ; for once he made a glorious attempt to destroy their internal discord." —*Dr. H. N. Sinha.*

असफल हुई। बाजीराव ने मराठों के सम्मुख नवीन और महान् लक्ष्य रखा और वह था उत्तर-भारत की विजय। निस्सन्देह, मुगल-साम्राज्य नष्टप्राय: था और ऐसी स्थिति में कोई भी ऐसा व्यक्ति सफल हो सकता था और एक साम्राज्य का निर्माण कर सकता था जिसमें साहस होता और जिसकी तलवार में शक्ति होती। बाजीराव ने इस बात को समझा और मराठा-साम्राज्य के विस्तार को अपना लक्ष्य बनाया। यदि बाजीराव के नेतृत्व में मराठा इस कार्य को न करते तो सम्भव था कि निजाम, सादतअली या अन्य ऐसी ही किसी सरदार के नेतृत्व में किसी अन्य राज्य या एक साम्राज्य का निर्माण होता। मुगल-साम्राज्य के पतन से भारत की राजनीतिक स्थिति में जो शून्यता आ गयी थी, उसे किसी न किसी को अवश्य भरना था। यदि बाजीराव ने उस कमी की पूर्ति मराठा-शक्ति के द्वारा करने का प्रयत्न किया तो यह उसके महान् आदर्श और व्यावहारिक बुद्धि का प्रमाण था। इस कार्य की पूर्ति हेतु उसने तलवार का सहारा लिया जो मध्य-युग का एकमात्र साधन था। उसी योग्यता के कारण उसके नेतृत्व में मराठा घुड़सवारों के घोड़ों की टापों ने सम्पूर्ण भारत को रौंद दिया। जिस शक्ति से उसका मुकाबला हुआ उसे उसने प्रायः समाप्त कर दिया और यदि ऐसा करना सम्भव नहीं हुआ तो उसे अपने सम्मुख झुका अवश्य दिया। अपने समय में बाजीराव मराठों द्वारा जीते हुए प्रदेशों को संगठित नहीं कर सका परन्तु इसके लिए बाजीराव को पर्याप्त समय नहीं मिल पाया था। उसका विजय-अभियान समाप्त भी न हुआ था कि उसकी मृत्यु हो गयी और यह जानने तक के प्रमाण नहीं मिल पाये कि बाजीराव वास्तव में क्या चाहता था। इस प्रकार, बाजीराव निस्सन्देह महान् था। डॉ. सिन्हा ने लिखा है : "बाजीराव एक महान् सेनापति था। उसकी योजना की मौलिकता, उसको कार्य-रूप में परिणत करने का साहस और युद्ध-नीति पर दृष्टि उसे, निस्सन्देह, असाधारण सेनापतियों की श्रेणी में स्थान प्रदान करती है। शाहू के प्रधानमन्त्री की दृष्टि से वह महाराष्ट्र के तत्कालीन व्यक्तियों में, निस्सन्देह, सर्वश्रेष्ठ था। उसकी विदेश-नीति और मराठा-विस्तार की नीति मौलिक ही नहीं अपितु दूरदर्शिता की भी थी। इस कारण, यह उचित ही कहा गया है कि बाजीराव योजना बनाने का मस्तिष्क रखने के साथ-साथ उसे कार्य-रूप में परिणित करने की शक्ति भी रखता था।"[1]

3. पेशवा बालाजी बाजीराव (1740-1761 ई.)

बाजीराव की मृत्यु के पश्चात् शाहू ने उसके 18½ वर्षीय पुत्र बालाजी को (जिसे नाना साहब भी पुकारा गया है) पेशवा नियुक्त किया। रघुजी भौंसले की सहायता से एक प्रसिद्ध महाजन बाबूजी नायक ने पेशवा का पद प्राप्त करने का प्रयत्न किया; परन्तु वह असफल हुआ। रघुजी ने शाहू की पत्नी की बहन से विवाह किया था और वह आशा करता था कि शाहू के पश्चात् उसका ही कोई एक बच्चा

---

1 "Baji Rao excelled as a general. His originality of plan, boldness of execution, and eye for strategy, marked him out as commander of no mean calibre. As chief-minister of Sahu, he stands head and shoulder above his contemporaries in Maharashtra. His foreign policy of Maratha expansion was no less original than far reaching. Therefore, it has been rightly remarked that Baji Rao had the head to plan and the hand to execute." —*Dr. H. N. Sinha.*

छत्रपति बन जायेगा। इसी कारण, वह अपनी इच्छा का पेशवा चाहता था। परन्तु शाहू इसके लिए बिल्कुल तत्पर न था और उसने तुरन्त ही बालाजी को पेशवा नियुक्त कर दिया।

बालाजी अपने पिता के समान योग्य सैनिक और सेनापति तो न था परन्तु वह व्यवहारकुशल अवश्य था। यह कहा गया है कि बाजीराव ने मित्र कम और शत्रु अधिक बनाये, जबकि उसके पुत्र बालाजी ने शत्रु कम और मित्र अधिक बनाये। बालाजी ने अपने पिता की साम्राज्य-विस्तार की नीति को पूर्ण करने का लक्ष्य बनाया। शाहू ने भी उसे प्रोत्साहन दिया। शाहू ने प्रारम्भ से ही उसे आह्वान किया : "बालाजी पन्त की मृत्यु के पश्चात् राजा की सेवा में बाजीराव ने महान् कार्य किये। उसने अपना लक्ष्य ईरानियों को समाप्त करने और एक साम्राज्य स्थापित करने का बनाया, लेकिन उसका जीवन थोड़ा रहा। तुम उसके पुत्र हो और तुम्हें उसकी सम्पूर्ण भारत को विजय करने की नीति को पूर्ण करना चाहिए, एक साम्राज्य स्थापित करना चाहिए, और अपने घोड़ों को अटक के उस पार तक ले जाना चाहिए।"[1] बालाजी ने साम्राज्य-विस्तार की इसी नीति को अपनाया। 1752 तक मराठे अपनी शक्ति की चरम सीमा तक पहुँच गये, मुगल बादशाह उनके हाथों की कठपुतली बन गये, वे सम्पूर्ण भारत से चौथ और सरदेशमुखी वसूल करने लगे और मराठा घुड़सवार उत्तर से दक्षिण-भारत तक फैल गये। परन्तु इसके पश्चात् मराठों की शक्ति को एक बड़ा धक्का लगा। मराठे बढ़ते हुए उत्तरदायित्व को सँभाल न सके, उन्होंने राजपूतों और जाटों को असन्तुष्ट कर दिया, उन्होंने विदेशी मुसलमानों को बाहर से सहायता माँगने के लिए बाध्य किया और उन्हें अहमदशाह अब्दाली से युद्ध करना पड़ा जिसका परिणाम पानीपत का तृतीय युद्ध और मराठों की पराजय हुआ। इसके पश्चात् पेशवा की शक्ति कम हो गयी और सिन्धिया तथा होल्कर को उत्तर-भारत में स्वतन्त्र अधिकार मिल गये तथा मराठों की एकता नष्ट होने लगी। इस प्रकार, पेशवा बालाजी का समय जहाँ पेशवा और मराठों की शक्ति की चरम सीमा का था वहीं वह पेशवाओं की शक्ति और मराठों की दुर्बलता का समय भी था।

अपने पिता की भाँति बालाजी को भी अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। कोंकण में तुलाजी आँग्रिया असन्तुष्ट था, रघुजी भौंसले आरम्भ में ही पेशवा से ईर्ष्या करता था तथा निजाम और उसके उत्तराधिकारी अपने वायदों को पूरा करने को तैयार न थे और कर्नाटक को लेकर सर्वदा पेशवा से झगड़ा करने को उद्यत रहते थे। राजपूतों से मराठों को अपने सम्बन्ध नवीन आधार पर निश्चित करने थे। सिन्धिया और होल्कर में उस समय मतभेद आरम्भ हो गया था। गायकवाड़ पेशवा से सन्तुष्ट न था। शाहू की स्वयं की कोई सन्तान न थी और वह वृद्ध हो चुका था जिससे पेशवा के सम्मुख उसके उत्तराधिकारी की समस्या थी। राज्य की

---

1 "After Balaji Pant, the elder, Balaji Rao achieved great deeds in the devoted service of the king. At length, he started with a view to crush the Iranis and establish an empire. But his life was cut short. You are his son and you ought to consummate his policy of conquering the whole of Hindustan, and establish an empire, and lead your horses beyond Attock." —*Dr. H. N. Sinha.*

आर्थिक स्थिति भी अच्छी न थी अपितु पेशवा बाजीराव पर्याप्त व्यक्तिगत कर्जा छोड़ गया था। इस प्रकार, आरम्भ से ही बालाजी कठिनाइयों से घिरा हुआ था। तब भी नवीन पेशवा ने साहस से इन सभी कठिनाइयों का मुकाबला किया और सफलता प्राप्त की।

आर्थिक स्वतन्त्रता

बालाजी ने सर्वप्रथम अपने परिवार के कर्ज को दूर करने का प्रयत्न किया। उसने कर्नाटक से धन वसूल किया और पुर्तगालियों से प्राप्त की हुई भूमि को शाहू से अपनी जागीर के रूप में माँग लिया। इससे उसने अपने कर्ज को चुका दिया और आर्थिक कठिनाइयों से अपने को मुक्त कर लिया।

तुलाजी आँग्रिया

शम्भाजी आँग्रिया की मृत्यु 1739 में हो गयी जिससे उत्तराधिकार के प्रश्न पर तुलाजी और मानाजी आँग्रिया में झगड़ा हो गया। पेशवा ने मानाजी आँग्रिया का पक्ष लिया। अन्त में, तुलाजी आँग्रिया की पराजय हुई और मानाजी आँग्रिया की सत्ता स्थापित हो गयी जो पेशवा के प्रति सर्वदा वफादार रहा।

मालवा

मराठे मालवा में 1728 में प्रवेश कर गये थे और 1738 में दुरई-सराय की सन्धि से निजाम ने मुगल-वजीर की हैसियत से मालवा पेशवा को दे दिया था। परन्तु इस शर्त को मुगल बादशाह ने स्वीकार नहीं किया था। मराठों ने सर्वप्रथम मालवा पर अपना पूर्ण अधिकार करने का प्रयत्न किया। बालाजी को अपने चाचा चिमनाजी अप्पा की मृत्यु के कारण कुछ समय के लिए रुकना पड़ा। परन्तु उसके पश्चात् वह एक बड़ी सेना लेकर मालवा की ओर चल दिया। जयपुर के शासक राजा जयसिंह ने बीच में पड़कर पेशवा और मुगल बादशाह में 1741 में एक सन्धि करा दी जिसके द्वारा मालवा पेशवा को दे दिया गया और पेशवा ने स्थायी रूप से 500 सैनिक और अवसर पड़ने पर 4,000 सैनिक मुगल बादशाह की सेवा में देने का वायदा किया। इस प्रकार, पहली बार मालवा पर पेशवा का कानूनी अधिकार हुआ और पेशवा ने मुगल बादशाह की सहायता करने का वायदा किया जिसके कारण मराठे दिल्ली की राजनीति से प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित हो गये।

कर्नाटक

1739 में ही रघुजी भौंसले ने कर्नाटक पर आक्रमण किया। 1741 में उसने कर्नाटक के नबाव दोस्तअली को मार दिया और उसके दामाद चाँद साहब को कैद करके सतारा भेज दिया। परन्तु 1743 में निजाम ने कर्नाटक पर अपना अधिकार कर लिया। 1745 में पेशवा ने बाबूजी नायक को और 1746 में सदाशिव भाऊ को कर्नाटक भेजा जिन्होंने कर्नाटक-विजय पूर्ण की।

उड़ीसा, बंगाल और बिहार

रघुजी भौंसले की महत्वाकांक्षा को सन्तुष्ट करने के लिए पेशवा ने उसे बंगाल, बिहार और उड़ीसा पर आक्रमण करने की स्वतन्त्रता दे दी। रघुजी ने अपने प्रतिनिधि भास्कर पन्त को इन सूबों के शासक अलीवर्दीखाँ से चौथ माँगने भेजा, परन्तु अलीवर्दीखाँ ने भास्कर पन्त को धोखे से मरवा डाला। इस पर कुपित होकर रघुजी ने उड़ीसा पर भीषण आक्रमण किया और 1751 में नबाव को उड़ीसा का सूबा और 12 लाख रुपया प्रतिवर्ष चौथ के रूप में देने के लिए बाध्य किया।

रघुजी भौंसले

रघुजी भौंसले आरम्भ से ही पेशवा के विरुद्ध था। 1739 और 1741 में उसने कर्नाटक पर आक्रमण किया था और बरार को वह जीत चुका था। उसने मालवा और बुन्देलखण्ड पर भी आक्रमण आरम्भ किये जो पेशवा की जागीर में थे। उसने धानाजी गायकवाड़ और बाबूजी नायक को भी पेशवा के विरुद्ध भड़काया। परन्तु पेशवा ने उनको परास्त कर दिया और बंगाल की ओर बढ़ा जहाँ उसने कई बार रघुजी भौंसले को परास्त किया। 1743 में शाहू ने रघुजी और पेशवा में समझौता करा दिया और उनके अधिकार-क्षेत्र का बँटवारा कर दिया। एक बार फिर शाहू ने दो बड़े सरदारों में समझौता कराकर अपने राजा होने का परिचय तो दिया परन्तु उनके अधिकार-क्षेत्रों का स्पष्ट विभाजन करके मराठा-शक्ति को दुर्बल बनाया और मराठा सरदारों को स्वतन्त्र होने के लिए प्रोत्साहन दिया।

निजाम और उसके उत्तराधिकारी

निजाम ने बाजीराव की मृत्यु के पश्चात् मुगल बादशाह मोहम्मदशाह को पेशवा को मालवा न देने के लिए भड़काया। परन्तु जब उसे अपने विद्रोही पुत्र नासिर-जंग के विरुद्ध मराठों से सहायता लेनी पड़ी तो उसने उन्हें पन्द्रह लाख रुपया दिया और मालवा के अलावा पचास लाख रुपया अतिरिक्त दिलाने के लिए प्रयत्न करने का आश्वासन दिया। परन्तु मराठों के कर्नाटक पर आक्रमण करने से वह पुनः असन्तुष्ट हो गया और जबकि पेशवा और रघुजी उत्तर-भारत में व्यस्त थे, उसने 1743 में कर्नाटक को जीत लिया और अल्पायु सईदखाँ को कर्नाटक का नवाब और अनवरुद्दीन को उसका संरक्षक नियुक्त कर दिया।

1748 में जब निजाम आसफखाँ की मृत्यु हुई, उस समय नासिरजंग, मुजफ्फर-जंग और बाद में सलावतजंग में गद्दी के लिए झगड़ा हुआ। अन्त में, जब सलावतजंग निजाम बना तब उसने मराठों को दो लाख रुपया वार्षिक लगान की भूमि देने का वायदा किया। इसके उपरान्त भी मराठे निरन्तर 1757, 1759 और 1760 में सलाबतजंग की सीमाओं पर आक्रमण करते रहे और धीरे-धीरे असीरगढ़, बुरहानपुर, दौलताबाद तथा आसपास के भाग पर उन्होंने अधिकार कर लिया जिसकी वार्षिक आय प्रायः 50 लाख रुपया प्रति वर्ष थी।

राजपूत

1743 में जयपुर के शासक सवाई जयसिंह की मृत्यु पर उसके पुत्रों, ईश्वर-सिंह और माधोसिंह, में झगड़ा हो गया। उदयपुर के शासक जगतसिंह ने माधोसिंह का पक्ष लिया परन्तु ईश्वरसिंह ने सिन्धिया और होल्कर की मदद से माधोसिंह को 1745 में परास्त कर दिया। कुछ समय बाद रानोजी सिन्धिया की मृत्यु के पश्चात् उनके पुत्र जयप्पा सिन्धिया ने माधोसिंह का पक्ष लेना आरम्भ किया, जिसके कारण जयप्पा सिन्धिया और मल्हारराव होल्कर में तीव्र मतभेद हो गया। यह झगड़ा इतना अधिक बढ़ गया कि स्वयं पेशवा को वहाँ जाना पड़ा। पेशवा ने ईश्वरसिंह से अपने चार जिले माधोसिंह को देने के लिए कहा और यह निर्णय देकर वापस चला गया। ईश्वर-सिंह इस कारण मराठों से असन्तुष्ट हो गया।

1750 में सिन्धिया और होल्कर ने जब ईश्वरसिंह से चौथ माँगी तो उसने दो लाख रुपया देना तो स्वीकार किया परन्तु दुखी होकर उसने विष खाकर आत्म-हत्या कर ली। उसकी तीन पत्नियों ने विष खा लिया और बीस उसके साथ सती हो

गयीं। इससे माधोसिंह को बहुत क्रोध आया और उसने मराठों से बदला लेने के लिए धोखे से हज़ारों मराठों को कत्ल कर दिया। इस घटना से मराठों और राजपूतों के सम्बन्ध खराब हो गये।

1752 में मारवाड़ राज्य के उत्तराधिकार के प्रश्न पर मराठों और राजपूतों में पुनः झगड़ा हो गया। बख्तसिंह की मृत्यु के पश्चात् रामसिंह ने उसके पुत्र विजयसिंह को अजमेर में घेर लिया। जयप्पा सिन्धिया ने रामसिंह की सहायता की। 1755 में विजयसिंह ने धोखे से जयप्पा सिन्धिया को कत्ल करा दिया। दत्ताजी सिन्धिया ने इसका बदला विजयसिंह से लिया। विजयसिंह से दत्ताजी ने 50 लाख रुपया तथा अजमेर और जालौन का भू-क्षेत्र लिया। उसे अपने भाई रामसिंह को भी अपना आधा राज्य देना पड़ा। इस प्रकार मराठों और राजपूतों के सम्बन्ध निरन्तर खराब होते चले गये जिसके कारण पानीपत के तृतीय युद्ध के अवसर पर राजपूतों ने मराठों को कोई सहायता नहीं दी, यहाँ तक कि मराठों को राजस्थान से भोजन-सामग्री भी प्राप्त न हो सकी।

जाट

मराठों ने इस अवसर पर एक भूल और की। उन्होंने मुगल बादशाह की तरफ से भरतपुर के राजा सूरजमल जाट से झगड़ा कर लिया। सूरजमल के प्रयत्न करने पर भी मराठों ने सन्धि को अस्वीकार कर दिया और कुम्भेर के किले पर घेरा डाल दिया। परन्तु जाटों के विरुद्ध मराठों को कोई सफलता न मिली और उन्हें घेरा उठाना पड़ा। उत्तर-भारत में जाट एक बहादुर हिन्दू कौम थी और उसका राजा सूरजमल बहादुर शासक था। उसको असन्तुष्ट करना मराठों की उत्तर-भारत की राजनीति में एक बड़ी भूल थी।

शाहू के उत्तराधिकार का प्रश्न

शाहू के अन्तिम दिन सुखमय न बीत सके। ताराबाई पुनः शक्ति प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करने लगी थी और मराठा सरदार एक-दूसरे के विरोधी होने लगे थे, यहाँ तक कि 1747 में एक बार कुछ समय के लिए पेशवा ने भी अपने पद को छोड़ दिया। उधर शाहू का स्वास्थ्य दिन-प्रतिदिन गिरता जा रहा था। जेल में बन्दी बनी हुई ताराबाई ने एक लड़के को प्रस्तुत किया और उसे अपने पुत्र शिवाजी का पुत्र बताया तथा शाहू से उसे गोद लेने की प्रार्थना की। कोल्हापुर का शम्भाजी भी शाहू का उत्तराधिकारी बनने का अभिलाषी था। इन्हीं परिस्थितियों में 25 दिसम्बर, 1749 को शाहू की मृत्यु हो गयी। अपनी मृत्यु से पहले उसने ताराबाई द्वारा प्रस्तुत बच्चे रामराजा को अपना उत्तराधिकारी बनाने की इच्छा प्रकट की। जनवरी 1750 में रामराजा छत्रपति बना। ताराबाई उस पर कठोर नियन्त्रण रखती थी और जब उसने ताराबाई के नियन्त्रण से मुक्त होने का प्रयत्न किया तब ताराबाई ने यह भेद खोला कि वह उसका वंशज न था। परिणाम यह हुआ कि पेशवा ने रामराजा को पूना बुलाया और उससे संगोला का समझौता कर लिया। इसके अनुसार छत्रपति ने राज्य के सभी प्रमुख अधिकार पेशवा को सौंप दिये। इसके पश्चात् राज्य का प्रधान पेशवा बन गया और मराठा-छत्रपति सतारा में नाम के शासक और वास्तविकता में एक बन्दी के रूप में रहने लगे।

इस समझौते के बावजूद भी ताराबाई ने एक बार फिर पेशवा का विरोध

करने का प्रयत्न किया। जब पेशवा निजाम पर आक्रमण करने के लिए बाहर गया हुआ था तो उसने कुछ सरदारों, मुख्यतया दमाजी गायकवाड़, की सहायता से पूना पर आक्रमण किया। परन्तु ताराबाई को इसमें सफलता न मिली। उसकी पराजय हुई। गायकवाड़ गुजरात चला गया परन्तु वह पेशवा से सर्वदा असन्तुष्ट रहा। रामराजा को कैद में डाल दिया गया। इस प्रकार पेशवा ने संघर्ष में सफलता पायी।

1752 में पेशवा ने जो सन्धि मुगल बादशाह से की, उसके द्वारा एक ओर तो मराठों ने सम्पूर्ण भारत से चौथ लेने का अधिकार प्राप्त किया और दूसरी ओर मुगल बादशाह को अवसर पर सहायता देने का वायदा किया। इस कारण, मराठों के लिए उत्तर-भारत की राजनीति में हस्तक्षेप करना अनिवार्य हो गया और वे प्रत्यक्ष रूप से दिल्ली की राजनीति से सम्बन्धित हो गये।

मराठों का दिल्ली और पंजाब की राजनीति में हस्तक्षेप तथा पानीपत के तृतीय युद्ध की पृष्ठभूमि का निर्माण

मुगल बादशाह की दुर्बलता के कारण दरबार में भारतीय मुसलमानों और तूरानी मुसलमानों के जो दो परस्पर-विरोधी दल बने हुए थे और जो शक्ति के लिए निरन्तर संघर्ष करते रहते थे, उनकी राजनीति में भी मराठों को हस्तक्षेप करना पड़ा। मराठे भारतीय मुसलमान दल के समर्थक बने और वे एक प्रकार से मुगल बादशाहों के बनाने या बिगाड़ने वाले बन गये। परन्तु विदेशी मुसलमानों का दल उनसे असन्तुष्ट हो गया और उस दल ने विदेश से सहायता प्राप्त करने का प्रयत्न किया। यह सुविधा उन्हें सहज ही प्राप्त हो गयी क्योंकि अफगानिस्तान का तत्कालीन शासक अहमदशाह अब्दाली पंजाब, मुल्तान और कश्मीर को अपने राज्य की सीमाओं में मानता था और इस उद्देश्य से भारत पर आक्रमण करने तथा दिल्ली की राजनीति में हस्तक्षेप करने को तत्पर था। इस कारण, मराठे अहमदशाह अब्दाली के विरोध में आये और पानीपत का तृतीय युद्ध हुआ।

इस प्रकार, मुगल बादशाह की दुर्बलता, उसके सरदारों का दो दलों में विभाजित होना, मराठों का मुगल बादशाह को सहायता देने का वायदा और उससे भी अधिक उत्तर-भारत में मराठा-शक्ति को फैलाने की महत्वाकांक्षा तथा दूसरी ओर अहमदशाह अब्दाली की भारत के विदेशी मुसलमानों को सहायता देने की नीति और पंजाब, मुल्तान, आदि पर अपनी सत्ता स्थापित करने की इच्छा, आदि पानीपत के तृतीय युद्ध के प्रमुख कारण बने।

1752 में मुगल बादशाह अहमदशाह ने अहमदशाह अब्दाली के आक्रमण करने पर पंजाब और मुल्तान उसे सौंप दिये थे और अब्दाली इन सूबों को मुइन-उल-मुल्क के हाथों में देकर वापस चला गया था। 1753 में मुइन-उल-मुल्क की मृत्यु हो गयी और उसकी विधवा मुगलानी बेगम शासन की ठीक से देखभाल न कर सकी। इसी समय दिल्ली की राजनीति में परिवर्तन हुआ। रघुनाथराव के नेतृत्व में मराठों ने उत्तर-भारत पर आक्रमण किया और वजीर गाजीउद्दीन को मुगल बादशाह अहमदशाह को सिंहासन से उतारने में सहायता दी। उसके पश्चात् आलमगीर द्वितीय मुगल बादशाह बना। मराठों का प्रभुत्व दिल्ली और दोआब में स्थापित हो गया। परन्तु इससे विदेशी मुसलमानों का वर्ग बहुत असन्तुष्ट था जिनमें एक प्रमुख सरदार रुहेला सरदार नजीबुद्दौला भी था। 1756 में वजीर, गाजीउद्दीन इमाद-उल-मुल्क ने पंजाब और मुल्तान को मुगलानी बेगम से छीन लिया और अदीना बेग को अपना

सूबेदार बनाकर यह प्रदेश उसे सौंप दिया। अब्दाली इससे असन्तुष्ट हुआ। नजीबुद्दौला और मुगलानी बेगम ने उससे सहायता माँगी और 1756 में अब्दाली ने पंजाब पर आक्रमण किया। पंजाब को जीतकर 1757 में वह दिल्ली पहुँचा। दिल्ली तथा उसके समीपवर्ती इलाके को लूटकर और नजीबुद्दौला को मीरबख्शी बनाकर उसी वर्ष वह काबुल चला गया। जाते समय अब्दाली अपने पुत्र तैमूरखाँ को पंजाब का सूबेदार बना गया।

अब्दाली के इस आक्रमण के अवसर पर पेशवा ने रघुनाथराव को दिल्ली की ओर भेज दिया था। परन्तु उसके दिल्ली पहुँचने से पहले अब्दाली वापस जा चुका था। रघुनाथराव ने नजीबुद्दौला के स्थान पर अहमदशाह बंगश को मीरबख्शी बनाया यद्यपि मल्हारराव होल्कर के हस्तक्षेप के कारण नजीबुद्दौला को क्षमा कर दिया गया। इसके बाद रघुनाथराव ने तैमूरखाँ को परास्त करके सूबेदार अदीना बेग को पंजाब दे दिया। तत्पश्चात् तुकोजी होल्कर और साबाजी सिन्धियाँ को उत्तर-भारत में छोड़कर रघुनाथराव 1758 में पूना वापस चला गया।

पेशवा ने रघुनाथराव को पूना बुलाकर दत्ताजी सिन्धिया को उत्तर-भारत भेज दिया था। दत्ताजी ने साबाजी सिन्धिया को पंजाब का सूबेदार बनाया और दोआब की व्यवस्था करने लिए नजीबुद्दौला से बातचीत की। परन्तु दत्ताजी आरम्भ से ही नजीबुद्दौला के प्रति शंकालु था और उधर नजीबुद्दौला भी मराठों से घृणा करता था। उसने अब्दाली को भारत पर आक्रमण करने के लिए पहले से ही बुलावा दे रखा था। इस कारण, नजीबुद्दौला से कोई समझौता होने की बजाय युद्ध आरम्भ हो गया और दत्ताजी ने शकरताल में नजीबुद्दौला को घेर लिया।

इसी अवसर पर अहमदशाह अब्दाली ने पंजाब पर आक्रमण किया और साबाजी सिन्धिया को पंजाब छोड़कर भागना पड़ा। अब्दाली के आक्रमण के भय से आक्रान्त वजीर इमाम-उद-मुल्क ने मुगल बादशाह आलमगीर द्वितीय का वध कर डाला और स्वयं भरतपुर के जाट-शासक सूरजमल की शरण में चला गया। अब्दाली दिल्ली की ओर बढ़ता गया। दिल्ली की रक्षा करने के लिए दत्ताजी ने शकरताल का घेरा उठा लिया और 1759 में दिल्ली की ओर बढ़ा। दिल्ली से दस मील दूर लोनी के निकट जनवरी 1760 में दत्ताजी का अब्दाली से मुकाबला हुआ जिसमें दत्ताजी मारा गया और मराठों की पराजय हुई। अब्दाली ने दिल्ली पर अधिकार कर लिया। नजीबुद्दौला उस समय तक अब्दाली से मिल गया था। उसने अब्दाली से कुछ समय भारत में रुकने की प्रार्थना की, जिससे मराठों की शक्ति को पूर्णतया समाप्त किया जा सके।

जब पेशवा को दत्ताजी की मृत्यु का समाचार प्राप्त हुआ तब उसने अपने चचेरे भाई सदाशिवराव भाऊ के नेतृत्व में अब्दाली को भारत से निकालने के लिए एक बड़ी सेना उत्तर-भारत भेजी। अगस्त 1760 में मराठे दिल्ली पहुँचे जबकि अब्दाली दिल्ली को छोड़कर जा चुका था। उस समय अब्दाली और सदाशिवराव का कूटनीतिक युद्ध आरम्भ हुआ। दोनों ने अपने-अपने पक्ष को शक्तिशाली बनाने के लिए उत्तर-भारत के विभिन्न सरदारों को अपने पक्ष में करने का प्रयत्न किया। इस सन्दर्भ में नजीबुद्दौला ने अब्दाली की विशेष सहायता की और वह सफल भी हुआ। निस्सन्देह, सदाशिवराव एक बहादुर और योग्य सैनिक था, परन्तु वह कूटनीतिक न था तथा कुछ दम्भी भी था। इस कारण, वह कूटनीति में नजीबुद्दौला के मुकाबले सफल न हो

सका। अब्दाली ने घोषणा की कि उसका उद्देश्य स्वयं भारत में रहने का नहीं है अपितु वह तो केवल दक्षिण के इन मराठों से उत्तर-भारत को स्वतन्त्र कराने के लिए तथा मुगल बादशाह शाहआलम को, जो उस समय में अवध में था, दिल्ली के सिंहासन पर बैठाने के लिए रुका हुआ है। सदाशिवराव ने प्रचार किया कि यह भारतीयों का विदेशियों से युद्ध है और वह आक्रमणकारी को स्वदेश से निकालने के लिए संघर्ष कर रहा है। परन्तु इस प्रचार से भी सदाशिवराव मुसलमानों का विश्वास प्राप्त न कर सका अपितु वह अपनी भूल से सूरजमल जाट को भी खो बैठा। सूरजमल उत्तर-भारत का एक शक्तिशाली राजा था। युद्ध-नीति और मुगल बादशाहों के प्रति व्यवहार के प्रश्न को लेकर उसका सदाशिवराव से मतभेद हो गया और वह अपने राज्य में वापस चला गया। राजपूत सरदार पहले से ही मराठों से असन्तुष्ट थे। इस कारण, उनमें से कोई भी मराठों की सहायता के लिए नहीं आया। दूसरी ओर, नजीबुद्दौला ने धर्म की दुहाई देकर अवध के नवाब शुजाउद्दौला को ही अपने पक्ष में नहीं किया अपितु चालाकी से मराठा सरदार मल्हारराव होल्कर से भी साँठ-गाँठ कर ली। इस प्रकार, जबकि सदाशिवराव के पक्ष में कोई नहीं हुआ, अब्दाली के पक्ष के बल की वृद्धि हुई।

सेनापति की दृष्टि से भी सदाशिवराव अब्दाली के मुकाबले अयोग्य सिद्ध हुआ। दिल्ली में उसके पास रसद की कमी होने लगी। उधर अब्दाली भी रसद की कमी अनुभव कर रहा था। दोनों तरफ से सन्धि की चर्चा हुई परन्तु नजीबुद्दौला के विरोध के कारण सन्धि न हो सकी। कुंजपुरा पर अधिकार करने से मराठों को कुछ मात्रा में रसद प्राप्त हो गयी परन्तु वह लम्बे समय तक के लिए पर्याप्त नहीं थी। अन्त में, युद्ध करने की दृष्टि से मराठे पानीपत के मैदान में पहुँच गये जहाँ अब्दाली पहले ही पहुँच चुका था। नवम्बर 1760 में दोनों सेनाएँ एक-दूसरे के सामने पहुँच गयी थीं जबकि युद्ध 14 जनवरी, 1761 को आरम्भ हुआ।

युद्ध

14 जनवरी, 1761 को प्रातःकाल 9 बजे मराठों ने आक्रमण किया। युद्ध के बीच में मल्हारराव होल्कर युद्ध छोड़कर भाग गया। इब्राहीम गार्दी के तोपखाने ने अब्दाली सेना को बहुत हानि पहुँचायी, परन्तु शाम तक सम्पूर्ण मराठा सेना भाग गयी अथवा कत्ल कर दी गयी। पेशवा का ज्येष्ठ पुत्र विश्वासराव, सदाशिवराव स्वयं, जसवन्तराव पवार, तुकोजी सिन्धिया, आदि युद्ध में मारे गये। इब्राहीम गार्दी और जानकोजी सिन्धिया बाद में कत्ल कर दिये गये। महादजी सिन्धिया घायल होकर भाग गया। दूसरे दिन तक मराठों का कत्ल होता रहा। महाराष्ट्र में कोई एक परिवार ऐसा न था जिसने अपने किसी न किसी व्यक्ति की मृत्यु पर शोक न मनाया हो।

परिणाम

इतिहासकारों में पानीपत के युद्ध के परिणामों के विषय में मतभेद है। सरदेसाई जैसे मराठा-इतिहासकार सर्वदा यह कहते रहे हैं कि इस युद्ध से मराठों की जन-हानि अवश्य हुई परन्तु मराठा-शक्ति का विनाश नहीं हुआ और न उसके उद्देश्य में कोई परिवर्तन हुआ। परन्तु इतिहासकार डॉ. जदुनाथ सरकार के अनुसार यह मराठों की बहुत गम्भीर पराजय थी। इसमें मराठों ने अपने योग्य और बहादुर सेनापति खो दिये जिसके कारण बाद में रघुनाथराव जैसे दुर्बल और षड्यन्त्रकारी मराठा-

सरदारों को मराठा-राजनीति में भाग लेने का अवसर मिला। पेशवाओं की शक्ति दुर्बल हो गयी और मराठा-संघ छिन्न-भिन्न होने लगा। उत्तर-भारत में मराठों की प्रगति रुक गयी। निस्सन्देह, सिन्धिया कुछ समय के लिए मुगल बादशाह का संरक्षक बन सका परन्तु उत्तर-भारत में मराठों का स्थायी प्रभाव स्थापित न हो सका। इसी कारण, अंग्रेजों को फ्रान्सीसियों की शक्ति को समाप्त करने तथा बंगाल में अपनी शक्ति स्थापित करने का अवसर मिल सका। निस्सन्देह, इस युद्ध के पश्चात् मराठों का सम्मान भारत में कम हो गया और वे पर्याप्त समय तक इस पराजय के धक्के से सँभल नहीं सके। अब मराठा-सेना भारत में अजेय नहीं रह गयी और जो समय मराठों ने अपनी शक्ति को पुनः प्राप्त करने में लगाया, उस समय में अन्य शक्तियों को भी अपनी स्थिति दृढ़ करने का अवसर मिल गया। मराठे अब सम्पूर्ण भारत की शक्ति होने का दावा न कर सके अपितु वे भारत की शक्तियों में से एक बन गये और बाद में मराठा-संघ की फूट और दुर्बलताओं ने उन्हें एक विदेशी शक्ति के सम्मुख झुका दिया।

मराठों की पराजय के कारण

इस युद्ध में मराठों की पराजय का प्रमुख कारण सदाशिवराव भाऊ की कूट-नीतिक असफलता और अब्दाली की तुलना में उसका दुर्बल सेनापतित्व था। मराठों के साथ स्त्रियों और नौकरों की संख्या बहुत अधिक थी जिनकी रक्षा ही नहीं करनी पड़ती थी अपितु उनके भोजन का भी प्रबन्ध करना पड़ता था। मराठा सैनिकों की संख्या केवल 45,000 थी जबकि अब्दाली सेना की संख्या 60,000 थी। भाऊ अपनी भूल से और अपनी सेना के गलत संचालन से दोआब को खो बैठा। वह रसद का प्रबन्ध न कर सका और तीन महीने तक अब्दाली के सम्मुख पड़ा रहा। उसने ऐसी स्थिति में युद्ध किया जबकि मराठा-सैनिकों को दो महीने से पर्याप्त भोजन तक नहीं प्राप्त हो रहा था। भाऊ ने मराठा-गुरिल्ला युद्ध-पद्धति का प्रयोग नहीं किया, इब्राहीम गार्दी के तोपखाने पर अधिक भरोसा किया और सुरक्षात्मक युद्ध करने की नीति का सहारा लिया जिसमें मराठों के मुकाबले अब्दाली अधिक योग्य था। अब्दाली के पास बन्दूकें थीं, और उसकी घुड़सवार और ऊँट-सेना अवसर के अनुसार अपनी स्थिति में परिवर्तन कर सकती थी जबकि मराठा-सेना में घुड़सवारों की कमी थी और जिस प्रकार उन्होंने युद्ध किया, उससे वे अपनी गति को खो बैठे। सदाशिवराव भाऊ का राजपूतों की सहानुभूति और सूरजमल जाट की सहायता प्राप्त न कर पाना भी उसकी असफलता और दुर्बलता का कारण रहा। इस प्रकार सभी परिस्थितियाँ ऐसी बन गयी थीं जिसमें मराठों की पराजय प्रायः निश्चित थी। इस कारण, यह युद्ध न रह कर हत्याकाण्ड बन गया था।

पानीपत के युद्ध के विनाश के धक्के को बालाजी अधिक समय तक बर्दाश्त न कर सका। 25 जून, 1761 को पेशवा बालाजी बाजीराव की मृत्यु हो गयी।

पेशवा बालाजी बाजीराव की मृत्यु : उसका व्यक्तित्व और इतिहास में स्थान

पेशवा बालाजी बाजीराव सुन्दर और मृदुभाषी था। अपने पूर्व-पेशवाओं के विपरीत वह कला का प्रेमी और विलासी था। साधारण दृष्टि से वह सफल सैनिक और कूटनीतिज्ञ था। उसके समय में मराठा-साम्राज्य का विस्तार हुआ और "मराठा घोड़ों ने कन्याकुमारी से लेकर हिमालय के झरनों तक अपनी प्यास बुझाई।" पेशवा बालाजी कुछ मात्रा में अच्छा शासन-प्रबन्धक

भी था। उसने महाराष्ट्र में अच्छी अर्थ-व्यवस्था और निष्पक्ष न्याय की स्थापना करने का प्रयत्न किया था और पर्याप्त मात्रा में इसमें सफलता भी पायी थी।

परन्तु बालाजी समय के अनुकूल सेनापति, शासन-प्रबन्धक और महान् कूटनीतिज्ञ सिद्ध नहीं हुआ। अपने पिता की तुलना में, निस्सन्देह, वह इन क्षेत्रों में दुर्बल सिद्ध हुआ। उसने होल्कर और सिन्धिया को अपने वश में नहीं रखा और न उनके झगड़ों का निबटारा कर सका। वह मल्हारराव होल्कर और नजीबुद्दौला की साठगाँठ को न तो रोक सका और न मल्हारराव को कभी दण्डित ही कर सका। वह गायकवाड़ और रघुजी भौंसले को भी अपने नियन्त्रण में नहीं रख सका और न ही राजपूतों और जाटों के प्रति किये गये मराठों के दुर्व्यवहार को रोक सका। संक्षेप में, बढ़ती हुई मराठा-शक्ति के प्रभाव को न तो वह सीमित रख सका और न ही उसको गलत रास्ते से बचाकर ठीक मार्ग पर ला सका। मराठा-शक्ति उसके समय में अपनी चरम सीमा पर थी और मराठे भारत की सबसे बड़ी शक्ति बन गये थे, परन्तु उस शक्ति का सदुपयोग और उसके स्थायित्व की उचित व्यवस्था करने में बालाजी असमर्थ रहा। इसी नियन्त्रण के अभाव में मराठा-शक्ति अव्यवस्थित रूप में एक विदेशी और भारत से सहायता-प्राप्त संगठित शक्ति से टकरा गयी, और उसे भारी क्षति उठानी पड़ी। यदि मराठा-शक्ति एकत्रित होती और उसे पानीपत के युद्ध से पहले तथा युद्ध के समय योग्य नेतृत्व प्राप्त हुआ होता तो सम्भवतया पानीपत के युद्ध का निर्णय कुछ और ही होता। इसी प्रकार, बालाजी मराठा-शक्ति को उचित शासन-व्यवस्था भी प्रदान न कर सका। मराठे भारत की सबसे बड़ी शक्ति उसी समय बन सकते थे जबकि वे भारत में एक निष्पक्ष और दृढ़ शासन स्थापित करने का प्रमाण देते। साम्राज्य की आधारशिला केवल सैन्य-बल पर ही आधारित नहीं होती अपितु उसके लिए शान्ति और दृढ़ शासन-व्यवस्था भी आवश्यक है। बालाजी बढ़ती हुई मराठा-शक्ति को यह प्रदान न कर सका और इस प्रकार मराठों को समय और परिस्थितियों के अनुकूल नेतृत्व प्रदान करने में असफल रहा। इस प्रकार बालाजी का समय एक तरफ यद्यपि महान् सफलताओं का था तो दूसरी तरफ असफलताओं का भी रहा था।

4. पेशवा माधवराव नारायन (1761-72 ई.)

बालाजी की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र माधवराव नारायन पेशवा बना। पेशवा बनने के अवसर पर उसकी आयु केवल 17 वर्ष की थी। वह अधिक समय जीवित भी न रहा। तब भी माधवराव ने जो सफलता अपने थोड़े समय में प्राप्त की, उसके कारण उसे महान् पेशवाओं में से एक माना गया है। उसका समय अनेक कठिनाइयों से आरम्भ हुआ। उसकी अल्पायु के कारण उसका चाचा रघुनाथराव उसका संरक्षक नियुक्त किया गया। रघुनाथराव स्वयं महत्त्वाकांक्षी था। वह पेशवा तो न बन सका परन्तु उसका संरक्षक होकर उसने राज्य की शक्ति को अपने हाथों में लेने का प्रयत्न किया। उसकी महत्त्वाकांक्षाओं और राजनीति में हस्तक्षेप ने पेशवा के सम्मुख विभिन्न कठिनाइयाँ उपस्थित कीं। पानीपत के तृतीय युद्ध के पश्चात् उत्तर-भारत में मराठों का प्रभाव नष्ट हो गया था। राजस्थान और बुन्देलखण्ड के शासकों ने मराठों की सत्ता को मानने से इन्कार कर दिया था, जाटों और रुहेला सरदार नजीबुद्दौला को अपनी-अपनी शक्ति को दृढ़ करने का अवसर मिल गया था, अंग्रेज न केवल बंगाल में ही अपना प्रभाव बढ़ा रहे थे अपितु दक्षिण-भारत में भी अपनी शक्ति को दृढ़ कर रहे थे तथा दक्षिण-भारत में जबकि हैदराबाद के निजाम ने मराठों के

लिए सर्वदा कठिनाइयाँ उपस्थित की थीं, हैदरअली ने मैसूर राज्य को शक्तिशाली बनाने में सफलता पा ली थी। इस प्रकार माधवराव के सम्मुख विभिन्न आन्तरिक और बाह्य कठिनाइयाँ थीं। वस्तुतः पानीपत के तृतीय युद्ध ने मराठा-शक्ति को सम्पूर्ण भारत में हानि पहुँचाई थी। भारत के सभी भागों में उनका आतंक और सम्मान नष्ट होने की स्थिति में था।

पेशवा माधवराव ने इन सभी परिस्थितियों का दृढ़ता, कूटनीति और युद्ध से मुकाबला किया और सफलता प्राप्त की। उसने अपने चाचा रघुनाथराव से कूटनीतिक व्यवहार किया। वह उसका सम्मान करता रहा परन्तु उसने राज्य की शक्ति को अपने हाथों से नहीं निकलने दिया। वह सफलता से उसकी महत्वाकांक्षा पर भी अंकुश लगा सका। हैदराबाद के निजाम और मैसूर के वास्तविक शासक हैदरअली के प्रति उसने दृढ़ नीति अपनायी और उन्हें विभिन्न अवसरों पर युद्धों में पराजित किया। वे दोनों मराठों को "चौथ" देने के लिए बाध्य हुए और कभी भी सफलता से मराठों का विरोध न कर सके। कूटनीति में उसका समय नाना फड़नवीस और महादजी सिन्धिया के शिक्षा-काल का समय था। उत्तर-भारत में पेशवा माधवराव ने कौशल और कूटनीति से कार्य किया। उसने अहमदशाह अब्दाली से परस्पर शान्ति बनाये रखने की शर्त पर सन्धि कर ली जिससे वह राजपूतों, जाटों तथा रुहेलों से सम्बन्ध बनाने में अधिक स्वतन्त्र हो गया। राजपूतों और जाटों ने पुनः मराठों के आधिपत्य को स्वीकार कर लिया और रुहेला-सरदार नजीबुद्दौला ने मराठों से समझौता कर लिया। इस कार्य में महादजी सिन्धिया से उसे बहुत सहायता मिली। मुगल-बादशाह शाहआलम बक्सर के युद्ध के पश्चात् अंग्रेजों के संरक्षण में इलाहाबाद में रहने लगा था। फरवरी 1771 में उसने मराठों से एक समझौता किया, अनूपशहर में महादजी सिन्धिया से भेंट की और जनवरी 1772 में मराठा-संरक्षण में दिल्ली वापस आ गया।

इस प्रकार पेशवा माधवराव ने उत्तर और दक्षिण-भारत में मराठा-प्रभाव को पुनः स्थापित करने में सफलता प्राप्त की। पानीपत के तृतीय युद्ध से जो हानि मराठा-शक्ति और प्रभाव को भारत में हुई थी, उससे मराठों को निकालकर उनकी शक्ति और प्रभाव को पुनः स्थापित करने का श्रेय माधवराव को गया। इसी कारण, उसे महान् पेशवाओं में स्थान प्रदान किया गया। परन्तु माधवराव अधिक समय तक जीवित न रहा। 1772 में उसकी मृत्यु हो गयी।

5. पेशवा नारायनराव (1772-1773 ई.)

माधवराव की मृत्यु के पश्चात् नारायनराव पेशवा बना। उसका चाचा रघुनाथराव माधवराव के समय में पेशवा बनने की अपनी महत्वाकांक्षा की पूर्ति न कर सका था। माधवराव की मृत्यु के पश्चात् भी उसे वह अवसर प्राप्त न हुआ उसने षड्यन्त्र का सहारा लिया। 30 अगस्त, 1773 को उसने पेशवा नारायनराव का वध करा दिया और पेशवा की गद्दी पर अपना दावा किया। पूना के मराठा सरदारों ने उसके अधिकार को स्वीकार नहीं किया अपितु नारायनराव की मृत्यु के पश्चात् पैदा हुए उसके पुत्र को पेशवा बनाया। नाना फड़नवीस उन सरदारों में प्रमुख था। रघुनाथराव ने भागकर अंग्रेजों की बम्बई-सरकार से सहायता माँगी जिसका परिणाम प्रथम मराठा युद्ध हुआ।

6. महादजी सिन्धिया

माधवराव की मृत्यु के समय से यशस्वी पेशवाओं का काल समाप्त हो

गया। नारायनराव के समय में पेशवा परिवार में पारिवारिक झगड़े आरम्भ हुए और धीरे-धीरे मराठों के पराभव का समय आरम्भ हुआ। महादजी सिन्धिया अन्तिम मराठा सरदार हुआ जिसने उत्तर-भारत में मराठा-शक्ति को बनाये रखने में सफलता पायी। उसने सिक्खों और जाटों से अच्छे सम्बन्ध बनाये रखे, राजपूतों को मराठों के संरक्षण में रखा और मुगल बादशाह को मराठों का पेन्शनर बनाये रखा। परन्तु मल्हारराव होल्कर से उसकी प्रतिस्पर्धा थी। सिन्धिया और होल्कर के पारस्परिक झगड़ों में पूना-दरबार हस्तक्षेप न कर सका जिसका अन्तिम परिणाम मराठा-सरदारों का पारस्परिक संघर्ष हुआ। महादजी ने अपने समय में होल्कर को परास्त किया और मराठा-सरदारों में सबसे अधिक शक्तिशाली बन गया। परन्तु फरवरी 1774 में उसकी मृत्यु से अन्तिम प्रभावशाली मराठा-सरदार भारतीय राजनीति से अलग हो गया।

12
मुगल शासन-व्यवस्था

[1]
केन्द्रीय शासन-व्यवस्था

मुगल शासन-व्यवस्था एक समय में भारत के सभी संगठित और सुसभ्य भागों में फैली हुई थी और उसका प्रभाव बहुत से क्षेत्रों में अँग्रेजी शासन-व्यवस्था के अन्तर्गत भी पाया जा सकता था। मुगल विदेशी थे और उनकी शासन-व्यवस्था में विदेशी तत्व प्राप्त होते हैं। फारस और अरब की व्यवस्था के चिह्न उसमें स्पष्ट हैं। परन्तु मुगलों ने उसे अपने से पहले के तुर्क और अफगान शासकों से पर्याप्त भिन्न कर दिया था तथा उसमें भारतीय शासन-व्यवस्था और उसके आदर्श बहुत बड़ी मात्रा में सम्मिलित हो गये थे। निस्सन्देह, मुगल शासन-व्यवस्था की उत्पत्ति का आधार सैनिक था और अपने आधार की इस विशेषता को उसने अन्त तक स्थिर रखा। परन्तु उसमें प्रजा की भलाई और उन्नति को भी सम्मिलित किया गया था। मुगल बादशाहों ने मूल आधार पर ही शासन-व्यवस्था के कुछ सिद्धान्तों में परिवर्तन किया। बाबर ने 'बादशाह' की उपाधि ग्रहण करके मुगल बादशाहों को खलीफा के नाममात्र के आधिपत्य से मुक्त कर दिया और उसी के समय से मुगल बादशाह किसी प्रकार भी किसी विदेशी सत्ता अथवा व्यक्ति के अधीन नहीं रह गये। अकबर ने अपने को इस्लाम के कानूनों के बारे में आखिरी निर्णायक घोषित करके बादशाह की स्थिति को और भी श्रेष्ठ बना दिया। मुगल राज्य एक धार्मिक राज्य (Theocracy) भी न था। औरंगजेब के अतिरिक्त किसी भी अन्य महान् मुगल बादशाह ने इस्लाम धर्म के सिद्धान्तों को अपने राज्य की नीति का आधार नहीं बनाया। मुगल शासन केवल एक पुलिस-व्यवस्था भी नहीं माना जा सकता। मुगल बादशाहों ने अपनी प्रजा के दैनिक जीवन में कोई हस्तक्षेप नहीं किया। मुगल बादशाहों ने, निस्सन्देह, बादशाह के दो कर्तव्य माने थे—जहाँबानी (राज्य की रक्षा) और जहाँगीरी (अन्य राज्यों पर अधिकार)। परन्तु हिन्दू राजाओं ने भी इसे अपना कर्तव्य माना था। इसके अतिरिक्त, मुगलों ने अपनी प्रजा के लिए अच्छी और सुसभ्य जीवन की परिस्थितियों का निर्माण करना भी अपना कर्तव्य समझा। इसी कारण, मुगल-काल में आर्थिक ही नहीं अपितु सभ्यता और संस्कृति की उन्नति भी सम्भव हो सकी। धार्मिक दृष्टि से मुगलों ने एक नवीन युग को आरम्भ किया। उनसे पूर्ववर्ती दिल्ली सल्तनत के शासकों में से एक भी धार्मिक दृष्टि से उदार नहीं माना जा सकता। मुगलों के समय से धार्मिक उदारता का समय आरम्भ हुआ। अधिकांश महान् मुगल बादशाहों की शासन-व्यवस्था धार्मिक सहिष्णुता पर आधारित रही। बाबर और हुमायूँ धार्मिक

दृष्टि से कट्टर न थे और अकबर ने सभी धर्मों की समानता के आधार पर अपनी शासन-नीति का निर्माण किया। महान् मुगल बादशाहों में से केवल औरंगजेब एक ऐसा बादशाह हुआ जिसने धार्मिक असहिष्णुता की नीति को अपनाया। इस कारण, मुगल शासन-व्यवस्था अपनी नवीन विशेषताओं को लिये हुए थी जो भारत के पहले मुसलमान शासकों से भिन्न थी। **अकबर ने मूलतया इस मुगल शासन-व्यवस्था का निर्माण किया और साधारण परिवर्तनों के अतिरिक्त यह व्यवस्था औरंगजेब के समय तक मुगलों के शासन का आधार रही।** औरंगजेब के दुर्बल उत्तराधिकारी इस व्यवस्था को स्थापित न रख सके जिसका परिणाम 18वीं सदी की अव्यवस्था हुआ।

यह विचार व्यक्त किया गया है कि मुगलों की शासन-व्यवस्था पर विदेशी प्रभाव था। मुगलों के प्रशासकीय विभागों के विभाजन, अधिकारियों के पदों को निश्चित करने के तरीके, उनके नामांकन करने के तरीके, उनके प्रशासकीय नियमों, आदि पर अरब और पर्शिया के शासन-प्रबन्ध का प्रभाव स्पष्ट है। यह मत पर्याप्त मात्रा में ठीक है। परन्तु इसमें में भी कोई सन्देह नहीं कि मुगल-शासकों ने किसी विदेशी शासन की नकल नहीं की थी। उन्होंने विदेशी शासन की उन बातों को अपने शासन में सम्मिलित कर लिया था जो भारतीय परिस्थितियों में उन्हें उपयुक्त लगी थीं।

1. मुगल बादशाह

मुगल बादशाह राज्य का प्रधान था। वही राज्य का अन्तिम कानून-निर्माता, शासन-व्यवस्थापक, न्यायाधीश और सेनापति था। अकबर के समय से धार्मिक मामलों में भी श्रेष्ठता को प्राप्त करने से मुगल बादशाहों के अधिकारों में वृद्धि हो गयी। इस प्रकार, राज्य में बादशाह की स्थिति सर्वोच्च और शक्ति असीमित थी। वह शक्ति, वैभव और सम्मान की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ था। बादशाह के मन्त्री, सरदार और सलाहकार उसे सलाह तो दे सकते थे परन्तु उनकी सलाह बादशाह के लिए बाध्यकारी न थी। प्रत्येक बात में अन्तिम निर्णय बादशाह का होता था। अकबर के समय से बादशाह को ईश्वर के प्रतिनिधि के रूप में माना जाने लगा। अबुल फजल ने जिस राजत्व-सिद्धान्त का समर्थन किया, उसके अनुसार बादशाह एक साधारण मानव से कहीं अधिक था। वह ईश्वर का प्रतिनिधि था, वह पृथ्वी पर ईश्वर का रूप था और उसे साधारण व्यक्ति की तुलना में ईश्वर ने अधिक बुद्धि और विवेक प्रदान किया था। इसी कारण, अकबर ने 'झरोखा-दर्शन' तथा 'तुलादान' जैसी प्रथाओं को आरम्भ किया। मुगल बादशाहों का यह राजत्व सम्बन्धी सिद्धान्त हिन्दू राजत्व-सिद्धान्त के समान था। इस प्रकार, सम्पूर्ण शक्तियों को अपने में केन्द्रित करने और देवत्व के अंश को अपने में मानकर मुगल बादशाह पूर्णतया निरंकुश थे। परन्तु मुगल बादशाह स्वेच्छाचारी अथवा अत्याचारी न थे। उन्होंने प्रजा की भलाई करना अपना प्रमुख कर्तव्य समझा। अकबर का कहना था : "एक राजा को न्यायप्रिय, निष्पक्ष, उदार, परिश्रमी और अपनी प्रजा का संरक्षक और शुभचिन्तक होना चाहिए। बादशाह के लिए अनीति और अत्याचार अनुचित है।" औरंगजेब भी अपने इस कर्तव्य के प्रति जागरूक था यद्यपि उसके कर्तव्य की परिभाषा धार्मिक कर्तव्य के कारण सीमित हो गयी थी। परन्तु वह भी 'बादशाहत को ईश्वर द्वारा प्रदान किया गया उत्तरदायित्व' मानता था। इस कारण, मुगल बादशाह सर्वदा 'उदार निरंकुश शासक' थे जिन्होंने अपनी प्रजा की भलाई का ध्यान रखा। अपने इस कर्तव्य की पूर्ति के लिए

प्रत्येक मुगल बादशाह कठिन परिश्रम करता था। मुगल बादशाहों की दैनिक दिनचर्या से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनमें से प्रत्येक सूर्योदय से बहुत पहले उठता था और रात्रि तक कार्य में लगा रहता था। आरामपसन्द जहाँगीर भी स्वयं सात या आठ घण्टे राज्य-कार्य में लगाता था और न्याय करना बादशाह का व्यक्तिगत कर्तव्य मानता था। औरंगजेब कठिनाई से तीन या चार घण्टे ही रात्रि में आराम करता था।

इस प्रकार, मुगल बादशाह प्रजापालक, परिश्रमी और असीमित अधिकारों का उपभोग करने वाले थे। कानूनी दृष्टि से उनके अधिकारों पर कोई अंकुश नहीं था और उनके अनेक विशेष अधिकार थे, जैसे झरोखा-दर्शन, पद प्रदान करना, नक्कारे का प्रयोग, हाथियों की लड़ाई, आदि। परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से मुगल बादशाहों के अधिकार कुछ सीमित थे। केन्द्रीय मन्त्रियों के अतिरिक्त जिनकी सलाह बादशाह के लिए अवश्य ही महत्वपूर्ण होती होगी, राज्य के बड़े-बड़े सरदारों के प्रभाव को भी बादशाह को मानना पड़ता था। डॉ. ताराचन्द ने मुगल शासन को कुलीनों का शासन (Rule by Aristocracy) बताया है। निस्सन्देह, मुगल बादशाहों के समय में शक्तिशाली सरदार, जिनमें से अनेक राजपूत थे और जिनके पद अधिकांशतया पैतृक बन गये और जो राज्य के बड़े-बड़े मनसबों को प्राप्त किये हुए थे, राज्य में प्रभावशाली थे। दिल्ली सल्तनत के शासकों ने अपने सरदारों की शक्ति को तोड़कर (जैसे बलबन, अलाउद्दीन आदि ने) अपनी निरंकुशता को स्थापित किया था, जबकि मुगल बादशाहों ने अपने सरदारों की वफादारी और शक्ति को अपनी शक्ति और निरंकुशता का आधार बनाया। ऐसी स्थिति में उनकी नीति पर उनके सरदारों का प्रभाव आना अनिवार्य था। औरंगजेब जैसे शक्तिशाली शासक ने भी हिन्दुओं पर तब जजिया लगाने का साहस किया जब राठौर नरेश राजा जसवन्तसिंह की मृत्यु हो गयी।

शासन में अपनी सहायता के लिए बादशाह विभिन्न मन्त्रियों की नियुक्ति करता था। उनमें से प्रत्येक से पृथक-पृथक अथवा सम्मिलित रूप से सलाह लेने का अधिकार बादशाह को था। वे अपने-अपने शासन के विभिन्न विभागों के प्रधान थे और उनके विस्तृत शासन की देखभाल करते थे। इस कार्य की पूर्ति के लिए प्रत्येक मन्त्री का अपना पृथक कार्यालय होता था और अनेक कर्मचारी उसकी अधीनता में कार्य करते थे। अकबर के समय में वकील, दीवान अथवा वजीर, मीरबख्शी और सद्र-उस-सद्र—ये चार पद ही मन्त्री स्तर के थे। बाद के समय में वकील और दीवान अथवा वजीर का पद एक ही व्यक्ति को दिया गया और वह राज्य का वकील-ए-मुतलक (वजीर) अथवा प्रधानमन्त्री कहलाया। बाद में खानेसामाँ, मुख्य काजी और मुहतसिब के पदों को भी मन्त्री स्तर प्रदान किया गया। इसके अतिरिक्त, मीर-ए-आतिश और दरोगा-ए-डाकचौकी के पद मन्त्री स्तर के न होते हुए भी शासन के महत्वपूर्ण पद माने जाते थे।

2. बादशाह के मन्त्री

1. प्रधानमन्त्री (वकील-ए-मुतलक, वजीर, दीवान)—अकबर के समय में वकील का पद बैरमखाँ को दिया गया और उस दृष्टि से वह राज्य का संरक्षक, सभी मन्त्रियों का प्रधान और उन्हें हटाने तथा नियुक्त करने का भी अधिकारी था। परन्तु बैरमखाँ के पश्चात् ऐसे अधिकार किसी अन्य व्यक्ति को नहीं दिये गये। प्रधानमन्त्री को दीवान के कार्य दे दिये गये और बाद के समय में दीवान ही राज्य का वजीर और

प्रधानमन्त्री होने लगा। दीवान होने की दृष्टि से उसका मुख्य कार्य राज्य की आय और व्यय की देखभाल करना था। वह बादशाह और अन्य अधिकारियों के बीच की कड़ी था। बादशाह की अनुपस्थिति में राजधानी में रहकर शासन की देखभाल करना, बादशाह के अल्पायु होने पर उसके संरक्षक के रूप में कार्य करना और समय-समय पर सेना का सेनापतित्व करना भी उसके कार्य थे। इस प्रकार बादशाह के पश्चात् शासन में प्रमुख स्थान प्रधानमन्त्री का था जिसको समय-समय पर वकील-ए-मुतलक अथवा वजीर पुकारा गया था, और जो वित्त-विभाग का प्रधान होने के नाते राज्य का दीवान भी होता था।

प्रधानमन्त्री सभी अन्य विभागों पर नियन्त्रण रखता था। वह सूबों से सूचनाएँ प्राप्त करता था, बादशाह के आदेशों को वहाँ भेजता था, राजनीतिक पत्र-व्यवहार करता था और शासन के साधारण कार्यों को बादशाह की तरफ से स्वयं करता था। उसकी सहायता के लिए अनेक अधिकारियों के अतिरिक्त पाँच अधिकारी प्रमुख थे—दीवान-ए-खालसा (शाही भूमि की देखभाल का अधिकारी), दीवान-ए-तन (वेतन और जागीरों की देखभाल करने वाला), मुस्तौफी (आय और व्यय का निरीक्षक), वाकिया-ए-नवीस (पत्र-व्यवहार और घटनाओं का रिकार्ड रखने वाला) और मुशरिफ (दफ्तर की देखभाल करने वाला)।

2. मीरबख्शी—मीरबख्शी सेना-विभाग का प्रधान था। अवसर पड़ने पर उसे सेना का सेनापतित्व भी दिया जा सकता था परन्तु वह उसको प्रमुख उत्तरदायित्व न था और न वह राज्य का सेनापति था। सैनिकों की भर्ती, उनकी हुलिया का विवरण रखना, घोड़ों और हाथियों का दागा जाना, सैनिकों के शस्त्रों, वस्त्रों, घोड़ों, शिक्षा और रसद की देखभाल करना उसके कार्य थे। प्रत्येक मनसबदार के सैनिकों की संख्या, प्रत्येक के मनसब को लिखना, प्रत्येक की पदोन्नति का हिसाब और प्रत्येक के वेतन को देना, आदि कार्य उसी के दफ्तर से होता था। बादशाह के महल की सुरक्षा के लिए मनसबदारों को नियुक्त करना और प्रत्येक दिन उनमें परिवर्तन करना उसका प्रमुख कार्य था। उसका कार्य बहुत अधिक था, अतः उसकी अधीनता में विभिन्न बख्शी और अनेक कर्मचारी होते थे।

3. सद्र-उस-सद्र—सद्र-उस-सद्र का कार्य धार्मिक था। वह धार्मिक मामलों में बादशाह का सलाहकार था। दान-पुण्य की व्यवस्था, धार्मिक शिक्षा की व्यवस्था, विद्वानों को जागीरें प्रदान करना और इस्लाम के कानूनों के पालन की समुचित व्यवस्था को देखना उसके प्रमुख कर्तव्य थे। कभी-कभी उसे मुख्य काजी का पद भी प्राप्त हो जाता था यद्यपि अकबर के समय से अधिकांशतया यह पद पृथक-पृथक व्यक्तियों को दिये गये थे। वह सूबों के सद्रों की नियुक्ति में बादशाह को सलाह देता था और उनके कार्यों की देखभाल करता था। अकबर के समय में इस पद का सम्मान कम हो गया था क्योंकि अकबर धार्मिक मामलों में इसकी सलाह नहीं लेता था और उसने जागीरें तथा वजीफे आदि देने का कार्य भी अपने हाथों में ले लिया था। परन्तु तब भी यह पद बहुत सम्मान का समझा जाता था।

4. मुख्य काजी—मुगल बादशाह राज्य का सबसे बड़ा न्यायाधीश था और वह प्रत्येक बुधवार को स्वयं न्याय के लिए बैठता था। परन्तु बादशाह सभी मुकदमों का निर्णय नहीं कर सकता था। इस कारण उसकी सहायता के लिए राजधानी में एक मुख्य काजी (मुख्य न्यायाधीश) होता था। काजी मुस्लिम कानून के अनुसार

न्याय करता था। उसकी सहायता के लिए 'मुफ्ती' होते थे जो कानूनों की व्याख्या करते थे जिसके आधार कर काजी निर्णय देता था। वह प्रान्त, जिले तथा नगरों में अन्य काजियों की नियुक्ति करता था और उनके कार्यों की देखभाल करता था।

5. **मुहतसिब**—प्रजा के नैतिक चरित्र की देखभाल करने के लिए और मुख्यतया यह देखने के लिए कि प्रजा इस्लाम के कानूनों के अनुसार आचरण करती थी अथवा नहीं, मुहतसिव हुआ करता था। मादक द्रव्यों के प्रयोग, जुआ खेलने से रोकना और स्त्री-पुरुषों के अनैतिक सम्बन्धों को रोकना उसका कार्य था। कभी-कभी उसे नाप-तौल के पैमानों की देखभाल तथा वस्तुओं के मूल्यों को निश्चित करने का उत्तरदायित्व भी दिया जाता था। औरंगजेब के समय में उसे हिन्दू मन्दिरों और पाठशालाओं को नष्ट कराने का उत्तरदायित्व सौंपा गया था और उसका पद महत्वपूर्ण बन गया था। उसकी सहायता के लिए प्रान्तों में भी मुहतसिबों की नियुक्ति की जाती थी।

6. **खानेसामाँ**—अकबर के समय में यह पद मन्त्री-स्तर का न था। परन्तु बाद के बादशाहों के समय में उसे मन्त्री-पदों में से एक स्वीकार किया गया। वह बादशाह के परिवार, उसके महल और उसकी व्यक्तिगत तथा दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति की देखभाल करता था। वह शाही भोजन, भण्डार, खजाना, उपहार, नजराने आदि की देखभाल करता था। उसका एक मुख्य उत्तरदायित्व शाही कारखानों की देखभाल करना था जहाँ विभिन्न वस्तुओं का उत्पादन होता था और जो राज्य की आय के प्रमुख सान थे। यह धपद बहुत ही विश्वासपात्र व्यक्ति को दिया जाता था और बाद के समय में यह इतना महत्वपूर्ण हो गया कि वजीर के पद के पश्चात् ही उसका पद माना जाने लगा और खानेसामाँ के पद को वजीर का पद प्राप्त करने की अन्तिम सीढ़ी माना जाने लगा।

7. **मीर-ए-आतिश**—मीर-ए-आतिश अथवा दरोगा-ए-तोपखाना का पद मन्त्री-स्तर का न होते हुए भी महत्वपूर्ण था। शाही तोपखाना उसके अधीन था। तोपों का निर्माण, किलों में उनकी व्यवस्था और बन्दूकों का निर्माण, आदि उसकी देख-रेख में था। अधिकांशतया यह पद किसी तुर्क या ईरानी को दिया जाता था।

8. **दरोगा-ए-डाकचौकी**—इसके अधीन राज्य के गुप्तचर और संवादवाहक थे। प्रान्तों से सूचनाएँ प्राप्त करना तथा वाकिया-ए-नवीसों और मुफिया-ए-नवीसों की नियुक्ति और उनसे प्राप्त सूचनाओं को बादशाह तक पहुँचाना उसका प्रमुख कर्तव्य था। गुप्तचर-विभाग का प्रधान होने के कारण शासन में उसका विशेष महत्व था।

उपर्युक्त विभागों और उनके अन्तर्गत विभिन्न अधिकारियों के अतिरिक्त राज्य का अपना एक बड़ा सचिवालय था, जहाँ वजीर की अधीनता में अनेक अधिकारी कार्य करते थे और जहाँ सभी विभागों की सूचनाएँ आती थीं। अकबर ने केन्द्रीय व्यवस्था को संगठित करने के लिए बहुत परिश्रम किया था, और वह प्रत्येक विभाग के कार्य को लेखबद्ध कराता था। यह कहा जा सकता है कि मुगलों की केन्द्रीय व्यवस्था सुचारु रूप से चलती थी।

[2]

प्रान्तीय तथा स्थानीय शासन-व्यवस्था

सम्पूर्ण मुगल-साम्राज्य को सूबों में बाँटा गया था। अकबर के समय में सूबों

की संख्या 15 थी और औरंगजेब के समय तक यह संख्या 20 हो गयी थी। प्रत्येक सूबे की अपनी पृथक राजधानी थी जहाँ सूबे के शासन का प्रधान सूबेदार रहता था। सूबेदार को निजाम, सिपहसालार अथवा केवल सूबा के नाम से भी पुकारा जाता था।

प्रान्तों या सूबों का शासन

प्रान्तीय शासन-व्यवस्था का ढाँचा केन्द्रीय शासन-व्यवस्था के समान ही था। डॉ. सरकार ने लिखा है : "मुगल सूबों में शासन-व्यवस्था केन्द्रीय शासन-व्यवस्था का लघु रूप थी।"[1] प्रत्येक सूबे में प्रधान अधिकारी सूबेदार, दीवान, बख्शी, सद्र और काजी, कोतवाल तथा वाक़िया-ए-नवीस थे। किसी-किसी प्रान्त में दरोगा-ए-तोपखाना और मीर-बहर नामक अधिकारियों की भी नियुक्ति की गयी थी। अकबर ने अपने दीवान (वजीर) को विस्तृत अधिकार दिये थे और सूबों के सभी दीवानों को उसकी प्रत्यक्ष अधीनता में कर दिया था। उसका उद्देश्य सूबेदार की शक्तियों को दीवान की शक्तियों से सन्तुलित करके सूबों में विद्रोह की आशंकाओं को समाप्त करने का था। परन्तु उत्तरकालीन मुगल बादशाह इस व्यवस्था को स्थापित न रख सके वल्कि कुछ अवसरों पर निजाम (सूबेदार) और दीवान के पद एक ही व्यक्ति को दे दिये गये जैसा कि बहादुरशाह के समय में बंगाल, बिहार और उड़ीसा के सूबेदार मुर्शिदकुलीखाँ को दीवान के अधिकार भी दिये गये थे। इसके परिणामस्वरूप बंगाल को मुगल-साम्राज्य से पृथक होने में सरलता हुई।

1. सूबेदार—सूबेदार सूबे के शासन का प्रमुख अधिकारी था। अपने सूबे में उसकी स्थिति एक छोटे बादशाह के समान थी। राज्य के बड़े मनसबदार को ही इस पद पर नियुक्त किया जाता था। उसके साथ एक बड़ी सेना होती थी। उसे अपने सूबे में एक बड़ी जागीर प्राप्त होती थी। सूबे में शान्ति और सुरक्षा की व्यवस्था, प्रजा के हित की रक्षा और वृद्धि, फौजदारी मुकदमों का निर्णय करना, विद्रोहों को दबाना, पुल, सराय, सड़कों आदि की सुरक्षा और निर्माण, सूबे में स्थित अधीनस्थ राज्यों से राज्य के कर की वसूली, आदि उसके विभिन्न कार्य थे। सूबेदार सूबे में बादशाह का प्रतिनिधि था और सूबे में उसकी प्रतिष्ठा एक छोटे बादशाह की तरह की जाती थी। सूबे के सभी अधिकारी उसके अधीन होते थे और बादशाह उनकी नियुक्ति, पदोन्नति, स्थानान्तरण आदि सूबेदार की सलाह से करता था। सूबे में उसके अधिकार केवल सूबे के दीवान के आर्थिक अधिकारों से ही सीमित थे अन्यथा अपने सूबे में वह पूर्ण शक्तिशाली था।

2. दीवान—दीवान सूबे का वित्त-अधिकारी था। बादशाह इसकी नियुक्ति केन्द्रीय दीवान की सलाह से करता था। सूबे में सूबेदार के पश्चात् शासन में उसी का पद था। वह सूबेदार के अधीन न होकर केन्द्र के दीवान के अधीन था। परन्तु उसे सूबेदार के साथ सहयोग करते हुए कार्य करना पड़ता था और सूबेदार का सम्मान उससे अधिक था। लगान अथवा अन्य करों को वसूल करने में उसे सूबेदार की सहायता पर निर्भर करना पड़ता था क्योंकि उसके साथ कोई सेना नहीं होती थी। सूबे की सेना का प्रधान सूबेदार होता था। सूबे की वित्त-व्यवस्था पर नियन्त्रण,

---

1 "The administrative agency in the provinces of the Mughal Empire was an exact miniature of that of the Central Government."
—*J. N. Sarkar.*

आय-व्यय का हिसाब, लगान और कृषि की देखभाल, अधीन वित्त-अधिकारियों पर नियन्त्रण, सूबे की आर्थिक स्थिति की सूचना केन्द्रीय सरकार को देना तथा दीवानी (धन अथवा लगान सम्बन्धी) मुकदमों का निर्णय, आदि दीवान के प्रमुख कर्तव्य और अधिकार थे।

3. बख्शी—उसका मुख्य उत्तरदायित्व सूबे की सेना की देखभाल करना था। उसकी नियुक्ति केन्द्र के मीरबख्शी की सहायता से की जाती थी। सूबे की सेना की संख्या, उसका संगठन, नियन्त्रण, रसद आदि की व्यवस्था उसके अन्तर्गत थी। बख्शी को कभी-कभी सूबे का वाकिया-ए-नवीस भी बना दिया जाता था। ऐसी स्थिति में वह सूबे की सभी सूचना केन्द्रीय सरकार को भेजता था और उसका पद अधिक सम्मानित तथा प्रभावशाली बन जाता था।

4. वाकिया-ए-नवीस— यह सूबे के गुप्तचर-विभाग का प्रधान था और इस दृष्टि से सूबे के शासन की प्रत्येक सूचना, यहाँ तक कि सूबेदार व दीवान के कार्यों की सूचना भी, केन्द्रीय सरकार को भेजता था। वह अपने अधीन गुप्तचरों और सन्देश-वाहकों की नियुक्ति करता था और उनसे सूचनाएँ प्राप्त करता था। इसके अतिरिक्त, केन्द्रीय सरकार अपने पृथक गुप्तचर अथवा खुफिया-ए-नवीसों की नियुक्ति भी सूबों में करती थी।

5. कोतवाल—सूबे की राजधानी तथा बड़े नगरों की शान्ति और सुरक्षा, स्वच्छता और सफाई, यात्रियों की देखभाल, आदि कोतवाल करता था। उसके राजधानी अथवा नगर सम्बन्धी अधिकार बहुत विस्तृत थे। वह एक सैनिक अधिकारी था और उसकी अधीनता में पर्याप्त सैनिक रहते थे।

6. सदर और काजी—सूबे में सदर और काजी का पद, साधारणतया, एक ही व्यक्ति को प्रदान किया जाता था जो सद्र-उस-सद्र अथवा मुख्य काजी के नियन्त्रण में कार्य करता था। सद्र की दृष्टि से वह प्रजा के नैतिक चरित्र और इस्लाम के कानूनों के पालन की व्यवस्था करता था और काजी की दृष्टि से वह न्याय करता था। अपने अधीन काजियों के कार्यों की देखभाल और योग्य व्यक्तियों के नाम की सूची बनाकर केन्द्रीय सद्र को भेजना भी उसके कार्य थे।

उपर्युक्त अधिकारियों के अतिरिक्त किसी-किसी सूबे में दरोगा-ए-तोपखाना और बन्दरगाहों, नदी के मुहानों तथा पुलों के निकट कर वसूल करने के लिए मीर-बह्र नाम के अधिकारी की नियुक्ति भी की जाती थी।

सरकार अथवा जिले का शासन

प्रत्येक सूबा कई सरकारों (जिलों) में बँटा होता था। प्रत्येक सरकार के प्रमुख अधिकारी फौजदार, अमलगुजार, काजी, कोतवाल, बितिक्ची और खजानदार होते थे।

1. फौजदार—प्रत्येक सरकार में एक फौजदार होता था जो एक सैनिक अधिकारी था। अपनी सरकार में शान्ति स्थापित रखना, चोर-लुटेरों से प्रजा की रक्षा करना और राज्य की आज्ञाओं को प्रजा से मनवाना, आदि उसके प्रमुख कर्तव्य थे। उसकी नियुक्ति बादशाह के द्वारा की जाती थी यद्यपि उसे सूबेदार की अधीनता में कार्य करना पड़ता था। वह कर वसूल करने में अमलगुजार की सहायता करता था। अपनी सरकार का वह प्रमुख अधिकारी था।

2. अमलगुजार—जिले में लगान वसूल करना, कृषि की देखभाल करना,

किसानों की सुरक्षा, चोर-लुटेरों को दण्ड देना, आदि उसके प्रमुख कर्तव्य थे। वह सरकार का वित्त-अधिकारी था और इस दृष्टि से वह सूबे के दीवान के अधीन था। वह सरकार के खजाने की देखभाल भी करता था।

3. **बितिक्ची**—बितिक्ची अमलगुजार के अधीन अधिकारी था। भूमि और लगान सम्बन्धी सभी कागज उसे तैयार करने पड़ते थे। भूमि की किस्म, उसकी पैदावार और किस किसान के पास कितनी भूमि है, यह हिसाब कानूनगो की सहायता से वही रखता था। किसानों से लगान वसूल हो जाने के पश्चात् वही उन्हें रसीद देता था।

4. **खजानदार**—वह सरकार का खजांची था। वह अमलगुजार की अधीनता में कार्य करता था और सरकारी खजाने की सुरक्षा उसका मुख्य उत्तरदायित्व था।

उपर्युक्त अधिकारियों के अतिरिक्त बड़े-बड़े नगरों में न्याय करने के लिए काजी और शान्ति-व्यवस्था के लिए कोतवाल भी होते थे।

परगने का शासन

प्रत्येक सरकार कई परगनों में बँटा होता था। शिकदार, आमिल, फौजदार, कानूनगो और कारकुन परगने के प्रमुख अधिकारी थे।

1. **शिकदार**—शिकदार परगने का प्रमुख अधिकारी था। वह एक सैनिक अधिकारी था। उसका प्रमुख उत्तरदायित्व परगने में शान्ति और व्यवस्था स्थापित रखना तथा लगान को वसूल करने में सहायता देना था।

2. **आमिल**—यह परगने का वित्त-अधिकारी था। इसका मुख्य कर्तव्य किसानों से लगान वसूल करना था। इसके लिए यह किसानों से प्रत्यक्ष सम्पर्क स्थापित करता था।

3. **फौतदार**—यह परगने का खजांची था और खजाने की सुरक्षा इसका मुख्य उत्तरदायित्व था।

4. **कानूनगो**—कानूनगो परगने के पटवारियों का प्रधान था। यह लगान, भूमि और कृषि सम्बन्धी सभी कागजों को देखता और तैयार करता था।

कारकुन परगने के क्लर्क थे जो लिखा-पढ़ी का कार्य करते थे।

नगरों का शासन

नगर के शासन का प्रधान कोतवाल होता था और वह उन सभी कार्यों को करता था जो आधुनिक समय में नगरपालिकाएँ और पुलिस अधिकारी मिलकर करते हैं। इस दृष्टि से नगर की सुरक्षा, स्वच्छता, बाजार और वस्तुओं के मूल्यों पर नियन्त्रण, लावारिस सम्पत्ति की देखभाल, यात्रियों पर निगरानी, व्यापारिक समुदायों को स्वीकार करना, नगर को वार्डों में बाँटना, स्थानीय करों की वसूली, आदि उसके प्रमुख कार्य होते थे। अपनी सहायता के लिए कोतवाल विभिन्न निम्न अधिकारियों की नियुक्ति करता था। उसकी अधीनता में एक अच्छा सैनिक दस्ता भी होता था।

गाँवों का शासन

मुगलों ने गाँवों के शासन का उत्तरदायित्व अपने अधिकारियों के हाथों में नहीं दिया था अपितु परम्परागत ग्राम-पंचायतें ही अपने-अपने गाँव की सुरक्षा, सफाई, शिक्षा, आदि की देखभाल करती थीं। गाँवों के अधिकांश झगड़ों का निपटारा भी ग्राम-

पंचायतें करती थीं। गाँव का पैतृक चौकीदार गाँव की सुरक्षा करता था। गाँव के पटवारियों का पद भी पैतृक होता था। साधारणतया सरकारी कर्मचारी ग्राम-जीवन और शासन में हस्तक्षेप नहीं करते थे और न गाँव में किसी सरकारी कर्मचारी की नियुक्ति की जाती थी। परन्तु आवश्यकता होने पर सरकारी कर्मचारी ग्रामवासियों की सहायता करते थे और शासन में हस्तक्षेप करते थे। गाँव के चौकीदार व पटवारियों पर सुरक्षा और लगान सम्बन्धी जो जिम्मेदारियाँ थीं, उनकी पूर्ति के लिए सरकारी कर्मचारी उनको बाध्य कर सकते थे। इस प्रकार, सरकारी कर्मचारियों की अधीनता में गाँव शासन की स्वतन्त्र इकाई थे।

[3]

मुगल सैनिक-व्यवस्था

प्रथम मुगल बादशाह बाबर एक विदेशी आक्रमणकारी की दृष्टि से भारत में आया और अफगानों तथा राजपूतों से संघर्ष करके उसने भारत में मुगल-वंश की नींव डाली। हुमायूँ को भी अफगानों का कड़ा मुकाबला करना पड़ा था यहाँ तक कि 15 वर्षों के लिए उसने भारत का साम्राज्य खो दिया था। अकबर के समय में मुगल-साम्राज्य भारत में दृढ़ हो गया और मुगलों की साम्राज्यवादी नीति आरम्भ हुई। एक साम्राज्य की स्थापना, उसका विस्तार, विद्रोहों का दमन और बादशाह के सम्मान और शक्ति में वृद्धि, आदि एक शक्तिशाली सेना के बिना सम्भव नहीं था। इस कारण, मुगलों ने सर्वदा एक बड़ी और शक्तिशाली सेना रखने का प्रयत्न किया। औरंगजेब के समय तक मुगल सेना अपनी शक्ति को स्थापित रख सकी। जब उत्तरकालीन मुगल बादशाह एक शक्तिशाली सेना रखने में असमर्थ हो गये तब उन्होंने अपनी शक्ति को खो दिया। **बाबर को भारत में तोपखाने के सफल प्रयोग को आरम्भ करने का श्रेय जाता है, और अकबर को मुगलों की सैनिक व्यवस्था को सुचारु रूप से संगठित करने का श्रेय है।**

मुगल सेना में मुख्यतया निम्नलिखित तीन प्रकार के सैनिक और अधिकारी होते थे :

प्रत्येक सैनिक अधिकारी को 'मनसब' (पद) प्रदान किया गया था। बादशाह के अधीन राजाओं को भी मनसबदारों की श्रेणी में सम्मिलित किया गया था।

1. मनसबदार और उनके सैनिक

प्रत्येक मनसबदार स्वेच्छा से अपने सैनिकों की भर्ती करता था और स्वयं उनके वस्त्र, शस्त्र, शिक्षा, वेतन, आदि के लिए जिम्मेदार था। बादशाह की तरह उसको अपने मनसब के अनुसार वेतन प्राप्त हो जाता था। अधिकांशतया मनसबदार अपनी जाति के सैनिकों को ही अपनी सेना में भर्ती करते थे।

2. अहदी सैनिक

ये सैनिक बादशाह के सैनिक थे। बादशाह की तरफ से इनकी भर्ती, वेतन, शिक्षा, वस्त्र, घोड़े आदि की व्यवस्था की जाती थी। इस कार्य के लिए एक पृथक दीवान और एक पृथक बख्शी था। ये बादशाह के व्यक्तिगत सैनिक थे यद्यपि बादशाह समय-समय पर उन्हें किसी मनसबदार की सेवा में भी नियुक्त कर सकता था। उन्हें बहुत अच्छा वेतन मिलता था। जबकि एक साधारण घुड़सवार को 12 रु. से 15 रु. तक वेतन मिलता था, एक अहदी घुड़सवार को 500 रु. तक वेतन दिये जाने के

उदाहरण प्राप्त होते हैं। इनकी संख्या निश्चित न थी। अकबर के समय में इनकी संख्या 12 हजार तक हो गयी थी। ये बादशाह सर्वाधिक योग्य और वफादार सैनिक माने जाते थे।

3. दाखिली सैनिक — ये वे सैनिक थे जिनकी भर्ती बादशाह की तरफ से की जाती थी यद्यपि इनको ममसबदारों की सेवा में रखा जाता था।

मुगलों की स्थायी सेना पर्याप्त विशाल थी। ब्लोकमैन ने अकबर की स्थायी सेना की संख्या को केवल 25 हजार के लगभग बताया है। परन्तु यह अनुमान बहुत गलत है। जहाँगीर और शाहजहाँ के समय में शाही सेना की संख्या लगभग तीन लाख थी और अकबर के समय में भी शाही सेना की संख्या लगभग यही रही होगी। इस सेना में अधीन राजाओं और सूबेदारों की सेना सम्मिलित न थी। यह अनुमान किया जाता है कि यदि शाही सेना में मनसबदारों की सेना सहित सूबेदारों और अधीनस्थ राजाओं की सेनाओं को सम्मिलित कर दिया जाता तो उसकी संख्या 44 लाख तक पहुँच सकती थी। **इस प्रकार, मुगलों की सेना बहुत बड़ी थी।** यह सेना मुख्यतया निम्नलिखित भागों में बँटी हुई थी :

1. घुड़सवार सेना—घुड़सवार सेना मुगलों की सेना का श्रेष्ठतम भाग था। इसमें मुख्यतया दो प्रकार के सैनिक थे—बरगीर (जिन्हें घोड़े, अस्त्र और वस्त्र राज्य की ओर मिलते थे) और सिलेदार (जो अपने अस्त्र और घोड़े स्वयं लाते थे)। घोड़ों को किस्मों के आधार पर घुड़सवार सैनिकों में अन्तर किया जाता था। मुगल सेना में अधिकांशतया तुर्की और ताजी घोड़े थे यद्यपि अरबी, फारसी, मुजन्ना, याबू और जंगला घोड़ों की अन्य किस्में भी थीं। इसके अतिरिक्त, वे घुड़सवार जिनमें से प्रत्येक के पास दो घोड़े होते थे, दु-अस्पा कहलाते थे। एक-अस्पा वह घुड़सवार था जिसके पास केवल एक घोड़ा होता था, और निम-अस्पा वे घुड़सवार थे जिनके दो सैनिकों के पास केवल एक घोड़ा होता था।

2. पैदल सेना—अकबर ने पैदल सेना को पर्याप्त महत्व दिया था। मुख्यतया ये सैनिक दो भागों में बँटे होते थे—बन्दूकची और शमशीरबाज (तलवारबाज)। ये तीर-कमान, भाला, तलवार, कटार, आदि हथियारों का प्रयोग करते थे। इनमें लड़ने वाले सैनिकों के अतिरिक्त दास, सेवक, पानी भरने वाले, आदि भी सम्मिलित होते थे।

3. हाथी-सेना—अकबर ने हाथियों की एक बड़ी सेना तैयार की थी। उसके समय में एक हजार शाही हाथी थे। सम्पूर्ण साम्राज्य में अनुमानतया हाथियों की संख्या पचास हजार थी। हाथी युद्ध करने और सामान ले जाने के लिए प्रयोग में लाये जाते थे। युद्ध करने के लिए हाथियों को शिक्षित किया जाता था।

4. तोपखाना—बाबर एक अच्छा तोपखाना लेकर भारत आया था। अकबर ने मुगल तोपखाने को और अधिक शक्तिशाली बनाया। उसके समय में पीतल और लोहे की इतनी बड़ी-बड़ी तोपें तैयार की गयीं जिनकी क्षमता $1\frac{1}{2}$ मन का गोला फेंकने की थी। परन्तु इस क्षेत्र में अकबर का प्रमुख कार्य ऐसी छोटी-छोटी तोपों का निर्माण करना था जो एक हाथी अथवा ऊँट की पीठ पर ले जायी जा सकती थीं। इन छोटी तोपों की सबसे बड़ी उपयोगिता यह थी कि इनको परिस्थिति के अनुसार एक स्थान से दूसरे स्थान पर शीघ्र हटाया अथवा ले जाया जा सकता था। अकबर के

समय में मुगल तोपखाना निश्चय ही श्रेष्ठ हो गया था। डॉ. आर. पी. त्रिपाठी ने लिखा है : "तुर्की तोपखाना के अतिरिक्त अकबर का तोपखाना एशिया में किसी से भी कम न था क्योंकि अकबर के समय में वह श्रेष्ठता की चरम सीमा पर पहुँच गया था।"[1] परन्तु तब भी मुगलों का तोपखाना यूरोपियन जातियों के तोपखाने की समता नहीं कर सकता था। के. एम. पणिक्कर ने लिखा है कि "मुगल तोपखाना भारतीय शक्तियों के विरुद्ध तो सफल रहा, परन्तु विदेशी (यूरोपियन) शक्तियों के विरुद्ध वह निरर्थक था।"

5. **नौ-सेना**—जब तक अकबर ने गुजरात को विजय किया, उस समय तक पुर्तगालियों ने समुद्र पर अपनी सत्ता स्थापित कर ली थी, और वे किसी भी भारतीय शासक की नौ-सेना की श्रेष्ठता को स्थापित नहीं होने देना चाहते थे। इसके अतिरिक्त, अकबर का साम्राज्य मूलतया स्थल का साम्राज्य था। इस कारण, उसके समय में एक शक्तिशाली नौ-सेना का निर्माण सम्भव न हो सका। उसके पश्चात् भी कोई अन्य मुगल बादशाह शक्तिशाली नौ-सेना का निर्माण न कर सका। इस प्रकार, मुगलों की नौ-सेना सर्वदा दुर्बल रही और वह कभी भी यूरोपियन जातियों से समुद्र पर मुकाबला करने की स्थिति में नहीं हुई। नौ-सेना मुगलों की सेना का सबसे दुर्बल भाग रहा। यह इस बात से भी स्पष्ट है कि मुगलों ने अपने पश्चिमी समुद्र-तट की रक्षा का उत्तर-दायित्व जंजीरा के सीदियों को सौंपा हुआ था।

परन्तु मुगलों ने नदियों पर जल-बेड़ा अवश्य रखा। पूर्वी बंगाल में ऐसी नावें भी थीं जिन पर तोपें रहती थीं। बिहार और सिन्ध में भी नावों का बेड़ा रखा जाता था।

मुगलों की सैनिक-व्यवस्था की प्रमुख विशेषता मनसबदारी व्यवस्था थी। अकबर ने इसे आरम्भ किया था। अन्य मुगल बादशाहों ने थोड़े-बहुत परिवर्तनों के साथ इसे यथावत् रखा यद्यपि उत्तरकालीन मुगल बादशाहों के समय में यह निष्प्राण हो गयी। अकबर द्वारा आरम्भ की गयी मनसबदारी व्यवस्था पूर्णतया नवीन नहीं मानी जा सकती यद्यपि उसने उसे उचित संगठन प्रदान किया और अपनी आवश्यकताओं के अनुकूल बनाया। सम्भवतया, अकबर ने उसकी प्रेरणा खलीफा अब्बासईद द्वारा आरम्भ की गयी और चंगेजखाँ तथा तैमूर द्वारा स्वीकार की गयी सैनिक व्यवस्था से प्राप्त की थी। दिल्ली सल्तनत के शासकों ने भी इस व्यवस्था को किसी न किसी रूप में अपना रखा था। बलबन के समय में इसी प्रकार की व्यवस्था थी और शेरशाह तथा इस्लामशाह ने भी इसी आधार पर अपनी सेनाओं का संगठन किया था। इस प्रकार, मनसबदारी-व्यवस्था जिसका मुख्य आधार दशमलव-प्रणाली के आधार पर अधिकारियों के पदों का विभाजन करना था, भारत के लिए नवीन न थी। परन्तु अकबर ने इसे अपने तरीके से श्रेष्ठ बनाया।

साधारणतया 'मनसब' का अर्थ पद से था। विभिन्न अंकों की संख्या (जो दस से विभाजित हो जाती थी) अधिकारियों के पदों को निश्चित करने के लिए प्रयोग में लायी गयी थी। छोटी संख्या का अधिकारी छोटे पद का होता था और बड़ी संख्या

1 "Excepting the Turkish artillery, Akbar's was second to none in Asia, for, in Akbar's time, it had reached the highest point of efficiency possible." —*Dr. R. P. Tripathi.*

का अधिकारी बड़े पद का होता था। इसका प्रयोग अधिकारियों के वेतन और भत्तों को निश्चित करने के लिए भी किया जाता था। अकबर ने अपने आरम्भ के समय में 10 से लेकर 10,000 और बाद में 12,000 की संख्या तक के मनसब रखे थे। जब सबसे बड़ा मनसब 10,000 का था तब 5,000 से ऊपर की संख्या का मनसब केवल शाहजादों को दिया गया था परन्तु जब सबसे बड़ा मनसब 12,000 की संख्या का हो गया तो सरदारों को 7,000 तक के मनसब दिये जाने लगे और उससे ऊपर के मनसब शाहजादों के लिए सुरक्षित रखे गये। अकबर से मनसबों को 66 (अल्लाह शब्द के अंकों की गणना के योग के अनुसार अर्थात् 1+30+30+5 का योग) श्रेणियों में विभाजित किया था यद्यपि अबुल फजल ने 33 श्रेणियों का ही वर्णन किया है। जहाँगीर और शाहजहाँ ने सरदारों को 8,000 तक के मनसब और शाहजादों को 40,000 तक के मनसब दिये। उत्तरकालीन मुगल सम्राटों के समय में 50,000 तक की संख्या में दिये गये मनसबों का उल्लेख मिलता है। 500 से नीचे के मनसबदार 'मनसबदार' ही कहलाते थे, 500 से 2,500 तक के मनसबदारों को 'अमीर' पुकारा जाता था और 2,500 से ऊपर के मनसबदारों को 'अमीर-ए-आजम' कहा जाता था। सैनिक अधिकारियों में सर्वाधिक प्रतिष्ठा का पद 'खान-ए-जमान' का और उसके पश्चात् 'खान-ए-खाना' का था। ये पद एक समय में एक ही व्यक्ति को दिये जाते थे। काजियों और सद्रों को इस व्यवस्था में सम्मिलित नहीं किया गया था।

मनसबदारों को अपने मनसब की संख्या के बराबर की संख्या में सैनिक रखने के लिए बाध्य नहीं किया जाता था। वे उस संख्या से कम संख्या में ही सैनिक रखते थे। 'पादशाहनामा' में यह उल्लेख मिलता है कि शाहजहाँ ने आदेश दिये थे कि जिन मनसबदारों को अपनी नियुक्ति के स्थान पर ही जागीर मिली हुई थी, वे अपने 'जात' के मनसब की संख्या का 1/3 भाग, जिनको अपनी नियुक्ति के स्थान से बाहर के सूबे में जागीर मिली हुई थी, वे अपने 'जात' के मनसब की संख्या का 1/4 भाग और जिनको भारत से बाहर भेजा गया था वे अपने 'ज़ात' के मनसब की संख्या का 1/5 भाग सैनिक के रूप में अपने यहाँ रखेंगे। मनसबदारों के कार्य उनके मनसब की संख्या और श्रेष्ठता से निश्चित नहीं होते थे। अकबर के समय में राजा मानसिंह का मनसब अबुल फजल के मनसब से बड़ा था यद्यपि अबुल फजल का स्थान बादशाह के मन्त्रियों में था। इस प्रकार मनसबदार को बादशाह किसी भी कार्य के लिए नियुक्त कर सकता था। मनसबदारों की नियुक्ति और पदोन्नति का भी कोई निश्चित नियम न था। बादशाह स्वेच्छा से किसी को भी कोई मनसब प्रदान कर सकता था। मनसबदारों को नकद वेतन दिया जाता था और यदि उन्हें जागीरें दी भी गयी थीं तो उनकी जागीरों से लगान वसूल करने का अधिकार केन्द्रीय अधिकारियों को ही था। मनसबदारों को अपनी जागीरों से प्राप्त हुई आय मिल जाती थी जिसे उनके वेतन में से काट (कम) दिया जाता था। परन्तु उत्तरकालीन मुगल बादशाहों के समय में यह व्यवस्था स्थापित नहीं रह सकी थी। आधुनिक इतिहासकार यह भी स्वीकार करते हैं कि मनसबदारों को पूरे 12 माह का वेतन मिलता था। यह बात दूसरी थी कि उनको वस्त्र-शस्त्र, आदि के रूप में जो सहायता केन्द्रीय सरकार से मिलती थी, उसके व्यय को उनके वेतन से काट लिया जाता था। प्रत्येक मनसबदार अपने वेतन में से ही

अपने सैनिकों का व्यय निकालता था परन्तु तब भी अच्छा वेतन मिलने के कारण उसको अपने व्यय के लिए बहुत धन बच जाता था।

अकबर ने अपने अन्तिम वर्षों में मनसबदारी-व्यवस्था में 'जात' और 'सवार' के पदों को आरम्भ किया था। प्रत्येक मनसबदार को एक साथ 'जात' और 'सवार' के पद प्रदान किये गये। इन पदों का क्या अर्थ था, इसके बारे में इतिहासकारों ने विभिन्न मत प्रकट किये हैं। ब्लोकमैन के अनुसार एक मनसबदार को अपनी 'जात' के पद की संख्या के अनुपात में कुल सैनिक रखने पड़ते थे और 'सवार' के पद की संख्या में घुड़सवार रखने पड़ते थे। इर्विन के अनुसार 'सवार' का पद अतिरिक्त प्रतिष्ठा का था और 'जात' का पद अन्य सैनिकों के अतिरिक्त मनसबदार के घुड़सवारों की संख्या को निश्चित करता था। डॉ. आर. पी. त्रिपाठी के अनुसार 'सवार' का पद मनसबदारों के 'अतिरिक्त भत्ते' मात्र को निश्चित करने के लिए दिया गया था जो एक सवार के लिए 2 रुपया था अर्थात् 500 सवार-पद के मनसबदार को 1,000 रुपया अतिरिक्त भत्ते के रूप में (वेतन के अतिरिक्त) मिलता था। अब्दुल अजीज के अनुसार 'जात' का पद अन्य सैनिकों की संख्या का द्योतक और 'सवार' का पद घुड़सवारों की संख्या का द्योतक था। डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव ब्लोकमैन के विचार को सत्यता के सबसे अधिक निकट बताते हैं। उनके अनुसार भी 'जात' का पद पैदल, हाथी, ऊँट, घोड़े, आदि सभी की संख्या का द्योतक था, जबकि 'सवार' का पद केवल घुड़सवारों की संख्या को निश्चित करता था। अकबर के समय में मनसबदारों को अपने 'सवार' के पद की संख्या के समान घुड़सवार रखने के लिए बाध्य किया गया था, परन्तु बाद में मुगल बादशाहों के समय में यह सम्भव नहीं हो सका था।

'जात' और 'सवार' के पद को आरम्भ करने के साथ-साथ अकबर ने अपने 5,000 और उससे कम संख्या के मनसबदारों की श्रेणियों में से प्रत्येक श्रेणी को तीन भागों में बाँटा जिससे 5,000 तक की श्रेणी के विभिन्न मनसबदारों की तीन श्रेणियाँ हो गयीं। यदि एक मनसबदार को 'सवार' और 'जात' का पद समान संख्या का दिया जाता था तो वह अपनी श्रेणी के मनसबदारों में प्रथम श्रेणी का मनसबदार माना जाता था जैसे, यदि एक मनसबदार को 5,000 'जात' और 5,000 'सवार' का पद प्राप्त होता था तो वह पंचहजारी मनसबदारों में प्रथम श्रेणी का मनसबदार माना जाता था। यदि एक मनसबदार को 'सवार' का पद अपने 'जात' के पद से कम संख्या का, परन्तु आधे से कम नहीं, प्राप्त होता था तो वह अपनी श्रेणी के मनसबदारों में द्वितीय श्रेणी का माना जाता था। जैसे यदि एक मनसबदार को 5,000 'जात' और 2,500 'सवार' का पद प्राप्त था तो वह पंचहजारी मनसबदारों में द्वितीय श्रेणी का माना जाता था। यदि एक मनसबदार को 'सवार' का पद अपने 'जात' के पद की संख्या से आधी (½) संख्या के कम का प्राप्त होता था तो वह अपनी श्रेणी के मनसबदारों में तृतीय श्रेणी का माना जाता था। जैसे, यदि एक मनसबदार को 5,000 'जात' और 2,000 'सवार' का पद प्राप्त था तो वह पंचहजारी मनसबदारों में तृतीय श्रेणी का मनसबदार था।

जहाँगीर ने इस मनसबदारी व्यवस्था में एक अन्य पद सम्मिलित किया जिसे दो-अस्पा-सिंह पुकारा गया। इस पद को प्राप्त करने वाले मनसबदार को एक

निश्चित संख्या में घुड़सवार रखने होते थे। इस पद को प्राप्त करने वाला पहला व्यक्ति महाबतखाँ था।

अकबर ने अपने समय से सैनिकों की हुलिया लिखी जाने और घोड़े तथा हाथियों को दागने की प्रथा आरम्भ की। 'दाग-महाल' नाम का एक पृथक विभाग घोड़ों और हाथियों को दागने के लिए खोला गया। प्रत्येक घोड़े पर एक शाही निशान और एक मनसबदार का निशान दागा जाता था। प्रत्येक मनसबदार का निशान पृथक-पृथक कर दिया गया था जिससे वे अपने एक-दूसरे के घोड़ों में बदली न कर सकें। प्रत्येक मनसबदार की सेना और घोड़ों का समय-समय पर निरीक्षण किया जाता था। यह निरीक्षण प्रत्येक वर्ष भी हो सकता था अथवा प्रत्येक तीसरे वर्ष हुआ करता था।

मुगलों की सैनिक-व्यवस्था की एक मुख्य विशेषता कैम्प की व्यवस्था थी। मुगल कैम्प (Camp) बहुत विशाल होते थे, मुख्यतया जबकि मुगल बादशाह भी सेना के साथ जाया करता था। यह 5 मील से लेकर 20 मील तक के दायरे में फैला हुआ होता था और एक सम्पूर्ण शहर के समान होता था। यहाँ एक अथवा दो लाख व्यक्तियों के ठहरने की व्यवस्था की जाती थी और तब भी वहाँ पूर्ण व्यवस्था और शान्ति रहती थी। उसकी सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि उसे केवल चार घण्टों में ही लगा दिया जाता था। जहाँगीर के समय की कैम्प-व्यवस्था का वर्णन करते हुए जोर्डेन ने लिखा है: "हम अपने घरों के समान ही सुरक्षित थे। मैंने कैम्प से अच्छी व्यवस्था कहीं नहीं देखी, और वहाँ सभी वस्तुएँ उपलब्ध थीं।"[1]

मुगलों की इस सैनिक-व्यवस्था में विभिन्न दोष बताये गये हैं। मनसबदारों द्वारा सैनिकों की भर्ती, प्रत्येक मनसबदार का अपनी जाति अथवा कबीले के आधार पर सैनिकों को भर्ती करना, मनसबदारों के सैनिकों का वेतन मनसबदारों के द्वारा दिया जाना, आदि ऐसे कारण थे जिनकी वजह से सैनिक अपने मनसबदारों के अधिक निकट थे और उन्हीं के प्रति वफादार होते थे। डॉ. आर. पी. त्रिपाठी कहते हैं: "मुगल सेना का संगठन सन्तोषजनक न था। उसमें उजबेग, मुगल, तुर्क, ईरानी, अफगान और भारतीय सम्मिलित थे। उनका नेतृत्व अधिकांशतया उन्हीं की जाति के सरदार करते थे। जाति और व्यक्तिगत ईर्ष्याएँ सेना में एकता की भावना के निर्माण को अवरुद्ध करती होंगी जो एक सुसंगठित सेना की आवश्यकता है और जिसकी कमी होने से सेना युद्ध का एक विश्वसनीय साधन नहीं हो सकती थी।"[2] मनसबदारी-व्यवस्था में सैनिक के वस्त्र, शस्त्र, शिक्षा, आदि में कोई समता नहीं हो

---

1 "We lay as secure as if we had been in our own houses I never saw a better government, than there was in the camp, and plenty of all things." —*Jordain.*

2 "The composition of the Mughal army was from satisfactory. It consisted of the Uzbegs, Mughals, Turks, Persians, Afghans and Indians. They were usually led by their own tribal leaders The tribal and personal jealousies must have prevented the growth of a sense of unity which is essential in a well-built army, and were hardly calculated to make it a reliable engine of war." —*Dr. R. P. Tripathi.*

सकती थी और न मुगल-बादशाहों ने सैनिकों की युद्ध-शिक्षा का कोई प्रबन्ध किया था। सैनिकों से अपने युद्ध-कौशल को जानने और बढ़ाने की आशा स्वयं के प्रयत्नों द्वारा की जाती थी। मुगलों ने पैदल सैनिकों पर अधिक बल नहीं दिया। उसी प्रकार, मुगलों की नौ-सेना थी ही नहीं और तोपखाना समय के अनुसार प्रगति न कर सका। कन्धार को जीतने के प्रयत्नों का निरन्तर असफल होना इस बात का प्रमाण था। अकबर ने अपने नियन्त्रण और परिश्रम से एक शक्तिशाली सेना के निर्माण में अवश्य सफलता पायी थी परन्तु बाद के मुगल बादशाह उसमें अधिक परिवर्तन न कर सके। अकबर के समय से मुगल सेना भारत में अजेय समझी जाने लगी। इस कारण, पहले बादशाहों और बाद में मनसबदारों ने स्त्रियों, रखैलों, आदि को युद्ध में अपने साथ ले जाना आरम्भ कर दिया। मुगल कैम्प में बहुत बड़ी संख्या में वेश्याएँ और दास-दासियाँ भी जाने लगीं। इन कारणों से मुगल सेना का चारित्रिक पतन हुआ, उसकी गतिशीलता नष्ट हो गयी और स्त्रियाँ, दास-दासियाँ, आदि युद्ध के अवसर पर अतिरिक्त भार बन गये। उत्तरकालीन मुगल बादशाहों के समय में इसके भयंकर परिणाम हुए जिसके कारण मुग़ल बादशाह आन्तरिक शान्ति स्थापित रखने और विदेशी आक्रमणकारियों का मुकाबला करने में सर्वथा असफल रहे।

परन्तु अकबर द्वारा स्थापित की गयी मनसबदारी व्यवस्था पर्याप्त लाभदायक भी रही थी। इसकी मुख्य विशेषता यह रही कि इसके द्वारा बादशाह ने योग्यता को व्यक्ति के पद को निर्धारित करने का आधार बनाया। अकबर के समय में मुगल सेना, निस्सन्देह, अजेय हो गयी थी। डॉ. आर. पी. त्रिपाठी ने लिखा है: "वह बाबर की सेना से भी जिसे कुशल और सफल बताया गया था, श्रेष्ठ थी और वह टर्की के सुल्तान सुलेमान की गौरवपूर्ण सेना से, जो यूरोप में अपने ढंग की सेनाओं से श्रेष्ठ सेनाओं में स्थान रखती थी, कठिनाई से ही निम्न मानी जा सकती थी।"[1] जहाँगीर, शाहजहाँ और औरंगजेब के समय तक भी मुगल सेना पर्याप्त श्रेष्ठ थी यद्यपि इन बादशाहों ने समय के अनुसार उसकी कुशलता और शक्ति में वृद्धि करने में सफलता नहीं पायी। मराठों के विरुद्ध औरंगजेब इसी कारण असफल हुआ। उत्तरकालीन मुगल बादशाहों के समय में मनसबदारी-व्यवस्था में दोष बढ़ गये और मुगल सेना अपनी शक्ति को नष्ट करती चली गयी, जो मुगलों के पतन का एक बहुत बड़ा कारण बना।

[4]

मुगलों की वित्त और लगान-व्यवस्था

मुगल बादशाहों की आय के मुख्य साधन युद्ध में लूटी हुई सम्पत्ति का 1/5 भाग, व्यापारिक कर, टकसाल, अधीनस्थ राजाओं और मनसबदारों से समय-समय पर प्राप्त होने वाले उपहार, लावारिस सम्पत्ति, नमक-कर, राज्य के द्वारा संचालित उद्योगों से आय और लगान (भूमि-कर) था। स्थानीय कर अतिरिक्त थे जिनकी

---

1 "It was even superior to that of Babar which had been pronounced as 'efficient and successful' and hardly inferior to the Ottoman army of Sulaiman, the Magnificent, which was admittedly one of the best of its kind in Europe." —*Dr. R. P. Tripathi.*

'अब्वाब' पुकारते थे और जो स्थानीय शासन की आय का साधन थे। बाबर और हुमायूँ ने हिन्दुओं से 'जजिया' और मुसलमानों से 'जकात' नामक धार्मिक कर लिये थे। अकबर ने इनको समाप्त कर दिया। औरंगजेब के समय में ये धार्मिक कर पुनः लगाये गये और उसके पश्चात् सैयद-भाइयों के प्रभुत्व के समय को छोड़कर अधिकांश मुगल बादशाहों ने इन करों को लेने का प्रयत्न किया। बादशाह के व्यय के मुख्य साधन सेना, महल, हरम और बादशाह की व्यक्तिगत आवश्यकताओं की पूर्ति तथा शासन का व्यय थे। आय के साधनों में लगान अथवा भूमि-कर सबसे प्रमुख था।

राज्य की आय का सबसे बड़ा साधन लगान (भूमि-कर) था। बाबर के समय में सम्पूर्ण भूमि को जागीरों में बाँट दिया गया था। हुमायूँ ने अपने समय में भूमि-सुधार के लिए कोई कार्य नहीं किया। शेरशाह ने अपने समय में एक सुव्यवस्थित लगान-व्यवस्था का प्रबन्ध किया परन्तु वह व्यवस्था इस्लामशाह की मृत्यु के पश्चात् नष्ट हो गयी और जब हुमायूँ ने दिल्ली के साम्राज्य को पुनः प्राप्त किया तब उसने परम्परागत जागीरदारी-व्यवस्था को पुनः स्थापित कर दिया।

लगान-व्यवस्था

अकबर प्रथम मुगल बादशाह था जिसने लगान-व्यवस्था को सुचारु रूप से स्थापित किया और मध्य-युग की श्रेष्ठतम लगान-पद्धति का निर्माण किया। बैरमखाँ के पतन के पश्चात् जब अकबर ने शासन के कार्य-भार को अपने हाथों में लिया तब उसे पता लगा कि शाही खजाना रिक्त था और राज्य की आय राज्य के व्यय की पूर्ति करने में असमर्थ थी। बिना लगान-व्यवस्था में सुधार किये इस स्थिति में सुधार असम्भव था। इस कारण, अकबर ने इसकी ओर ध्यान दिया और विभिन्न लगान-अधिकारियों तथा अर्थ-मन्त्रियों की नियुक्ति करके विभिन्न अन्वेषण किये। अन्त में, टोडरमल की सहायता से जिस लगान-व्यवस्था को उसने स्थापित किया, उसे दहसाला-प्रबन्ध (जाब्ता) पुकारा गया और वह मुगल लगान-व्यवस्था का मूल आधार बनी तथा सफल भी हुई।

1560 में **अब्दुल मजीद आसफखाँ** को अर्थ-मन्त्री नियुक्त किया गया। उसने सरदारों को प्रसन्न करने के लिए जागीरों की आय को बढ़ा-चढ़ाकर दिखाया। इससे सरदार यह तो प्रसन्नता अनुभव कर सकते थे कि उन्हें बड़ी-बड़ी आय की जागीरें मिली हैं परन्तु चूँकि वह आय यथार्थ न थी, अतः न उससे राज्य को लाभ था, न जागीरदारों को और न प्रजा को। जागीरों और राज्य की आय को झूठा दिखाने से सभी को हानि थी। 1563 में **ऐतमादखाँ** को अर्थ-मन्त्री नियुक्त किया गया। उसने पाया कि झूठी आय लिखे जाने के अतिरिक्त खालसा (शाही) भूमि और जागीरों की भूमि में स्पष्ट सीमाओं का विभाजन न होना और मुद्रा-व्यवस्था का दोषपूर्ण होना भी राज्य के लिए हानिकारक सिद्ध हो रहे थे। उसने खालसा-भूमि और जागीरों की भूमि की सीमाओं का विभाजन किया, आदेश दिये कि प्रत्येक सिक्के का मूल्य उतना ही माना जाय जो उस पर अंकित है तथा अर्थ-विभाग और खजाने की व्यवस्था को ठीक करने का प्रयत्न किया। 1564 में **मुजफ्फरखाँ** को राज्य का दीवान (अर्थ-मन्त्री) नियुक्त किया गया। उसने राज्य के लगान की आय का ठीक प्रकार से पता लगाने के लिए दस कानूनगोओं की नियुक्ति की जिन्हें स्थानीय कानूनगोओं के कागजों के आधार पर ठीक लगान का पता लगाने के आदेश दिये गये। उनके आधार पर लगान की आय का जो लेखा-जोखा तैयार किया गया, उसे 'जमाई

हल हासिल' पुकारा गया। उसके द्वारा तैयार किया गया वह लेखा-जोखा पूर्णतया सही तो न बन सका परन्तु उसने एक लाभदायक कार्य अवश्य किया। उससे पहले लगान को नकदी (सिक्कों) में वसूल करने के लिए सम्पूर्ण राज्य में गल्ले की समान कीमतें निश्चित होती थीं। उसके पश्चात् निश्चित किया गया कि विभिन्न स्थानों पर गल्ले की जो कीमतें होंगी, उन्हीं के आधार पर किसान सिक्कों के रूप में लगान देंगे। 1568 में शिहाबुद्दीन अहमदखाँ को खालसा-भूमि का दीवान नियुक्त किया गया। उसने पाया कि प्रतिवर्ष पैदावार और गल्ले की कीमतों का पता लगाकर लगान निश्चित करने की व्यवस्था (जाब्ती हरसाला) दोषपूर्ण और व्ययपूर्ण थी। इस कारण, उसने उसे समाप्त कर दिया और 'नस्क' अथवा 'कनकूत' व्यवस्था को आरम्भ किया जिसके अनुसार पैदावार का अन्दाजा करके जमींदारों अथवा भूमिपतियों के द्वारा लगान वसूल करने की व्यवस्था की गयी। परन्तु यह व्यवस्था अधिक समय तक न रह सकी। 1570 में मुजफ्फरखाँ को पुनः अर्थ-मन्त्री नियुक्त किया गया और उसने फिर से 'जाब्ती हरसाला' की व्यवस्था को आरम्भ कर दिया। अब प्रत्येक भूमि की पैमाइश करने के अतिरिक्त उसकी ठीक पैदावार का पता लगाने की व्यवस्था भी की गयी और विभिन्न स्थानों पर गल्ले की भिन्न-भिन्न कीमतों के आधार पर सिक्कों के रूप में लगान लेने की व्यवस्था की गयी। इस व्यवस्था के अन्तर्गत जागीर की भूमि भी ले ली गयी। इस व्यवस्था के अन्तर्गत प्रत्येक भूमि का लेखा-जोखा और विभिन्न भागों में गल्ले की कीमतों का जो हिसाब अगले दस वर्षों तक तैयार किया गया, उसी के आधार पर 1580 में दहसाला लगान-व्यवस्था लागू की गयी।

1580 में दहसाला-प्रबन्ध को आरम्भ किया गया और उसे लगान-व्यवस्था का स्थायी स्वरूप दिया गया। उस समय राजा टोडरमल अर्थ-मन्त्री था और उसका मुख्य सहायक ख्वाजा शाह मंसूर था। इस 'दहसाला-प्रबन्ध' के विषय में इतिहासकारों ने विभिन्न मत प्रकट किये हैं, परन्तु साधारणतया इस व्यवस्था की मूल बातों के बारे में सहमत होना सम्भव है, जो निम्नलिखित मानी जाती हैं:

1. अभी तक भूमि की नाप रस्सी से की जाती थी जो मौसम के प्रभाव से बढ़ या घट जाती थी। अब रस्सी का प्रयोग समाप्त कर दिया गया और उसके स्थान पर बाँस की जरीब आरम्भ की गयी जिसके टुकड़े लोहे की पत्तियों से जुड़े होते थे।

2. क्षेत्रफल की इकाई बीघा मानी गयी जो 60 गज × 60 गज = 3,600 वर्ग गज का होता था।

3. आरम्भ में नापने के लिए 'गज-सिकन्दरी' का प्रयोग होता था, परन्तु 1586-87 में 'गज-इलाही' का प्रयोग आरम्भ किया गया।

4. कृषि-योग्य भूमि को चार भागों में बाँटा गया—(अ) पोलज भूमि, सबसे श्रेष्ठ भूमि थी, जिस पर प्रत्येक वर्ष खेती होती थी; (ब) परोती भूमि, जिसे अपनी उत्पादन-शक्ति को पुनः संचित करने के लिए एक या दो वर्ष के लिए बिना खेती किये हुए छोड़ दिया जाता था, (स) छच्छर भूमि, जिस पर तीन या चार वर्ष खेती नहीं की जाती थी; और (द) बंजर भूमि, जिस पर पाँच या उससे भी अधिक वर्षों तक खेती नहीं की जाती थी। इसके अतिरिक्त, पहली तीन प्रकार की भूमियों को पैदावार के आधार पर फिर तीन-तीन श्रेणियों में बाँटा गया था।

5. प्रत्येक प्रकार की भूमि की पिछली दस वर्षों की पैदावार का पता लगा कर उस भूमि की औसत पैदावार (average produce) का पता लगाया जाता था और उस औसत पैदावार को लगान निश्चित करने का आधार मानकर अगले दस वर्षों के लिए किसानों से लगान निश्चित कर दिया जाता था।

6. राज्य का हिस्सा अथवा लगान पैदावार का 1/3 भाग होता था।

7. किसानों से लगान सिक्कों के रूप में लिया जाता था और इसके लिए अलग-अलग क्षेत्रों में गल्ले की अलग-अलग कीमतें निश्चित की जाती थीं। डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव ने लिखा है कि "इस कार्य के लिए सम्पूर्ण राज्य को दस्तूरों (आर्थिक इकाइयाँ जो शासन-प्रबन्ध की इकाई से पृथक थीं) में बाँटा गया था। प्रत्येक दस्तूर में पिछले दस वर्षों की कीमतों का पता लगाकर प्रत्येक गल्ले की औसत कीमत निकाल ली जाती थी और वह औसत कीमत उस गल्ले की, उस दस्तूर में, अगले दस वर्षों के लिए मान्य कीमत थी जिसके आधार पर किसान अपना लगान सिक्कों के रूप में राज्य को देता था।

8. सरकारी कर्मचारी भूमि की किस्म, उसका क्षेत्रफल, क्या गल्ला पैदा किया गया, कितनी पैदावार हुई, गल्ले की क्या कीमतें रहीं, आदि का हिसाब तो प्रत्येक वर्ष तैयार करते थे क्योंकि उसी के आधार पर भविष्य का प्रबन्ध निर्भर करता था परन्तु किसानों से प्रत्येक वर्ष लगान निश्चित करने की और प्रत्येक वर्ष गल्ले की कीमतें निश्चित करने की आवश्यकता नहीं रही थी।

9. जागीरदारी भूमि इस व्यवस्था के अन्तर्गत सम्मिलित की गयी थी। जो भूमि जागीरों के रूप में दी गयी थी उसकी लगान-व्यवस्था का प्रबन्ध भी केन्द्रीय अधिकारी करते थे।

10. दान-दक्षिणा में दी गयी 500 बीघा अथवा उससे अधिक की भूमि के मालिकों को बादशाह के सम्मुख उपस्थित होने की आज्ञा दी गयी। जो बादशाह के सम्मुख उपस्थित नहीं हुए अथवा जिनके अधिकार को वैध नहीं माना गया, उनसे उनकी भूमि छीन ली गयी। तब ऐसी भूमियों को देने या समाप्त करने का उत्तर-दायित्व बादशाह ने स्वयं अपने हाथों में ले लिया और सूबों के सद्रों की सहायता से इस कार्य को करना आरम्भ किया।

11. अकबर ने किसानों को भूमि का स्वामी स्वीकार किया और राज्य ने किसानों से सीधा सम्पर्क स्थापित किया। इस प्रकार, शेरशाह की भाँति उसकी व्यवस्था भी रैयतवाड़ी थी।

12. लगान के लिए किसानों को 'पट्टे' दिये जाते थे जिनमें उनकी भूमि का विवरण (किस्म, क्षेत्रफल आदि) होता था और उन्हें कितना लगान देना है, वह भी लिखा होता था। किसानों से उनकी स्वीकृति (कबूलियात-पत्र) भी ली जाती थी।

13. किसानों को भूमि में सुधार करने हेतु प्रोत्साहन दिया जाता था, समय-समय पर उन्हें सहायता दी जाती थी और आपत्ति-काल में लगान को कम अथवा माफ भी कर दिया जाता था।

14. 'दहसाला-प्रबन्ध' सम्पूर्ण राज्य में लागू नहीं किया गया था बल्कि लगान को निश्चित करने के लिए अलग-अलग स्थानों पर अलग-अलग प्रणालियों का प्रयोग किया गया था। गल्ला-बख्शी अथवा बँटाई (फसल का किसान और राज्य में बँट-

बारा करने) का तरीका सिन्ध और काबुल के कुछ भागों तथा कन्धार और कश्मीर में लागू था। नस्क अथवा कनकूत (बिना नपाई के पैदावार का अन्दाजा मात्र करके लगान निश्चित करने) का तरीका बंगाल, गुजरात और काठियावाड़ में लागू था। जब्ती अथवा नकदी (पैमाइश और गल्ले की किस्म के आधार पर लगान तय करने) का तरीका बिहार, इलाहाबाद, मालवा, अवध, आगरा, दिल्ली, लाहौर और मुल्तान में लागू था। और, यही वे सूबे थे जहाँ 'दहसाला-व्यवस्था' लागू की गयी थी। सभी प्रान्तों में इस व्यवस्था को लागू किया जाना सम्भव भी नहीं था। इसी कारण, विभिन्न स्थानों पर लगान निश्चित करने के उपर्युक्त विभिन्न तरीके प्रयोग में लाये गये थे।

15. पटवारी और मुकद्दम (इनको पटेल या देशमुख भी पुकारते थे) सरकारी अधिकारी न थे, परन्तु राज्य इनको स्वीकार करता था, इनकी सहायता से लगान वसूल करता था, जमीन का लेखा-जोखा और हिसाब रखता था तथा लगान में से कुछ हिस्सा इनको देता था। अकबर ने बाद के समय में कानूनगोओं को सरकारी कर्मचारी मानकर उन्हें वेतन देना आरम्भ कर दिया था। कानूनगोओं से ऊपर आमिल और उनसे ऊपर अमलगुजार सरकारी कर्मचारी थे। अमलगुजार सूबों के दीवानों के अधीन थे और सूबों के दीवान केन्द्रीय दीवान अथवा अर्थ-मन्त्री के अधीन थे। अकबर ने अपनी 'दहसाला-व्यवस्था' को लागू करने के लिए एक जिला अधिकारी 'करोरी' की भी नियुक्ति की थी।

16. अकबर ने 'जजिया' और 'जकात' जैसे धार्मिक करों को हटाने के अतिरिक्त किसानों की सुविधा के लिए पेड़ों, पशुओं के बेचने अथवा खरीदने, नमक, बाजार, मकान बेचने और खरीदने, निवास-स्थान, चमड़ा, कम्बल, आदि विभिन्न वस्तुओं से कर हटा दिया था। अन्य विभिन्न स्थानीय करों (अब्वावों) को भी अकबर ने हटाने का प्रयत्न किया था तथा सरकारी कर्मचारियों को किसानों से नजराने लेने से रोका था। इसमें सन्देह नहीं कि अकबर इसमें पूर्ण सफल न हो सका था; परन्तु तब भी अनेक करों को समाप्त करने से किसानों को लाभ हुआ था।

उपर्युक्त आधारों पर अकबर की लगान-व्यवस्था निश्चित की गयी थी। परन्तु अकबर की 'दहसाला-व्यवस्था' के बारे में इतिहासकार एकमत नहीं हैं। मोरलैण्ड ने दस वर्ष की औसत पैदावार का कोई जिक्र नहीं किया है। वह केवल औसत कीमत का जिक्र करता है जिसके आधार पर किसान सिक्कों की शक्ल में लगान जमा करते थे। वी. ए. स्मिथ ने औसत पैदावार का जिक्र किया है जिसके आधार पर किसानों से अगले दस वर्षों के लिए लगान निश्चित किया गया था, परन्तु उसने औसत कीमत का कोई जिक्र नहीं किया है। डॉ. एस. आर. शर्मा का कहना है कि अकबर ने शेरशाह के समय में निश्चित किये हुए लगान को ही सिक्कों की शक्ल में लेने की व्यवस्था की थी। उन्होंने औसत पैदावार और दसवर्षीय प्रबन्ध-व्यवस्था का कोई विवरण नहीं दिया है। डॉ. आर. पी. त्रिपाठी ने औसत पैदावार और औसत कीमत के प्रयोग को तो स्वीकार किया है परन्तु वे यह भी स्वीकार नहीं करते कि यह व्यवस्था दस वर्षों के लिए थी या स्थायी थी, यद्यपि इसका व्यावहारिक प्रयोग अकबर के पूरे शासनकाल में हुआ था। डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव औसत पैदावार और औसत कीमत के व्यावहारिक प्रयोग को स्वीकार करते हैं तथा यह भी कहते हैं कि इनका प्रयोग आगामी दस वर्षों के लिए ही किया जाता था और फिर दस वर्ष के पश्चात्

औसत पैदावार और औसत कीमतें निश्चित की जाती थीं अर्थात् यह व्यवस्था दस-वर्षीय भी थी।

अकबर की उपर्युक्त लगान-व्यवस्था में मुख्यतया दो दोष बताये जाते हैं। प्रथम, लगान-कर्मचारी भ्रष्ट थे और अकबर उनके अत्याचारों से किसानों की रक्षा करने में समर्थ न था। द्वितीय, किसानों से लगान अधिक मात्रा में लिया गया था। परन्तु इन दोषों को स्वीकार नहीं किया जा सकता है। इन आरोपों को कुछ ब्रिटिश इतिहासकारों ने अकबर की लगान-व्यवस्था पर इसलिए लगाया है कि वे अकबर की व्यवस्था को अँग्रेजी काल की लगान-व्यवस्था से श्रेष्ठ मानने के लिए तत्पर नहीं हैं। अधिकांश इतिहासकार अकबर की लगान-व्यवस्था को श्रेष्ठ और सफल स्वीकार करते हैं। भ्रष्टाचार थोड़ा-बहुत तो प्रत्येक समय में रहता है। इसे पूर्णतया समाप्त करना असम्भव होता है। अंग्रेजी शासनकाल में भी लगान-विभाग में भ्रष्टाचार कम न था। जहाँ तक लगान के अधिक होने का प्रश्न है, वह गलत है। पैदावार का 1/3 भाग मध्य-युग में न्यूनतम लगान माना गया था। शेरशाह जो किसानों की भलाई के लिए बहुत प्रयत्नशील था, पैदावार के 1/3 भाग के अतिरिक्त किसानों से जरीबाना, महसीलाना और सुरक्षा-कर भी लेता था। अकबर ने पैदावार के 1/3 भाग के अतिरिक्त अन्य सभी करों से किसानों को मुक्त कर दिया था। इस कारण, किसानों पर कर का भार अधिक न था बल्कि इस अवस्था में किसान प्रसन्न और सुखी थे। उनका लगान निश्चित था। पैदावार अथवा गल्ले की कीमत बढ़ने से जो अतिरिक्त लाभ होता था वह उन्हीं को मिलता था क्योंकि राज्य लगान में वृद्धि नहीं करता था। दूसरी तरफ, किसानों को यह भी सुविधा थी कि उनकी फसल नष्ट होने या उनकी हानि होने पर राज्य उनके लगान को माफ या कम करने की सुविधा प्रदान करता था। अकबर की व्यवस्था में किसानों से राज्य का प्रत्यक्ष सम्पर्क था, यहाँ तक कि जागीरदारों को भूमि की देखभाल भी शाही कर्मचारियों के हाथों में थी। इससे जागीरदार अथवा जमींदार जैसे शोषण करने वाले वर्ग अकबर के समय में नहीं थे। इस कारण, अकबर की लगान-व्यवस्था पूर्णतया सफल रही। इससे किसान सम्पन्न हुए, कृषि में उन्नति हुई और व्यापार तथा उद्योग भी पनप सके। इससे राज्य को भी लाभ हुआ और निरन्तर विजय तथा युद्धों में लगे रहते हुए भी अकबर का खजाना धन से परिपूर्ण रहा। इतिहासकार स्मिथ भी जिसने यह शंका प्रकट की है कि अकबर के सभी नियम ठीक प्रकार से लागू नहीं किये जाते थे, इस लगान-व्यवस्था की प्रशंसा करता है। उसने लिखा है : "संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि यह प्रणाली बहुत अच्छी और प्रशंसनीय थी। इसके सिद्धान्त बहुत अच्छे थे और अधिकारियों को वही व्यावहारिक निर्देश दिये जाते थे जिनकी पूर्ति की इच्छा की जाती थी।" इसी प्रकार इतिहासकार लेनपूल ने लिखा है : "आज तक मध्य-युग के इतिहास में किसी भी व्यक्ति का नाम इतना ख्यातिपूर्ण नहीं माना गया है जितना कि टोडरमल का और इसका कारण यह कि अकबर के सुधारों में से कोई भी सुधार इतनी अधिक मात्रा में प्रजा के हितों की पूर्ति करने वाला न था जितनी कि इस महान् अर्थशास्त्री द्वारा की गयी लगान की पुनर्व्यवस्था।"[1]

---

1 "There is no name in mediaeval history more renowned in India to the present day than that of Todar Mal, and the reason is that

जहाँगीर के समय में लगान-व्यवस्था का मूल स्वरूप अकबर के समय की भाँति ही रहा परन्तु उसका प्रबन्ध शिथिल हो गया। जहाँगीर ने बंगाल और गुजरात में भी 'दहसाला-प्रबन्ध' को लागू करने का प्रयत्न किया परन्तु उसकी सफलता के बारे में कुछ स्पष्ट विवरण प्राप्त नहीं होते। जहाँगीर के समय में जागीरदारों के अधिकारों में वृद्धि हो गयी जिससे किसानों की स्थिति ही खराब नहीं हुई बल्कि राज्य की आय में भी कमी हुई। **शाहजहाँ के समय में** इस व्यवस्था में और गिरावट आ गयी। डॉ. सक्सेना के अनुसार राज्य की 70% भूमि जागीरदारों को दे दी गयी और राज्य का सम्पर्क जागीरदारी भूमि के किसानों से न रहा। शाहजहाँ ने किसानों के कर-भार में भी वृद्धि की। उसके समय में लगान पैदावार का 33% से 50% तक था, अर्थात् बहुत-से स्थानों पर पैदावार का ½ भाग लगान के रूप में लिया जाने लगा था। इसके अतिरिक्त, किसानों को अपनी सम्पूर्ण भूमि पर लगान देना पड़ता था चाहे वे उस सम्पूर्ण भूमि पर खेती कर रहे हों अथवा नहीं। शाहजहाँ के समय में लगान वसूल करने के लिए भूमि को ठेकेदारों को दिया जाना भी आरम्भ हुआ। इससे शासन के व्यय में तो कमी होती थी परन्तु ठेकेदार किसानों से अधिक लगान एकत्र करने का प्रयत्न करते थे जिससे किसानों की स्थिति का खराब होना स्वाभाविक था। निस्सन्देह, शाहजहाँ परिश्रमी था और स्वयं लगान-व्यवस्था की देखभाल करता था परन्तु उपर्युक्त परिस्थितियों में किसानों की स्थिति अच्छी नहीं हो सकती थी। **औरंगजेब के समय में** लगान-व्यवस्था में न केवल वे समस्त दोष रहे जो शाहजहाँ के समय में उत्पन्न हुए थे, बल्कि राज्य की आर्थिक कठिनाइयों के कारण किसानों पर अधिक दबाव डाला गया। जागीरदारी-व्यवस्था, ठेकों पर भूमि का दिया जाना, 2/3 से लेकर 1/2 तक और आवश्यकता होने पर उससे भी अधिक मात्रा में लगान का लिया जाना, सम्पूर्ण भूमि से लगान लिया जाना, चाहे उस पर खेती की गयी हो अथवा नहीं, आदि सभी पूर्ववत् रहे। किसानों से लगान वसूल करने के लिए कठोरता भी की गयी जिससे किसानों की स्थिति खराब हो गयी।

इस प्रकार, अकबर के उत्तराधिकारी उसके द्वारा स्थापित की गयी लगान-व्यवस्था में सुधार करने की बजाय उसे खराब करते चले गये। उत्तरकालीन मुगल बादशाहों के समय में तो यह व्यवस्था पूर्णतया समाप्त हो गयी और भूमि को ठेकेदारों को देने के अतिरिक्त और कोई कार्य बाकी न रहा। राज्य इन ठेकेदारों से जो अधिकांशतया पैतृक भी बन गये थे, अधिक से अधिक धन माँगता था और ये ठेकेदार किसानों से अधिक से अधिक धन वसूल करते थे। इससे किसानों की स्थिति खराब हो गयी और राज्य का आर्थिक ढाँचा नष्ट हो गया। उत्तरकालीन मुगल बादशाह न कभी अपनी सेना को ठीक वेतन दे सके, न शासन को ठीक कर सके और न अपने किसानों की स्थिति को ठीक करके उनकी वफ़ादारी प्राप्त कर सके।

[5]

मुगलों की मुद्रा और टकसाल-व्यवस्था

बाबर और हुमायूँ ने पहले से चली आ रही मुद्रा-प्रणाली को ही जारी रखा

---

nothing in Akbar's reforms more nearly touched the welfare of the people the great financier's reconstruction of the revenue system."

—*Lane-Poole.*

और उसी के आधार पर अपने नाम के सिक्के चलाये। अकबर ने मुगलों की टकसाल और मुद्रा-व्यवस्था में महत्वपूर्ण परिवर्तन किये। 1577 में अकबर ने इन सुधारों को आरम्भ किया और एक सुयोग्य कलाकार ख्वाजा अबुलसमद को दिल्ली की शाही टकसाल का सुपरिण्टेण्डेण्ट नियुक्त किया। लाहौर, जौनपुर, पटना, अहमदाबाद, टाँडा, आदि सूबों की टकसालें और उनके अधिकारी अबुलसमद के अधीन कर दिये गये जिससे शाही मुद्रा-व्यवस्था सम्पूर्ण राज्य में समान हो सके। अकबर ने अपने समय में सोना, चाँदी और ताँबे की विभिन्न तौल और मूल्य के सिक्के चलाये और उनका पारस्परिक अनुपात निश्चित किया। ये सिक्के अच्छी धातु और ठीक तौल के होते थे। इनमें में अधिकांश गोल थे यद्यपि कुछ चौकोर भी बनाये गये थे। बादशाह का नाम, टकसाल का नाम और जारी किये गये वर्ष के अतिरिक्त उनमें से अधिकांश पर कुरान की आयतें भी लिखी होती थीं। अकबर ने सिक्कों पर अपनी आकृति अंकित नहीं करायी थी। इन सिक्कों को सुन्दर और सुरुचिपूर्ण बनाया गया था और इनकी ढलाई बहुत अच्छी की गयी थी। अकबर का सबसे बड़ा सोने का सिक्का 'शंसब' था जो तौल में 101 तोले के करीब था और जिसका प्रयोग बड़े लेन-देनों में होता था। सोने का अधिक चलने वाला सिक्का 'इलाही' कहलाता था जिसका मूल्य दस रुपये के बराबर था। इसके अतिरिक्त, सोने के अन्य सिक्के भी बहुत थे जिनकी कुल संख्या 26 थी। चाँदी का सिक्का रुपया कहलाता था जिसका वजन 172·5 ग्रेन था। चौकोर रुपये को 'जलाली' पुकारा गया था यद्यपि वह बहुत लोकप्रिय नहीं हुआ था। रुपया के 1/2, 1/4, 1/8, 1/10 और 1/20 भाग के सिक्के भी चलाये गये थे। ताँबे का सिक्का 'दाम' कहलाता था जिसकी कीमत रुपये का 40वाँ भाग थी। ताँबे का सबसे छोटा सिक्का 'जीतल' कहलाता था और एक 'दाम' के मूल्य में 25 'जीतल' माने जाते थे। अकबर ने जो मुद्रा और टकसाल-व्यवस्था की थी, वह बहुत श्रेष्ठ मानी गयी है। उसे अंग्रेजों के समय की मुद्रा और टकसाल-व्यवस्था का आधार माना गया है। सभी इतिहासकारों ने इस क्षेत्र में अकबर की सफलता की प्रशंसा की है। इतिहासकार स्मिथ ने उसकी मुद्रा-व्यवस्था और सिक्कों को तत्कालीन सभी यूरोपीय शासकों की व्यवस्था और सिक्कों से श्रेष्ठ बताया है।

जहाँगीर ने अपने सिक्कों पर अपनी आकृति अंकित करायी और उसके कुछ सिक्कों पर उसके साथ-साथ नूरजहाँ का नाम भी आया। जहाँगीर के कुछ सिक्कों पर उसकी आकृति हाथ में शराब का प्याला लिये हुए अंकित की गयी। उसके समय में अकबर द्वारा आरम्भ की गयी अन्य सभी प्रकार की मुद्रा-व्यवस्था चलती रही। शाहजहाँ के समय में भी मुद्रा-व्यवस्था में कोई परिवर्तन नहीं किया गया। औरंगजेब के समय में रुपये के मूल्य में वृद्धि की गयी परन्तु वह अन्तर बहुत साधारण था। बाद के समय में भी इस व्यवस्था में कोई विशेष परिवर्तन नहीं किया गया। इस प्रकार, मुगलों की मुद्रा-व्यवस्था बहुत अच्छी मानी गयी है।

[6]

मुगलों की न्याय-व्यवस्था

यद्यपि न्याय करना मुगल बादशाह अपना प्रमुख कर्तव्य मानते थे परन्तु उनकी न्याय-व्यवस्था उनके शासन का अत्यन्त दुर्बल भाग था। मुगल बादशाह राज्य का सबसे बड़ा न्यायाधीश था और प्रायः सभी बादशाह प्रत्येक बुधवार की शाम को

खुले दरबार में बैठकर न्याय करते थे। बादशाह की अदालत में अन्य अदालतों के मुकदमों को अन्तिम निर्णय के लिए लाया जा सकता था और वहाँ मुकदमे आरम्भ भी किये जा सकते थे। प्रायः सभी मुगल बादशाह निष्पक्षता से न्याय करते थे यद्यपि अकबर के अतिरिक्त सभी धार्मिक मतभेद से प्रभावित होते थे। बादशाह के अतिरिक्त राजधानी में प्रधान काजी, सूबों की राजधानी में सूबों के जाजी और बड़े-बड़े नगरों तथा कस्बों में भी काजियों की नियुक्ति की जाती थी। काजियों की अदालतों में अधिकांशतया धर्म सम्बन्धी या सम्पत्ति के मुकदमे आया करते थे। कहीं-कहीं पर काजी की सहायता के लिए मुफ्ती (कुरान के कानूनों की व्यवस्था करने वाले) भी होते थे। इनके अतिरिक्त सूबेदार, फौजदार, शिकदार, कोतवाल, आदि शासनाधिकारी फौजदारी के मुकदमों का और दीवान, अमलगुजार, आमिल, आदि शासनाधिकारी लगान सम्बन्धी मुकदमों का निर्णय करते थे। अकबर ने अपने समय में हिन्दू पण्डितों को भी हिन्दुओं के मुकदमों का निर्णय करने के लिए नियुक्त किया था। गाँवों में मुकदमों का निर्णय ग्राम-पंचायतों के द्वारा किया जाता था। इस प्रकार मुगलों के समय में विभिन्न प्रकार की अदालतें थीं। परन्तु इन अदालतों का अधिकार-क्षेत्र और पारस्परिक सम्बन्ध न निश्चित थे और न स्पष्ट। इस कारण, यह कहा जा सकता है कि मुगल बादशाहों ने न्याय-व्यवस्था को एक सूत्र में बाँधने का कोई प्रयत्न नहीं किया था।

अकबर के अतिरिक्त सभी मुगल बादशाहों ने इस्लामी कानूनी-व्यवस्था को न्याय करने का आधार माना था। अकबर ने यह प्रयत्न अवश्य किया था कि हिन्दुओं के साथ न्याय करते हुए हिन्दुओं की परम्पराओं को ध्यान में रखा जाय। मुस्लिम कानूनों की व्याख्या का मुख्य आधार 'कुरान' थी। परन्तु उसके कानूनों की व्याख्या करने में अन्तर हो सकते थे। इसके अतिरिक्त, कानूनों को संग्रह करने का कोई प्रयत्न नहीं किया गया था। इस क्षेत्र में सबसे सराहनीय कार्य औरंगजेब ने 'फतवा-ए-आलमगीरी' को तैयार कराके किया था। इसमें इस्लाम के धार्मिक कानूनों का संग्रह किया गया था। धर्म के आधार पर लागू की जाने वाली मुगलों की यह न्याय-व्यवस्था निश्चय ही गैर-मुसलमानों के लिए न्यायपूर्ण नहीं हो सकती थी।

मुगल दण्ड-व्यवस्था कठोर थी। साधारणतया 'दाँत के लिए दाँत' और 'आँख के लिए आँख' की नीति का पालन किया जाता था। मृत्यु-दण्ड, हाथ-पैर काटना, नाक-कान काटना, असम्मानित करना, कोड़ों से पीटा जाना, आदि दण्ड निस्संकोच दिये जाते थे।

मुगल-शासन का मूल्यांकन

मध्य-युग में अनेक दोषों के होते हुए भी मुगल शासन-व्यवस्था श्रेष्ठ स्थान रखती है। अकबर ने इस शासन-व्यवस्था का निर्माण किया था और अपने समय में उसने साम्राज्य को शान्ति, सुरक्षा, शक्ति, व्यवस्था और सम्पन्नता प्रदान करने में सफलता पायी थी। अकबर की महानता का कारण उसकी विजयें, उसकी राजनीतिक दूरदर्शिता और धार्मिक सहनशीलता ही न थी बल्कि उसके द्वारा एक श्रेष्ठ शासन-व्यवस्था का स्थापित किया जाना भी था। अकबर ने इस क्षेत्र में न केवल अपने से पहले के शासकों के अनुभवों से ही लाभ प्राप्त किया बल्कि उसने अनेक नवीनताओं को जन्म दिया। यद्यपि केन्द्रीय सेना का निर्माण, सैनिकों का हुलिया, घोड़ों पर दाग

की प्रथा अलाउद्दीन के समय से प्राप्त की जा सकती है और पदों के विभाजन में दशमलव-प्रणाली का प्रयोग भी पूर्णतया नवीन नहीं माना जा सकता, परन्तु अकबर की मनसबदारी-प्रथा उन सभी का एक व्यवस्थित, दोषरहित और श्रेष्ठतम स्वरूप था। उसी प्रकार, शेरशाह की लगान-व्यवस्था अकबर के लिए एक उदाहरण अवश्य थी परन्तु अकबर का 'दहसाला-प्रबन्ध' शेरशाह की लगान-व्यवस्था से कहीं श्रेष्ठ था। इसी प्रकार, शासन के सभी क्षेत्रों में अकबर के प्रयत्न सफल हुए थे। अकबर की सफलता से जहाँगीर, शाहजहाँ और औरंगजेब ने भी लाभ उठाया। जहाँगीर ने अपने पिता से एक व्यवस्थित राज्य प्राप्त किया। वह उसमें सुधार तो न कर सका परन्तु उस व्यवस्था को किसी न किसी रूप में यथावत् अवश्य रख सका। शाहजहाँ और औरंगजेब के समय में मुगल शासन-व्यवस्था में दोष बढ़ते गये परन्तु तब भी मूल व्यवस्था स्थापित रही। औरंगजेब के अन्तिम वर्षों में इसमें दुर्बलता आ गयी और दुर्बल तथा अयोग्य उत्तरकालीन मुगल बादशाहों ने इसे नष्ट कर दिया। फिर भी एक लम्बे समय तक मुगल शासन-व्यवस्था ने भारत को सुरक्षा तथा शान्ति प्रदान की। अँग्रेजों के शासनकाल में अनेक बातों का आधार मुगल शासन-व्यवस्था रही।

13
मुगल सभ्यता और संस्कृति

भारतीय सभ्यता और संस्कृति को प्राचीनतम जीवित संस्कृतियों और सभ्यताओं में एक होने का गौरव प्राप्त है। यह एक ऐसी प्रगतिशील सभ्यता और संस्कृति है जो निरन्तर परिवर्तनशील रही, यद्यपि इसका मूल आधार भारतीय ही रहा है परन्तु इसने विभिन्न विदेशी प्रभावों को निस्संकोच अपने में सम्मिलित किया है। इसमें परिवर्तन के मुख्य कारण आन्तरिक रहे, जैसे बौद्ध धर्म, जैन धर्म और भागवत् धर्म के उत्थान, मौर्य, गुप्त और राजपूत-वंशों के राजनीतिक उत्थान तथा शंकराचार्य, कुमारिल भट्ट, रामानुज, रामानन्द, वल्लभाचार्य, चैतन्य, कबीर, नानक, राजा राममोहन राय, स्वामी दयानन्द, स्वामी विवेकानन्द जैसे धर्म-प्रचारकों के प्रयत्नों, आदि ने समय-समय पर भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति के परिवर्तन में सहयोग दिया है। परन्तु भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति ने विदेशी प्रभावों को भी अपने में सम्मिलित करके अपने को समृद्ध बनाया है। समय-समय पर ईरानी, ग्रीक, मुस्लिम और अंग्रेजी अथवा पश्चिमी सभ्यता ने भी भारतीय सभ्यता को प्रभावित किया है और ये सभी उसमें परिवर्तन के लिए उत्तरदायी हुई हैं। भारतीय सभ्यता और संस्कृति की मुख्य विशेषता यह रही है कि इसने अपने मूल आधार को खोये बिना विभिन्न प्रभावों और परिवर्तनों को अपने में सम्मिलित करने में सफलता पायी है। मुस्लिम सभ्यता के बारे में भी उसने ऐसा ही किया और मुगल-काल में यह बात और भी अधिक स्पष्ट होती है। तुर्क और अफगान काल में भारतीय और मुस्लिम सभ्यताएँ एक-दूसरे के निकट आ गयी थीं परन्तु राजनीतिक संघर्ष तथा मुसलमानों के विजेता और एकाकीपन की भावना ने भारतीय और मुस्लिम सभ्यताओं को बहुत घुलने-मिलने का अवसर नहीं दिया था। मुगल-काल में राजनीतिक स्थायित्व, मिलकर रहने की आवश्यकता और अनुकूल परिस्थितियों ने भारतीय सभ्यता और मुस्लिम सभ्यता को घुलने-मिलने का अधिक अवसर प्रदान किया और एक ऐसी भारतीय सभ्यता के निर्माण में सहयोग दिया जिसमें मुस्लिम सभ्यता के तत्व सम्मिलित कर लिये गये। मुगल-काल के समाज, वेश-भूषा, खान-पान, रीति-रिवाज, साहित्य तथा ललित-कलाओं, आदि सभी में यह बात स्पष्ट रूप से प्रकट होती है।

[1]
आर्थिक स्थिति

मुगल-काल में शाहजहाँ के समय तक भारत की आर्थिक स्थिति ठीक मानी जा सकती है। शाहजहाँ तक का समय सम्पन्नता और समृद्धि का था। यद्यपि इस आर्थिक सम्पन्नता का लाभ मुख्यतया बादशाह, बड़े-बड़े मनसबदार, व्यापारी और

उद्योगपति ही उठाते थे, परन्तु वस्तुओं के मूल्य सस्ते होने के कारण जन-साधारण भी जीवन की साधारण आवश्यकताओं से वंचित न था। औरंगजेब के समय से भारत की आर्थिक स्थिति दुर्बल होती चली गयी। औरंगजेब के निरन्तर युद्धों और शासन के प्रति असावधानी ने भारत की कृषि, व्यापार, उद्योग आदि सभी को हानि पहुँचाई। डॉ. जदुनाथ सरकार ने लिखा है : "इस प्रकार भारत की आर्थिक स्थिति का महान् पतन आरम्भ हुआ। इससे न केवल राष्ट्रीय सम्पत्ति में ही कमी हुई वल्कि कला-कौशल और सभ्यता में भी गिरावट आयी तथा देश के दूर-दूर के भागों में भी कला और संस्कृति लुप्त हो गयी।"[1] औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् भारत का आर्थिक ढाँचा नष्ट हो गया। मुगल-साम्राज्य की दुर्वलता, मराठों की लूटमार, नादिरशाह और अहमदशाह अब्दाली की लूट तथा यूरोपियन व्यापारियों के आर्थिक शोषण ने भारत की आर्थिक स्थिति को दयनीय कर दिया। इस प्रकार मुगल-काल में अकवर, जहाँगीर और शाहजहाँ का समय ही सम्पन्नता और वैभव का था। तत्पश्चात् भारत की आर्थिक स्थिति निरन्तर गिरावट की ओर बढ़ती चली गयी थी और भारत अन्य प्रगतिशील देशों की आर्थिक प्रगति का मुकावला करने में असमर्थ हो गया था।

मुगल-काल में भारतीय समाज आर्थिक दृष्टि से विभिन्न भागों में बँटा हुआ था। सबसे श्रेष्ठ स्थिति वादशाह, बड़े-बड़े मनसवदारों और राजपूत राजाओं की थी। वादशाह की आय सबसे अधिक थी। विभिन्न करों को वसूल करने के अतिरिक्त बादशाह राज्य का सबसे बड़ा उद्योगपति और व्यापारी था। बादशाह के अनेक कारखाने थे जिनमें विभिन्न वस्तुओं का उत्पादन होता था। वह उसकी आय का बड़ा साधन था। बादशाह, उसका दरबार और 'हरम' वैभव और विलासिता के केन्द्र थे। मुगल वादशाह वैभव और विलासपूर्ण जीवन व्यतीत करते थे। वावर से औरंगजेब तक मुगल वादशाह परिश्रमी और योग्य भी रहे। इस कारण उनकी विलासिता और धन के दुरुपयोग का प्रभाव राज्य पर नहीं पड़ा परन्तु उत्तरकालीन मुगल बादशाह इन गुणों को न रख सके और उनका जीवन केवल विलासिता का रह गया। यह उनके और उनके साम्राज्य के पतन का कारण बना। ऐसी ही स्थिति राज्य के बड़े-बड़े मनसवदारों और बड़े-बड़े राजाओं की थी। उन्हें बड़े-बड़े वेतन और जागीरें प्राप्त थीं, और वे भी उस समय तक सम्पूर्ण वैभव और विलासिता का उपभोग कर सके जब तक कि वे योग्य रहे। उसके पश्चात् उनके पास भी विलासिता के अतिरिक्त कुछ न रहा। यह उनके पतन का कारण बना। उनके पश्चात् राज्य के अन्य कर्मचारी थे जो छोटी और बड़ी विभिन्न श्रेणियों में बँटे होते थे और जिनमें बहुत छोटे स्तर के कर्मचारियों अथवा दासों के अतिरिक्त सभी की स्थिति सन्तोष-जनक और लाभप्रद थी। व्यापारी और उद्योगपति-वर्ग में भी विभिन्न श्रेणियाँ थीं। इनमें से बड़े-बड़े व्यापारी और उद्योगपति बहुत धनवान थे। सूरत के विर्जी वोहरा को संसार का सबसे धनवान व्यक्ति माना जाता था और अकेले अब्दुल गफ़ूर का व्यापार सम्पूर्ण ईस्ट इण्डिया कम्पनी के व्यापार के बराबर था। परन्तु यह वर्ग

---

1 "Thus ensued the great economic impoverishment of India, not only a decrease of the 'national stock,' but also a rapid lowering of mechanical skill and a standard of civilization, a disappearance of art and culture over wide tracts of the country."

—*Dr. J. N. Sarkar.*

अपनी सम्पत्ति का प्रदर्शन नहीं करता था क्योंकि उसकी सम्पत्ति को कभी भी छीना जा सकता था और उत्तराधिकार के नियम को कठोरता से लागू किये जाने पर बादशाह ही नहीं बल्कि राज्य का कोई भी बड़ा अधिकारी उनके उत्तराधिकारियों को उनकी सम्पत्ति से वंचित कर सकता था। निम्न व्यापारियों और उद्योगपतियों की स्थिति बहुत अच्छी तो न थी परन्तु सन्तोषजनक मानी जा सकती थी। उनके पश्चात् विभिन्न श्रेणी के विद्वान, कलाकार और कारीगर थे। इनमें से अच्छे विद्वानों, कलाकारों और कारीगरों को बादशाह, सरदारों अथवा धनवान व्यक्तियों का संरक्षण प्राप्त होता था और उनकी स्थिति अच्छी थी। परन्तु उनमें अधिकांश वर्ग निम्न श्रेणी के कलाकारों, दस्तकारों और कारीगरों का था जिन्हें साधारण जीवन व्यतीत करना पड़ता था। कृषि-मजदूर तथा अन्य मजदूरों की स्थिति भी अच्छी न थी। उनको बहुत साधारण वेतन मिलता था और उनका जीवन-स्तर काफी निम्न था। समाज का निम्नतर वर्ग किसानों का था जो सबसे अधिक थे और जो सबसे अधिक उत्पादन करते थे परन्तु जिन पर कर का भार सबसे अधिक था और राज्य-कर्मचारी जिनका सबसे अधिक शोषण करते थे। इस प्रकार, मुगल-काल में आर्थिक ढाँचा मध्य-युग की विशेषता के अनुसार सामन्तवादी था जिसमें समाज उच्च और निम्न आर्थिक वर्गों में बँटा हुआ था, जिसमें उत्पादकों और उपभोक्ताओं के बीच एक चौड़ी खाई थी तथा जिसमें समाज का बहुसंख्यक साधारण-वर्ग परिश्रम करता था और उनके परिश्रम का लाभ समाज का एक बहुत छोटा वर्ग प्राप्त करता था।

1. कृषि

कृषि भारत की बहुसंख्यक प्रजा का मुख्य व्यवसाय था। गेहूँ, चना, जौ, बाजरा, मक्का, चावल, गन्ना, कपास, अफीम, नील, पोस्त, आदि की खेती देश के विभिन्न भागों में की जाती थी। गेहूँ की उपज मुख्यतया पंजाब, उत्तर-प्रदेश और बिहार में की जाती थी। गन्ना मुख्यतया बंगाल और बिहार में, चना और जौ पंजाब, उत्तर प्रदेश और बिहार में; बाजरा और मक्का उत्तर-प्रदेश और राजस्थान में; नील मुख्यतया बयाना जिले में; अफीम मुख्यतया मालवा और बिहार में; कपास देश के विभिन्न भागों में और चावल मद्रास, कश्मीर, आदि स्थानों में पैदा किया जाता था। कृषि में प्रायः वही औजार या साधन प्रयोग में लाये जाते थे जो 20वीं सदी के पूर्वार्द्ध तक भारत में प्रयोग में लाये गये थे। सिंचाई के लिए किसान वर्षा, कुओं, तालाबों, नदियों और नहरों पर निर्भर करते थे परन्तु सिंचाई के कृत्रिम साधनों के प्रयोग में बहुत उन्नति नहीं की गयी थी। समय-समय पर किसानों को अकाल की समस्या का मुकाबला करना पड़ता था। मुगल-काल में कई अवसरों पर गम्भीर अकाल पड़े थे। 1555-56 में दिल्ली और उसके निकटवर्ती भागों में अकाल पड़ा, 1573-74 में गुजरात में अकाल पड़ा, 1595-98 में देश के विभिन्न भागों में वर्षा की कमी के कारण गम्भीर अकाल पड़ा, 1630-31 में दक्षिण-भारत में, 1641 में कश्मीर में, 1646 में पंजाब में और 1659, 1660-61, 1682 तथा 1702-1704 में भी देश के विभिन्न भागों में अकाल पड़े। अकाल के साथ महामारी और भयंकर बीमारियाँ भी आती थीं। प्लेग और हैजा समय-समय पर लाखों व्यक्तियों की मृत्यु के कारण बने थे। राज्य की ओर से ऐसे अवसरों पर किसानों को सहायता दी जाती थी परन्तु आवागमन के साधनों और दवाइयों तथा योग्य चिकित्सकों के अभाव में वह सहायता सर्वदा अपर्याप्त होती थी। ऐसे अवसरों पर गाँव के गाँव उजड़

जाते थे और कृषि नष्ट हो जाती थी। इसके अतिरिक्त, जंगली जानवर भी खेती को हानि पहुँचाते थे क्योंकि उस समय जंगल और जानवर दोनों का ही आधिक्य था। किसानों पर कर का भार कुछ कम न था। अकबर और जहाँगीर के समय को छोड़कर किसानों से पर्याप्त कर लिये जाते थे और बादशाहों के आदेश के विरुद्ध भी स्थानीय अधिकारी किसानों को दुखी करते थे। निरन्तर युद्ध और विद्रोह भी कृषि के लिए हानिकारक थे। परन्तु इन सब कठिनाइयों के होते हुए भी कृषि की दृष्टि से देश आत्मनिर्भर था और क्योंकि किसानों के जीवन की आवश्यकताएँ न्यूनतम थीं, अतएव वे विशेष कठिनाइयों का अनुभव नहीं करते थे। मध्य-युग के इतिहास में अन्य देशों की शासन-व्यवस्था से तुलना करते हुए अथवा मुगलों से पहले के समय के किसानों की स्थिति पर दृष्टिपात करते हुए यह कहा जा सकता है कि शाहजहाँ के समय तक उनकी स्थिति पर्याप्त ठीक थी।

मुगल-काल में विभिन्न बड़े-बड़े और सम्पन्न नगरों का निर्माण हुआ। गुजरात, बंगाल और दक्षिण के समुद्र-तट पर अच्छे-अच्छे बन्दरगाह भी थे। विभिन्न यूरोपियन जातियाँ व्यापार करने के उद्देश्य से भारत आयी थीं। ये सभी इस बात के प्रमाण थे कि भारत में उद्योग अच्छी मात्रा में थे क्योंकि केवल कृषि ही इस सम्पन्नता और व्यापार के लिए उत्तरदायी नहीं हो सकती थी। गुड़ और चीनी बनाने का उद्योग मुख्यतया बंगाल, गुजरात और पंजाब में होता था। अफीम और नील बनाने के उद्योग भी महत्वपूर्ण थे और यह विदेशों में भी भेजी जाती थीं। मिट्टी के खिलौने और बर्तन देश के विभिन्न भागों में बनाये जाते थे और वे अपनी सुन्दरता के लिए प्रसिद्ध थे। दिल्ली, काशी (बनारस) और चुनार मिट्टी के बर्तन बनाने के लिए विख्यात थे। लकड़ी का कार्य दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति और कलात्मक वस्तुएँ बनाने के लिए होता था। कश्मीर और कर्नाटक लकड़ी की कलात्मक वस्तुएँ बनाने के लिए प्रसिद्ध थे। समुद्री जहाजों का निर्माण करने के उद्योग में भारतीय कुशल थे। सामान ढोने और यात्रियों को ले जाने वाले बड़े-बड़े जहाजों का निर्माण इसी समय में हुआ था। लोहा बनाने का उद्योग भी भारत में अच्छी स्थिति में था यद्यपि खान का कोयला प्राप्त न होने के कारण अच्छे इस्पात का निर्माण भारत में कम होता था। लोहे का प्रयोग मुख्यतया हथियार बनाने के लिए होता था। भारतीयों ने तलवार, कटार, भाला, आदि परम्परागत हथियारों के बनाने में श्रेष्ठता प्राप्त की थी परन्तु वे बहुत अच्छे स्तर की तोपें और बन्दूकें बनाने में सफल नहीं हुए थे। इस क्षेत्र में वे फारस, टर्की और यूरोप के देशों से पिछड़े हुए थे। लोहे के अस्त्र-शस्त्र बनाने के लिए गुजरात और पंजाब प्रख्यात थे। ताँबा, काँसा और पीतल का प्रयोग मुख्यतया बर्तन अथवा मूर्तियाँ बनाने के लिए किया जाता था। दिल्ली और उसके निकट के स्थानों में ताँबे का उद्योग, बंगाल में काँसे का उद्योग और बनारस तथा उसके निकट पीतल का उद्योग बहुत अच्छी स्थिति में था। सोना, चाँदी और हाथी-दाँत का प्रयोग जेवर और मूर्तियाँ बनाने के लिए किया जाता था। सोना पंजाब और कुमायूँ की नदियों से प्राप्त किया जाता था, ताँबे की खानें राजस्थान और मध्य-भारत में थीं और हीरे की खानें गोलकुण्डा और छोटा नागपुर में थीं। भारत ने अनेक श्रेष्ठतम हीरों और पन्नों को खोदकर निकाला था। जगत-प्रसिद्ध कोहनूर हीरा गोलकुण्डा की एक खान से प्राप्त हुआ था। हीरों का प्रयोग आभूषणों, सिंहासनों और वस्त्रों में लगाने के

2. उद्योग

लिए किया जाता था। भारत में शराब बनाने का उद्योग भी बहुत बड़ा था, परन्तु अच्छी शराब भारत में तैयार नहीं होती थी जिसके कारण उसे यूरोप और फारस से मंगाया जाता था। चमड़े की वस्तुएँ बनाने का उद्योग बहुत अच्छी स्थिति में न था। चमड़े की चप्पल या जूते साधारण व्यक्ति नहीं पहनते थे। परन्तु चमड़े की मशक और थैले तथा घोड़ों की रासें पर्याप्त मात्रा में बनती थीं और व्यक्ति देश के विभिन्न भागों में इस उद्योग में लगे हुए थे। नमक पंजाब की पहाड़ियों से प्राप्त किया जाता था। उसे समुद्र व झीलों के पानी से भी तैयार किया जाता था। समुद्र-तट पर मोती निकालने का उद्योग पर्याप्त अच्छी स्थिति में था, मुख्यतया दक्षिण-भारत में वह एक प्रमुख व्यवसाय था। काँच के वर्तन और शमादान, आदि बनाने का उद्योग फतेहपुरसीकरी, बरार तथा बिहार में बहुत प्रगतिशील था तथा काँच की सुन्दर-सुन्दर वस्तुएँ तैयार की जाती थीं। इत्र, सुगन्धित तेल, गुलाबजल, आदि जैसी वस्तुएँ भी बहुत बड़ी मात्रा में तैयार की जाती थीं। जौनपुर और गुजरात ऐसी वस्तुओं के उत्पादन के लिए प्रसिद्ध थे। मुगल बादशाहों को इमारतें, मकबरे और मस्जिदें बनाने का शौक था। बड़े-बड़े किले और महल मुगल बादशाहों और राजपूत-राजाओं के द्वारा बनवाये गये थे। इस कारण, पत्थर काटने और इमारतें बनाने का कार्य भी भारत में हुआ था। लाल पत्थर फतेहपुरसीकरी और राजस्थान में, पीला पत्थर थट्टा में, और सफेद संगमरमर जयपुर तथा धौलपुर में पाया जाता था। भारत में शोरा भी तैयार किया जाता था।

लेकिन भारत का सबसे बड़ा उद्योग कपड़ा निर्माण करना था। सभी प्रकार का सूती, ऊनी और रेशमी कपड़ा भारत में तैयार किया जाता था। अच्छे-अच्छे कालीन और शाल भी भारत में तैयार किये जाते थे। आगरा, मुल्तान, फतेहपुर-सीकरी, अलवर, जौनपुर, आदि कालीन बनाने के लिए प्रसिद्ध थे। परन्तु तब भी भारतीय कालीन उतनी श्रेष्ठ कोटि के नहीं होते थे जितने कि फारस के बने हुए कालीन। कश्मीर में ऊनी कालीन, रेशमी कपड़ा तथा ऊनी कपड़े का निर्माण बहुत होता था। कश्मीर और बंगाल में रेशम का उत्पादन होता था और उससे रेशमी कपड़ा बनाया जाता था। अच्छा रेशम चीन से मँगाया जाता था। गुजरात में सबसे अच्छे रेशमी वस्त्र तैयार किये जाते थे। रेशमी कपड़ों को विभिन्न रंगों में तैयार किया जाता था और उन पर कसीदा तथा सोने-चाँदी के धागों का कार्य किया जाता था। बादशाह स्वयं अपने कारखानों में ऐसे वस्त्र तैयार कराते थे। आगरा, लाहौर, दिल्ली, ढाका तथा अहमदाबाद में अनेक ऐसे शाही कारखाने थे। परन्तु तब भी रेशमी कपड़ा विदेशों से मँगाया जाता था जिससे यह अनुमान होता है कि रेशमी कपड़े के उद्योग की पूर्ण प्रगति नहीं हुई थी। ऊनी कपड़ा और वस्त्र बनाने का उद्योग केवल पहाड़ी प्रदेशों और मुख्यतया कश्मीर, पंजाब और कुमायूँ के क्षेत्रों तक सीमित था। बढ़िया ऊनी वस्त्र और शाल कश्मीर तथा लाहौर में तैयार किये जाते थे। अबुल फजल के कथन के अनुसार अकबर ने लाहौर में 1,000 कारखाने आरम्भ किये थे। जहाँगीर ने अमृतसर में ऊनी वस्त्रों के उद्योग को आरम्भ किया था। यद्यपि भारतीय कारीगरों ने इस क्षेत्र में बहुत उन्नति की थी और अनेक विदेशी यात्रियों के विवरणों में उनके कार्य की प्रशंसा प्राप्त होती है परन्तु तब भी पर्याप्त मात्रा में अच्छी ऊन प्राप्त न होने के कारण यह उद्योग भी अपनी पूर्ण प्रगति करने में सफल नहीं हो सका था। भारत ने श्रेष्ठतम प्रगति सूती कपड़ा तैयार करने में

की थी। बंगाल में सोनारगाँव, उत्तर-प्रदेश में बनारस और आगरा, सिन्ध तथा पंजाब में लाहौर, मुल्तान और थट्टा, गुजरात में अहमदाबाद, बड़ौदा, भड़ौच और सूरत, खानदेश में बुरहानपुर और गोलकुण्डा सूती कपड़ा तैयार करने के लिए विख्यात थे। ढाका की मलमल संसार-प्रसिद्ध थी। चीन, जापान, फारस, अरब, मिस्र, अफ्रीका तथा यूरोप के देशों में भारतीय सूती कपड़े की माँग सबसे अधिक थी। यही एक ऐसी वस्तु थी जिसका निर्यात विदेशों में सबसे अधिक होता था। भारत के सूती कपड़े का उद्योग उस समय तक सफलता से चलता रहा जब तक इंगलैण्ड में औद्योगिक क्रान्ति नहीं हुई और ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन के अन्तर्गत भारत के इस महत्वपूर्ण उद्योग को नष्ट करने का प्रयत्न नहीं किया गया।

इस प्रकार, भारत में सभी प्रकार के उद्योग थे यद्यपि इनमें से बहुत कम ही उद्योग ऐसे थे जिनका उपयोग विदेशी व्यापार के लिए किया जा सकता था। मुगल-साम्राज्य की शक्ति के विस्तार और स्थिरता के समय में ये उद्योग सफलता से चलते रहे और इनसे देश की समृद्धि में वृद्धि हुई। परन्तु तब भी सम्पत्ति की सुरक्षा और व्यावसायिक आधार पर (*i.e.*, Joint Stock Companies द्वारा) उद्योग को चलाये जाने के अभाव में भारतीय उद्योग बहुत प्रगति न कर सके। इसके अतिरिक्त, भारत के उद्योग परिवार तक ही सीमित थे और कारीगरों की कार्य-कुशलता पैतृक शिक्षा पर ही आधारित थी। इसके कारण उन्हें श्रेष्ठता और विस्तार की ओर ले जाने वाली परिस्थितियों का निर्माण सम्भव न था। विभिन्न कारीगर अपने घरों में ही कार्य करते थे और परिवार के सदस्यों से ही कार्य सीखते थे। उनके उद्योगों की शिक्षा का कोई प्रबन्ध न था और अधिकांशतया कारीगर निर्धन थे। इन परिस्थितियों में उद्योगों के विकास की सम्भावना नहीं की जा सकती थी। जो कुछ भी हो सका वह कुछ मात्रा में राजकीय संरक्षण अथवा व्यक्तिगत प्रयासों के कारण हुआ और जब उत्तरकालीन मुगल बादशाहों के समय की दुर्व्यवस्था भारतीय उद्योगों को ये साधारण सुविधाएँ भी प्रदान न कर सकी तब भारतीय उद्योग नष्ट होने आरम्भ हो गये। शेष कार्य की पूर्ति अंग्रेजी शासनकाल में हो गयी जबकि भारत इंगलैण्ड के लिए कच्चा माल देने वाला उपनिवेश और इंगलैण्ड की बनी हुई वस्तुओं को खरीदने वाला एक अच्छा बाजार बन गया।

3. व्यापार

मुगल-काल में भारतीय व्यापार अच्छी स्थिति में था। शक्तिशाली मुगल बादशाहों ने शान्ति और व्यवस्था की स्थापना करके व्यापार को पनपने का अवसर दिया था। मुगल बादशाहों ने सड़कों, सरायों और यातायात की सुरक्षा का प्रबन्ध किया था जिससे व्यापार में सुविधा होती थी। उत्तरकालीन दुर्बल मुगल बादशाहों के समय में ही इन परिस्थितियों में अन्तर हुआ अन्यथा राज्य की परिस्थितियाँ व्यापार के अनुकूल थीं। मुगल बादशाह व्यापारिक कर भी कम लेते थे। विदेशों को जाने वाली और विदेशों से आने वाली अधिकांश वस्तुओं से $3\frac{1}{2}$–5% से अधिक व्यापारिक कर नहीं लिया जाता था। व्यापार सड़कों और नदियों, दोनों से होता था। विदेशों से व्यापार जल-मार्ग और स्थल-मार्ग, दोनों से होता था। स्थल-मार्ग उत्तर-पश्चिम की ओर था। इसके लिए एक सड़क लाहौर से काबुल तक और दूसरी सड़क मुल्तान से कन्धार तक जाती थी। गुजरात, दक्षिण-भारत के दोनों तरफ के समुद्र-तट और बंगाल में अच्छे बन्दरगाह थे जो समुद्री मार्ग से व्यापार की सुविधा प्रदान करते

थे। भारत के व्यापारिक सम्बन्ध यूरोप, अफ्रीका तथा एशिया के विभिन्न देशों से थे। फ्रान्स, हॉलैण्ड, पुर्तगाल, इंगलैण्ड, अरब, मिस्र, मध्य-एशिया, फारस, लंका, बर्मा, चीन, जापान, दक्षिण-पूर्वी एशिया के द्वीपसमूह, नेपाल, आदि सभी से भारत के व्यापारिक सम्बन्ध थे। भारत फ्रान्स से ऊनी वस्त्र, इटली और फारस से रेशम, फारस से कालीन, चीन से कच्चा रेशम और मध्य-एशिया तथा अरब से घोड़े मँगाता था। भारत विदेशों से सोना और चाँदी भी लाता था क्योंकि यहाँ वे कम मात्रा में उपलब्ध थे। इसके अतिरिक्त अच्छी शराब, काँच के बर्तन, मखमल, दवाइयाँ, आदि भी भारत विदेशों से आयात करता था। निर्यात की जानी वाली वस्तुओं में सूती कपड़ा था जिसकी माँग यूरोप, अफ्रीका और एशिया के सभी देशों में थी। इसके अतिरिक्त, काली मिर्च, नील, अफीम, चीनी, शोरा, मसाले, नमक, आदि विभिन्न वस्तुएँ भारत से विदेशों को भेजी जाती थीं। इस प्रकार, भारत का विदेशों से विस्तृत व्यापार था। इस व्यापार में लाभ की स्थिति भारत की थी जो भारत की आर्थिक स्थिति को ठीक रखने में सहायक थी।

यह माना जा सकता है कि अपने युग की परिस्थितियों को देखते हुए भारत की आर्थिक स्थिति मुगल-काल में अच्छी रही थी। उत्तरकालीन मुगल बादशाहों के समय में भी नादिरशाह और अहमदशाह अब्दाली जैसे आक्रमणकारियों को भारत से बहुत सम्पत्ति प्राप्त हुई थी। 18वीं सदी की बढ़ती अराजकता ने निश्चय ही इस आर्थिक सम्पन्नता को नष्ट कर दिया, यह सत्य है। परन्तु यह समय बाद का था जबकि मुगल-साम्राज्य पतन की ओर अग्रसर हो चुका था।

[2]

सामाजिक स्थिति तथा विभिन्न वर्गों का जीवन

समाज का बहुसंख्यक वर्ग हिन्दू था। हिन्दू परम्परागत आधार पर विभिन्न जातियों में बँटे हुए थे। ब्राह्मण, क्षत्रिय और शूद्र उस समय में भी समाज के मुख्य वर्ग थे। परन्तु इनके अतिरिक्त हिन्दुओं में विभिन्न उप-जातियों का निर्माण हो गया था। जाति-बन्धन कठोर थे और साधारणतया अन्तर्जातीय खान-पान और विवाह-सम्बन्ध निषेध थे। परन्तु उच्च जातियों और निम्न जातियों में इसके व्यावहारिक प्रयोग में शिथिलता थी। उस समय में भी ब्राह्मणों का मुख्य कार्य अध्यापन और पुरोहिती का था, क्षत्री और राजपूत युद्ध करते थे, वैश्य व्यापार और कृषि का कार्य करते थे तथा शूद्रों का कार्य अन्य छोटे-छोटे कार्य, उद्योग तथा सेवा करना था। अछूत-वर्ग हिन्दू समाज का निम्नतर भाग था और वह शूद्रों से भी एक पृथक वर्ग बन गया था। हिन्दुओं के अतिरिक्त बौद्ध, जैन, सिख, पारसी, ईसाई, मुसलमान, आदि विभिन्न धर्मों के व्यक्ति भी भारत में निवास करते थे।

मुसलमान मूलतया दो भागों में बँटे हुए थे। एक भाग अरब, फारसी, तुर्क, मंगोल, उजबेग, हब्शी, आर्मीनियन, आदि विदेशी मुसलमानों का था जो रक्त के आधार पर अपने को श्रेष्ठ मानते थे। समाज और राज्य में उन्हें श्रेष्ठतम सम्मान और पद प्राप्त था और उनको सबसे महत्त्वपूर्ण राजकीय पद प्राप्त होते थे। उनसे अधिक संख्या में भारतीय मुसलमान थे अर्थात् वे मुसलमान जो हिन्दू से मुसलमान बने थे। इन्हें विदेशी मुसलमानों से निम्न स्तर का समझा जाता था यद्यपि इनमें से अनेक ने अपनी योग्यता से समाज और राज्य में सम्मानित स्थान और पद प्राप्त

किये थे। दोनों ही प्रकार के मुसलमान धार्मिक वर्गों के आधार पर सुन्नी, शिया, बोहरे, खोजा, आदि विभिन्न वर्गों में बँटे हुए थे। इनमें सुन्नी और शिया मुख्य सम्प्रदाय थे। सुन्नी-वर्ग बहुसंख्यक था और उसकी स्थिति विशेष सुविधा की थी क्योंकि मुगल बादशाह भी सुन्नी मत को मानने वाले थे। शेख और सैयदों का मुसलमानों में सम्मान था। मुसलमानों में एक महत्वपूर्ण वर्ग सूफियों का भी था।

भारत में विदेशियों के आने और यहाँ बसने पर कोई रुकावट न थी। इस कारण, भारत के विभिन्न प्रदेशों में यहूदी, चीनी, पुर्तगाली, अँग्रेज, फ्रान्सीसी, आदि भी बस गये थे।

मुगल-काल में अनेक योग्य और प्रतिभाशाली स्त्रियाँ हुईं जिन्होंने अपने समय की राजनीति और समाज को प्रभावित किया। तुर्क और अफगान-काल में ऐसी योग्य स्त्रियों का अभाव रहा था। रानी कर्णवती, रानी जोधाबाई, रानी दुर्गावती, रानी रूपमती, चाँदबीबी, नूरजहाँ और उसकी माँ अस्मत बेगम, मुमताजमहल, जहाँआरा, रोशनआरा, जेबुन्निसा, शिवाजी की माँ जीजाबाई; राजाराम की पत्नी ताराबाई, काबुल के सूबेदार अमीरखाँ की बीवी साहिबजी, आदि ऐसी स्त्रियाँ थीं जिन्होंने अपने समय की राजनीति और समाज को प्रभावित किया। शृंगार-प्रसाधनों, वेश-भूषा, युद्ध-कौशल और राजनीति में समय-समय पर उनका सहयोग महत्वपूर्ण रहा। यह कहा गया है कि मुगल बादशाहों की राजनीति पर उनकी बेगमों और हरम का बहुत अधिक प्रभाव था। परन्तु योग्य स्त्रियों के उदाहरण समाज में स्त्रियों की वास्तविक स्थिति से बहुत दूर थे। निस्सन्देह बादशाह, सरदारों और राजपूत-शासकों की स्त्रियों और पुत्रियों को अच्छी शिक्षा दी जाती थी तथा उनमें से अनेक ज्ञान और युद्ध-कौशल में प्रवीण हुआ करती थीं परन्तु जन-साधारण में स्त्रियों की स्थिति बहुत गिरी हुई थी। साधारणतया स्त्रियों को शिक्षा नहीं दी जाती थी, न समाज में उनका सम्मान था और न ही उनका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व था बल्कि मुगल बादशाहों, सरदारों, अमीरों तथा धनवान व्यक्तियों की बढ़ती हुई विलासिता की प्रवृत्ति ने स्त्री को केवल विलास-पूर्ति का साधन मात्र बना दिया था। बादशाहों और राज्य के बड़े-बड़े सरदारों के 'हरम' में हजारों स्त्रियाँ उप-पत्नियों; रखैलों और दासियों के रूप में रहा करती थीं। इस्लाम में शराब पीना वर्जित था तब भी सभी बादशाह (औरंगजेब के अतिरिक्त) और सरदार शराब पीते थे। स्त्री और शराब दोनों विलासिता की मुख्य सामग्री बन गयी थीं। इस कारण, बादशाह और अमीरों के हरम भोग-विलास और अनैतिकता के अड्डे बन गये थे। अकबर के हरम में करीब 5,000 स्त्रियाँ थीं। यही स्थिति अन्य मुगल बादशाहों की थी। हिन्दू-सरदार और राजा भी इनका अनुकरण करने लगे थे। राजा मानसिंह के हरम में 1,500 स्त्रियाँ थीं। ऐसे वातावरण का प्रभाव समाज पर आना आवश्यक था और उसमें स्त्रियों की स्थिति में गिरावट आयी थी। मुसलमानों और हिन्दुओं, दोनों में ही ऐसी कुरीतियाँ आ गयी थीं जिससे स्त्रियों का सामाजिक स्तर गिर गया था। एक सुन्नी मुसलमान चार स्त्रियों से विवाह कर सकता था जबकि शिया इनसे भी अधिक संख्या में स्त्रियों से विवाह कर सकता था। ऐसी स्थिति में मुसलमान स्त्रियों की स्थिति अपने परिवार में सम्मानजनक नहीं हो सकती थी। मुसलमानों में तलाक की व्यवस्था अवश्य थी परन्तु उससे कोई विशेष लाभ न था। कठोर पर्दा-प्रथा के कारण मुसलमानों में स्त्रियों का सामाजिक जीवन नष्टप्राय: था। न वे शिक्षा प्राप्त कर सकती थीं और न सार्वजनिक जीवन में कोई भाग ले सकती थीं। मुसलमानी प्रभाव और

मुख्यतया सम्मान की सुरक्षा के अभाव में हिन्दू-समाज में भी स्त्रियों का स्थान निम्न हो गया। पर्दा-प्रथा, बाल-विवाह, विधवाओं का विवाह न होना, लड़की के जन्म को अपशकुन मानना, सती-प्रथा, धनवान व्यक्तियों में बहु-विवाह, आदि सामाजिक कुरीतियाँ हिन्दू-समाज का अंग बन गयीं और स्त्रियों का स्तर समाज में बहुत निम्न हो गया। समाज में हिन्दू-विधवाओं की संख्या बहुत बढ़ गयी, अवैध सन्तानें भी बड़ी संख्या में होने लगीं, नाचने-गाने का पेशा लोकप्रिय हो गया और वेश्यावृत्ति बढ़ गयी। इस प्रकार, शिक्षा और स्वतन्त्रता का अभाव, विभिन्न सामाजिक कुरीतियों का समाज में प्रवेश, सुरक्षा की भावना और बढ़ती हुई विलासिता ने मुगल-काल में स्त्रियों की स्थिति को हीन बना दिया। परन्तु इसमें एक बात अवश्य थी। मुगल सभ्यता मुख्यतया नगरों तक ही सीमित रही। जन-साधारण का जीवन उससे अधिक प्रभावित नहीं हुआ। जन-साधारण पर्याप्त मात्रा में इस प्रभाव से मुक्त रहा और नगरों से दूर रहने वाले व्यक्तियों ने साधारणतया अपने परिवारों की स्त्रियों को परम्परागत स्थान प्रदान कर रखा था।

मुगल-काल में वेश-भूषा, श्रृंगार-प्रसाधनों, जेवरों तथा खान-पान आदि में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। उच्च और मध्यम श्रेणीं के हिन्दू और मुसलमान दोनों अंगरखा तथा चूड़ीदार पाजामा पहनते थे। साधारण हिन्दू धोती तथा मुसलमान पाजामा और कुर्ता पहनते थे। हिन्दू और मुसलमान दोनों पगड़ी या साफे का प्रयोग करते थे यद्यपि इनके बाँधने के तरीके अलग-अलग स्थानों पर अलग-अलग थे। कमर में कमरबन्द और कन्धे पर शाल या दुपट्टा डालने की परम्परा थी। बादशाह और धनी सरदार तथा व्यक्ति अपने वस्त्रों पर सोना, कसीदा, हीरे-मोती, आदि का कार्य भी कराते थे। जूतों अथवा चप्पल का प्रयोग बड़े आदमी करते थे। स्त्रियाँ और पुरुष दोनों ही जेवरों का प्रयोग करते थे। पुरुष मुख्यतया कण्ठहार, माला, कुण्डल आदि का प्रयोग करते थे जबकि स्त्रियाँ चूड़ियाँ, कड़े, बाजूबन्द, पायजेब, आदि विभिन्न जेवरों का प्रयोग करती थीं। हिन्दू स्त्रियाँ धोती और विभिन्न प्रकार की चोलियों का प्रयोग करती थीं जबकि मुसलमान स्त्रियाँ पाजामा, घाघरा, जाकट और दुपट्टे का प्रयोग करती थीं। श्रृंगार के लिए विभिन्न प्रकार के लेप, खुशबूदार तेल, इत्र, काजल, महावर, पान खाना, आदि विभिन्न प्रसाधन प्रयोग में लाये जाते थे। अस्मत बेगम ने गुलाब के इत्र को तैयार करने की विधि का पता लगाया था और नूरजहाँ तथा मुमताजमहल ने श्रृंगार-प्रसाधनों और जेवरों में सुरुचिपूर्ण परिवर्तन किये थे।

हिन्दू और मुसलमानों के भोजन में कोई विशेष अन्तर न था। धनवान व्यक्तियों के भोजन में माँस, पुलाव, रोटी, फल, दूध, घी, मक्खन, आदि सभी सम्मिलित थे। भोजन विभिन्न प्रकार से और विभिन्न मसालों से परिपूर्ण बनाया जाता था। धनवान व्यक्तियों का भोजन बहुत श्रेष्ठ होता था और उसकी बहुत-सी किस्में होती थीं। जन-साधारण का भोजन दाल, चावल, रोटी, सब्जी, दूध आदि का होता था। माँस का प्रयोग हिन्दू भी करते थे। केवल जैन और बहुत से प्रदेशों के ब्राह्मण माँस का प्रयोग नहीं करते थे। मादक-द्रव्यों में शराब, अफीम और तम्बाकू का प्रयोग प्रमुख था।

मनोरंजन के लिए नाच-गाना, नाटक, नौका-विहार आदि के अतिरिक्त अन्य बहुत-से खेल थे। शतरंज, चौपड़, ताश, बल्ले के खेल, कुश्ती, जादूगरी, आदि जन-

साधारण में प्रचलित थे। पशुओं की लड़ाइयाँ, चौगान (पोलो) और जंगली पशुओं का शिकार बादशाह और अमीरों के मनोरंजन के साधन थे।

विभिन्न मेले और उत्सव धार्मिक क्रियाओं की पूर्ति तथा मनोरंजन, दोनों के लिए थे। नौरोज, ईद, शबेरात, बारावफात मुसलमानों के त्यौहार थे। होली, दीवाली, दशहरा, वसन्त, दुर्गा-पूजा, गणेश उत्सव, आदि हिन्दुओं के प्रमुख त्यौहार थे। इन सभी अवसरों पर तथा बादशाह और शाहजादों के जन्म-दिवस आदि पर दरबार में उत्सव होते थे, विभिन्न स्थानों पर मेले लगते थे और बड़े तथा छोटे, अमीर तथा गरीब सभी इनमें भाग लेते थे। भारतीयों के सामूहिक सामाजिक जीवन में इन मेलों, उत्सवों और त्यौहारों का बहुत महत्व था।

मुगल-काल के सामाजिक जीवन की एक मुख्य विशेषता हिन्दू और मुसलमानों का पहले की तुलना में एक-दूसरे के अधिक निकट आना था। नानक, कबीर, चैतन्य, मलूकदास और दादू जैसे धर्म-प्रचारकों, सूफी सन्तों तथा अकबर की धार्मिक सहिष्णुता की नीति ने इस कार्य में बहुत सहयोग दिया। एक लम्बे समय के संघर्ष के पश्चात् हिन्दू और मुसलमान मुगल-काल में एक दूसरे के साथ मिलकर रहने की अच्छाई को समझने लगे। इससे भारत का सामाजिक जीवन पहले की तुलना में अधिक उदार और शान्ति का बन गया।

इस प्रकार, मुगल-काल के सामाजिक जीवन का अपना एक पृथक स्वरूप था। साम्राज्य की शक्ति और समृद्धि के साथ बढ़ती हुई विलासिता और उसके साथ बढ़ती हुई अनैतिकता उसमें थी परन्तु सामाजिक शिष्टाचार, जीवन की बढ़ी हुई सुविधाएँ, सुरुचिपूर्ण नागरिक जीवन और सामाजिक स्थिरता भी उसमें थी जिसके फलस्वरूप मुगल-काल में सांस्कृतिक प्रगति सम्भव हुई।

विभिन्न वर्गों का जीवन

मुगल-काल में भारत के सामाजिक जीवन में कुछ महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए, मुख्यतया उच्च वर्ग में। बादशाह, उसका दरबार और महल प्रभावपूर्ण थे। मुगल बादशाह शान-शौकत और ऐश्वर्यपूर्ण जीवन व्यतीत करते थे। बादशाह और उसके महल पर अत्यधिक धन व्यय किया जाता था। बादशाह जब महलों से बाहर जाता था तब उसके साथ सभी सुख की सामग्रियाँ साथ जाती थीं। मुगल-खेमों की व्यवस्था अद्वितीय थी। जहाँ-जहाँ बादशाह ठहरता था, वहाँ-वहाँ पूर्ण शान-शौकत वाला एक नवीन शहर ही बस जाता था। मुगल बादशाह पर्शिया की सभ्यता से प्रभावित थे। उनके दरबार में विदेशी अमीरों की संख्या अधिक रही। उन पर और विदेशी राजदूतों पर अपने ऐश्वर्य का प्रभाव डालने की इच्छा से मुगल बादशाहों ने विभिन्न विदेशी रीति-रिवाजों और दैनिक प्रयोग की वस्तुओं को स्वीकार किया था। विदेशी शराब, विदेशी फल, विदेशी साज-सज्जा, विदेशी कालीन, बहुमूल्य वस्त्र, विदेशी रसोइये, विदेशी बर्तन, विदेशी रीति से पकाये गये भोज्य-पदार्थ, आदि उनके जीवन में प्रमुख भाग रखते थे।

औरंगजेब के अतिरिक्त सभी मुगल बादशाह कीमती वस्त्र और आभूषणों का प्रयोग करते थे। उत्तरकालीन मुगल सम्राट, निस्सन्देह, धन के अभाव के कारण ऐश्वर्य की अनेक वस्तुओं से वंचित रहे परन्तु अपनी सामर्थ्य के अनुसार वे भी विलासिता का जीवन व्यतीत करते थे। शाहजहाँ ने अपने दरबार की शान-शौकत को बढ़ाने के लिए मयूर-सिंहासन बनवाया था। शक्तिशाली मुगल सम्राटों ने दरबार को

प्रभावपूर्ण ढंग से सजाया था। सभी दरबारी कीमती वस्त्र और आभूषण पहन कर दरबार में उपस्थित होते थे। अकबर के समय से हिन्दू और मुसलमानों के सभी प्रमुख त्यौहार जैसे होली, दीवाली, दशहरा, ईद, नौरोज आदि दरबार में उत्सव के रूप में मनाये जाने लगे थे। पुत्र-पुत्रियों के विवाह के अवसर पर बादशाह ही नहीं बल्कि उसके सरदार भी दिल खोलकर व्यय करते थे। दरबार और पारस्परिक व्यवहार में बादशाह और अमीर तथा अमीर और अमीर के मध्य सुसभ्य एवं सर्वस्वीकृत नियम थे जिनका पालन न करने वालों को असभ्य और हेय माना जाता था। इस प्रकार ऐश्वर्य-प्रदर्शन और सुसभ्यता का प्रयोग मुगल बादशाह और उनके दरबार की एक मुख्य विलक्षणता रही जिसने समाज के सम्पन्न और सुशिक्षित-वर्ग की रुचियों को प्रभावित किया। इन कार्यों में धन का अपव्यय तो बहुत होता था परन्तु सांस्कृतिक दृष्टि से उनका प्रभाव अधिक हानिकारक न था। बल्कि एक दृष्टि से मुगल-दरबार की विभिन्न परिपाटियों ने भारत के उच्च-वर्ग के जीवन को सुसभ्य बनाने में सहायता दी।

शक्तिशाली मुगल सम्राटों के समय से ही मुगल बादशाह और उनके दरबार का जीवन विलासितापूर्ण हो गया था। अकबर के हरम में प्रायः 5,000 स्त्रियाँ थीं। औरंगजेब के अतिरिक्त सभी मुगल बादशाहों के हरम में पत्नियों के अतिरिक्त रखैलों की संख्या भी अत्यधिक रही। अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ अपनी पत्नियों का सम्मान करते थे और जहाँगीर एवं नूरजहाँ तथा शाहजहाँ और मुमताजमहल का प्रेम तो इतिहास में चर्चा का विषय रहा है। परन्तु तब भी औरंगजेब के अतिरिक्त सभी मुगल सम्राट और राजकुमारों का जीवन विलासितापूर्ण रहा था। उत्तरकालीन मुगल बादशाह तो अपने राज्य और ऐश्वर्य को भी इसी विलासिता के कारण नष्ट कर बैठे। स्त्री उस काल में भोग्या के रूप में रही : बादशाह के हरम इस दोष से परिपूर्ण हो गये, यहाँ तक कि स्त्रियाँ भी विलासपूर्ण जीवन से मुक्त न रहीं। वहाँ स्त्रियों ने भी शराब तथा अन्य मादक वस्तुओं को अपना लिया तथा पुरुषों से सम्बन्ध बनाने में भी उन्होंने स्वच्छन्दता का पालन किया। ऐसा नहीं था कि सभी स्त्रियाँ इस अपवाद का शिकार थीं परन्तु उनकी संख्या पर्याप्त थी और उत्तर मुगलकालीन मुगल सम्राटों के समय में तो अधिकांश ने अपने विलासी सम्राटों का अनुगमन किया। बादशाहों के विलासपूर्ण जीवन में अमीरों, दरबारियों और सभी धनाढ्य व्यक्तियों के जीवन को प्रभावित किया। राजा मानसिंह कछवाहा के हरम में प्रायः 1,500 स्त्रियाँ थीं। इस प्रकार अन्य अमीरों का जीवन भी विलासितापूर्ण होता गया। बादशाहों और अमीरों के इस विलासितापूर्ण जीवन का कुप्रभाव औरंगजेब के समय तक न पड़ा, क्योंकि एक तरफ तो सभी बादशाह और उनके अधिकांश अमीर विलासिता और ऐश्वर्य के साथ-साथ उत्तरदायित्व और परिश्रम से भी पृथक नहीं हुए और दूसरी तरफ साम्राज्य पर कोई गम्भीर संकट भी उपस्थित नहीं हुआ। परन्तु उत्तरकालीन मुगल बादशाहों के समय यही विलासिता साम्राज्य के पतन का एक मुख्य कारण बनी।

अमीरों, उद्योगपतियों और व्यापारियों के अतिरिक्त एक अल्पसंख्यक वर्ग—मध्यम-वर्ग—भी था। अधीनस्थ सरकारी कर्मचारी, अध्यापक, हकीम, वैद्य, उलेमा वर्ग के व्यक्ति, उच्चकोटि के कारीगर, कलाकार और साहित्यकार, आदि इस वर्ग में सम्मिलित थे। परन्तु यह वर्ग समाज में अधिक प्रभावपूर्ण न था। इसके सदस्यों की संख्या कम थी। इसके अधिकांश सदस्य राज्य की सहायता पर निर्भर करते थे और स्वतन्त्रता से अपने

विचारों को अभिव्यक्त करने में असमर्थ थे। इसके सदस्यों ने समाज को नेतृत्व प्रदान करने के स्थान पर अमीरों एवं अन्य धनवान व्यक्तियों के आचरण का अनुगमन करने का प्रयत्न किया। इस कारण, इस मध्यम-वर्ग में से स्वतन्त्र बुद्धजीवियों का निर्माण सम्भव नहीं हुआ, जो समाज और राज्य को कोई नवीन दिशा दे पाते।

जन-साधारण का जीवन धनवान व्यक्तियों के जीवन के विभिन्न अपवादों से मुक्त रहा। उनका आर्थिक जीवन सम्पन्न न था। वे जीवन की न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति मात्र ही कर पाते थे। इस कारण वे विलासितापूर्ण जीवन से मुक्त रहे। उनका नैतिक चरित्र ठीक रहा।

इस प्रकार मुगल-काल में धनवान और उच्च-वर्ग के व्यक्तियों का जीवन जन-साधारण से भिन्न रहा। यह अन्तर पहले भी वर्तमान था। परन्तु इस काल में इस अन्तर में वृद्धि हुई। इसका मूल कारण इस काल में बढ़ी हुई आर्थिक विभिन्नताएँ थीं। मुगल-काल में भारत की सम्पन्नता में वृद्धि हुई थी। परन्तु धन-वितरण की न्यायपूर्ण व्यवस्था की अनुपस्थिति में आर्थिक समानताओं में वृद्धि हुई। धनवान और अधिक धनी हो गये जबकि जन-साधारण के जीवन में अधिक अन्तर न हो सका। इस कारण, धनी और निर्धनों में आर्थिक अन्तर अधिक हो गया जिसका प्रभाव जन-जीवन पर पड़ा। बादशाहों, सरदारों और धनी व्यक्तियों के विलासितापूर्ण जीवन का प्रमुख कारण यही था। जन-साधारण के जीवन में पहले की तुलना में कोई विशेष परिवर्तन न होने का कारण भी यही था।

[3]
धार्मिक स्थिति

हिन्दू, मुसलमान, सिख, जैन, बौद्ध, पारसी, ईसाई, आदि विभिन्न धर्मावलम्बी भारत के विभिन्न भागों में फैले हुए थे। हिन्दू धर्म को मानने वाले इनमें बहुसंख्यक थे। इस समय में भी हिन्दुओं ने मुख्यतया भक्ति-मार्ग का अनुसरण किया। भक्ति-मार्ग का अनुसरण करने वाले विभिन्न सम्प्रदायों में बँटे हुए थे। परन्तु इनमें सबसे प्रमुख सम्प्रदाय **वैष्णव सम्प्रदाय** था। वैष्णव सम्प्रदाय के मानने वाले चार प्रमुख शाखाओं में विभाजित थे। प्रथम सम्प्रदाय रामानुज के समर्थकों का था जो लक्ष्मी नारायन की पूजा और भक्ति में विश्वास करते थे। दूसरा सम्प्रदाय चैतन्य के समर्थकों का था। यह चैतन्य को 'गौरांग-महाप्रभु' के नाम से पुकारते थे और श्रीकृष्ण की पूजा तथा भक्ति में विश्वास करते थे। भजन-कीर्तन, रासलीला, आदि के द्वारा भावना से ओत-प्रोत होकर नाचना-गाना और कृष्ण को याद करना इनका प्रमुख धार्मिक कार्य था। संस्कृत और बंगाली भाषा में इन्होंने बहुत से भजनों और कीर्तनों की रचनाएँ कीं। बंगाल, बिहार, उड़ीसा और उत्तर-प्रदेश में यह सम्प्रदाय बहुत लोकप्रिय था। तीसरा सम्प्रदाय वल्लभाचार्य के समर्थकों का था। वल्लभाचार्य के पुत्र विट्ठलनाथ और उसके पुत्र गोकुलनाथ ने इस सम्प्रदाय को बहुत लोकप्रिय बनाया। यह कृष्ण के पूजक थे और मूर्ति-पूजा पर बल देते थे। इस सम्प्रदाय के समर्थकों में आठ श्रेष्ठ कवि और गायक हुए जिनमें से सूरदास और मीराबाई बहुत लोकप्रिय हुए। उनके द्वारा लिखित भजन लाखों व्यक्तियों को प्रेरणा प्रदान करने वाले सिद्ध हुए। चौथा सम्प्रदाय रामानन्द के समर्थकों का था जो राम-सीता के पुजारी थे। इनके समर्थक विभिन्न छोटे-छोटे सम्प्रदायों में बँट गये और उन्होंने भक्ति पर बल देते हुए भी निर्गुण ईश्वर की

उपासना में विश्वास करना सिखाया। दादू, मलूकदास, शिवदयाल जैसे सन्त इन्हीं में से थे, और इनमें से प्रत्येक ने एक नवीन सम्प्रदाय की स्थापना की। परन्तु इन सभी ने भक्ति-मार्ग पर बल दिया और जाति-प्रथा का विरोध किया। परन्तु उच्च जाति में ऐसे हिन्दू भी थे जो राम-सीता की भक्ति में विश्वास करते हुए भी निर्गुण ईश्वर के इन उपासकों से पृथक रहे। इनका नेतृत्व तुलसीदास ने किया। तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' और 'विनय-पत्रिका' की रचना करके राम-सीता को देवत्व का स्थान प्रदान किया और राम-सीता की भक्ति और पूजा को अत्यन्त लोकप्रिय बनाया। इन विभिन्न सम्प्रदायों में आपस में अन्तर था परन्तु सभी एक बात में एक-मत थे। सभी ईश्वर से प्रेम और भक्ति में विश्वास करते थे और उसी को ईश्वर-प्राप्ति अथवा मोक्ष-प्राप्ति का मार्ग मानते थे। उन्होंने भक्ति-मार्ग को भारत में सबसे अधिक लोकप्रिय बना दिया। भक्ति-मार्ग ने विभिन्न प्रादेशिक भाषाओं की उन्नति की, भारतीय संस्कृति को दर्शन, भजन, गान, मन्दिरों के निर्माण आदि से समृद्ध बनाया और जन-साधारण के सम्मुख ईश्वर-प्राप्ति का सरल मार्ग रखा। परन्तु बहुत से अज्ञानी और स्वार्थी व्यक्तियों ने इसका दुरुपयोग भी किया। 'सखी-सम्प्रदाय' ने केवल कृष्ण को ही एकमात्र पुरुष माना और बाकी सभी पुरुषों को भी स्त्री माना। उसके पुरुष समर्थकों ने स्त्रियों की वेश-भूषा धारण करनी आरम्भ की और स्त्रियों के साथ रास-लीलाएँ आरम्भ कर दीं जिससे स्त्री-पुरुषों में अनैतिक सम्बन्ध आरम्भ हुए। उसी प्रकार, गुरु को कृष्ण का स्वरूप मानकर स्त्रियों को गुरु को समर्पित करने की रीति से अनाचार फैला। मन्दिरों में धन का अपव्यय किया जाने लगा। कृष्ण की रासलीलाएँ भी अनेक तरीकों से प्रयोग में लायी गयीं और स्त्री-पुरुषों के अनुचित सम्बन्ध को बढ़ावा मिला।

वैष्णव सम्प्रदाय के उपर्युक्त महत्वपूर्ण समुदायों के अतिरिक्त कुछ अन्य धार्मिक सम्प्रदायों का निर्माण भी इस काल में हुआ। ये सम्प्रदाय भी भक्ति-मार्ग का अनुसरण करते थे यद्यपि उन सभी में थोड़ा-थोड़ा अन्तर था। उनमें से एक राधा-बल्लभी सम्प्रदाय था। 1551 ई. के लगभग हरीवमसा ने उसे आरम्भ किया था। इस सम्प्रदाय के अनुयायी राधा की उपासना करते थे और उसके माध्यम से श्रीकृष्ण की कृपा चाहते थे। दादू (1544-1603 ई.) एक अन्य सन्त और समाज-सुधारक थे। उन्होंने मूर्ति-पूजा, कर्मकाण्ड और जाति-प्रथा का विरोध किया तथा एक नवीन सम्प्रदाय 'दादूपन्थ' की स्थापना की। दादू के एक समकालीन सन्त बीरभान ने सतनामी-सम्प्रदाय को आरम्भ किया। इस सम्प्रदाय के अनुयायियों ने जाति-प्रथा, मूर्ति-पूजा, सम्पत्ति संचय करना और उससे उत्पन्न सामाजिक असमानता, आदि का विरोध किया। वे उच्च नैतिकता का पालन करते थे और सतनाम के नाम से ईश्वर की आराधना करते थे। औरंगजेब के समय में यह सम्प्रदाय बहुत लोकप्रिय हो गया। इसके अतिरिक्त, हरीदास ने नारायणी, लालदास ने लालदासी, रामचरन ने रामस्नेही, स्वामी नारायनसिंह ने शिव-नारायणी और सहजानन्द ने स्वामी-नारायणी धार्मिक सम्प्रदायों की स्थापना की। महाराष्ट्र में एकनाथ, तुकाराम और रामदास ने भी भक्ति-मार्ग का प्रचार किया यद्यपि उनमें से किसी ने भी पृथक सम्प्रदाय की स्थापना नहीं की।

मुसलमानों में सुन्नी, शिया, बोहरा तथा खोजा जैसे विभिन्न वर्गों के अतिरिक्त एक मुख्य सम्प्रदाय सूफियों का था। यह सम्प्रदाय भारत में मुसलमानी

साम्राज्य की स्थापना से पहले ही प्रवेश कर गया था। परन्तु तुर्की साम्राज्य की स्थापना के समय से अनेक सूफी सन्त भारत में आकर बस गये और उन्होंने अपने विचारों का प्रचार किया। सूफी-सम्प्रदाय में भी ईश्वर से प्रेम और उसकी भक्ति पर बल दिया गया। यह ठीक है कि सूफी-सम्प्रदाय भारत में विदेशों से आया और उसकी उत्पत्ति इस्लाम के अन्तर्गत हुई, परन्तु भारत में आकर इसने बहुत कुछ हिन्दुओं के वेदान्त-दर्शन से भी प्राप्त किया। मुगल-काल में यह प्रभाव और अधिक स्पष्ट हो गया, मुख्यतया सूफियों के चिश्ती सम्प्रदाय पर। इस्लाम में व्यक्ति और ईश्वर का सम्बन्ध एक गुलाम और एक मालिक के सम्बन्धों के समान माना गया है, जबकि सूफियों ने व्यक्ति और ईश्वर के सम्बन्धों को एक प्रेमिका और प्रेमी के रूप में व्यक्त किया। यह प्रभाव हिन्दू धर्म के भक्ति-मार्ग का है। इसी प्रकार, अहिंसा और शान्ति की भावना हिन्दू बौद्ध, जैन और ईसाई धर्म की विशेषता तो मानी जा सकती है, परन्तु इस्लाम धर्म की नहीं। परन्तु सूफियों ने इसे स्वीकार किया। इसी प्रकार, ईश्वर का ध्यान करना, अपने शरीर को कष्ट देना, आदि विभिन्न विचार और क्रियाएँ सूफियों ने भारतीय धर्म और वातावरण से प्राप्त कीं। मुगल-काल में सूफी-सम्प्रदाय के अनेक सन्त हुए और उन्होंने अपने विचारों से व्यक्तियों को बहुत बड़ी संख्या में प्रभावित किया। सूफी विभिन्न सम्प्रदायों में बँटे हुए थे। मुगल-काल में इनके प्रमुख सम्प्रदाय चिश्ती, सुहरावर्दी, कादिरी और नक्शबन्दी थे। फतेहपुरसीकरी के शेख सलीम चिश्ती, शेख अब्दुर कादिर, शेख मियाँ मीर, शेख अहमद सरहिन्दी, शेख वली उल्लाह, आदि उस समय के मुख्य सूफी सन्त थे। सूफी-सम्प्रदाय ने सादगी, सच्चाई, प्रेम और ईश्वर की एकता पर बल दिया। अधिकांश सूफी सन्त पारिवारिक सन्त थे और विवाह करते थे। संसार में रहते हुए सत्कर्म करना उनका मुख्य उद्देश्य था। 17वीं और 18वीं सदी में सूफी-सम्प्रदाय हिन्दू और मुसलमान दोनों में पर्याप्त लोकप्रिय था और उसने हिन्दू और मुसलमानों को निकट लाने में योग दिया। सर जदुनाथ सरकार ने लिखा है: "सूफी-दर्शन ने शासक-वर्ग और शासित प्रजा को निकट लाने का प्रयत्न किया।"[1] भक्ति-मार्ग की प्रेम की भावनाओं के दुरुपयोग से जिस प्रकार हानि हुई थी, उसी प्रकार कहीं-कहीं सूफियों के प्रेम की भावना का भी दुरुपयोग किया गया अन्यथा सूफी धर्म का प्रभाव साधारणतया ठीक था।

मुगल-काल की एक मुख्य विशेषता **सिख-सम्प्रदाय की उत्पत्ति और विकास** था। गुरु नानक (1469-1539) ने इस सम्प्रदाय को स्थापित किया था। नानक स्वयं किसी नवीन सम्प्रदाय की स्थापना नहीं करना चाहते थे। उनके समय में सिख-सम्प्रदाय का नाम भी यह न था। सिख धर्म हिन्दू धर्म के अन्तर्गत ही एक सुधारवादी आन्दोलन था। सिख नाम भी 'शिष्य' के अपभ्रंश से पड़ा है जिसे उनके बाद के अनुयायियों ने स्वीकार किया। नानक एक पारिवारिक सन्त थे। उन्होंने धार्मिक समानता, एक ईश्वर, सत्कर्म, नैतिकता, सत्य, ईमानदारी, दया और सज्जनता पर बल दिया। उन्होंने दान करना, ईश्वर (हरी) का स्मरण करना और गुरु के प्रति पूर्ण भक्ति रखना सिखाया। कर्म-सिद्धान्त, जीव के आवागमन का सिद्धान्त और मोक्ष में उनका विश्वास था। परन्तु वे अवतारवाद, कर्मकाण्ड, मूर्ति-पूजा, जाति-विभेद तथा

---

1 "Sufi philosophy tended to bring the ruling sect and the dominated people closer together." —*Sir J. N. Sarkar.*

मौलवियों और पण्डितों की श्रेष्ठता के विरुद्ध थे। वे हिन्दू और मुसलमानों में अन्तर नहीं करते थे और उन्होंने दोनों वर्गों से अपने शिष्य बनाये। नानक के पश्चात् सिखों के नौ गुरु और हुए। दूसरे गुरु अंगद ने नानक के उपदेशों का स्थानीय भाषा में संकलन किया। तीसरे गुरु अमरदास ने सिख-सम्प्रदाय के प्रचार के लिए 22 गद्दियों की स्थापना की, सती-प्रथा का विरोध किया, विवाह की क्रियाओं को सरल बनाया, पर्दा-प्रथा का विरोध किया और मादक वस्तुओं के प्रयोग का निषेध किया। उन्होंने अपने उत्तराधिकारी रामदास को 'देवत्व गुणों' से [illegible] बताया और अपने शिष्यों से माँग की कि वह अपनी सम्पत्ति और आत्मा गुरु की इच्छा पर छोड़ दें। चौथे गुरु रामदास हुए जिन्होंने गुरु की गद्दी को पैतृक बनाया और सिखों को यह विश्वास दिलाया कि एक गुरु की आत्मा दूसरे गुरु में स्वतः ही चली जाती है। पाँचवें गुरु अर्जुन ने विभिन्न गुरुओं के उपदेशों का संकलन कराया और 'आदि-ग्रन्थ' की रचना की। उन्होंने अमृतसर के स्वर्ण-मन्दिर का निर्माण कराया। जहाँगीर ने खुसरो के विद्रोह के अवसर पर गुरु से असन्तुष्ट होकर उन्हें क़ैद में डाल दिया और वहीं उनकी मृत्यु हुई। छठे गुरु हरगोविन्द ने सिखों को सैनिक बनाने का प्रयत्न आरम्भ किया और शाहजहाँ से उनका संघर्ष हुआ। सातवें गुरु हरराय, आठवें गुरु हरकिशन, नवें गुरु तेग़बहादुर और दसवें गुरु गोविन्दसिंह औरंगजेब के समय में थे। औरंगजेब के सम्बन्ध इन सभी से खराब रहे और नवें गुरु तेगबहादुर को उसने बन्दी बनाकर कत्ल करा दिया। उनके पुत्र और अन्तिम गुरु गोविन्दसिंह ने सिखों को शक्तिशाली सैनिक सम्प्रदाय (खालसा) में परिवर्तित करने में सफलता पायी और उन्होंने जीवनपर्यन्त औरंगजेब से संघर्ष किया। उनके समय तक सिख-सम्प्रदाय पंजाब में धर्म और राजनीति दोनों ही दृष्टि से महत्वपूर्ण बन गया। सिख-सम्प्रदाय ने पंजाब के जन-जीवन को बहुत अधिक प्रभावित किया है। यद्यपि सिख-सम्प्रदाय भी अपने मूल धर्म की प्रवृत्ति को खोता जा रहा है और उसमें भी अन्धविश्वास और कर्मकाण्ड सम्मिलित होते जा रहे हैं परन्तु तब भी मुगल-काल में ही नहीं बल्कि आधुनिक समय में भी उसने भारत के धार्मिक जीवन में महत्वपूर्ण भाग लिया है।

[सिख-सम्प्रदाय के विस्तृत अध्ययन के लिए अध्याय 8 देखिए।]

मुगल-काल की **एक मुख्य विशेषता हिन्दू और मुसलमानों में धार्मिक सहिष्णुता की भावना उत्पन्न होना था।** इस युग के मुख्य धार्मिक सम्प्रदायों और प्रवृत्तियों, जैसे भक्ति-मार्ग प्रचारक, सूफी और सिख-सम्प्रदाय ने हिन्दू और मुसलमानों को निकट लाने में सहयोग प्रदान किया। निरन्तर एक लम्बे समय तक संघर्ष करने के पश्चात् सम्भवतया, हिन्दू और मुसलमान दोनों ही एक साथ मिलकर रहने की आवश्यकता अथवा बाध्यता को समझ गये थे। अकबर की धार्मिक सहिष्णुता और राजनीतिक समानता की नीति ने भी इस कार्य में सहयोग दिया। इस कार्य में एक बाधा औरंगजेब की धार्मिक सहिष्णुता की नीति ने पहुँचाई। परन्तु उसकी मृत्यु के पश्चात् मराठों, सिखों, राजपूतों और जाटों के राजनीतिक उत्थान के कारण पुनः हिन्दू और मुसलमानों में शक्ति-सन्तुलन स्थापित हो गया और भारत में धार्मिक असहिष्णुता के लिए कोई स्थान न रहा। 18वीं सदी में हिन्दू और मुसलमानों के सम्बन्ध निटकता के थे और ये सम्बन्ध उस समय तक बने रहे जब तक कि अंग्रेजी शासन-काल में 'फूट डालो और शासन करो' (Divide and Rule) की नीति को नहीं अपनाया गया। इस कारण, यह स्वीकार किया जा सकता है कि यद्यपि हिन्दू और मुसल-

मान मिलकर पूर्णतया एक तो कभी नहीं हो सके परन्तु पहले के तुर्क और अफगान-काल तथा बाद के अँग्रेजी-काल की तुलना में मुगल-काल में हिन्दू और मुसलमानों के सम्बन्ध अधिक अच्छे रहे थे।

मुगल-काल में जन-साधारण का धार्मिक जीवन सरल था। अन्धविश्वास, कर्मकाण्ड और जादू-टोनों में विश्वास करते हुए भी व्यक्ति अधिकांशतया सदाचारी थे। धार्मिक ज्ञान की दृष्टि से मुगल-काल में कोई विशेष बात नहीं हुई थी। प्राचीन धर्मों को सुधारने का प्रयत्न अवश्य किया गया था परन्तु ये प्रयत्न अपने लक्ष्य की पूर्ति करने में पूर्ण सफल नहीं हुए थे। अतः धर्म को सहिष्णुता, सरलता, सदाचार, सत्कर्म और पारस्परिक प्रेम एवं सहयोग पर स्थापित करने की आवश्यकता मुगल-काल में भी रही थी।

[4]

शिक्षा

मुगल-काल में शिक्षा का कोई पृथक विभाग न था और न व्यवस्थित रूप से शिक्षा की कोई योजना बनायी गयी थी। सद्रों द्वारा दान के रूप में शिक्षा-संस्थाओं को आर्थिक सहायता देने की परिपाटी थी और उन्हीं की सलाह पर विद्वानों को धन, सम्मान और जागीरें दी जाती थीं। इस प्रकार, मुसलमानों की शिक्षा पहले की भाँति मदरसों एवं मकतबों के द्वारा और हिन्दुओं की शिक्षा व्यक्तिगत प्रयत्नों एवं धनवान व्यक्तियों की सहायता के द्वारा पाठशालाओं और विद्यापीठों के द्वारा चलती रही। परन्तु मुगल बादशाहों ने शिक्षा के महत्व को समझा। उनमें से प्रायः सभी शिक्षित थे और वे सभी विद्वानों को संरक्षण प्रदान करते थे। इस कारण, मुगल-काल में योग्य व्यक्तियों की शिक्षा का अभाव उस समय तक न रहा जब तक कि मुगल-साम्राज्य शक्तिशाली रहा। इसी कारण, इस काल में अच्छी साहित्यिक प्रगति सम्भव हो सकी। परन्तु यह अवश्य कहा जा सकता है कि मुगल-काल में जन-साधारण की शिक्षा की ओर राज्य ने ध्यान नहीं दिया और न वह उसका उत्तरदायित्व अनुभव करता था।

बाबर को एक विद्वान शासक माना गया है और वह साहित्य का प्रेमी था। उसने दिल्ली में एक मदरसा स्थापित किया जिसमें इस्लाम की धार्मिक शिक्षा के अतिरिक्त गणित, भूगोल और नक्षत्र-विज्ञान को पढ़ाये जाने की व्यवस्था की गयी। हुमायूँ ने भी दिल्ली में एक मदरसा खोला। शेरशाह और उसके उत्तराधिकारियों के समय में भी शिक्षा को राजकीय सहायता प्राप्त हुई और शिक्षा का स्तर ठीक रहा। परन्तु उस समय तक शिक्षा में प्रमुख महत्व धार्मिक शिक्षा का रहा। अकबर ने यह अनुभव किया कि इस्लाम की धार्मिक शिक्षा को शिक्षा का मुख्य आधार मानकर चलना शिक्षा की प्रगति के लिए हानिकारक है। अकबर ने विभिन्न स्थानों पर मकतब और मदरसे खुलवाये, हिन्दू पाठशालाओं और विद्यापीठों को सहायता दी तथा उदार धार्मिक विचारों के सद्रों को नियुक्त किया। अकबर ने शिक्षा में गणित, भूगोल, नीतिशास्त्र, नैतिकशास्त्र, गृह-विज्ञान, शासन-व्यवस्था, चिकित्साशास्त्र, इतिहास, आदि सभी विषयों की शिक्षा पर बल दिया। उसका विचार था कि केवल धार्मिक शिक्षा की व्यवस्था पर बल देने से बुद्धि संकुचित हो जाती है। इसी कारण, संस्कृत विद्यालयों में भी उसने व्याकरण, न्याय और पातंजलि की टीका के अध्ययन पर बल दिया। उसका कहना था : "वर्तमान युग की आवश्यकताओं के अनुकूल किसी भी विषय के अध्ययन

से किसी को भी उपेक्षित नहीं रहने दिया जाना चाहिए।"[1] अकबर ने शिक्षा प्राप्त करने के तरीके में भी परिवर्तन करने का प्रयत्न किया। उसका कहना था : "इस प्रकार की व्यवस्था होनी चाहिए कि वह (विद्यार्थी) स्वयं ही प्रत्येक चीज को समझ सके। अध्यापक उसमें उसकी थोड़ी सहायता कर सकता है।"[2] अकबर के इन विचारों का कितना व्यावहारिक प्रयोग किया गया होगा, यह कहना कठिन है। परन्तु अकबर के समय में जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न विद्वान हुए। यह इस बात का प्रमाण है कि अकबर के समय में शिक्षा की ओर समुचित ध्यान दिया गया था। अकबर के समय से हिन्दुओं को मुसलमानी मदरसों और मकतबों में स्थान प्राप्त होने लगा जिससे हिन्दुओं ने फारसी भाषा का अध्ययन आरम्भ किया। उसी समय में मुसलमानों ने भी संस्कृत पढ़ना आरम्भ किया। इस आदान-प्रदान के कारण संस्कृत के अनेक ग्रन्थों का फारसी में अनुवाद सम्भव हो सका। जहाँगीर के समय में भी मदरसों और मकतबों को पूर्ण सहायता मिलती रही। जहाँगीर ने यह नियम भी बनाया था कि यदि किसी सरदार की मृत्यु के पश्चात् उसका कोई उत्तराधिकारी न हो तो उसकी सम्पूर्ण सम्पत्ति का उपयोग मदरसों की सहायता के लिए कर लिया जाय। उसने उन मदरसों की भी मरम्मत करायी जो पिछले तीन वर्षों से कार्य नहीं कर रहे थे। उसने उनमें भी पढ़ाई की व्यवस्था करायी। शाहजहाँ के समय में भी मदरसों, मकतबों और हिन्दू पाठशालाओं को सहायता दी गयी और उनकी संख्या में वृद्धि होती गयी। उसने दारुल-बक नामक मदरसे को पुनः आरम्भ कराया। उसने दिल्ली में जामा-मस्जिद के दक्षिण की ओर एक नवीन मदरसा खुलवाया और दिल्ली तथा आगरा के मदरसों में अध्यापकों की नियुक्ति की। औरंगजेब के समय में भी मदरसों और मकतबों को सहायता दी गयी। उसने गुजरात में पुराने मकतब और मदरसों की मरम्मत और विकास के लिए बहुत धन व्यय किया परन्तु उसके समय में हिन्दू पाठशालाओं को समाप्त करने का प्रयत्न किया गया। इस कार्य में औरंगजेब को पूर्ण सफलता प्राप्त नहीं हुई क्योंकि अधिकांश पाठशालाएँ राजकीय सहायता से न चलकर व्यक्तिगत प्रयत्नों के कारण चलती थीं। परन्तु तब भी हिन्दुओं की शिक्षा पर इसका कुप्रभाव अवश्य पड़ा। उत्तरकालीन मुगल बादशाहों के समय में राज्य की ओर से शिक्षा की ओर ध्यान दिया जाना सम्भव न हो सका परन्तु विभिन्न प्रान्तों में जो स्वतन्त्र राज्य बने उनमें से अनेक ने शिक्षा और विद्या के प्रसार में भाग लिया। तब भी 18वीं सदी में बौद्धिक प्रगति का प्रवाह रुक गया जिसका परिणाम भारत का बौद्धिक दिवालियापन और जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में प्रगति का रुक जाना था।

विभिन्न अधीनस्थ हिन्दू राजाओं, स्वतन्त्र शासकों और प्रान्तीय सूबेदारों ने भी विभिन्न स्थानों पर शिक्षा-संस्थाओं की स्थापना की। राजा जयसिंह उन राजाओं में से एक था जिसने वैज्ञानिक शिक्षा को प्रोत्साहन दिया। यह कहा गया है कि उसने जयपुर, उज्जैन, वाराणसी, मथुरा, दिल्ली आदि स्थानों पर शोधशालाएँ स्थापित कीं।

---

1 "No one should be allowed to neglect those subjects which the present time requires." —*Akbar.*

2 "Care is to be taken that he learnt to understand everything himself, but the teacher may assist him little." —*Akbar.*

इसके अतिरिक्त, व्यक्तिगत प्रयत्नों के द्वारा भी शिक्षा-संस्थाएँ चलायी गयी थीं। इस तरह की संस्थाओं में दिल्ली में माहमअनगा, गाजीउद्दीन और ख्वाजा मुइन के मदरसे और शाहजहाँबाद का मौलाना सदरुद्दीन का मदरसा प्रमुख थे। इसके अतिरिक्त, विभिन्न शहरों में कुछ विद्वानों के परिवारीजन भी अपने विद्यालयों को चला रहे थे। ये विद्यालय भी अपनी शिक्षा की विशेषताओं के कारण काफी बड़ी संख्या में विद्यार्थियों को आकर्षित करते थे।

मुगल-काल में दिल्ली, आगरा, फतेहपुरसीकरी, लखनऊ, अम्बाला, ग्वालियर, कश्मीर, इलाहाबाद, लाहौर, जौनपुर, स्यालकोट, आदि मुस्लिम शिक्षा के केन्द्र-स्थान थे। बादशाहों, सरदारों और सद्रों की सहायता से अनेक मकतब और मदरसे खोले गये थे। मकतबों और मदरसों में फारसी भाषा के माध्यम से शिक्षा दी जाती थी। यद्यपि सभी स्थानों पर शिक्षा का तरीका और शिक्षा के विषय एकसमान थे, परन्तु विभिन्न विद्वानों के संरक्षण में विभिन्न मदरसे विभिन्न विषयों की शिक्षा के लिए प्रसिद्ध हो गये थे; जैसे—लखनऊ का 'फारंगी महल मदरसा' न्याय की शिक्षा के लिए, दिल्ली का शाह वलीउल्लाह का स्कूल परम्परागत मान्यताओं की शिक्षा के लिए तथा स्यालकोट का मदरसा व्याकरण की शिक्षा के लिए प्रसिद्ध हो गये थे। विद्यार्थियों के लिए वार्षिक परीक्षाएँ नहीं होती थीं अपितु अध्यापक की इच्छा के अनुसार उन्हें कक्षा में प्रवेश मिलता था अथवा उनकी उन्नति की जाती थी। एक विद्यार्थी की योग्यता का मापदण्ड उसके अध्यापक की योग्यता और उसका मदरसा होता था। विद्यार्थियों को तीन प्रकार की डिग्रियाँ दी जाती थीं। तर्क और दर्शन के विद्यार्थी को 'फाजिल', धार्मिक शिक्षा के विद्यार्थी को 'आलिम' और साहित्य के विद्यार्थी को 'कामिल' के प्रमाण-पत्र दिये जाते थे।[1]

यद्यपि अरबी राजभाषा नहीं थी परन्तु तब भी मुस्लिम-शिक्षा श्रेष्ठतम स्तर पर इसी भाषा में दी जाती थी। उच्चतम शिक्षा प्राप्त करने के लिए विद्या थीं, इस कारण, मक्का जाते थे। ऐसी शिक्षा प्राप्त विद्यार्थी मुख्यतया न्याय विभाग में स्थान प्राप्त करते थे।

हिन्दुओं की शिक्षा के लिए पाठशालाएँ और विद्यापीठ होते थे। पाठशालाओं में प्रारम्भिक शिक्षा दी जाती थी और विद्यापीठों में उच्च श्रेणी की शिक्षा दी जाती थी। विभिन्न विद्वान अपने घरों पर भी विद्यार्थियों को शिक्षा प्रदान करते थे। संस्कृत भाषा और साहित्य शिक्षा के मुख्य विषय थे। इनके अतिरिक्त, धार्मिक साहित्य, भूगोल, चिकित्सा-शास्त्र, गणित, व्याकरण, आदि अन्य विभिन्न विषयों की शिक्षा भी प्रदान की जाती थी। हिन्दू शिक्षा में मुसलमानी शिक्षा की अपेक्षा धर्म की शिक्षा का प्रभाव कम था। इस कारण, विभिन्न अन्य विषयों की शिक्षा अधिक महत्वपूर्ण थी। बनारस, मथुरा, इलाहाबाद, अयोध्या, नदिया, मिथिला, श्रीनगर आदि हिन्दुओं की शिक्षा के केन्द्र-स्थान थे। बनारस हिन्दू धर्म-शास्त्रों, संस्कृत साहित्य तथा संस्कृत भाषा की शिक्षा का केन्द्र प्राचीन काल से रहा था। उस समय भी वह शिक्षा का एक मुख्य केन्द्र था। यात्री बर्नियर ने बनारस की तुलना ग्रीस के एथेन्स नगर से की थी। टैवर्नियर ने भी शिक्षा के क्षेत्र में बनारस की प्रशंसा की थी। उसी प्रकार, बंगाल में नदिया शिक्षा का बहुत बड़ा केन्द्र-स्थल बन गया था। शिक्षा का

1 डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव, **मध्ययुगीन भारतीय सभ्यता।**

उससे भी प्राचीन केन्द्र विहार में मिथिला नगर था। हिन्दुओं में शिक्षा की ओर अधिक झुकाव था। पाठशालाएँ नगरों और गाँवों तक में फैली हुई थीं जो साधारणतया मन्दिरों से जुड़ी हुई थीं और जहाँ प्रायः चार वर्ष एक विद्यार्थी निःशुल्क शिक्षा प्राप्त करता था। पाँच वर्ष की आयु में बच्चे को पाठशाला भेज दिया जाता था। पाठशाला में शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् विद्यार्थी अपनी रुचि के अनुसार विद्यापीठ में प्रवेश के लिए जाता था।

लड़कियों की शिक्षा के लिए कोई पृथक व्यवस्था न थी और न उनके अध्ययन के विषय ही पृथक थे। पाठशालाओं में लड़के और लड़कियाँ साथ-साथ शिक्षा प्राप्त करते थे। हिन्दू अपनी लड़कियों की शिक्षा में अधिक रुचि लेते थे। परन्तु लड़कियों में उच्च शिक्षा का अभाव था। धनवान व्यक्ति अपनी लड़कियों की शिक्षा का प्रबन्ध अपने घर पर ही करते थे और उन्हीं को उच्च शिक्षा प्राप्त हो सकती थी। इसी प्रकार, शाहजादों और शाहजादियों की शिक्षा के लिए योग्य विद्वानों की नियुक्ति की जाती थी। गुलबंदा वेगम, सलमा सुल्ताना (अकबर की पत्नी), नूरजहाँ. मुमताजमहल, जहाँआरा और औरंगजेब की पुत्री जेबुन्निसा मुगल-दरबार की शिक्षित स्त्रियाँ थीं।

मुगल-काल की यह शिक्षा-व्यवस्था इस दृष्टिकोण से समुचित मानी जा सकती है कि मध्ययुगीन परम्परा के अनुसार मुगल बादशाहों के संरक्षण में शिक्षा को सहायता दी जाती थी, समाज के उच्च-वर्ग को शिक्षा की सुविधा प्राप्त थी, फारसी भाषा को राजभाषा बनाकर शिक्षा में समानता और एकता लाने का प्रयत्न किया गया था, विद्वानों को दरबार में आश्रय प्राप्त होता था और जब तक मुगल-साम्राज्य दृढ़ रहा तब तक शिक्षा संस्थाओं को सुरक्षा और प्रगति करने का अवसर प्राप्त होता रहा था। एक अन्य दृष्टिकोण से इस शिक्षा-प्रणाली में दोष थे और वह अपर्याप्त थी। इसमें धार्मिक शिक्षा पर अधिक बल था। राज्य की ओर से जन-साधारण की शिक्षा का प्रयत्न नहीं किया गया था और इसमें राज्य का योगदान कम और व्यक्तिगत प्रयास अधिक थे। स्त्री-शिक्षा प्रायः नहीं के बराबर थी। इसमें विभिन्न तकनीकी, औद्योगिक और व्यावसायिक शिक्षा की ओर ध्यान नहीं दिया गया था। इस प्रकार की शिक्षा एक व्यक्ति केवल अपने परिवार के किसी कुशल व्यक्ति के साथ कार्य करके अथवा शाही कारखानों में कार्य करके ही प्राप्त कर सकता था। ऐसी स्थिति में ऐसी शिक्षा की प्रगति सम्भव न थी। इसी कारण भारत इन क्षेत्रों में अन्य देशों से पिछड़ गया और जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में उसकी प्रगति सम्भव नहीं हुई। 18वीं सदी में उत्पन्न हुई अव्यवस्था ने शिक्षा के क्षेत्र को और अधिक सीमित कर दिया। परन्तु इन दोषों के होते हुए भी यह स्वीकार किया जाता है कि चाहे राज्य के प्रयत्न हों अथवा व्यक्तिगत, मुगल-काल में अपने युग की परिस्थितियों के अनुसार शिक्षा में कमी न थी। इसी कारण, इस युग में हमें साहित्य की प्रगति और विद्वानों की दृष्टि से अभाव नजर नहीं आता। यदि इस शिक्षा का कोई दोष था तो यह कि इसमें तकनीकी और औद्योगिक शिक्षा की ओर ध्यान नहीं दिया तथा बाद के समय में वह समय की बढ़ती हुई आवश्यकताओं की पूर्ति करने में असमर्थ हो गय और उसका भाग्य राजनीतिक परिस्थितियों से बँध गया।

[5]

साहित्य

साहित्यिक दृष्टि से मुगल-काल प्रगतिशील था। उस समय में विभिन्न प्रकार के और विभिन्न भाषाओं के साहित्य का निर्माण हुआ। नवीन रचनाओं और अनुवाद, दोनों ही दृष्टियों से उस समय में महत्वपूर्ण कार्य हुआ। फारसी, संस्कृत, हिन्दी आदि के अतिरिक्त उर्दू भाषा का विकास भी उस काल में हुआ तथा विभिन्न प्रादेशिक भाषाओं की भी उन्नति हुई।

मुगल-काल में फारसी (Persian) साहित्य की अच्छी प्रगति हुई। सभी महान् मुगल बादशाह (अकबर के अतिरिक्त) शिक्षित थे और सभी ने साहित्यिक प्रगति में अपना सहयोग दिया। मुगल राज्य का संस्थापक बाबर एक विद्वान शासक था

1. फारसी साहित्य

और उसके दरबार मे सभी विद्वानों का आदर किया जाता था। अपनी आत्मकथा 'तुजुक-ए-बाबरी' अथवा 'बाबरनामा' उसने तुर्की में लिखी थी और वह इतनी श्रेष्ठ मानी गयी कि तीन बार उसका फारसी में अनुवाद किया गया और विभिन्न यूरोपियन भाषाओं में भी उसका अनुवाद हुआ। बाबर तुर्की और फारसी में कविता करता था। उसका कविता-संग्रह 'दीवान' (तुर्की में) बहुत प्रसिद्ध हुआ और फारसी लेखन-शैली में उसने 'खत-ए-बाबरी' नामक एक नवीन शैली को जन्म दिया था। हुमायूँ तुर्की तथा फारसी साहित्य का ही अच्छा ज्ञाता नहीं था बल्कि उसे दर्शन, गणित और नक्षत्र-विज्ञान का भी ज्ञान था। उसने विभिन्न विद्वानों को अपने दरबार में संरक्षण प्रदान किया। अकबर स्वयं शिक्षित न था परन्तु उसने अपनी उदारता से उस वातावरण को स्थापित किया जिससे उसके समय में साहित्यिक प्रगति सबसे अधिक हुई। उसने फारसी भाषा को राजभाषा बनाया और संस्कृत, अरबी, तुर्की, यूनानी, आदि भाषाओं की श्रेष्ठ पुस्तकों का अनुवाद कराने के लिए एक 'अनुवाद-विभाग' (Translation Department) स्थापित किया। उसके समय में अनेक विद्वानों को राज्य का संरक्षण प्राप्त था। जहाँगीर स्वयं शिक्षित, विद्वान और आलोचक था। उसने अपने शासनकाल के 17वें वर्ष तक अपनी आत्मकथा 'तुजुक-ए-जहाँगीरी' को लिखा यद्यपि उसके पश्चात् यह कार्य उसने मोतमिदखाँ को सौंप दिया। जहाँगीर के समय में दरबार में विद्वानों का सम्मान था जिन्होंने मूल पुस्तकों की रचना की। जहाँगीर के समय में अनुवाद का कार्य इतना अधिक अच्छा नहीं हुआ। शाहजहाँ के समय में भी अनेक विद्वान हुए और उसके पुत्र दाराशिकोह के प्रयत्नों के कारण संस्कृत के अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थों का अनुवाद किया गया। औरंगजेब स्वयं बहुत विद्वान था यद्यपि उसे कविता और इतिहास की पुस्तकों से घृणा थी। उसके समय में भी अनेक ग्रन्थों की रचना की गयी। उत्तरकालीन मुगल बादशाहों के समय में मुहम्मदशाह के समय तक फारसी भाषा राजभाषा बनी रही परन्तु उसके पश्चात् उसका स्थान उर्दू ने ले लिया। परन्तु तब भी बाद के समय में अनेक पुस्तकें फारसी में लिखी जाती रहीं। इस प्रकार, सम्पूर्ण मुगल-काल में फारसी साहित्य को राज्य का संरक्षण प्राप्त होता रहा और उसकी प्रगति होती रही।

फारसी साहित्य में मुख्य स्थान आत्मकथाओं और ऐतिहासिक पुस्तकों का है। बाबर की आत्मकथा 'तुजुक-ए-बाबरी', अबुल फजल का 'अकबरनामा' और 'आइने

अकबरी', निज़ामुद्दीन अहमद का 'तबकात-ए-अकबरी', गुलबदन बेगम का 'हुमायूँ-नामा', जौहर का 'ताजकीरात-उल-वाकियात', तथा अब्बास सरवानी का 'तौफा-ए अकबरशाही' उर्फ 'तारीख-ए-शेरशाह', जो विभिन्न विद्वानों के सम्मिलित प्रयत्न से लिखा गया था इनमें महत्वपूर्ण हैं। 1,000 वर्षों का इस्लाम का इतिहास बनाम 'तारीख-ए-अलफी', बदायूँनी का 'मुन्तखब-उत-तवारीख', अहमद यादगार का 'तारीख-ए-सलातीने अफगान', बयाजीद सुल्तान का 'तारीख-ए-हुमायूँ' और फैजी सरहिन्दी का 'अकबरनामा', आदि इतिहास की वे रचनाएँ हैं जो (तुजुक-ए-बाबरी को छोड़कर) अकबर के समय में लिखी गयीं। जहाँगीर ने अपनी आत्मकथा 'तुजुक-ए-जहाँगीरी' को लिखा और उसी के समय में मोतमिदखाँ ने उसकी अधूरी आत्मकथा को पूरा करने के अतिरिक्त 'इकबालनामा-ए-जहाँगीरी', ख्वाजा कामगर ने 'मअस्सर-ए-जहाँगीर', निमातुल्ला ने 'मकज्जम-ए-अफगानी', मुहम्मद कासिम फरिश्ता ने 'तारीख-ए-फरिश्ता' और मुल्ला नहबन्दी ने 'मअस्सर-ए-रहीमी' को लिखा। शाहजहाँ के समय की पुस्तकों में अब्दुल हमीद लाहौरी का 'पादशाहनामा', अमीनाई काजबीनी का 'पादशाहनामा', इनायतखाँ का 'शाहजहाँनामा' और मुहम्मद सालेह का 'आलम-ए-सालेह' प्रमुख हैं। औरंगजेब इतिहास की पुस्तकों की रचना में विश्वास नहीं करता था परन्तु तब भी उसके समय में विद्वानों ने स्वयं ही कुछ श्रेष्ठ पुस्तकों की रचना की। उनमें खाफीखाँ की 'मुन्तखब-उल-लुबाब', मिर्जा मुहम्मद काजिम का 'आलमगीरनामा', मुहम्मद सकी का 'नुएके दिलकुशा', ईश्वरदास का 'फतुहात-ए-आलमगीरी' और सुजातराय की 'खुलासा-उत-तवारीख' प्रमुख हैं। उत्तरकालीन मुगल बादशाहों के समय में भी अनेक ऐतिहासिक पुस्तकें लिखी गयीं। इनमें से कुछ की रचना मुगल-दरबार के विद्वानों ने की और अधिकांश की रचना विभिन्न प्रान्तीय स्वतन्त्र दरबारों के संरक्षण में रहने वाले विद्वानों ने की। इनमें से प्रमुख गुलाम हुसैन की 'सिदरुल-त्खारीन', मुहम्मद अली की 'तवारीख-ए-मुजफ्फरी', हरिचरन दास की 'तवारीख चहार गुलजार-ए-शुजाई', आदि प्रमुख हैं।

फारसी में दूसरा महत्वपूर्ण कार्य अन्य विभिन्न भाषाओं की पुस्तकों का फारसी में अनुवाद किया जाना था। संस्कृत की पुस्तकों में से 'महाभारत' का अनुवाद नकीबखाँ, बदायूँनी, अबुल फजल, फैजी, आदि विभिन्न विद्वानों के सम्मिलित प्रयत्नों से किया गया। बदायूँनी ने 'रामायण' का अनुवाद किया। उसने 'अथर्ववेद' का अनुवाद आरम्भ किया और उसकी पूर्ति हाजी इब्राहीम सरहिन्दी ने की। 'लीलावती' का अनुवाद फैजी ने किया, 'राजतरंगिणी' का अनुवाद शाह मुहम्मद शाहाबादी ने, 'कालिय-दमन' का अबुल फजल ने, 'नल-दमयन्ती' का फैजी ने और 'हरिवंश' का अनुवाद मौलाना शेरी ने किया। यह सभी कार्य अकबर के समय में किये गये। शाहजहाँ के समय में उसके पुत्र दाराशिकोह के प्रोत्साहन से इस दिशा में महत्वपूर्ण कार्य किया गया। उसने 50 'उपनिषदों', 'भगवद्गीता' और 'योगवशिष्ठ' का अनुवाद फारसी में कराया। स्वयं दाराशिकोह ने एक मौलिक पुस्तक 'मज्मुल-बहरीन' (दो समुद्रों का मिलन) को लिखा जिसमें उसने हिन्दू और इस्लाम धर्मों को एक ईश्वर की प्राप्ति के दो मार्ग बताया। इसके अतिरिक्त, अरबी, तुर्की और ग्रीक भाषाओं के बहुत से ग्रन्थों का फारसी में अनुवाद किया गया। 'बाइबिल' का अनुवाद किया गया और 'कुरान' की बहुत-सी टीकाओं का फारसी में अनुवाद हुआ। औरंगजेब ने अरबी के बहुत-से ग्रन्थों की सहायता लेकर फारसी में एक न्याय की पुस्तक 'फतवा-ए-आलमगीरी' की रचना करायी।

फारसी कविता के क्षेत्र में भी कार्य किया गया यद्यपि यह बहुत श्रेष्ठ कोटि का नहीं बन सका। हुमायूँ ने स्वयं कुछ पद्यों की रचना की थी। अकबर के समय फैजी गिलाजी और उर्फी फारसी के महत्वपूर्ण कवि हुए। अबुल फजल ने अकबर के दरबार के 59 कवियों के बारे में बताया है। जहाँगीर और नूरजहाँ को भी कविता करने का शौक था। शाहजहाँ की पुत्री जहाँआरा तथा औरंगजेब की पुत्री जेबुन्निसा भी प्रसिद्ध कवयित्रियाँ थीं। अधिकांश कविताओं का विषय प्रेम था और वे गजल़, रुबाइयों आदि के रूप में तैयार की गयी थीं।

विभिन्न बादशाहों और सरदारों द्वारा लिखे गये पत्र भी फारसी साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। अबुल फजल और औरंगजेब द्वारा लिखे गये अनेक पत्रों को बहुत श्रेष्ठ माना गया है। मुनीर, राजा जयसिंह और सादुल्लाखाँ द्वारा लिखे गये प्रत्र भी प्रशंसा के योग्य हैं।

इस प्रकार यह स्वीकार किया जाता है कि मुगल बादशाहों के शासनकाल और संरक्षण में फारसी-साहित्य की पर्याप्त प्रगति हुई थी।

2. हिन्दी-साहित्य

मुगलों के भारत में आने के समय तक हिन्दी भाषा ने साहित्यिक भाषा का रूप ग्रहण कर लिया था। बाबर, हुमायूँ और शेरशाह के समय में हिन्दी को राजकीय संरक्षण प्राप्त नहीं हुआ, परन्तु व्यक्तिगत प्रयास से 'पद्मावत' और 'युगावत' नामक दो श्रेष्ठ ग्रन्थों की रचना हुई। इनके अतिरिक्त, हिन्दी के कुछ अन्य ग्रन्थों की रचना इस समय तक हो चुकी थी। अकबर की उदारता और धार्मिक सहनशीलता की नीति ने हिन्दी-साहित्य के निर्माण का मार्ग प्रशस्त किया। उसके समय में हिन्दी को राजकीय संरक्षण प्रदान किया गया। परन्तु हिन्दी-साहित्य का निर्माण केवल दरबार के संरक्षण पर ही निर्भर नहीं रहा। व्यक्तिगत प्रयत्नों के कारण भी महान् ग्रन्थों की रचना इस काल में हुई। राजा बीरबल, राजा मानसिंह, राजा भगवानसिंह, नरहरि और हरिनाथ राजदरबार से सम्बन्धित विद्वान थे। नन्ददास, विट्ठलनाथ, परमानन्ददास, कुम्भनदास, आदि ऐसे कवि थे जिन्होंने अपने व्यक्तिगत प्रयत्नों से हिन्दी-सहित्य को धनवान बनाया। इसके अतिरिक्त अनेक ऐसे अन्य व्यक्तियों के नाम भी लिये जा सकते हैं जिन्होंने हिन्दी-साहित्य की सेवा की। परन्तु उस समय के हिन्दी विद्वानों में तुलसीदास और सूरदास का विशेष महत्व है। तुलसीदास ने प्राय: 25 ग्रन्थों की रचना की जिनमें 'रामचरितमानस' और 'विनय-पत्रिका' का स्थान सर्वश्रेष्ठ माना गया है। तुलसीदास का राजदरबार से कोई सम्बन्ध न था। उनका जीवन अधिकांशतया बनारस में व्यतीत हुआ। परन्तु उन्होंने जिस प्रकार के दोहों और चौपाइयों की रचना की, उनकी नकल करने के भी प्रयत्न असफल हुए हैं। उनकी रचनाओं को भाव, भावना, भाषा आदि सभी दृष्टियों से श्रेष्ठतम माना गया है। ग्रियर्सन ने लिखा है कि "सम्पूर्ण भारतीय-साहित्य में तुलसीदास का स्थान सर्वाधिक महत्वपूर्ण है।"[1] उतनी ही श्रेष्ठता का स्थान कृष्ण-भक्त सूरदास का है। उनका अब्दुर्रहीम खानखाना से सम्पर्क था। वह अन्धे थे और आगरा में ही रहते थे। उन्होंने 'सूर-सागर' में जिन पदों का संग्रह किया है, वे

---

1 "Tulsi Das is the most important figure in the whole of the Indian literature." —*Grierson.*

भक्ति-रस की श्रेष्ठतम रचनाएँ मानी गयी हैं। उस समय में एक विशिष्ट स्थान मीरा बाई का भी है जिनके भजन हिन्दी-साहित्य में अभी तक महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। परन्तु अकबर के समय का हिन्दी-साहित्य अब्दुर्रहीम खानखाना और रसखान की रचनाओं को सम्मिलित किये बिना पूरा नहीं हो सकता। इनके अतिरिक्त अन्य बहुत से मुसलमानों ने भी हिन्दी-साहित्य की सेवा की। परन्तु अब्दुर्रहीम के सैकड़ों पद, दोहे और सतसैया तथा कृष्ण-भक्ति पर लिखे गये रसखान के भजन और 'प्रेमवाटिका' नामक काव्य-ग्रन्थ हिन्दी-साहित्य की अमूल्य निधियाँ हैं। अकबर का समय हिन्दी-साहित्य का स्वर्ण-काल था यह, निस्सन्देह, स्वीकार किया जा सकता है।

जहाँगीर और शाहजहाँ ने भी हिन्दू विद्वानों का सम्मान किया। जहाँगीर का भाई दानियाल हिन्दी में कविता करता था, और जहाँगीर के दरबार में वृक्षराय (बूटा), राजा सूरजसिंह, जदरूप गोसाईं, राय मनोहरलाल और बिशनदास जैसे हिन्दी के विद्वान थे। शाहजहाँ के काल में भी हिन्दी की काफी प्रगति हुई। सुन्दर कविराय जिन्होंने 'सुन्दर-शृंगार' लिखा, सेनापति जिन्होंने 'कवित्त रत्नाकर' लिखा, कवीन्द्र आचार्य जिन्होंने 'कवीन्द्र कल्पतरु' नामक कविता को मिश्रित अवधी और ब्रजभाषा में लिखा तथा शिरोमणि मिश्र, बनारसीदास, भूषण, मतिरांम, वेदांगराय, हरिनाथ, आदि हिन्दी के विद्वान शाहजहाँ से संरक्षण प्राप्त किये हुए थे। इनके अतिरिक्त कवि देव ने अनेक धार्मिक कविताओं की रचना की, पन्ना के प्राणनाथ ने जिन्होंने प्राणपंथी-सम्प्रदाय को आरम्भ किया और अहमदाबाद के दादू ने जिन्होंने दादूपंथी-सम्प्रदाय को आरम्भ किया, अनेक धार्मिक कविताओं की रचना की। हिन्दी के महान् कवि बिहारी को राजा जयसिंह से संरक्षण प्राप्त हुआ था। उनके द्वारा रचे गये दोहे अभी तक हिन्दी में श्रेष्ठ स्थान रखते हैं। इसी समय में महाकवि केशवदास ओरछा में हुए। उनके द्वारा रचित 'कविप्रिया', 'रसिकप्रिया' और 'अलंकार मंजरी' का हिन्दी-साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान है। औरंगजेब ने हिन्दी को संरक्षण नहीं दिया, परन्तु तब भी हिन्दू-राजाओं के संरक्षण और व्यक्तिगत प्रयत्नों से 18वीं सदी तक हिन्दी की निरन्तर प्रगति होती रही।

उस युग में, संस्कृत-साहित्य में श्रेष्ठ मौलिक रचनाओं का अभाव रहा परन्तु तब भी संस्कृत भाषा की स्थिति पहले के मुसलमानी काल से अच्छी रही। अकबर ने संस्कृत के विद्वानों का सम्मान किया। अबुल फजल ने उसके समय के संस्कृत के अनेक विद्वानों का उल्लेख किया है। उसके समय में संस्कृत और फारसी भाषा का एक कोश 'फारसी-प्रकाश' तैयार किया गया। अनेक हिन्दू और जैन आचार्यों ने संस्कृत के विभिन्न ग्रन्थों की रचना की। दरभंगा के महेश ठाकुर ने अकबर के समय के इतिहास को संस्कृत में लिखा, जैन विद्वान पद्मसुन्दर ने 'अकबरशाही शृंगार-दर्पण' को लिखा, जैन आचार्य सिद्धचन्द्र उपाध्याय ने 'भानुचन्द्र चरित्र' में अकबर के दरबार में गये जैन-साधुओं के बारे में लिखा और देवविमल तथा अन्य विद्वानों ने भी संस्कृत में अपनी रचनाएँ लिखीं। जहाँगीर और शाहजहाँ ने भी अकबर की परम्परा को यथावत् रखा। शाहजहाँ के समय तक राज-दरबार में संस्कृत के विद्वानों को आश्रय मिलता रहा। कवीन्द्र आचार्य सरस्वती और जगन्नाथ पण्डित राज्य के कवि थे और जगन्नाथ पण्डित ने 'रस गंगाधर' और 'गंगा-लहरी' की रचना की। औरंग-

3. संस्कृत-साहित्य

जेव ने संस्कृत को संरक्षण देना समाप्त कर दिया। हिन्दू राजाओं से इसे संरक्षण मिलता रहा, परन्तु बाद में इसकी प्रगति अच्छी न हो सकी।

तुर्क और अफगान-काल में ही उर्दू भाषा का निर्माण हो चुका था। पहले इसे 'जबान-ए-हिन्दवी' पुकारा गया था परन्तु बाद में उसका नाम उर्दू हो गया। उर्दू की उत्पत्ति के विषय में विभिन्न विद्वानों ने अपने भिन्न-भिन्न मत प्रकट किये हैं।

4. उर्दू-साहित्य

मुहम्मद हुसैन आजाद इसे फारसी और ब्रजभाषा के सम्पर्क का परिणाम मानते हैं, महमूद शेरानी ने इसे फारसी, पंजाबी तथा सिन्धी के सम्पर्क का परिणाम बताया है, डॉ. मसूद हुसैन ने इसे फारसी और हरियाणवी भाषा के सम्पर्क का परिणाम बताया है, डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव इसे दिल्ली और पश्चिमी उत्तर-प्रदेश में सदियों से बोली जाने वाली ऐसी भाषा मानते हैं, जिस पर फारसी भाषा का प्रभाव आया था। अमीर खुसरो पहला विद्वान था जिसने उर्दू भाषा को अपनी कविताओं का माध्यम बनाया। उसके पश्चात् सूफी सन्तों और भक्ति-मार्ग के कुछ सन्तों ने अपने विचारों के प्रचार के लिए इसका प्रयोग किया तथा इसे लोकप्रिय बनाने में सहायता दी। परन्तु उर्दू को किसी भी तुर्क या अफगान शासक ने मान्यता प्रदान नहीं की। शक्तिशाली मुगल बादशाहों ने भी उर्दू को कोई संरक्षण प्रदान नहीं किया। तब भी महान् मुगल-शासकों के समय में भी उर्दू के विख्यात विद्वान हुए। नूरी आजमपुरी, हजरत कमालुद्दीन मखदूम, शेख सीदी और मुहम्मद अफजल उर्दू के ऐसे विद्वान थे जो अकबर के समकालीन थे। शाहजहाँ के शासनकाल में हुए उर्दू के विद्वानों में नासिर अफजली और पं. चन्द्रभान प्रमुख थे। मुगल बादशाहों में मुहम्मदशाह (1719-48) पहला बादशाह था जिसने उर्दू को प्रोत्साहन दिया। उस समय तक दक्षिण-भारत के मुसलमानी राज्यों में यह भाषा लोकप्रिय हो चुकी थी। मुहम्मदशाह ने दक्षिण के प्रसिद्ध कवि शमसुद्दीन वली को अपने दरबार में बुलाकर सम्मानित किया। दक्षिण में गोलकुण्डा का सुल्तान, मुहम्मदकुली कुतुबशाह (1519-1555) उर्दू का एक बड़ा शायर (कवि) और विद्वान था। बीजापुर के सुल्तानों ने भी उर्दू भाषा को संरक्षण प्रदान किया। यूसुफ-वा-जुलेखामसनवी के लेखक दक्षिण-भारत में ही हुए। परन्तु औरंगाबाद का विद्वान वली (1668-1744 ई.) उर्दू के समकालीन विद्वानों में सर्वश्रेष्ठ था जिसने गजल, मसनवी, सबैयात आदि को सरल और स्वाभाविक उर्दू भाषा में लिखा। उसी ने मुगल-दरबार में उर्दू शायरी को आरम्भ किया। बहुत से शायरों ने उसकी शायरी की नकल करते हुए अपनी गज़लें आदि लिखीं। उर्दू के विद्वानों में हातिम, खान आर्जू, अबू और अजहर के नाम विख्यात हुए जिन्हें उत्तर-भारत में उर्दू-शायरी का पिता माना गया। 18वीं सदी के आरम्भ में दिल्ली उर्दू-साहित्य की शिक्षा का केन्द्र-स्थान बन गया और गालिब, शाह, नासिर आदि विद्वानों ने उर्दू-साहित्य को धनवान बनाया। उसके पश्चात् धीरे-धीरे फारसी भाषा को समझने की कठिनाई और बादशाहों के संरक्षण के कारण उर्दू लोकप्रिय भाषा बन गयी। धीरे-धीरे इसमें हिन्दी के शब्दों के प्रयोग को समाप्त कर दिया गया और फारसी भाषा के शब्दों को अधिक से अधिक लिया गया। इसमें अनेक लोकप्रिय शायर हुए, और दिल्ली तथा उत्तर-प्रदेश में यह भाषा बहुत लोकप्रिय हो गयी। 19वीं सदी में अंग्रेजों ने भी उर्दू को प्रोत्साहन दिया और उत्तर-भारत के पर्याप्त बड़े भाग में यह भाषा लोकप्रिय बन गयी तथा अनेक विद्वानों ने अपने लेखन से इसे साहित्यिक दृष्टि से समृद्ध बनाया।

उपर्युक्त भाषाओं के साहित्य के निर्माण के अतिरिक्त, मुगल-काल में विभिन्न प्रादेशिक भाषाओं, जैसे बंगाली, गुजराती, तमिल, तेलुगू, मराठी, पंजाबी, आदि भाषाओं की भी प्रगति हुई। भक्ति-मार्ग के विभिन्न प्रचारकों के अतिरिक्त प्रान्तीय सूबेदारों के संरक्षण और व्यक्तिगत प्रयत्न इनके विकास के लिए उत्तरदायी हुए। अनेक विद्वानों ने धार्मिक साहित्य और वीर-गाथाओं का निर्माण किया। पृथ्वीराज राठौर राजस्थानी का महान् कवि हुआ तथा बंगला-साहित्य में कृष्णदास कविराज और वृन्दावनदास ने महत्वपूर्ण कार्य किया।

5. बंगाली

सन्त चैतन्य ने बंगला-भाषा को उसका उचित स्थान दिलाने में बहुत सहायता की थी। उसके पश्चात् अनेक वैष्णव सन्तों और लेखकों ने बंगाली-सहित्य को धनवान बनाया। कृष्णदास कविराज, वृन्दावनदास, जयनन्द, त्रिलोचनदास और नरहरि चक्रवर्ती ने बंगाली में अनेक ग्रन्थों की रचना की जिनमें सन्त चैतन्य की जीवन-गाथा भी सम्मिलित थीं। कुछ विद्वानों ने रामायण, महाभारत और भागवद्-गीता का अनुवाद बंगाली में किया। अन्य विद्वानों ने चण्डीदेवी और मनसादेवी की उपासना करते हुए अनेक पुस्तकों की रचना की। बंगाली में काव्य-ग्रन्थ भी लिखे गये। बंगाली के कवियों में काशीरामदास, धनराम और मुकन्दरम चक्रवर्ती विख्यात हुए। इस प्रकार, इस काल में अनेक विद्वानों ने अपनी रचनाओं के द्वारा बंगाली-साहित्य को धनवान बनाया।

6. गुजराती

अकवर के शासनकाल में गुजराती का एक प्रख्यात सन्त और कवि अर्वा हुआ। उसने अनेक ग्रन्थों की रचना गुजराती भाषा में की जिनमें **चित्त-विचार-संवाद, शतपथ और केवल्य-गीता** अत्यधिक विख्यात हुए। उसके पश्चात् कविभट्ट परमानन्द ने अपनी रचनाओं के द्वारा गुजराती-साहित्य को श्रेष्ठ बनाया। यह विश्वास किया गया है कि उसने छत्तीस ग्रन्थों की रचना की थी। उसी प्रकार गुजराती भाषा का एक महान् कवि सामल भट्ट हुआ। वह औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् हुआ था। उसने पौराणिक गाथाओं और कहानियों को कविता के रूप में प्रस्तुत किया। उसकी कहानियों की पुस्तकों में **मदनमोहन** और **सामल-रत्नामल** गुजरात में आधुनिक समय में भी लोकप्रिय हैं। उपर्युक्त विद्वानों के पश्चात् भी गुजराती भाषा के अनेक अन्य विद्वानों ने भी गुजराती-साहित्य की प्रगति में भाग लिया। इसके अतिरिक्त, गुजराती भाषा में 18वीं सदी में **गर्भा-साहित्य** का भी निर्माण हुआ। **गर्भा-साहित्य** देवी अम्बा या दुर्गा की स्तुति में लिखी गयी कविताओं का संग्रह है जो आधुनिक समय में भी गुजरात में काफी लोकप्रिय है।

7. मराठी

मराठी-साहित्य के निर्माण में भी मुख्यतया भक्ति-मार्ग के समर्थक सन्तों ने ही भाग लिया। एकनाथ, मुक्तेश्वर, वामन पण्डित, तुकाराम, रामदास, मोरोपन्त, श्रीधर स्वामी, आदि अनेक सन्तों ने अपनी रचनाओं के द्वारा मराठी-साहित्य को धनवान बनाया। श्रीधरस्वामी ने **रामायण** और **महाभारत** की गाथाओं को अपनी रचनाओं का आधार बनाया। उसकी रचनाओं में से **हरी-विजय, राम-विजय, पाण्डव-प्रताप** और **शिवलीलामृत** बहुत विख्यात हुए। उसके पश्चात् मुक्तेश्वर ने अपनी प्रसिद्ध **रामायण** की रचना की। अमृतराय महीपति और रघुनाथ पण्डित ने भी

अपनी रचनाओं द्वारा गुजराती-साहित्य की प्रगति में भाग लिया। रामदास न केवल एक महान् सन्त हुए अपितु महान् कवि भी। उसकी एक महान् रचना **दासबोध** थी। वामन पण्डित कृष्ण-भक्ति के एक महान् सन्त हुए। उसकी महान् रचना **यामक-अलंकार** थी। एक अन्य महान् कवि मोरोपन्त था जो राम-भक्त था और जिसने **केकावली** नामक ग्रन्थ को लिखा। तुकाराम महाराष्ट्र के एक महान् सन्त और कवि हुए जिनके **अभंग** अभी तक महाराष्ट्र में गाये जाते हैं। 18वीं सदी में मराठी-साहित्य में **पाँवडाओं** अर्थात् शौर्य-कविताओं की रचना बहुत बड़ी संख्या में हुई। अनेक कवियों ने उनकी रचना की और गाया जिससे मराठा-सैनिकों को युद्ध के लिए प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। **पाँवडाओं** की रचना करने वाले कवियों में होनाजीवाल, रामजोषी, सगन, भाऊ, प्रभाकर, परशराम, आदि बहुत विख्यात् हुए। इस प्रकार, इस काल में मराठी-साहित्य की पर्याप्त प्रगति हुई।

इस प्रकार, मुगल-काल में साहित्यिक दृष्टि से बहुत उन्नति हुई और इस दृष्टि से यह युग भारतीय इतिहास में गौरवपूर्ण माना गया है।

[6]

कला

ललित-कलाओं के विकास की ओर मुगल बादशाहों ने पूर्ण ध्यान दिया। उनमें श्रेष्ठ स्थान स्थापत्य-कला (भवन-निर्माण-कला) का है। मुगल बादशाहों को इमारतें बनवाने का शौक था। शाहजहाँ के समय तक अनेक ऐसी इमारतों का निर्माण हुआ जो अभी तक स्थापत्य-कला के उत्कृष्ट नमूने माने जाते हैं। जिस कला को मुगल-स्थापत्य पुकारा गया है, वह मध्य-एशिया की इस्लामी कला और भारतीय हिन्दू-कला का मिश्रित रूप है। अकबर ने इस कला के निर्माण में सहयोग दिया। जिस प्रकार राजनीतिक क्षेत्र में अकबर का दृष्टिकोण राष्ट्रीय था, उसी प्रकार ललित-कलाओं के क्षेत्र में भी उसका दृष्टिकोण राष्ट्रीय रहा और उसने इच्छा और सुविधा के अनुसार हिन्दू-कला और कलाकारों का उपयोग अपनी इमारतें बनवाने के लिए किया। उससे पहले के दिल्ली के सुल्तानों के समय में भी इस्लामी कला को हिन्दू-कला प्रभावित कर चुकी थी। अकबर की उदारता ने उसे और आगे बढ़ा दिया। हिन्दू कलाकारों का बहुसंख्यक होना और भारतीय जलवायु के अनुकूल इमारतों का निर्माण करना भी इस्लामी और हिन्दू-कला के मिश्रण के लिए उत्तरदायी हुए। इस प्रकार, अकबर के समय से इस्लामी और हिन्दू-कला के मिश्रण से जिस स्थापत्य-कला का विकास हुआ, उसे राष्ट्रीय स्थापत्य-कला स्वीकार किया जा सकता है। इस कला में इस्लामी कला से गोल गुम्बद, ऊँची-ऊँची मीनारें और मेहराबें तथा हिन्दू-कला से चौरस छतें, खम्भे और नुकीली मेहराबें ली गयीं। आरम्भ में इसमें लाल पत्थर का प्रयोग किया गया तथा इमारतों को विशाल एवं दृढ़ बनाने पर बल दिया गया लेकिन बाद में इमारतों में सफेद संगमरमर के प्रयोग को सम्मिलित किया गया तथा उन्हें नक्काशी, सोने-चाँदी के पानी के प्रयोग और रंगीन बेल-बूटों, आदि के द्वारा अत्यधिक सुन्दर बनाने का प्रयत्न किया गया। यह सभी कुछ मिलाकर मुगल स्थापत्य-कला श्रेष्ठ बनी और उस समय में भव्य इमारतों का निर्माण हुआ।

1. स्थापत्य-कला

प्रथम मुगल बादशाह बाबर इमारतें बनवाने का शौकीन था। उसने भारत

में पाया कि मजदूरी बहुत सस्ती है। अतः उसके समय में हजारों मजदूरों ने आगरा, बयाना, धौलपुर, आदि स्थानों पर इमारतें बनाने का कार्य किया। बाबर राजा मानसिंह और राजा विक्रमजीत द्वारा बनवायी गयी ग्वालियर की इमारतों से बहुत प्रभावित हुआ था। यद्यपि कला का पारखी होने के कारण वह उनके दोषों को भी समझ सका था। अपने थोड़े समय में बाबर ने बड़ी इमारतों को बनवाने का कार्य नहीं किया। उसने कुएँ; तालाब; फव्वारे, स्नानगृह, आदि ही बनवाये जो समय के प्रभाव के कारण नष्ट हो गये अथवा सूर-वंश के शासकों द्वारा नष्ट कर दिये गये। उसके समय की केवल तीन मस्जिदें प्राप्त होती हैं। उसके द्वारा बनवायी गयीं एक मस्जिद पानीपत में काबुलीबाग में है और दूसरी रुहेलखण्ड में सम्भल में। ये दोनों मस्जिदें 1529 में तैयार की गयी थीं। उसके समय की तीसरी मस्जिद अयोध्या में है। परन्तु इन तीनों में से कोई भी कला का श्रेष्ठ नमूना नहीं मानी जा सकती। हुमायूँ भी इस कला के विकास की दृष्टि से कोई सराहनीय कार्य नहीं कर सका। 'दीन-पनाह' नामक उसका महल शेरशाह के द्वारा नष्ट कर दिया गया था और आगरा तथा फतहाबाद में बनवायी गयी उसकी दो मस्जिदें कला के अच्छे नमूने नहीं मानी जा सकतीं।

शेरशाह द्वारा बनाया गया सहसराम (बिहार) का अपना स्वयं का मकबरा मुगल इमारतों में सम्मिलित नहीं किया जा सकता। परन्तु वह उस युग की कला का एक श्रेष्ठतम नमूना है। एक विशाल झील के मध्य में बने हुए शेरशाह के इस मकबरे को उसके 'व्यक्तित्व का प्रतीक', 'तुगलक बादशाहों की इमारतों की सादगी और शाहजहाँ की इमारतों की स्त्रियोचित सुन्दरता के बीच की कड़ी', 'उत्तर-भारत की इमारतों में एक श्रेष्ठ इमारत', आदि पुकारा गया है। हिन्दू और इस्लामी कलाओं का प्रभाव इसमें स्पष्ट है। दिल्ली में 'पुराना किला' और उसमें बनी हुई मस्जिद भी शेरशाह ने बनवायी थी, परन्तु 'पुराना किला' के अब अवशेष ही हैं।

अकबर के समय में बनी हुई सबसे पहली इमारत दिल्ली में बना हुआ हुमायूँ का मकबरा है। इसे अकबर की सौतेली माँ हाजी बेगम ने फारसी कलाकार मीरक मिर्जा गियास की सेवाएँ उपलब्ध करके बनवाया था। इस पर फारसी कला का स्पष्ट प्रभाव है। लम्बी गर्दन वाले गुम्बद की बनायी जाने वाली इमारत की कला की समता समरकन्द में बने हुए तैमूर या बीबी खानम के मकबरे से की जा सकती है। इस इमारत के बनवाने में अकबर का हाथ न था। इसके पश्चात् बनी हुई सभी इमारतों पर अकबर के व्यक्तित्व और विचारों की छाप है। अकबर के समय में आगरा, लाहौर और इलाहाबाद के किले बनवाये गये, उनमें बहुत-सी इमारतें बनवायी गयीं और फतेहपुरसीकरी के नगर और उसमें अनेक इमारतों का निर्माण किया गया। आगरा और लाहौर के किले तथा फतेहपुरसीकरी की अनेक इमारतें अब भी मौजूद हैं लेकिन इलाहाबाद के किले की बहुत-सी इमारतें नष्ट हो गयी हैं। इन सभी इमारतों के बनाने में लाल पत्थर का प्रयोग किया गया है। इनमें हिन्दू तथा इस्लामी कलाओं का खुलकर प्रयोग हुआ है। आगरा का किला करीब 15 वर्षों में बना और इसी के साथ-साथ लाहौर के किले का भी निर्माण हुआ। इलाहाबाद का किला कुछ समय बाद का है। इनकी दीवारें इतनी सुदृढ़ बनायी गयी हैं कि पत्थरों के जोड़ों के बीच में से एक पतला बाल भी नहीं निकल सकता। आगरा के किले में पहले चार प्रवेश-द्वार थे परन्तु दो बाद में बन्द कर दिये गये। बाकी के दो द्वारों में से एक

दिल्ली-द्वार और दूसरा अमरसिंह-द्वार कहलाता है। किले का घेरा प्रायः 1/2 मील है जिसमें अकबर ने करीब 500 इमारतों को बनवाया था। इनमें से बहुत-सी इमारतों को शाहजहाँ ने तुड़वाकर दुबारा बनवाया अथवा उनके स्वरूप को बदल दिया। इनमें से प्रमुख जहाँगीर महल और अकबरी महल हैं। आगरा के किले की साधारण रूपरेखा राजा मानसिंह द्वारा बनाये गये ग्वालियर के किले से मिलती है और इसमें बनी इमारतें भी हिन्दू-कला से प्रभावित हैं। लाहौर के किले की रूपरेखा भी आगरा के किले के समान है यद्यपि उसकी इमारतों में सजावट अधिक की गयी है। परन्तु अकबर की सुन्दरतम इमारतें फतेहपुरसीकरी में बनायी गयीं। यद्यपि आधुनिक समय में फतेहपुरसीकरी एक उजड़ा हुआ स्थान है लेकिन अकबर की कला को देखने के लिए बड़ी दूर-दूर से व्यक्ति वहाँ जाते हैं। वहाँ की इमारतों में दीवान-ए-आम, दीवान-ए-खास, पंचमहल, तुर्की-सुल्ताना का महल, खास-महल, जोधाबाई-महल, मरियम-महल, बीरबल-महल, हीरन-महल, जामी-मस्जिद, हाथी-पोल, बुलन्द-दरवाजा और शेख सलीम चिश्ती का मकबरा है। इनके अतिरिक्त, वहाँ और भी सैकड़ों इमारतें हैं। ये सभी सुन्दर हैं और सम्भवतया, एक ही स्थान पर इतनी सुन्दर इमारतों का किसी अन्य स्थान पर पाया जाना सम्भव नहीं है। पाँच मन्जिलों के पंचमहल में जितने भी स्तम्भ हैं वे सभी विविध रूपों के हैं। प्रत्येक स्तम्भ की सजावट एक-दूसरे से भिन्न है और उनमें प्रायः कलश, घण्टियाँ, विभिन्न फूल और पत्तों को बनाया गया है। तुर्की सुल्ताना का महल इतना सुन्दर है कि पर्सी ब्राउन ने उसे 'स्थापत्य-कला का मोती' कहा है। जोधाबाई का महल यह संकेत देता है कि रहने के लिए मुगल परिवार के सदस्य किस प्रकार की व्यवस्था को पसन्द करते थे। अकबर की पत्नी मरियम के महल पर फारसी-कला का प्रभाव है। उसके स्तम्भ और दीवारें बन्दर, हाथी, चीता, आदि जैसे जानवरों और विभिन्न रंगों के पत्थरों में मानव-आकृतियों से सजाई गयी थीं। जामी-मस्जिद भारत में बनी हुई मस्जिदों में एक श्रेष्ठ स्थान रखती है। भूमि से 176 फीट ऊँचा और पहले चबूतरे से 134 फीट ऊँचा बुलन्द-दरवाजा स्वयं ही एक विशाल और सुन्दर इमारत माना जा सकता है। शेख सलीम चिश्ती की कब्र पर सीपियों से बने हुए स्तम्भ सौन्दर्य की दृष्टि से श्रेष्ठ स्थान रखते हैं। निस्सन्देह, फतेहपुरसीकरी में बनी हुई इमारतें मुगल-कला की इमारतों में बहुत श्रेष्ठ मानी गयी हैं। इतिहासकार स्मिथ ने लिखा है : "फतेहपुरसीकरी के समान न तो उससे पहले ही कुछ बन सका और न उसके बाद कुछ बनना सम्भव है। वह पत्थरों में ढाला गया एक 'रोमान्स' है ..।"[1] इसी प्रकार फर्ग्यूसन ने लिखा है : "उन सभी को एक इकाई मानकर, फतेहपुरसीकरी का यह महल पत्थर में ढाला गया 'रोमान्स' है जिसका उदाहरण बहुत ही कम अन्य स्थानों पर पाया जा सकता है। यह उस महान् व्यक्ति के मस्तिष्क का प्रतिबिम्ब है जिसने उसे एक ऐसा पृथक स्वरूप प्रदान किया जैसाकि सरलता से किसी अन्य स्रोत से प्राप्त नहीं किया जा सकता।"[2] अकबर ने अटक,

---

1 "Nothing like Fatehpur Sikri ever was created before or can be created again. It is 'a romance in stone'." —*V. A. Smith.*

2 "Talking it altogether, this palace at Fatehpur Sikri is romance in stone, such few, very few are to be found anywhere, and it is a reflex of the mind of the great man who built it more distinct than can easily be obtained from any other source." —*Fergusson.*

मेड़ता, आमेर, आदि अन्य स्थानों पर भी कुछ किले, मस्जिदें, फव्वारे, आदि बनवाये थे।

जहाँगीर को स्थापत्य-कला के स्थान पर चित्र-कला और बगीचे लगाने का शौक था। तब भी उसके समय में कुछ इमारतों का निर्माण हुआ। इसके अतिरिक्त, स्थापत्य-कला ने उसके समय में एक नवीन मोड़ लिया है। सफेद संगमरमर का प्रयोग और उस पर अधिकतम पच्चीकारी, जो शाहजहाँ के समय में श्रेष्ठता की स्थिति में पहुँच गयी, जहाँगीर के समय में आरम्भ होती है। जहाँगीर के समय में बनी हुई सबसे पहली इमारत आगरा के निकट सिकन्दरा में अकबर का मक़बरा है। इसकी योजना अकबर ने बनायी थी, परन्तु जहाँगीर ने उसमें थोड़ा परिवर्तन किया और उसे पूर्ण किया। चारों तरफ से एक मील के घेरे में फैले हुए एक विस्तृत बगीचे के मध्य में बना यह पाँच मंजिल का मकबरा अकबर के विशाल और उदार हृदय का प्रतीक है। दक्षिण की तरफ इसका प्रवेश-द्वार है और इसके चारों कोनों पर चार संगमरमर से बने हुए गुम्बद हैं। पाँच मंजिल पाँच चबूतरों पर बनी हुई हैं जिनमें से प्रत्येक ऊपर की मंजिल नीचे की मंजिल से छोटी होती चली गयी है। सबसे ऊपर की मंजिल में संगमरमर से बनी हुई दीवारों से घिरा एक आँगन है जिसमें फारसी में अकबर के शासन की प्रशंसा में लिखे गये 36 दोहे-(दो पंक्ति की कविताएँ) हैं। इस इमारत के ऊपर कोई गुम्बद नहीं दिया गया है। अकबर के मक़बरे की योजना सरल और सादा होते हुए भी बहुत प्रभावशाली है। हावेल ने लिखा है, "अकबर का मकबरा भारत के महान् शासकों में से एक महान् शासक के लिए उपयुक्त मकबरा है।"[1] इसे इस्लामी, हिन्दू, ईसाई और और इनमें भी बौद्ध-कला का एक मिश्रित स्वरूप माना जा सकता है। जहाँगीर के समय की दूसरी इमारत लाहौर में बना अपना स्वयं का मकबरा है। परन्तु यह बहुत प्रभावशाली नहीं है। जहाँगीर के समय में बनी हुई एक महत्वपूर्ण इमारत आगरा का एत्मातुद्दौला का मकबरा है। इसे नूरजहाँ ने अपने पिता एत्मातुद्दौला की कब्र पर बनवाया था। मकबरे का मुख्य भाग पूर्णतया सफेद संगमरमर का बना हुआ है और इस ढंग की बनी हुई यह पहली मुगल इमारत है। अधिकतम पच्चीकारी की गयी है और संगमरमर के अतिरिक्त अन्य कीमती पत्थरों का प्रयोग भी किया गया है। दो मंजिल की यह इमारत एक विस्तृत बगीचे के मध्य में बनी हुई है। यह मकबरा अकबर और शाहजहाँ के समय के मध्य की कड़ी है। यह इतना सुन्दर है कि अनेक व्यक्ति इसे मुगल इमारतों में ताजमहल के बाद दूसरा स्थान प्रदान करते हैं। पर्सी ब्राउन ने इसे "अपनी तरह की इमारतों में सबसे अधिक पूर्ण"[2] माना है।

शाहजहाँ के समय में मुगल स्थापत्य-कला अपनी श्रेष्ठता पर पहुँच गयी। सफेद संगमरमर और अन्य कीमती पत्थरों का प्रयोग, अधिकतम पच्चीकारी, कीमती रंगों का प्रयोग, आदि इस समय की कला की विशेषता बन गये। उसकी इमारतों से ऐसा अनुभव होता है जैसे जौहरी और चित्रकार के कार्यों को पत्थरों में जड़ दिया गया हो। शाहजहाँ को स्थापत्य-कला का शौक था। उसने न केवल नवीन इमारतों

---

1 "Akbar's tomb is a worthy monument of one of the greatest of Indian rulers." —*E. B. Havell.*

2 "One of most perfect of its kinds." —*Percy Brown.*

का ही निर्माण कराया बल्कि आगरा और लाहौर के किले में उसने अकबर द्वारा बनवायी गयी कई इमारतों को तुड़वाकर नवीन इमारतें बनवायीं। आगरा के किले में दीवान-ए-आम, दीवान-ए-खास, मच्छी भवन, शीशमहल, खासमहल, अंगूरीबाग, झरोखा-दर्शन का स्थान, शाह-बुर्ज, मोती-मस्जिद, नगीना-मस्जिद आदि, आगरा में ही जामा-मस्जिद, दिल्ली की जामा-मस्जिद तथा लाल किला और उसमें बनी हुई इमारतें जैसे दीवान-ए-आम, दीवान-ए-खास, मोतीमहल, हीरामहल, रंगमहल, नहर-ए-बहिश्त, आदि और लाहौर के किले में दीवान-ए-आम, शाह-बुर्ज, शीशमहल, नौलखामहल और ख्वाबगाह, आदि शाहजहाँ के समय की मुख्य इमारतें हैं। इनके अतिरिक्त काबुल, कश्मीर, अजमेर, कन्धार, अहमदाबाद, आदि विभिन्न स्थानों में भी शाहजहाँ ने अनेक मस्जिद-मकबरे, आदि बनवाये थे। परन्तु शाहजहाँ की सबसे श्रेष्ठ इमारत आगरा में अपनी बीबी मुमताजमहल की याद में बनवाया गया संसार-प्रसिद्ध ताजमहल है जिसे 22 वर्षों में लगभग 9 करोड़ रुपये की लागत से बनवाया गया। शाहजहाँ के द्वारा बनवायी गयी आगरा के किले की सभी इमारतें बहुत सुन्दर हैं परन्तु इनमें श्रेष्ठतम स्थान मोती-मस्जिद का है। दूध की तरह सफेद संगमरमर से बनी हुई यह मस्जिद अपने नाम 'मोती' की भाँति ही है। आगरा की जामा-मस्जिद शाहजहाँ की बड़ी पुत्री जहाँआरा के द्वारा बनवायी गयी। दिल्ली के लाल किले की इमारतें, उनमें पानी और फव्वारों का प्रबन्ध, आदि इतना सुन्दर था कि जैसा वहाँ एक जगह लिखा हुआ है—"अगर भूमि पर कहीं स्वर्ग है तो वह यहीं है, यहीं है, यहीं है,"[1] स्वीकार करना पड़ता है। परन्तु ताजमहल का स्थान इन सभी इमारतों में श्रेष्ठ है। एक विस्तृत बगीचे के उत्तरी भाग में सफेद संगमरमर की बनी हुई यह इमारत संसार की श्रेष्ठ-तम इमारतों में स्थान रखती है। भूमि से 22 फीट ऊँचे संगमरमर के ही चबूतरे पर बनी हुई यह इमारत करीब 109 फीट ऊँची है यद्यपि इसका मुख्य गुम्बद 187 फीट ऊँचा है। चबूतरे के चारों कोनों पर चार सफेद मीनारें हैं और इसकी बगल से यमुना नदी बहती है। मध्य के ऊपरी भाग में मुमताजमहल और शाहजहाँ की नकली कब्रें हैं और नीचे के भाग में उन दोनों की असली कब्रें हैं। सुन्दर पच्चीकारी से अलंकृत जालियाँ, बेल-बूटों से सजी हुई दीवारें तथा लम्बाई-चौड़ाई और ऊँचाई के ध्यान से इमारत का एक इकाई का रूप प्रदान करने वाली कला न केवल ताजमहल के सौन्दर्य को बढ़ाने वाली है अपितु ताजमहल एक सम्पूर्ण इकाई के रूप में संगमर-मर में ढाला गया एक स्वप्न है जो एक महान् सौन्दर्य का प्रतीक माना जाता है। शाह-जहाँ मुमताजमहल के सौन्दर्य को एक सुन्दर मूर्ति में तो नहीं ढाल सकता था क्योंकि यह इस्लाम धर्म के विरुद्ध था परन्तु उसने उसके सौन्दर्य को ताजमहल का निर्माण करके व्यक्त कर दिया। इसी कारण, हावेल उसे "भारतीय नारीत्व की साकार प्रतिभा" पुकारता है। उसने लिखा है : "यह एक ऐसा महान् आदर्श विचार है जो स्थापत्य-कला से नहीं बल्कि मूर्ति-कला से सम्बन्धित है।"[2] ताजमहल के निर्माण की योजना के बारे में यह धारणा गलत सिद्ध कर दी गयी है कि इसके नक्शे को बनाने में किसी यूरोपियन कलाकार ने सहयोग दिया था। यह प्रमाणित हो चुका है कि

---

1 "If there be a paradise on earth, it is this, it is this, it is this."
2 "It is a great ideal conception which belongs more to sculpture than to architecture." —*E. B. Havell.*

इसका मुख्य कलाकार उस्ताद अहमद लाहौरी था जिसे शाहजहाँ ने 'नादिर-उल-असर' की उपाधि से अलंकृत किया था।

औरंगजेब को ललित-कलाओं में कोई रुचि न थी। उसके समय में किसी भी श्रेष्ठ इमारत का निर्माण नहीं हुआ। उसके पश्चात् मुगल स्थापत्य-कला को विकास का अवसर प्राप्त नहीं हुआ और वह निरन्तर गिरती चली गयी। विभिन्न प्रान्तों और बाद में बने हुए स्वतन्त्र राज्यों में अनेक इमारतें बनीं, परन्तु उनमें से अधिकांश नष्ट हो गयीं। उनमें से बची इमारतों में श्रेष्ठ स्थान ग्वालियर के मान-मन्दिर, वृन्दावन के गोविन्ददेव के मन्दिर, जयपुर के हवा-महल, बीजापुर के गोल गुम्बद और अमृतसर के स्वर्ण-मन्दिर का है।

इस प्रकार, मुगल-काल में स्थापत्य-कला की श्रेष्ठतम उन्नति हुई और भव्य महल, मकबरे, मस्जिदें, आदि बनीं। मुगल स्थापत्य-कला अपने में श्रेष्ठतम रही और उसने विभिन्न प्रान्तीय स्थापत्य-कलाओं को प्रभावित किया। यह कहना भूल होगी कि मुगलों की स्थापत्य-कला मूलतया विदेशी थी। यह कहना अधिक सत्य है कि मुगल स्थापत्य-कला की अपनी पृथक् विशेषता थी और विदेशी प्रभावों को अपने में सम्मिलित करते हुए उसका मूल स्वरूप भारतीय था। मुगलों की बनवायी हुई इमारतें तुर्की, फारस और मध्य-एशिया की इमारतों से भिन्न हैं। ताजमहल का निर्माण केवल भारत में ही हो सकता था और उसकी नकल करने का प्रयत्न किसी अन्य स्थान पर सम्भव नहीं हुआ। ताजमहल भारतीय मुगल स्थापत्य-कला का नमूना है और इस कारण उसकी अपनी पृथक् विशेषता है और इसी कारण यह संसार में प्रसिद्ध है।

2. चित्र-कला

हिन्दू-काल में भारत में चित्र-कला में बहुत उन्नति हुई थी तथा हिन्दू और बौद्ध धर्म के विदेशों में प्रचार होने से उसने एशिया के विभिन्न देशों की चित्र-कला को प्रभावित किया था। परन्तु बाद के समय में इसकी प्रगति सम्भव न हो सकी तथा मुसलमान सुल्तानों के समय में यह प्रायः लुप्त हो गयी। मुगल बादशाहों ने चित्र-कला को पुनः जीवित किया और एक बार फिर उसे श्रेष्ठ स्थिति में पहुँचा दिया।

मुगल चित्र-कला का जो स्वरूप बना, वह फारस और भारतीय चित्र-कला का मिश्रित रूप है। मंगोलिया और चीन की चित्र-कला को पहली बार फारस के मुसलमान शासकों ने संरक्षण प्रदान किया अन्यथा इस्लाम धर्म में चित्र-कला का निषेध होने के कारण मुसलमान शासक इसको प्रोत्साहन नहीं देते थे। धीरे-धीरे फारस ने अपनी चित्र-कला को विदेशी प्रभावों से मुक्त कर लिया और एक स्वतन्त्र फारसी चित्र-कला का निर्माण किया। बाबर और हुमायूँ का इसी फारसी चित्र-कला से सम्पर्क हुआ और उन्होंने उसे भारत में लाने का प्रयत्न किया। अकबर ने चित्र-कला की प्रगति कराने में विदेशी कलाकारों की सहायता ली, परन्तु वह उसी से सन्तुष्ट न रह सका। उसने भारतीयों को प्रोत्साहन दिया और उसके दरबार में अनेक कलाकारों को संरक्षण प्राप्त हुआ। इससे फारसी और भारतीय कला का मिश्रण हुआ और उस शैली का निर्माण हुआ जिसे मुगल चित्रकला-शैली के नाम से पुकारा गया। धीरे-धीरे यह शैली फारस की कला के प्रभाव से मुक्त होती गयी और उस पर भारतीय प्रभाव

अधिक हो गया। इस कारण, मुगल-चित्रकला का स्वरूप राष्ट्रीय हो गया जिसके कारण यह कहा गया है कि अकबर ने राष्ट्रीय चित्र-कला-शैली का निर्माण किया। जहाँगीर के समय में यह कला अपनी श्रेष्ठता पर पहुँच गयी। शाहजहाँ ने भी इसे संरक्षण दिया, यद्यपि उसकी रुचि स्थापत्य-कला में अधिक थी। औरंगजेब ने चित्र-कला को धर्म के विरुद्ध मानकर दरबार से हटा दिया और अनेक चित्र नष्ट कर दिये। उत्तरकालीन मुगल बादशाह भी इस कला को प्रोत्साहन देने की स्थिति में नहीं रहे और चित्र-कला मुगल दरबार से संरक्षण न पा सकी। परन्तु उस समय तक प्रान्तों में चित्र-कला का विकास हो गया था और विभिन्न हिन्दू राजाओं और मुसलमान सूबेदारों अथवा स्वतन्त्र शासकों के संरक्षण में चित्र-कला पनपती रही, विभिन्न शैलियों का निर्माण हुआ और चित्र-कला को भारत में स्थायित्व प्राप्त हो गया।

बाबर और हुमायूँ को चित्र-कला में रुचि थी और वे इस विषय में इस्लाम के निषेध को स्वीकार करने के लिए तत्पर न थे। हुमायूँ जब फारस गया तब वह हिरात के प्रसिद्ध चित्रकार बिहज़ाद के शिष्य ख्वाजा अब्दुल समद और मीर सैयद अली के सम्पर्क में आया और उसने उन्हें अपने यहाँ आने के लिए आमन्त्रित किया। हुमायूँ जब काबुल में ही था, तभी वे दोनों उसके पास पहुँच गये थे। हुमायूँ और अकबर ने ख्वाजा समद से चित्रकारी की शिक्षा ग्रहण की।

जब अकबर बादशाह बना तो उसने चित्र-कला को बहुत प्रोत्साहन दिया। उसने अब्दुल समद के नेतृत्व में चित्र-कला का एक पृथक विभाग खोला। पुस्तकों के लिए ही नहीं बल्कि फतेहपुरसीकरी के महलों की दीवारों पर भी उसने चित्र बनाने की आज्ञा दी। उसने चीन और फारस के विभिन्न कलाकारों को दरबार में आमन्त्रित किया, अनेक भारतीयों को कला की शिक्षा की सुविधा दी, उनको संरक्षण दिया और प्रत्येक की रुचि और योग्यता के अनुसार उन्हें कार्य दिया। अकबर के इन प्रयत्नों से सैंकड़ों कलाकारों को प्रोत्साहन प्राप्त हुआ, अनेक चित्रों का निर्माण हुआ और एक राष्ट्रीय चित्रकला-शैली का विकास हुआ। अकबर के दरबार में प्राय: 100 अच्छे चित्रकार थे जिसमें 17 को दरबार में प्रमुख स्थान प्राप्त था। इनमें विदेशी फारसी चित्रकार भी थे, जबकि भारतीय मुसलमान चित्रकारों में से अब्दुल समद, फर्रुखबेग, जमशेद आदि मुख्य थे और हिन्दू चित्रकारों में दसवन्त, बसावन, साँवलदास, ताराचन्द, जगन्नाथ, लाल, मुकन्द, हरिबंश, आदि प्रमुख माने जाते थे। इस प्रकार, अकबर ने मुगल चित्रकला-शैली को भारत में स्थापित कर दिया, उसकी प्रगति की और उसकी उन्नति के मार्ग को खोल दिया।

जहाँगीर चित्र-कला का शौकीन और पारखी दोनों ही था। उसके समय में मुगल-चित्र-कला अपनी उन्नति की चरम सीमा पर पहुँच गयी। जहाँगीर ने अपने बगीचे में एक चित्र-कला-कक्ष का निर्माण किया था। उसी प्रकार विभिन्न महलों में भी कला-कक्ष रहे होंगे, यह माना जा सकता है। जहाँगीर के समय में चित्र-कला की उन्नति का एक कारण कलाकारों को संरक्षण प्रदान करना था तो दूसरा कारण उसकी कला के प्रति रुचि और उसका अच्छा ज्ञाता होना था। अपनी आत्मकथा 'तुज़ुक-ए-जहाँगीरी' में उसने लिखा : "कला में मेरी रुचि और ज्ञान इस सीमा तक पहुँच गया है कि यदि मेरे सम्मुख किसी मृत अथवा जीवित चित्रकार की कलाकृति प्रस्तुत की जाती है और मुझे उस चित्रकार का नाम नहीं बताया जाता है तब भी मैं तुरन्त बता देता हूँ कि यह अमुक व्यक्ति के द्वारा किया गया कार्य है। यदि

एक ही चित्र में विभिन्न कलाकारों के द्वारा विभिन्न आकृतियाँ बनायी गयी हों तो मैं यह पता लगा सकता हूँ कि अमुक आकृति अमुक चित्रकार ने बनायी है। यदि एक चित्रकार ने चेहरा बनाया हो और उस चेहरे में आँखें और भौंहें किसी अन्य चित्रकार ने बनायी हों तो मैं यह बता सकता हूँ कि अमुक चित्रकार ने मूल चेहरा और अमुक चित्रकार ने आँखें और भौंहें बनायी हैं।"[1] जहाँगीर के इस कथन को यदि अतिशयोक्ति भी मान लिया जाय तब भी यह उसकी रुचि का प्रतीक है। अच्छे से अच्छे चित्रकार जहाँगीर के दरबार में एकत्रित थे जिन्होंने अकबर के समय में आरम्भ किये गये कार्य को पूर्णता प्रदान करने में सफलता प्राप्त की। अबुल हसन को 'नादिर-उल-जमात' और मंसूर को 'नादिर-उल-असर' की उपाधियाँ दी गयी थीं। आगा रजा, मुहम्मद नादिर, मुहम्मद मुराद, विशनदास, मनोहर माधव, तुलसी, गोवर्धन, आदि उसके दरबार के प्रमुख चित्रकार थे।

शाहजहाँ को चित्र-कला की तुलना में स्थापत्य-कला का अधिक शौक था। परन्तु उसने भी चित्र-कला को संरक्षण दिया। उसके समय में आकृति-चित्रण और रंग-सामंजस्य में कमी आ गयी परन्तु रेखांकन और बोर्डर बनाने में उन्नति हुई। फकीर उल्ला, मीर हाशिम, अनूप, चित्रा, आदि उसके दरबार के मुख्य चित्रकार थे। उसके समय में चित्रकारों की संख्या कम हो गयी और चित्र-कला की अवनति हुई। औरंगजेब ने चित्र-कला का विरोध किया और उसने अनेक स्थानों के चित्रों को नष्ट किया। मुगल दरबार से हटकर चित्रकार विभिन्न प्रान्तों में फैल गये। इससे चित्रकारी की हानि भी हुई परन्तु लाभ भी हुआ। चित्र-कला के विभिन्न स्वरूप हो गये और चित्र-कला जन-जीवन के अधिक निकट हो गयी। बादशाह फर्रुखसियर और बादशाह मुहम्मद ने भी चित्र-कला को संरक्षण दिया था परन्तु उस समय मुगल बादशाहों की स्थिति ऐसी न थी कि वे इस पर अधिक धन व्यय कर पाते। इस कारण; मुगल-चित्र-कला का पतन हो गया। 18वीं सदी के अन्त तक उस पर यूरोपियन चित्र-कला का प्रभाव भी आने लगा जो उसके लिए हानिकारक सिद्ध हुआ और मुगल-चित्र-कला अपने मूल स्वरूप से पृथक हो गयी।

मुगल-चित्र-कला ने एक समय में बहुत उन्नतिशील स्थान प्राप्त किया और भारतीय चित्र-कला के इतिहास में उसका स्थान गौरवपूर्ण है। इस कला के अन्तर्गत विभिन्न प्रकार के चित्रों का निर्माण हुआ था। बादशाहों और अमीरों की आकृतियाँ (Portraits), दरबार और शिकार के दृश्य, पशु-पक्षियों की आकृतियाँ, बाग-बगीचे, फल-फूल, पेड़-पत्तियों आदि का चित्रण, आदि सभी इसमें सम्मिलित थे। चित्रकारों

---

1 "As regards myself, my liking for painting and my practice in judging it have arrived at such a point that when any work is brought before me, either of deceased artist or of those of the present day, without the names being told to me, I can say on the spur of the moment that it is the work of such and such a man. And if there be a picture containing many portraits, and each face be the work of a different master, I can discover which face is the work of each of them. If any other person has put in the eye and eyebrow of a face, I can perceive whose work the original face is, and who has painted the eye and eyebrows."

ने आकृतियों के निर्माण में श्रेष्ठ स्थान प्राप्त किया। मुगल बादशाहों ने अपनी विभिन्न मुद्राओं में स्वयं के चित्र बनवाये और मुगल सरदारों ने भी ऐसा ही किया। पर्दा-प्रथा के कारण स्त्रियों की आकृतियाँ भूल नहीं हो सकीं परन्तु पुरुषों की आकृतियाँ पूर्णतया भूल थीं। उसी प्रकार विभिन्न दृश्यों, पशु-पक्षियों, फूलों, बाग, आदि को भी चित्रकार सामने बैठकर बनाते थे। मुगल-चित्रकारों से आशा की गयी थी कि जो वह सामने देखते हैं, उसी को बनायें। इसी कारण, उनके चित्रों में जीवन और यथार्थता थी। मुस्लिम धार्मिक गाथाओं पर चित्र बनाने में चित्रकारों ने संकोच किया परन्तु हिन्दू पौराणिक गाथाओं और ईसाई धर्म की कहानियों को चित्रों में प्रस्तुत किया गया। बड़े आदमियों की जीवनियों को भी चित्रों द्वारा प्रस्तुत करने का कार्य चित्रकारों ने किया। 'हमजाहनामा', 'बाबरनामा', तैमूरनामा', 'रजमनामा', 'शाहनामा', 'लीलावती', 'लैला-मजनूँ', 'अकबरनामा', आदि को सफलतापूर्वक चित्रों द्वारा प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया। शानदार कपड़े पहने हुए बादशाह और दरबारी, कीमती कालीन बिछे हुए कमरे, शराब पीती और पिलाती हुई स्त्रियाँ, धार्मिक साधन में लीन सन्त और फकीर, आदि विभिन्न दृश्यों को चित्रित करते हुए हजारों चित्र इस समय में तैयार किये गये जिनकी प्रशंसा सभी के द्वारा की गयी है। पुस्तकों पर चित्र बनाना और सुन्दर लेखन-शैली भी इसकी अपनी विशेषता रही। अकबर के समय से प्रगति करती हुई मुगल-चित्रकला धीरे-धीरे अपनी रंगों के मिश्रण और अनुपात की दुर्बलता को दूर करती गयी और उसने चित्रकला के क्षेत्र में अपना एक महत्वपूर्ण स्थान बनाने में सफलता पायी। मुगल-चित्रकला की एक दुर्बलता अवश्य थी—उसमें साधारण जन-जीवन को चित्रित करने का प्रयत्न नहीं किया गया। वह मुख्यतया, दरबार और बादशाहों के ही निकट रही। इस कारण, जन-जीवन का प्रभाव उस पर नहीं आया। इसके अतिरिक्त, सभी प्रकार से मुगल-चित्रकला श्रेष्ठ मानी जाती है।

मुगल-काल में दक्षिण-भारत में भी चित्र-कला का विकास हुआ। उसे मुगल-चित्र-कला ने प्रभावित किया। उस समय में राजपूती चित्रकला-शैली को भी मुगल-चित्र-कला ने प्रभावित किया और नाथद्वारा, जयपुर, जोधपुर, बूँदी, किशनगढ़, दतिया, आदि चित्र-कला के केन्द्र-स्थान बन गये। इसी समय में काँगड़ा चित्रकला-शैली का विकास स्वतन्त्र रूप से हुआ और उसने भी चित्र-कला में एक श्रेष्ठ स्थान प्राप्त किया। इस प्रकार, मुगल-काल चित्र-कला की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ।

मुगल-काल में चित्र-कला के क्षेत्र में हुई प्रगति की कहानी उस समय तक पूर्ण नहीं हो सकती जब तक कि उसमें राजपूती चित्रकला-शैली के विकास को सम्मिलित नहीं किया जाता, क्योंकि दोनों शैलियों के विकास का काल एक ही है।

चित्र-कला की राजपूत-शैली

राजपूती चित्रकला-शैली का विकास 16वीं सदी के उत्तरार्द्ध में हुआ और प्रायः 200 वर्षों तक यह प्रगतिशील रही। मुगल-बादशाहों की भाँति राजपूत-शासकों ने भी स्वयं के चित्र बनवाये। कालीन पर आराम करते हुए, खिड़की से झाँकते हुए, हुक्का पीते हुए, आदि विभिन्न मुद्राओं में चित्रकारों ने उनके चित्र बनाये। चित्रकारों ने कतिपय सन्तों और साधुओं के चित्र भी बनाये। निस्सन्देह, राजपूती चित्रकला-शैली मुगल-चित्रकला से प्रभावित थी, परन्तु उसकी अपनी कुछ पृथक् विशेषताएँ भी रहीं। उसकी प्रेरणा-शक्ति मुख्यतया धर्म था। विभिन्न चित्र रामायण और महाभारत की

गाथाओं के आधार पर चित्रित किये गये परन्तु कृष्ण और उसकी लीलाएँ राजपूत-चित्रों के मुख्य आधार थे। राजपूत-चित्रों में प्रेमी और प्रेमिका कृष्ण-राधा के रूप में लिये गये। इनके अतिरिक्त, शिव-पार्वती और अन्य हिन्दू देवी-देवताओं को भी राजपूती चित्रकला-शैली में चित्र बनाने का माध्यम बनाया गया। राजपूत-शैली में प्राकृतिक दृश्य, गाय, हिरन, मोर, हाथी, आदि जैसे पशु भी चित्रित किये गये परन्तु मुगल-शैली से भिन्न तरीके से। जबकि मुगल-शैली में इनको जंगलों में या शिकार किये जाने की स्थिति में दिखाया गया, राजपूत-शैली में इन्हें मनुष्यों के निकट शान्तिपूर्ण वातावरण में चित्रित किया गया। इसके अतिरिक्त, राजपूत-चित्रकला अधिकांशतया लोक-कला रही और इस कारण, साधारण व्यक्ति के निकट रही। इस कला के माध्यम से गाँव का जीवन, साधारण व्यक्तियों का धर्म, उनके बाजार, खेत और खलिहान, अपने व्यवसायों में कार्यरत कारीगर, यात्रा करते हुए अथवा सराय में आराम करते हुए यात्री, आदि व्यक्त किये गये। इस प्रकार, राजपूत-चित्रकला मूलतया जन-साधारण की कला थी और धर्म से गम्भीरता से जुड़ी हुई थी जिसके कारण मनुष्य की भावनाओं और आध्यात्मिक प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति का भी साधन थी।

मुगल-काल में संगीत-कला की भी उन्नति हुई तथा हिन्दू और मुसलमान दोनों ने उसमें सहयोग दिया। बाबर और हुमायूँ दोनों संगीत के प्रेमी थे। अकबर स्वयं बहुत अच्छा नक्कारा बजाता था। उसने अपने दरबार में दूर-दूर से ख्याति-प्राप्त संगीतज्ञों को आमन्त्रित किया। अबुल फजल ने लिखा है कि अकबर के दरबार में संगीतज्ञों की संख्या बहुत अधिक थी। उनमें सबसे प्रमुख नाम तानसेन का है जिसने राजा मानसिंह द्वारा स्थापित ग्वालियर के संगीत विद्यालय में शिक्षा प्राप्त की थी। वृन्दावन के गुरु हरिदास तानसेन के गुरु थे। अबुल फजल ने तानसेन के बारे में लिखा था कि "उसके समान हजार वर्षों में कोई गायक नहीं हुआ।" उसने विभिन्न राग-रागनियों का निर्माण किया। तानसेन के पश्चात् दरबार के संगीतज्ञों में बाबा रामदास का नाम आता था। सूरदास का दरबार से अप्रत्यक्ष सम्बन्ध था। बैजू बावरा यद्यपि दरबार से सम्बन्धित न था परन्तु सम्भवतया, तानसेन का समकालीन संगीतज्ञ था। इस प्रकार, अकबर के समय में वाद्य और संगीत दोनों की ही प्रगति हुई। जहाँगीर भी संगीतज्ञों को आश्रय देता था। सैकड़ों गायक और नर्तक उसके दरबार में रहा करते थे। इनमें जहाँगीर दाद, परवेज दाद, खुर्रम दाद, हमजान छत्रखाँ, आदि प्रमुख थे। शाहजहाँ भी संगीत-प्रेमी था और स्वयं भी एक अच्छा गायक था। जगन्नाथ, रामदास, सुखसेन, सूरसेन, लालखाँ, दुरंगखाँ, आदि उसके दरबार के प्रमुख गायक थे। परन्तु अपने शासनकाल के आरम्भ होने के कुछ वर्षों के पश्चात् ही औरंगजेब ने सभी संगीतज्ञों को अपने दरबार से निकाल दिया और संगीतज्ञों के द्वारा संगीत का जनाजा निकालने पर उसे गहरा दफनाने की सलाह दी। परन्तु तब भी सरदारों, सूबेदारों, और बादशाह के हरम तक से संगीत-प्रेम समाप्त नहीं हुआ।

3. संगीत और नृत्य-कला

संगीत के साथ-साथ नृत्य-कला भी मुगल-काल में पनपती रही। संगीत और नृत्य-कला का इतना गहरा सम्बन्ध है कि उनकी प्रगति साथ-साथ होना स्वाभाविक था। मुगल बादशाह, दरबारी, सूबेदार और धनी व्यक्ति संगीत के साथ-साथ नृत्य

का भी आनन्द लेते थे तथा दरबार और अन्य स्थानों पर बहुत बड़ी संख्या में नर्तक और नर्तकियाँ रखे जाते थे।

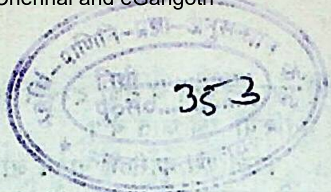
परन्तु इस काल में गायन और नृत्य-कला के सम्बन्ध में एक बड़ी कमी रही। यह कमी इस्लाम की संस्कृति के प्रभाव के कारण रही जो गायन और नृत्य-कला को वर्जित करती है। हिन्दुओं के लिए ये दोनों कलाएँ गम्भीरता से धर्म के साथ जुड़ी हैं। इस कारण, उनमें इन कलाओं को व्यावसायिक रूप में अपनाने वालों को भी कभी भी सामाजिक दृष्टि से हीन नहीं माना गया। परन्तु मुसलमानों ने इन कलाओं को मूलतया भौतिक सुखों का माध्यम माना। इस कारण, उनमें इन कलाओं में लगे हुए व्यक्तियों को सामाजिक दृष्टि से हीन समझा गया। यह तथ्य उत्तरकालीन मुगल-काल में पूर्णतया स्पष्ट था। यही कारण था जिसके कारण इन कलाओं में पारंगत व्यक्तियों को दो भागों में बाँटा गया। एक श्रेणी में वे व्यक्ति थे जो कलाकार कहलाते थे और दूसरी श्रेणी में वे व्यक्ति थे जिन्होंने इन कलाओं को व्यवसाय के रूप में अपनाया। ऐसे व्यक्ति सामाजिक दृष्टि से हीन माने गये जिस कारण इन कलाओं का स्तर भी गिरा।

मुगल-काल में सुलेख (अच्छा लिखने की कला) पर बहुत ध्यान दिया गया और चित्रकारों की सहायता से पुस्तकों को अच्छे लेखों, अच्छी जिल्दों और अच्छे चित्रों से सजाया गया।

4. अन्य कलाएँ

अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ ने मूर्ति-कला को भी सहायता दी यद्यपि इस क्षेत्र में बहुत उन्नति नहीं हुई। मूर्तियों में मुख्यतया हाथीदाँत की बनी हुई छोटी-छोटी मूर्तियाँ ही इस कला में श्रेष्ठ स्थान प्राप्त कर सकीं। मिट्टी और अन्य विभिन्न धातुओं से बनाये जाने वाले बर्तनों की कला में भी मुगल-काल में प्रगति हुई। अच्छे आभूषणों और जवाहरातों को श्रेष्ठ बनाने की कला भी इस समय में बहुत प्रगति कर सकी। बाग लगाने का शौक भी मुगल बादशाहों को था। उसकी सभी इमारतें और मकबरे बगीचों में ही बनाये गये। इसके अतिरिक्त, अन्य विभिन्न स्थानो पर भी बाग लगाये गये। बाबर ने आगरा में 'नूरे अफसासन' नामक बाग लगवाया जिसे अब रामबाग कहा जाता है। अकबर और जहाँगीर ने अपने मकबरों को सुन्दर बागों में बनवाया और कश्मीर का शालीमार बाग भी जहाँगीर के द्वारा लगवाया हुआ है। शाहजहाँ ने विभिन्न इमारतों और ताजमहल के अतिरिक्त लाहौर के शालीमार बाग को लगवाया। औरंगजेब ने इस ओर कोई ध्यान नहीं दिया, परन्तु विभिन्न सरदारों ने अपने बादशाहों की नकल करते हुए विभिन्न बाग लगवाये।

इस प्रकार, मुगल बादशाहों के समय में जब तक मुगल बादशाह शक्तिशाली और समृद्धशाली रहे, जीवन के सभी क्षेत्रों में उन्नति होती रही। सांस्कृतिक क्षेत्र में भी उनका योगदान महत्वपूर्ण रहा। साहित्य और विभिन्न ललित-कलाओं की प्रगति की दृष्टि से भारतीय इतिहास में मुगल-काल का महत्वपूर्ण स्थान है। सभी कुछ मिलाकर यह कहा जा सकता है कि जिस प्रकार मुगल बादशाहों का राजनीतिक इतिहास आकर्षक और गौरवपूर्ण है, उसी प्रकार सांस्कृतिक दृष्टि से भी उनका इतिहास आकर्षक और गौरवपूर्ण है।



14

मुगल-साम्राज्य की सफलताएँ और असफलताएँ

मुगल-साम्राज्य ने लगभग 200 वर्षों तक भारत के अधिकांश भू-क्षेत्र को राजनीतिक एकता, दृढ़ता, सुरक्षा और शान्ति प्रदान की। यद्यपि औरंगजेब का दक्षिण-भारत को जीतकर मुगल-साम्राज्य में सम्मिलित करने का प्रयत्न सफल होते हुए भी हानिकारक और अस्थायी सिद्ध हुआ था, परन्तु तब भी भारत के अधिकांश भाग को, मुख्यतया उत्तर-भारत के विस्तृत और उपजाऊ भू-प्रदेश को अपने अधीन करने में मुगल बादशाह सफल हुए और वे इस विजय को एक लम्बे समय तक स्थायित्व भी प्रदान कर सके। मुगल-साम्राज्य एक लम्बे समय तक शक्तिशाली, समृद्धशाली और प्रगतिशील रहा, एक लम्बे समय तक उसने भारत को योग्य और गौरवपूर्ण शासक प्रदान किये, विदेशों में भारत के सम्मान को बढ़ाया तथा भारत की आर्थिक और सांस्कृतिक प्रगति में योग दिया। मध्य-युग में जबकि संसार के प्रायः सभी राज्यों में राजतन्त्र ही एकमात्र सफल शासन-व्यवस्था स्वीकार की जाती थी, मुगल बादशाहों ने भारत को एक शक्तिशाली राजतन्त्र प्रदान करके देश की सर्वांगीण प्रगति में योगदान किया। मुगल-साम्राज्य के इतिहास पर दृष्टिपात करने से उसकी सफलताएँ स्पष्ट हो जाती हैं। परन्तु उत्तरकालीन मुगल बादशाहों के समय में मुगल-साम्राज्य का वैभव नष्ट हो गया और अन्त में वह एक दुर्बल एवं बीमार व्यक्ति की तरह घुट-घुटकर समाप्त हुआ। इससे यह स्पष्ट होता है कि अनेक सफलताओं को प्राप्त करने के पश्चात् भी मुगल-साम्राज्य अनेक कार्यों को करने अथवा समस्याओं का हल निकालने में असफल हुआ।

मुगल-साम्राज्य की सबसे पहली सफलता भारत के अधिकांश भू-प्रदेश को एक लम्बे समय तक राजनीतिक एकता और एक शासन-व्यवस्था प्रदान करने की थी। सम्पूर्ण उत्तर-भारत और दक्षिण के अधिकांश भाग को उसने राजनीतिक एकता, स्थायित्व और शासन की एकता प्रदान की। अकबर के समय से एक लगान-व्यवस्था, समान प्रान्तीय शासन, एक राजभाषा, एक सुनियोजित सैनिक-व्यवस्था, सुरक्षा के लिए विभिन्न किलों का निर्माण, पदाधिकारियों का स्थान-परिवर्तन, पदों का योग्यता के आधार पर विवरण, प्रत्येक व्यक्ति को योग्यता-प्रदर्शन करने की सुविधा, आदि स्थापित की गयीं। औरंगजेब के आरम्भ के समय तक प्रायः इस प्रकार की शासन-व्यवस्था रही। इस व्यवस्था के अन्तर्गत राज्य में एकता रही, शासन दृढ़ रहा, राज्य को योग्य व्यक्तियों की सेवाएँ प्राप्त होती रहीं, विदेशी आक्रमणों से सुरक्षा रही और साधारण प्रजा शान्ति का उपभोग कर सकी। इन

सभी से जीवन के सभी क्षेत्रों में राज्य की उन्नति सम्भव हो सकी। मुगल-साम्राज्य से बाहर भी भारत के जो प्रदेश थे, वे सभी इस शासन-व्यवस्था से किसी न किसी प्रकार प्रभावित हुए। यही नहीं, बल्कि इसका प्रभाव स्थायी था, यहाँ तक कि अंग्रेजों ने भी मुगलकालीन शासन-व्यवस्था का प्रयोग शासन के अनेक क्षेत्रों में पर्याप्त समय तक किया।

मुगल बादशाहों के शासन का आधार केवल तलवार की ताकत न थी। निस्सन्देह, उन्होंने बड़ी-बड़ी सेनाएँ रखीं परन्तु यह समय की आवश्यकता थी। मुगल विदेश से भारत आये थे। उनकी शक्ति के विस्तार और स्थायित्व के लिए तलवार की शक्ति आवश्यक थी। इसके अतिरिक्त, मध्य-युग में कोई साम्राज्य बिना शक्ति के नहीं चल सकता था। उसके अभाव में साम्राज्य के गौरवपूर्ण होने का तो प्रश्न ही नहीं उठता था। इस कारण, मुगलों की शक्ति का आधार भी तलवार की शक्ति थी। परन्तु मुगल बादशाहों ने अपनी प्रजा की वफादारी प्राप्त करने का भी प्रयत्न किया। बाबर से लेकर शाहजहाँ तक ही नहीं बल्कि औरंगजेब के बारे में भी यह कहा जा सकता है कि वह परिश्रमी था, उनमें से प्रत्येक अपने-अपने दृष्टिकोण और क्षमता से प्रजा की भलाई के लिए प्रयत्नशील था, और उनमें से अधिकांश अपनी प्रजा की वफादारी प्राप्त करने में सफल हुए थे। मुगल बादशाहों की शक्ति, गौरव और शान-शौकत ने उनकी प्रजा को भी गौरव और सम्मान प्रदान किया था। मध्य-युग में प्रजा एक शक्तिशाली और समृद्धशाली बादशाह के प्रति ही भक्ति-भाव रख सकती थी। मुगल बादशाहों ने उसकी इस भावना को सन्तुष्ट किया। इसी कारण एक लम्बे समय तक मुगल बादशाह अपनी प्रजा की वफादारी प्राप्त कर सके।

मुगलों ने युद्ध के तरीकों और साधनों में वृद्धि की। तुर्की, फारस और मध्य-एशिया से प्राप्त युद्ध-नीति को उन्होंने भारत में आरम्भ किया। बाबर की 'तुलगमा' युद्ध-नीति, उसका तोपखाना और घुड़सवार-सेना, आदि भारत के लिए नवीन थीं। बाद के मुगल बादशाहों ने उन सभी को पूर्णता तक पहुँचाने का प्रयत्न किया। किलों का निर्माण, सुरक्षा के प्रयत्न, मनसबदारी-प्रथा, कैम्प-व्यवस्था, आदि मुगलों की अपनी पृथक विशेषताएँ थीं जिन्होंने भारत में युद्ध के नवीन साधनों और शैलियों को आरम्भ किया।

धार्मिक उदारता और हिन्दू-मुसलमानों के निकट आने की दृष्टि से भी मुगलों का समय पूर्ण सफल तो नहीं था परन्तु अपने से पहले के मुसलमान शासकों की तुलना में कहीं आगे था। तुर्क और अफगान शासकों ने हिन्दू और मुसलमानों को निकट लाने का प्रयत्न नहीं किया था और धार्मिक दृष्टि से वे सभी अनुदार थे। उनके समय में हिन्दू और मुसलमान निरन्तर एक-दूसरे से संघर्ष करने की स्थिति में रहे और जो कुछ भी निकटता उनमें आयी, वह बाध्यता और परिस्थितियों-वश आयी। इसके विपरीत, मुगल बादशाहों ने हिन्दू और मुसलमानों के भेद-भाव को अधिक महत्व नहीं दिया। बाबर और हुमायूँ अधिक कट्टर न थे, अकबर ने धार्मिक सहिष्णुता की नीति का सक्रिय प्रयोग किया। जहाँगीर और शाहजहाँ ने उनकी नीति में कोई विशेष परिवर्तन नहीं किया और, सम्भवतया, औरंगजेब की धर्मान्धता को भी माफ किया जा सकता है यदि उसकी तुलना यूरोप और एशिया के अन्य समकालीन बादशाहों की धर्मान्धता से की जाय। औरंगजेब के पश्चात् के मुगल बादशाह धर्मान्धता की नीति का अनुकरण करने की स्थिति में न रहे। इस

प्रकार, तुलनात्मक दृष्टि से मुगल-काल धार्मिक दृष्टि से उदार रहा। भक्ति-मार्ग मुगल-काल में भी लोकप्रिय रहा और नानक, कबीर, दादू, आदि सन्तों ने हिन्दू और इस्लाम धर्म की एकता में विश्वास करना सिखाया। अनेक सूफी सन्त इसी मार्ग पर चलने की सलाह देते रहे। इनके प्रयत्न पूर्णतया सफल न थे परन्तु धार्मिक उदारता के वातावरण की स्थापना करने में सहायक अवश्य थे।

मुगलों के समय में भारत के सम्बन्ध विदेशों से घनिष्ठ हुए। एक लम्बे समय तक अफगानिस्तान भारतीय साम्राज्य का भाग रहा। इससे स्थल-मार्ग से उत्तर-पश्चिम और यूरोप के देशों से व्यापारिक और सांस्कृतिक सम्बन्ध स्थापित हुए। गुजरात और बंगाल के विभिन्न बन्दरगाह समुद्री मार्ग से विदेशों से सम्बन्ध स्थापित करने में सहायक हुए।

मुगल-साम्राज्य एक लम्बे समय तक आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न रहा। कृषि, व्यापार और उद्योगों की दृष्टि से मुगल-काल उन्नतिशील था। विदेशी व्यापार में भारत की स्थिति लाभप्रद थी। निस्सन्देह, इस बढ़ती हुई आर्थिक समृद्धि का मुख्य लाभ समाज के श्रेष्ठ वर्ग को मिला, मुख्यतया बादशाह और उसके सरदारों एवं अमीरों को। परन्तु तब भी इस समृद्धि और गौरव में प्रजा ने भी भाग लिया। मध्य-युग में बादशाहों से इससे अधिक आशा करना व्यर्थ था।

मुगल-साम्राज्य सांस्कृतिक दृष्टि से महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ। मुगलों ने इतिहास-लेखन में प्रगति की। विभिन्न बादशाहों ने अपनी आत्मकथाओं को लिखा अथवा अपने समय के इतिहास को अन्य व्यक्तियों से लिखवाया। फारसी भाषा उस समय राजभाषा बनी। इससे उसके साहित्य का विकास हुआ और अन्य भाषाओं के अनेक ग्रन्थों का उसमें अनुवाद किया गया। इसके अतिरिक्त हिन्दी, संस्कृत, उर्दू तथा अन्य प्रान्तीय भाषाओं के साहित्य में प्रगति हुई। स्थापत्य-कला और चित्र-कला की दृष्टि से मुगल-काल गौरवपूर्ण है। मुगल-काल में बनी हुई अनेक इमारतें, किले, मकबरे और विभिन्न चित्र भारतीय संस्कृति की अमूल्य निधियाँ हैं। संगीत, नृत्य, लेखन-कला, बागवानी, आदि अन्य दृष्टियों से भी मुगल-काल प्रगतिशील रहा। मुगल-काल की वेश-भूषा, शृंगार, खान-पान, सामाजिक व्यवहार, जेवर, आदि ने एक लम्बे समय तक भारत को प्रभावित किया और ये सभी भारत की संस्कृति के विभिन्न अंग बन गये।

इस प्रकार, मुगल-काल की अनेक सफलताएँ मान्य हैं। मुगल-काल भारत का महान् काल माना गया है और मुगल बादशाह महान् बादशाह माने गये हैं। परन्तु मुगल बादशाह समय की बदलती हुई परिस्थितियों के अनुकूल महान् न रह सके। यह उनकी असफलता थी और वही उनके और उनके साम्राज्य का पतन का कारण बनी। मुगल-काल में हिन्दू और मुसलमान सामाजिक एवं राजनीतिक दृष्टि से एक नहीं हो सके। यदि दिल्ली के सुल्तानों का समय हिन्दू और मुसलमानों के बीच राजनीतिक सत्ता और धार्मिक श्रेष्ठता के लिए संघर्ष का समय रहा, तो मुगल बादशाहों का समय राष्ट्रीय एकता के प्रयत्न और कट्टर इस्लाम की प्रवृत्ति से संघर्ष का समय रहा। इसमें अन्त में विजय कट्टर इस्लाम की प्रवृत्ति की हुई। अकबर के द्वारा आरम्भ किया गया राष्ट्रीय एकता का प्रयत्न आगे नहीं बढ़ सका तथा औरंगजेब के समय में इस प्रयत्न को त्याग दिया गया। परन्तु जिस समय अँग्रेजों ने

भारत में अपने कदम जमाये, उस समय हिन्दू-मराठे मुगलों और इस्लाम की शक्ति की श्रेष्ठता को तोड़ चुके थे और कट्टर इस्लाम की बढ़ती हुई शक्ति परास्त हो चुकी थी। तब भी इस संघर्ष का निर्णय नहीं हुआ था। इस कारण, भारत में एकता न थी। हिन्दू-मराठे और विभिन्न मुसलमान शक्तियाँ आपस में संघर्ष कर रही थीं और हिन्दू-प्रजा और मुख्यतया हिन्दुओं का व्यापारी-वर्ग जिसका हित अंग्रेज व्यापारियों से मिला हुआ था, मुसलमानों के विरुद्ध अँग्रेजी कम्पनी की सहायता के लिए तत्पर था। इस प्रकार, मुगल बादशाह भारत की प्रजा में अन्ततः एकता लाने में असफल रहे थे। ऐसी परिस्थितियों में मुगल-शासन को 'राष्ट्रीत शासन' और मुगल-काल को भारतीय 'राष्ट्रीयता का युग' पुकारना ठीक नहीं है, जैसा कि कुछ आधुनिक भारतीय विद्वानों ने उसे पुकारा है।

अन्य मुस्लिम राज्यों के विस्तार की भाँति भारत में मुगल-साम्राज्य के विस्तार का एक आधार विभिन्न साहसी सरदारों का शौर्य और उनकी योग्यता रहा था। जब तक जीतने के लिए नवीन भूमि रही तब तक उनमें परस्पर संघर्ष नहीं हुए। परन्तु जब मुगल-साम्राज्य विस्तार और सुरक्षा की अन्तिम सीमा पर पहुँच गया तब षड्यन्त्र, विद्रोह, गृह-युद्ध, उत्तराधिकार के युद्ध आदि अधिक होने लगे। मुगल बादशाह इन्हें रोकने में असमर्थ रहे। शाहजहाँ और औरंगजेब जैसे शक्तिशाली बादशाह अपने पुत्रों को आपस में युद्ध करने से न रोक सके। उत्तरकालीन मुगल बादशाहों के समय में यह स्थिति अधिक खराब हो गयी। ऐसी स्थिति में न शान्ति सम्भव थी, न समृद्धि, न सांस्कृतिक प्रगति। मुगल बादशाह एक सुनिश्चित और स्थायी शासन को अपने साम्राज्य का आधार न बना सके। व्यक्तिगत शक्ति और महत्वाकांक्षाएँ गम्भीरता से मुगल-साम्राज्य में अन्त तक सम्मिलित रहीं। मुगल-काल में सम्पत्ति की सुरक्षा, अधिकारों की सुरक्षा, आर्थिक प्रगति, विदेशी व्यापार और सांस्कृतिक प्रगति का कोई ठोस आधार न था। वह सभी कुछ समय की बदलती हुई परिस्थितियों पर निर्भर करता था। इसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि मुगल-काल में शासन, सैनिक-व्यवस्था, अर्थ-व्यवस्था, सांस्कृतिक प्रगति, आदि सभी के प्रति मूल दृष्टिकोण मध्ययुगीन रहा। उसमें आधुनिकता, समय के अनुकूल परिवर्तन की इच्छा, नवीन दृष्टिकोण तथा नूतन विचारों और परिस्थितियों का निर्माण करने की क्षमता नहीं थी।

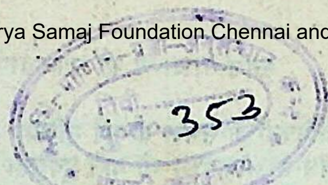
मुगल-शासन की एक असफलता चरित्र-निर्माण के क्षेत्र में थी। मुगल बादशाह अपनी प्रजा के नैतिक चरित्र की रक्षा न कर सके। उनका स्वयं का जीवन बहुत विलासितापूर्ण रहा, औरंगजेब के अतिरिक्त प्रायः सभी मुगल बादशाह मादक द्रव्यों के प्रयोग और स्त्री-सम्पर्क के प्रति उदार थे। अकबर जैसे बादशाह ने भी अपना एक विशाल 'हरम' रखा था जिसमें हज़ारों स्त्रियाँ रखैल और दासियों के रूप में रहती थीं। बादशाह के सरदारों और अधीनस्थ हिन्दू राजाओं ने भी उनका अनुकरण करने में ही गौरव का अनुभव किया। इस कारण, समाज के श्रेष्ठतम और धनवान वर्ग का विलासितापूर्ण जीवन व्यतीत करने का स्वभाव बन गया। निस्सन्देह, यह प्रभाव ग्राम्य-जीवन और जन-साधारण तक नहीं पहुँचा बल्कि बड़े-बड़े नगरों तक ही सीमित रहा। परन्तु नगर-जीवन और समाज के श्रेष्ठ-वर्ग ही बदलती हुई मान्यताओं के प्रतीक तथा समाज की नैतिक और बौद्धिक प्रगति के स्रोत होते हैं। मध्य-युग में यह बात और भी अधिक सत्य थी। ऐसी स्थिति में जबकि समाज का नेतृत्व करने वाले ही

नैतिक और बौद्धिक प्रगति में सहयोग देने में असमर्थ हो गये तब समाज और राज्य का दुर्बल होना आवश्यक था। मुगल संस्कृति दरबार और नगरों तक ही सीमित रही। धन और सुरक्षा की प्राप्ति से वहीं पर बौद्धिक और सांस्कृतिक प्रगति हुई। परन्तु उस प्रगति का मूल आधार दुर्बल था। संघर्ष के काल तक मुगल-काल में विलासिता और शौर्य साथ-साथ रह सके। संघर्ष का काल समाप्त होते ही शौर्य समाप्त हो गया और केवल विलासिता बची रह गयी। मुगल बादशाहों और सरदारों की पीढ़ी-दर-पीढ़ी दुर्बल होती गयी, नैतिक और बौद्धिक पतन बढ़ता गया, समाज का श्रेष्ठ-वर्ग समाज को नेतृत्व प्रदान करने के योग्य न रहा और अन्त में जन-साधारण भी उसके प्रभाव से मुक्त न रहा। बाद में मुगल-युग में योग्य सेनापतियों, योग्य शासन-प्रबन्धकों, योग्य साहित्यकारों, योग्य कलाकारों, आदि का अभाव हो गया और 18वीं सदी का भारतीय समाज दुर्बल हो गया। बौद्धिक पतन के कारण भारत में अन्वेषण, विकास और नूतनता के लिए स्थान नहीं रहा और देश दिन-प्रतिदिन गिरावट की ओर बढ़ा। रिश्वत, अनाचार, खुशामद आदि तो इस बीमारी के केवल बाहरी चिह्न थे। मूल बीमारी इससे अधिक गम्भीर थी जिसने मुगल-साम्राज्य को भारत में नष्ट कर दिया।

मुगल-शासन का स्वरूप अन्त तक सैनिक रहा। मुगल बादशाहों ने अपनी प्रजा की भौतिक, शैक्षणिक, बौद्धिक और नैतिक उन्नति का प्रयत्न नहीं किया। ऐसा नहीं था कि वे इस तरफ से पूर्णतया उदासीन थे परन्तु इसके लिए उन्होंने बहुत सीमित साधनों का प्रयोग किया। यद्यपि मुगल-साम्राज्य की समृद्धि में प्रजा को उचित हिस्सा प्राप्त हुआ होता और उसकी शिक्षा तथा बौद्धिक एवं भौतिक प्रगति का योजनाबद्ध प्रयत्न किया गया होता तो देश शक्तिशाली होता। मुगल बादशाहों ने राजनीति के इस सिद्धान्त के अनुसार कार्य नहीं किया कि 'महान् प्रजा की अनुपस्थिति में महान् साम्राज्यों का निर्माण सम्भव नहीं है।'

इस्लाम की कट्टरता, जो मुसलमानों की प्रारम्भिक सफलता का कारण थी, उनकी रूढ़िवादिता और जड़ता का कारण बनकर उसके पतन का कारण बनी। आधुनिक समय में भी यह बात स्पष्ट रूप से सिद्ध की जा सकती है। मुगल-साम्राज्य की सफलता और असफलता भी इस्लाम की इस कट्टरता की भावना से प्रभावित हुई। उदार अकबर बादशाह के समय में मुगल-साम्राज्य की बहुमुखी प्रगति के द्वार खुल गये थे जबकि कट्टर औरंगजेब के समय से मुगल-साम्राज्य के पतन का मार्ग खुला था। यही नहीं, बल्कि मूल आधार पर इस्लाम की कट्टरता सभी मुसलमानी राज्यों के पिछड़ेपन का कारण बनी थी। भारत के मुगल-साम्राज्य के बारे में भी ऐसा ही हुआ। किसी भी प्रकार की धार्मिक कट्टरता एक सीमा तक तो एक व्यक्ति अथवा एक साम्राज्य अथवा एक राज्य के लिए लाभदायक हो सकती है परन्तु उसका अन्तिम परिणाम प्रतिक्रिया, अन्धविश्वास, रूढ़िवादिता और नूतन विचारों, विश्वासों एवं मान्यताओं की अवहेलना होती है जो एक व्यक्ति, एक सम्प्रदाय अथवा एक राज्य के पतन का कारण होती है। मुगल-साम्राज्य भी इस्लाम की इस धार्मिक कट्टरता से विमुख न हो सका जिसके कारण नूतनता से वह विमुख रहा। उसके मुकाबले अँग्रेजी शासन, अँग्रेजी शिक्षा और अँग्रेजी विचारधारा अधिक प्रगतिशील सिद्ध हुई जो अन्त में भारत में उनकी सफलता का कारण बनी। सम्पूर्ण एशिया और अफ्रीका ने नवीन विचार, नवीन बौद्धिक स्तर और शासन में नवीनता की खोज को

बन्द कर दिया था। यूरोपियनों के समक्ष सम्पूर्ण एशिया और अफ्रीका के झुक जाने का यही कारण था। मुगल-साम्राज्य की भी यही दुर्बलता रही। बहुत कुछ क्षेत्रों में अँग्रेजों ने भारत में व्यक्तिगत प्रयासों की स्वतन्त्रता, सम्पत्ति की सुरक्षा, तर्कपूर्ण बुद्धि का विकास, प्रगति की इच्छा, आदि की स्थापना करने में सहयोग दिया। यही उनकी सफलता का कारण भी था। मुगल-साम्राज्य यही सब कुछ करने में असफल रहा। मुगल-साम्राज्य मध्ययुगीन था और अन्त तक मध्ययुगीन ही बना रहा। आधुनिकता की ओर न बढ़ने की इच्छा और समय के अनुकूल परिवर्तन न होने की क्षमता मुगल बादशाहों, मुगल-साम्राज्य और मुगल-युग की सबसे बड़ी असफलता थी।



SUGGESTED READINGS

1. Banerjee, A.C. and Ghose, D.K., (eds.) : *A Comprehensive History of India*, Vol. IX.
2. Bhargava, B.S. and Pratap Singh : मुगलकालीन भारत (526-1656 A.D.)
3. Burn, Sir Richard, (ed.) : *Cambridge History of India*, Vol. IV.
4. Faruki, M. : *Aurangzeb and His Times.*
5. Habib, Irfan : *Agrarian System of Mughal India.*
6. Husain, Yusuf : *Glimpses of Medieval Indian Culture.*
7. Majumdar, R.C. (ed.) : *The Mughal Empire* (*The History and Culture of the Indian People*, Vol. VII).
8. Majumdar, R.C. (ed.) : *The Maratha Supremacy* (*The History and Culture of the Indian People*, Vol. VIII).
9. Ohja, Srivastava and Pratap Singh : मुगलकालीन भारत (1656-1761 A.D.)
10. Pandey, A.B. : उत्तर-मध्यकालीन भारत
11. Prasad, Beni : *History of Jahangir.*
12. Prasad, Ishwari : *The Life and Times of Humayun.*
13. Qureshi, I.H. : *The Administration of the Mughal Empire.*
14. Raychowdhury, M.L. : *The Din-i-Ilahi.*
15. Rushbrook, Williams L.F. : *An Empire Builder of the Sixteenth Century.*
16. Saxena, B.P. : *History of Shah Jahan of Delhi.*
17. Sharma, S.R. : *Religious Policy of the Mughal Emperors.*
18. Srivastava, A.L. : *Sher Shah and His Successors.*
19. Srivastava, A.L. : *Akbar the Great*, 2 Vols.
20. Srivastava, A.L. : *Medieval Indian Culture.*
21. Srivastava, A.L. : मुगल-साम्राज्य
22. Tripathi, R.P. : *Some Aspects of Mughal Administration.*

पानीपत का युद्ध - 21 अप्रै. 1526

हुमायु की मृत्यु - 27 ज. 1556

जन्म
अकबर - 15 अक्टूबर 1542
1556
राज्याभिषेक -
बैरमखां - 1556 - 1560
पानीपत २ युद्ध - 1556 - 5 नवम्बर

52/-